आचार्यदण्डिविरचितः

काव्यलक्षणापराभिधः

काव्यादर्शः

सुदर्शनाऽऽख्यया संस्कृतहिन्दीव्याख्यया समेतः

व्याख्याकारः

धर्मेन्द्रकुमारगुप्तः

शास्त्री, विद्यावाचस्पतिः, एम.ए., एम.ओ.एल., पी-एच.डी.



मेहरचन्द लछमनदास, दिल्ली

प्रकाशक :
मेहरचन्द लछमनदास
अध्यक्ष—संस्कृत बुक-डिपो
२७३६, कूचा चेलां, दरियागंज, दिल्ली ११०००६
विक्रय-केन्द्र : स्ट्रीट नं० १, १ अन्सारी रोड, दरियागंज, दिल्ली

मुद्रक :
श्री भारत भारती प्रा० लिमिटेड, दरियागंज, दिल्ली

प्रथमं संस्करणम्

१९७३ ई० (वि० सं० २०३०)

KĀVYĀDARŚA
OF DAṆḌIN
Edited with Sudarśanā (Sanskrit-Hindi) Commentary
by
DR DHARMENDRA KUMAR GUPTA

अवतरणिका

संस्कृतकाव्यशास्त्रेतिहासे चिरंतनेष्वालंकारिकेषु काव्यादर्शकार आचार्य-दण्डी महनीयं पदमधितिष्ठति । आचार्योऽयं नवनवकाव्यसिद्धान्तोन्मीलनात्मके-ऽनवाप्तसिद्धान्तपरिपाके च युगे प्रादुर्बभूवेति हेतोरस्य ग्रन्थे काव्यशास्त्रीयाः सिद्धान्ता नान्तिमे परिणते वापि रूपे संलक्ष्येरन्निति संभाव्यमेवैतत् । एषां हि सिद्धान्तानां पाकोन्मुखं परिपक्वं वा स्वरूपमौत्तरकालिकानामानन्दवर्धन-मम्मट-विश्वनाथ-जगन्नाथादीनां काव्यात्मतत्त्वविदां कृतिष्वेव स्फुटमाविर्भवति । तथा-प्येषां काव्यसिद्धान्तानां प्राथमिकीर्विकासावस्थाः परिलक्षयितुं तदुत्तरकालो-दिताश्च नूतना लक्षणशास्त्रप्रवृत्तीः स्फुटं विनिर्धारयितुमस्माभिराचार्यदण्डिनः काव्यसिद्धान्ता अवश्यमेव सम्यगध्येतव्या इति नात्र काचिद्विप्रतिपत्तिः स्यात् ।

काव्यशास्त्रक्षेत्रे दण्डिनः समुपागमस्तदाभूद् यदा शास्त्रमिदं स्वस्या-भिनवस्योन्मेषस्य प्रथमामवस्थामुत्तीर्य द्वितीयां प्रवेष्टुकाममासीत् । युगेऽस्मिन् केचन काव्यसिद्धान्ताः परिपचेलिमाः, केचित् परिपाकपथोन्मुखाः, पुनश्चापरे प्रतिपदं शास्त्रद्वाराऽभिज्ञेयतां स्वीकार्यतां वाऽवाप्तुं प्रयतमानाः संघर्षमिव चाचरन्तो लक्ष्यन्ते । आचार्यदण्डी सिद्धान्तानिमानितस्ततो विप्रकीर्णान् समा-कुलांश्च सम्यक्संकलय्य तान् यथायथं व्याचख्यौ । एवं च स शास्त्रस्यास्य समुत्तीर्णप्रथमावस्थाकस्य द्वितीयावस्थाप्रवेशाय सौकर्यमिव समपादयत् । नव-नवोन्मेषशालिन्या प्रतिभया सूक्ष्मेक्षिकापुरस्कृतेन च वैदुष्येण स परंपरीणानां मतानां न केवलं परिसंस्कारं व्यधत्त प्रत्युत नूतनरूपसज्जामपि तेषामकरोत् । अथापि स नवीनानां सिद्धान्तानामुद्भावनामपि यथाशक्ति कर्तुं प्रायतिष्ट, तद्द्वारा चार्वाचीनानां काव्यशास्त्रिणां मार्गदर्शनं समाचरत् ।

प्रकृतोऽयं ग्रन्थस्तदीयस्य **काव्यलक्षणापराभिधस्य काव्यादर्शस्य** सुबोधिनीं च मूलानुगामिनीं च समालोचनात्मिकां च संस्कृतहिन्दीव्याख्यां कर्तु-मुपक्रमते । प्राक्तनाष्टीका अर्वाचीनांश्च व्याख्याग्रन्थान् सम्यगवलोक्य तद्-धृताश्चोक्तीः परिभाव्य, अथ चाधुनिक्या समालोचनात्मिकया तुलनात्मिकया च दृशा ता निपुणं समीक्ष्य, संस्कृतहिन्दीव्याख्येयमितो वर्षद्वये मया व्यवसिता, सा चेयमधुना पूर्तिं समायादिति प्रकाशनपथं चाद्यावतरतीति च फलदर्शनेन मदीयोऽयं क्लेशः पुनर्नवतां विधत्त इति मन्ये ।

इह हि तावत् प्रतिपद्यं प्रथममन्वयमुखेन मूलानुसारिणी स्वोपज्ञा संस्कृतटीका विनिवेशिता, ततश्च हिन्दीभाषया हृदयंगमोऽनुवादो विन्यस्तः, अन्ते

च पूर्वोत्तरवर्तिसिद्धान्तपरंपरानुसंधानपुरस्सरा समीक्षात्मिका विशदा च विवृतिरुपन्यस्ता। एवं चात्र दण्डिनः काव्यसिद्धान्ता ऐतिहासिकपरिवेषे समुपस्थापिताः, तथा च संस्कृतकाव्यशास्त्रविकासे तदीययोगदानस्य मूल्यनिर्धारणकर्मणि सौख्यमुपपादितम् ।

हिन्दीभाषानिबद्धेऽस्य ग्रन्थस्य भूमिकाभागे दण्डिनः कृतीः स्थितिकालं जीवनं व्यक्तित्वं चान्तरेण चिरात्समुत्थितासु परं चासमाहितासु समस्यासु प्रसन्नाः प्रत्यग्राश्च प्रकाशांशवो निक्षिप्ताः, तदीयाः प्रमुखाः काव्यशास्त्रीयाः सिद्धान्ता दिङ्मात्रमादर्शिताः, संस्कृतकाव्यशास्त्रपरंपरायाश्चेतिहासे तस्य स्थानं स्फुटमवधारितम् ।

किमयं मे सुदर्शनालक्षणः समुद्यमः पूर्वाचार्येण दण्डिना प्रणीतस्य काव्यादर्शस्य चिरान्मालिन्याच्छन्नस्यातश्चाऽऽदर्शनमन्दस्य तन्मलापनयनेन सुदर्शनत्वसमापादने कर्मणि साफल्यमधिगच्छति न वेत्यत्र सुधिय एव प्रमाणम् । सुधीजनालोकफलो हि मेऽयं व्यापारः ।

ग्रन्थस्यास्य प्रणयने येषां विदुषां ग्रन्थेभ्यः साहाय्यमगृह्णां तान् प्रति स्वान्तेन कृतज्ञतां प्रख्यापयामि। श्रीनृसिंहदेवशास्त्रिरचितकुसुमप्रतिमाख्यव्याख्यासमेतं काव्यादर्शग्रन्थं ममोपयोगाय प्रदत्तवते डा० मनोहरकालेमहोदयायाथ च प्रूफ़शोधनकर्मणि मम साह्यं विहितवते श्रीजगदीशप्रसादगुप्तमहाभागायापि धन्यवादान् बहुश आवेदयामि। श्रीमेहरचन्दलछमनदास इति ख्याताभिधायाः प्राच्यभारतभारतीप्रकाशनसंस्थाया धुरावहाभ्यां श्रीसुदर्शन-राजेन्द्रमहोदयाभ्यामाकारशुद्धं रुचिरं चाचिरं च प्रकाशितोऽयं ग्रन्थ इति तावपि मे धन्यवादानर्हतः।

ग्रन्थेऽस्मिन् ममाज्ञानादन्यथाज्ञानात् प्रमादाद्वाऽथापि वा मुद्रणदोषात् संजातानि क्वचन स्खलितानि संभवेयुरेवेति, अनुक्तं च दुरुक्तं च पुनरुक्तं चात्र बहु स्यादेवेति च सुतरां जाने। तेषां यथायथं समाधानेन तन्निर्देशेन वा दोषान्वीक्षणचणा अपि गुणैकपक्षपातिनः सुधिय इमं जनमनुगृह्णन्त्विति प्रश्रयपुरस्सरं प्रार्थयमानः प्रमना अहं पूर्वेभ्यो नूतनेभ्यश्चाचार्येभ्यो विद्यागुरुभ्यश्च गुरुभ्यो ग्रन्थमिमं सबहुमानं समर्पयामि ।

पञ्जाबीविश्वविद्यालयः, पटियाला । विदुषामाश्रवः
कृष्णाष्टमी, २०३० वि० सं० । धर्मेन्द्रकुमारगुप्तः

विषयसूची

काव्यादर्शस्थविषयानुक्रमणिका

प्रथमः परिच्छेदः

द्वितीयः परिच्छेदः

तृतीयः परिच्छेदः

भूमिका

संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में आचार्य दण्डी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह इस इतिहास में उस युग का प्रतिनिधित्व करता है जिस युग में काव्यशास्त्र के कतिपय सिद्धान्त अपना निश्चित स्वरूप धारण कर चुके थे एवं कुछ सिद्धान्त अपना निश्चित स्वरूप ग्रहण करने की दिशा में आगे बढ़ रहे थे। कुछ सिद्धान्त इस युग में ऐसे भी थे जो चेतन अथवा अर्धचेतन रूप में, इस क्षेत्र में, आविर्भूत हो रहे थे। ऐसे नवसर्जनात्मक युग में जन्म लेकर आचार्य दण्डी ने काव्यशास्त्र के क्षेत्र में प्रचलित काव्यसिद्धान्तों को सप्रयास संकलित करके उन्हें नई व्याख्या और नई दिशा दी। कतिपय काव्यशास्त्रीय तत्त्वों का उसने नये सिरे से मूल्यांकन किया एवं उनके संबन्ध में अपने पूर्वग्रहरहित मत को दृढ़तापूर्ण शब्दों में हमारे सामने प्रस्तुत किया। कई तत्त्वों के संबन्ध में उसने मौलिक उद्भावनाएँ कीं, तथा कुछ अन्य तत्त्वों का बीजवपन किया जिनका अंकुरण, पल्लवन और विकास उत्तरवर्ती युगों में हुआ। इस प्रकार उसने काव्यशास्त्र के आरम्भिक युग में उसकी परम्परा को आगे बढ़ाया और उसे निश्चित एवं दृढ़ आधार पर स्थापित किया। अपने इस विशिष्ट योगदान के कारण वह संस्कृत काव्यशास्त्र की आचार्य-परंपरा में महनीय स्थान का अधिकारी है। इतना होते हुए भी, यह दुर्भाग्य का विषय है कि, उसके जीवन, व्यक्तित्व, काल एवं कृतियों के संबन्ध में अभी तक कुछ भी निर्विवाद रूप में ज्ञात नहीं है। यहाँ तक कि इस संबन्ध में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है कि दण्डी नामक एक ही व्यक्ति था अथवा इस नाम से और भी कवि या लेखक थे।

आचार्य दण्डी : कुछ मूल प्रश्न और उनका समाधान

दण्डी नामक अनेक लेखकों, और विशेषतः तीन लेखकों, की कल्पना करने का मुख्य कारण यह रहा है कि उसके नाम से अभिसंबन्धित, और आज उपलब्ध, तीन कृतियों—**दशकुमारचरित, अवन्तिसुन्दरीकथा** और **काव्यादर्श**—में विषय अथवा शैली और भावस्वर की दृष्टि से 'पर्याप्त' अन्तर है। इस आधार पर कुछ विद्वान् उक्त तीनों रचनाओं को एक ही लेखक की कृतियाँ मानने को तैयार नहीं हैं, और दूसरी ओर, ऐसी कोई परंपरा नहीं है जिसके आधार पर उक्त कृतियाँ संमिलित रूप में दण्डि-विरचित मानी जा सकें। परंतु इसके साथ यह भी तथ्य है कि ऐसी भी कोई परंपरा उपलब्ध नहीं होती

जिसके आधार पर एक से अधिक दण्डी के अस्तित्व को सिद्ध किया जा सके। उक्त तीन कृतियों में विषय, शैली अथवा भावस्वर संबन्धी अन्तर भी उतना नहीं है जितना माना जाता है, और जितना अन्तर इन दृष्टियों से इनमें है उतना एक ही कवि की विभिन्न अवस्थाओं में लिखित रचनाओं में संभव हो सकता है और, यदि वह कवि और आचार्य दोनों हो तो, उसके द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त और व्यवहार पक्ष में सामान्यतः स्वीकार्य माना जा सकता है। अतः जब तक दण्डित्रय के अस्तित्व की सिद्धि के लिए कोई ठोस आधार प्राप्त नहीं होता, तब तक दण्डि-कृतियों के रूप में प्रसिद्ध रचनाओं को एक ही आचार्य-कवि दण्डी की लेखनी से समुत्पन्न मानना चाहिए।[1]

पृथक्-पृथक् रूप में निम्नलिखित रचनाओं को दण्डि-विरचित मानने की परंपरा प्राप्त होती है : **काव्यादर्श, दशकुमारचरित, अवन्तिसुन्दरीकथा** और **द्विसंधानकाव्य**। इनमें **काव्यादर्श** काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थ है एवं **दशकुमारचरित** और **अवन्तिसुन्दरीकथा** गद्यकाव्य हैं। **द्विसंधानकाव्य**, जो आज अनुपलब्ध है, सर्गबद्ध महाकाव्य के रूप में रहा होगा। आचार्य भोज के अनुसार, इसमें श्लेष की सहायता से **रामायण** और **महाभारत** की कथाओं को एक साथ काव्यबद्ध किया गया था।[2] यह काव्य द्विसंधानप्रबन्ध लिखने की दिशा में संभवतः सर्वप्रथम प्रयास था।

दण्डि-प्रणीत उक्त 'चार' कृतियों की परंपरा राजशेखर की निम्नलिखित उक्ति से, जिसमें उसने दण्डी की 'तीन' रचनाओं की लोकविश्रुति की चर्चा की है, मेल नहीं खाती : **त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः। त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥**[3]

इस असंगति का समाधान करने के लिए कहा जाता है कि **दशकुमारचरित** एक स्वतन्त्र ग्रन्थ न होकर मूलतः **अवन्तिसुन्दरीकथा** का उत्तरभाग था।[4] इस मान्यता का प्रमुख आधार दोनों गद्यकृतियों में कथानक की अभिन्नता और

---

१. इस प्रश्न के विस्तृत परीक्षण के लिए, द्र० प्रस्तुत व्याख्याकार का ए क्रिटिकल स्टडी आफ़ दण्डिन् एंड हिज़ वर्क्स, पृ० ३-३५।

२. तु० शृङ्गार० ६, ११ (जिल्द २, पृ० ३१८, ४७८)। पृ० ३१८ पर उक्त काव्य से निम्नलिखित पद्य उद्धृत है : उदारमहिमारामः प्रजानां हर्षवर्धनः। धर्मप्रभव इत्यासीत् ख्यातो भरतपूर्वजः॥

३. शार्ङ्गधरपद्धति १७४; सूक्तिमुक्तावली ४.७४। उक्त पद्य शृङ्गार० ६ (जिल्द २, पृ० ३२८) में संख्या से द्रव्यभेद के उदाहरण के रूप में उद्धृत है।

४. वे० राघवन् : शृङ्गारप्रकाश [एक अध्ययन], पृ० ८३६-७; पी० वी० काणे : हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोइटिक्स, पृ० ६७, ६८-६।

उसका दोनों में पूर्वापरसंबन्ध है—**अवन्तिसुन्दरीकथा** में कथानक का पूर्वभाग है तथा **दशकुमारचरित** में उसका उत्तरभाग। इस मुख्य युक्ति के साथ कुछ अन्य युक्तियाँ भी इस मत के समर्थन में दी जाती हैं। परन्तु दोनों गद्यकृतियों में कथावस्तु को प्रस्तुत करने की शैली में अन्तर एवं वर्णनात्मक प्रसङ्गों के प्रति दोनों में अपनाए गए रुख में महान् भेद को देखते हुए उक्त मत से सहमत होना कठिन है। ऊपर उल्लिखित विप्रतिपत्ति का सर्वाधिक संभव समाधान यह होना चाहिए कि राजशेखर के मन में 'दण्डिप्रबन्धों' के रूप में दण्डी के तीन 'काव्यप्रबन्ध' ही विवक्षित रहे होंगे; उसका काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ—**काव्यादर्श**—उसे 'काव्यप्रबन्ध' के रूप में अभिप्रेत नहीं रहा होगा, क्योंकि 'प्रबन्ध' शब्द संस्कृत में सामान्यतः काव्यप्रबन्ध का वाचक है, शास्त्रीय ग्रन्थ अथवा लक्षण-ग्रन्थ का नहीं।[1]

काव्यादर्श को आचार्य दण्डी की कृति मानने के संबन्ध में दो मत नहीं हैं, यद्यपि इस संबन्ध में तीव्र मतभेद है कि उसको उसी दण्डी की कृति माना जाए जिसने गद्यकाव्य (अथवा –काव्यों) की रचना की है या उससे भिन्न दण्डी की। **काव्यादर्श** के अपने रचनाकाल के कुछ बाद से ही उसके दण्डि-प्रणीत होने के संबन्ध में निश्चित प्रमाण उपलब्ध होने आरम्भ हो जाते हैं। विज्जका नामक कवयित्री, जिसे चालुक्यवंशी पुलकेशी द्वितीय के पुत्र, चन्द्रादित्य, की पत्नी विजयमहादेवी से अभिन्न माना जाता है,[2] **काव्यादर्श** के मङ्गलाचरण-श्लोक के अन्तिम चरण, **सर्वशुक्ला सरस्वती**, को सपरिहास उद्धृत करती हुई

---

१. तु० प्रस्तुत व्याख्याकार, उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० ५६-६०। पिछले खेवे के विद्वानों के समक्ष दण्डी के नाम से प्रसिद्ध केवल दो कृतियाँ थीं: काव्यादर्श और दशकुमारचरित, और तब उनके सामने समस्या थी: दण्डि-विरचित तीसरी कृति कौन-सी है? इसके समाधान के रूप में जहाँ पिशल ने मृच्छकटिक को दण्डी का तीसरा कीर्तिस्तम्भ मानने का सुझाव दिया था, वहाँ जैकोबी ने काव्यादर्श (१.१२) में उल्लिखित छन्दोविचिति को। एक अन्य मत के अनुसार, काव्यादर्श (३.१७१) में उल्लिखित कलापरिच्छेद दण्डी का तीसरा ग्रन्थ था। कुछ विद्वानों ने कतिपय अन्य रचनाओं को दण्डी की तीसरी कृति के रूप में मानने का प्रस्ताव रखा। आज ये सभी मत पूर्णतः अमान्य सिद्ध हो चुके हैं। इस संबन्ध में यहाँ इतना कहना आवश्यक है कि काव्यादर्श में उल्लिखित छन्दोविचिति ग्रन्थ-विशेष का नाम न होकर 'छन्दःशास्त्र' का सामान्य वाचक है, और इस अर्थ में इसका साहित्य में अनेकत्र प्रयोग प्राप्त होता है। कलापरिच्छेद के संबन्ध में अधिक संभाव्यता इस बात की है कि वह, जैसा कि उसके नाम से प्रकट है, काव्यादर्श का ही एक परिच्छेद रहा हो जो आज नष्ट हो चुका है।

२. तु० आगशे (सं०): दशकुमारचरित, भूमिका, पृ० ५६ प्रभृति; काणे, उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० १२८ प्रभृति; प्रस्तुत व्याख्याकार, उपर्युक्त ग्रंथ, पृ० ८३-४।

कहती है : **नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता । वृथैव दण्डिना प्रोक्तं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥**[1] स्वयं को साक्षात् सरस्वती अथवा वाग्देवी मानने वाली साँवले वर्ण की महादेवी विज्जका सरस्वती को सर्वशुक्ला कहने वाले दण्डी को सपरिहास वृथावाद के दोष से मढ़ती है। विज्जका का समय सातवीं शताब्दी ई० का उत्तरभाग है।[2] इसी शतक के अन्तिम चरण में दण्डी ने **काव्यादर्श** की रचना की, और इसके कुछ समय बाद ही उसके मङ्गलाचरणश्लोक में सरस्वती के सर्वशुक्लत्व के वर्णन को पढ़कर विज्जका ने अपनी उक्त प्रतिक्रिया व्यक्त की।

आठवीं शताब्दी ई० में अपभ्रंश के कवि स्वयंभू ने अपने **रिट्ठणेमिचरिउ (हरिवंशपुराण)** और **पउमचरिउ** में दण्डी का आचार्य के रूप में ससमादर उल्लेख किया है।[3] नवीं शताब्दी में लङ्का के राजा शीलमेघवर्णसेन अथवा सेन प्रथम (राज्यकाल : ८३१ से ८५१ ई० तक) ने सिंहली भाषा में लिखित अपने अलंकारग्रन्थ **सियबसलकर** (स्वभाषालंकार) में दण्डी का न केवल उपजीव्य आचार्य के रूप में नामोल्लेख किया है, अपितु उसने उसके **काव्यादर्श** से पुष्कल सामग्री भी ग्रहण की है। **काव्यादर्श** के प्रथम दो परिच्छेद प्रायः साकल्येन इस ग्रन्थ में उपजीवित हुए हैं।[4] इसी शती में राष्ट्रकूट-नरेश नृपतुङ्ग अमोघवर्ष प्रथम (८१५-७५ ई०) ने अपने ग्रन्थ **कविराजमार्ग** में, जो कन्नड़ भाषा में उपलब्ध प्रथम अलंकारग्रन्थ है, **काव्यादर्श** से पर्याप्त सामग्री ग्रहण की। उसकी रचना में प्रायः सर्वत्र दण्डी का प्रचुर प्रभाव संलक्षित होता है। उपमा के अधिकांश भेद इसमें **काव्यादर्श** से ही अपनाए गए हैं, तथा कुछ पद्य तो इसके द्वितीय परिच्छेद के संबन्धित पद्यों के अनुवाद मात्र हैं।[5] लगभग इसी समय से संस्कृत के लक्षणग्रन्थों में भी दण्डी और उसके **काव्यादर्श** के उल्लेख एवं उससे उद्धरण प्राप्त होने लगते हैं, और इसके कुछ समय बाद से **काव्यादर्श** पर टीकाग्रन्थ भी लिखे जाने लगे।

दण्डी के लक्षणग्रन्थ—**काव्यादर्श**—के वास्तविक नाम के संबन्ध में एक नया मत अभी कुछ वर्ष पूर्व उपस्थित हुआ है। जहाँ सामान्यतः स्वीकृत

---

१. सूक्तिमुक्तावली ४.९६; शार्ङ्गधरपद्धति १८०।

२. तु० क० ऐ० नीलकण्ठ शास्त्री : अर्ली हिस्ट्री आफ़ डेक्कन, भाग ४, पृ० २४५।

३. तु० राहुल सांकृत्यायन (सं०) : हिन्दी काव्यधारा, पृ० २२, २४।

४. जर्नल आफ़ रायल एशियाटिक सोसाइटी (१९०५ ई०) में एल० डी० बार्नेट का लेख, पृ० ८४१; सुशील कुमार दे : हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोइटिक्स, १, पृ० ५८ प्रभृति।

५. के० बी० पाठक (सं०) : कविराजमार्ग, भूमिका, पृ० १८-९; प्रस्तुत व्याख्याकार, उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० ६३-४।

परंपरा इसके **काव्यादर्श** नाम का समर्थन करती है और आज उपलब्ध हस्तलिखित पुस्तकों एवं मुद्रित संस्करणों में तथा उनकी पुष्पिकाओं में प्रायः यही नाम प्राप्त होता है, वहाँ इसके सिंहलवासी प्राचीन बौद्ध टीकाकार रत्नश्रीज्ञान (रचनाकाल : ९३१ ई०) ने इसका नाम **काव्यलक्षण** होने का निर्देश किया है। इस नाम का आधार स्वयं दण्डी का यह कथन है : **यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम्** (**काव्यादर्श** १.२)। उक्त बौद्ध टीकाकार ने विभिन्न परिच्छेदों की पुष्पिका में **काव्यलक्षण** नाम को ही स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त, ३.१८६ की अपनी टीका में उसने इस ग्रन्थ को इसी नाम से उल्लिखित किया है। संभव है कि दण्डी के लक्षणग्रन्थ का मूल नाम **काव्यलक्षण** ही रहा हो और उत्तरवर्ती युग में किसी कारण से इसका **काव्यादर्श** नाम प्रचलित हो गया हो। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि कुन्तक ने अपने **वक्रोक्तिजीवित** (३.३३; पृ० २०४) में दण्डी को 'लक्षणकार' कहकर उल्लिखित किया है। कुछ भी हो, आज इसका सामान्यतः प्रचलित नाम **काव्यादर्श** ही है और हम भी यहाँ इसका उल्लेख साधारणतः इसी नाम से करेंगे।

आज उपलब्ध **काव्यादर्श** संभवतः अपूर्ण है। ग्रन्थ के ३.१७१ की निम्नलिखित उक्ति से प्रतीत होता है कि इसके आज उपलब्ध तीन परिच्छेदों के अतिरिक्त एक और परिच्छेद भी था और उसका नाम कलापरिच्छेद था : **तस्याः कलापरिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति।** इस परिच्छेद में चौसठ कलाओं का वर्णन अथवा निरूपण रहा होगा। यह अवधेय है कि उक्त कथन में प्रयुक्त वाक्यांश, **रूपमाविर्भविष्यति**, **काव्यादर्श** में दो अन्य स्थानों (२.२६५, ३१५) में भी आया है और उसके द्वारा प्रस्तावित 'स्वरूपाविर्भाव' ग्रन्थ में ही हुआ है। कतिपय प्राचीन काव्यलक्षणग्रन्थों में नाटक के स्वरूप का भी विवेचन हुआ है, और इस बात को देखते हुए यह संभावना की जा सकती है कि **काव्यादर्श** में नाट्य तथा नृत्य, गीत आदि कलाओं से संबन्धित एक परिच्छेद रहा होगा। यद्यपि **वात्स्यायनकामसूत्र** (१.३.१५) में नाट्यकला का चतुष्षष्टि कलाओं में समावेश नहीं है, तथापि यह निश्चित है कि दण्डी के अनुसार यह कला चौसठ कलाओं में से एक थी। इस तथ्य की पुष्टि **काव्यादर्श**, ३.१७०, से होती है जहाँ कलाविरोध के निदर्शन के रूप में नाट्यरस-संबन्धी विरोध का उपन्यास किया गया है। दण्डी की अन्य कृति, **दशकुमारचरित** (पृ० ६६), में भी नाट्य का कला के रूप में समुल्लेख है।

कलापरिच्छेद के अस्तित्व की पुष्टि में एक अतिरिक्त प्रमाण भी प्राप्त होता है। **मालतीमाधव** के टीकाकार जगद्धर ने अपनी टीका में दण्डी के नाम से छः पद्य अथवा पद्यांश उद्धृत किए हैं। इनमें से केवल तीन पद्य ही

काव्यादर्श की विद्यमान हस्तलिखित पोथियों एवं मुद्रित संस्करणों में उसी रूप में प्राप्त होते हैं। दो पद्य ऐसे हैं जिनका वर्तमान संस्करणों में जहाँ-तहाँ समावेश किया जा सकता है। परंतु इनमें एक पद्य[1] ऐसा है जिसे कहीं भी स्थान देना संभव नहीं है। इस पद्य का संबन्ध प्रकरण नामक रूपकभेद से है। संभव है कि **काव्यादर्श** के कलापरिच्छेद में नाट्यकला के अन्तर्गत रूपक और रूपकभेदों की चर्चा करते हुए प्रकरण के संबन्ध में आचार्य ने इस पद्य को रखा हो। **वात्स्यायनकामसूत्र** के टीकाकार यशोधर ने अपनी जयमङ्गला टीका में **काव्यादर्श** से दो पद्य उद्धृत किए हैं।[2] ये पद्य आज **काव्यादर्श** में उपलब्ध नहीं होते। इन पद्यों का संबन्ध चौसठ कलाओं में से दो कलाओं—क्रमशः दुर्वाचकयोग और काव्यसमस्यापूरण—से है। यह संभव है कि यशोधर ने इन पद्यों को **काव्यादर्श** के कलापरिच्छेद से उद्धृत किया हो। प्रतीत होता है कि जगद्धर (१२००-१३०० ई०) और यशोधर (लगभग १२५० ई०) के समय में **काव्यादर्श** का यह कलापरिच्छेद किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहा होगा और बाद में धीरे-धीरे उपेक्षित होकर बिलकुल नष्ट हो गया होगा। गद्य और पद्य के मिश्रित रूप के तौर पर नाटक की चर्चा करते हुए दण्डी ने कहा है : **तेषामन्यत्र विस्तरः** (१.३१)। संभव है, **अन्यत्र** से आचार्य की विवक्षा 'किसी अन्य परिच्छेद में' रही हो। **तस्याः कलापरिच्छेदे** इत्यादि (३.१७१) की अपनी टीका में रत्नश्रीज्ञान ने लिखा है कि कलापरिच्छेद **काव्यादर्श** का एक परिच्छेद है, परंतु वह यहाँ प्रचलित नहीं है।[3] तरुणवाचस्पति ने उक्त पद्य की अपनी टीका में लिखा है कि सुनते हैं कि **काव्यादर्श** का एक अन्य परिच्छेद भी है जिसमें चौसठ कलाओं का विवेचन किया गया है।[4] उक्त प्राचीन टीकाकारों के वक्तव्यों से प्रतीत होता है कि उनके युग में कलापरिच्छेद का अस्तित्व तो था, परंतु उसका सामान्य रूप में प्रचलन नहीं था। इस विशिष्ट स्थिति का मुख्य कारण यह हो सकता है कि उत्तरवर्ती युग में चौसठ कलाओं के विवेचन को

---

१. शकारः कुट्टिनी दासी धर्मशास्त्रबहिष्कृता। विटचेट्यादयो नित्यं बाह्याः प्रकरणे मताः॥ (१.१५—गद्य की टीका में उद्धृत)। अन्य उद्धरणों के लिए, तु० इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, २४, में एस० एल० कात्रे का लेख, पृ० ११८-२२।

२. (क) दंष्ट्राग्रग्र्या प्राग्यो द्राक्क्षमामम्ब्वन्तःस्थामुच्चिक्षेप। देवध्रुट्क्षिद्व्यृत्विक्स्तुत्यो युष्मान्सोऽव्यात्सर्पारिकेतुः॥ (ख) दौत्येन द्विरदपुरं गतस्य विष्णोर्बन्धार्थं प्रतिविहितस्य धार्तराष्ट्रैः। रूपाणि त्रिजगति भूतिमन्ति रोषादाश्वासञ्जनयति राजमुख्यमध्ये॥ (१.३.१५ की टीका में उद्धृत)।

३. चतुर्थः कलापरिच्छेदोऽस्य दण्डिनोऽस्ति, स त्विह न प्रवर्तते।

४. चतुःषष्टिकलासंग्रहात्मकः काव्यादर्शस्य कश्चिदन्योऽपि परिच्छेदोऽस्तीत्याहुः।

काव्यशास्त्र का सामान्य विषय नहीं माना गया और फलतः काव्यशास्त्र के तत्कालीन पाठ्यक्रम में उसे स्थान न मिला। इससे वह दिनोंदिन उपेक्षित होता गया, और कालान्तर में यह उपेक्षित परिच्छेद सर्वथा लुप्त हो गया।

आज उपलब्ध **काव्यादर्श** में तीन परिच्छेद हैं जिनमें कुल मिलाकर ६६० (१०५+३६८+१८७) श्लोक हैं।[1] इन श्लोकों[2] में लगभग तीन सौ कारिकाश्लोक हैं एवं शेष उदाहरणश्लोक हैं। पूना में सुरक्षित ताड़पत्र वाली पोथी में एवं ब्रह्मवादि मुद्रणालय (मद्रास) से प्रकाशित संस्करण में तीन के स्थान पर चार परिच्छेद हैं। इनमें तृतीय परिच्छेद यमकप्रहेलिकाप्रकार अथवा सुकरदुष्करमार्ग (३.१-१२५) के निरूपण के साथ समाप्त हो जाता है एवं उससे आगे (३.१२६-८७) दोष विवेचन के रूप में चतुर्थ परिच्छेद है।

अभी कुछ समय पूर्व डा० जयशंकर त्रिपाठी ने **काव्यादर्श** के तृतीय परिच्छेद (ताड़पत्र पोथी के अनुसार, तृतीय-चतुर्थ परिच्छेद) की प्रामाणिकता पर संदेह प्रकट किया है।[3] डा० त्रिपाठी के अनुसार, **काव्यादर्श** के दोनों भागों में एक ही वर्ण्यविषय के स्वरूप में अन्तर है; उदाहरणतः प्रथम परिच्छेद में प्राप्त महावराह (विष्णु) का वर्णन तृतीय परिच्छेद के वराह-वर्णन से मेल

---

१. भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, में सुरक्षित ताड़पत्र वाली पोथी में द्वितीय परिच्छेद में ३६४½ तथा तृतीय परि० में १९०½ पद्य हैं। इस पोथी में २.२४, ५६ उ०, ६५ उ०, १५५-६, ३६२ (कुल पाँच पद्य) नहीं हैं। दूसरी ओर, २.२२६ पू० और उ० के मध्य १½, ३.१२४ के अनन्तर २, ३.१६१ के अनन्तर १ तथा ३.१७६ पू० और उ० के मध्य ½ पद्य (कुल पाँच) अधिक हैं। ब्रह्मवादि सं० में द्वितीय परि० में ३६७ एवं तृतीय परि० में १९० पद्य हैं। इस सं० में २.३६२ नहीं है, एवं ३.१२४ के अनन्तर तीन पद्य अधिक हैं। इस प्रकार इसमें कुल मिलाकर ६६२ पद्य हैं। दरभंगा सं० में द्वितीय परि० में ३६५ पद्य हैं; इसमें २.१५५-६ एवं २.३६२ नहीं हैं। इसके तृतीय परि० में १८६½ पद्य हैं; इसमें ३.१६१ पू० नहीं है। इस प्रकार इसमें पद्यों की कुल संख्या ६५६½ है। कलकत्ता विश्वविद्यालय सं० में द्वितीय परि० में ३६४ पद्य हैं; इसमें २.५६ उ०, ६५ उ०, १५५-६, ३६२ नहीं हैं। इसके तृतीय परि० में १८६½ पद्य हैं; इसमें ३.१६१ पू० नहीं हैं। इस प्रकार इसमें कुल ६५५½ पद्य हैं।

२. ये श्लोक मुख्यतः अनुष्टुप् छन्द (६२२) में हैं। अन्य छन्द हैं वंशस्थ (१६ : १.१०४-५; ३.४०-२, ४६-९, ५२, ५७-६१, ७२), वसन्ततिलका (४ : २.३६८; ३.४३-४, १८७), उपजाति (४ : ३.५६, ६४-५, १५८), उपेन्द्रवज्रा (३ : ३.५५, ६२-३), विद्युन्माला (३ : ३.८२, ८४, ८७), प्रमाणिका (२ : ३.३९, ७१), मन्दाक्रान्ता (१ : ३.१५३), इन्द्रवज्रा (१ : ३.६६), स्वागता (१ : ३.४५), त्वरितगति (१ : ३.८५) और वाणी (१ : ३.८६)। एक पद्य (३.५०), कालकालगलकाल-काल इत्यादि, का छन्द अनिर्ज्ञात है।

३. आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन, पृ० ४००-८।

नहीं खाता। तृतीय परिच्छेद के वराह-वर्णन[1] में समुद्र से निकाली गई पृथ्वी के शेषनाग पर स्थित होने का उल्लेख है; यह वर्णन विदिशा के निकट स्थित उदयगिरि की वराह-प्रतिमा (लगभग ४०० ई०) से साम्य रखता है, अतश्च उसके बाद का है, जब कि प्रथम परिच्छेद का वराह-वर्णन,[2] जिसमें शेषनाग का उल्लेख नहीं है, डा० त्रिपाठी के मत में, उक्त प्रतिमा की अपेक्षा प्राचीनतर प्रतिमाओं को लक्ष्य करके किया गया है। ऐसी प्रतिमाएँ लेखक के अपने समय में (डा० त्रिपाठी के अनुसार, ३४० और ३५० ई० के बीच) या उससे पूर्व बन रही थीं।

उपर्युक्त युक्ति हमें किसी निर्णय पर पहुंचाने के लिए अपर्याप्त है। वराह के उक्त दोनों वर्णनों में निर्दिष्ट भिन्नता संयोग की बात हो सकती है, और यह आवश्यक नहीं कि इसका कोई ऐतिहासिक कारण हो। प्रथम परिच्छेद के वराह के चित्र में शेषनाग का समावेश न करना समापत्ति मात्र है, अतः इसके आधार पर यह कहना कि असली **काव्यादर्श** (प्रथम-द्वितीय परिच्छेद) ४०० ई० से पूर्व रचा गया था और तृतीय परिच्छेद उसमें ४०० ई० के बाद किसी समय जोड़ा गया तर्कसंगत नहीं है। वराह अथवा महावराह का ऐसा वर्णन जहाँ शेषनाग का उल्लेख नहीं है दण्डी की रचनाओं में अन्यत्र भी आया है।[3]

तृतीय परिच्छेद की अप्रामाणिकता के समर्थन में दी गई अन्य युक्तियाँ इस प्रकार हैं : (१) ग्रन्थ के आरम्भ में किए गए विषयनिर्देश से तृतीय परिच्छेद के अन्त में निर्दिष्ट विषयसूची भिन्न है। प्रथम परिच्छेद में विवेच्य विषय के रूप में (अपार्थ आदि) दोषों का उल्लेख नहीं है; १.८ में उल्लिखित दोष शब्द से गुणविपर्यय रूप दोष मात्र ही अभिप्रेत हैं। दूसरी ओर, तृतीय परिच्छेद के अन्त में निर्दिष्ट विषयसूची में मार्ग और उसके गुणों का उल्लेख नहीं किया गया है; ३.१८६ में उल्लिखित गुण शब्द दोष-गुणों का सूचक है, श्लेष आदि गुणों का नहीं। (२) **काव्यादर्श** के द्वितीय परिच्छेद के अन्तिम दो पद्य ग्रन्थ की समाप्ति सूचित करते हैं। (३) प्रथम परिच्छेद के उपसंहारश्लोक में जहाँ वाणी की **उपासना** का निर्देश किया गया है, वहाँ तृतीय परिच्छेद के उपसंहार-श्लोक में युवती की भाँति वाणी के साथ **रमण** करने की बात कही गई है।

---

१. ३.२५ : उद्धृत्य राजकादुर्वी ध्रियतेऽद्य भुजेन ते। वराहेणोद्धृता यासौ वराहेरुपरि स्थिता॥

२. १.७३ : …हरिणोद्धृता। भूः खुरक्षुण्णनागासृग्लोहितादुदधेः… ॥

३. दशकुमारचरित, पृ० १३८; अवन्तिसुन्दरीकथा, पृ० २२, २७, ४३, ७५, ८०, १०८, २०५, २४२।

(४) प्रथम परिच्छेद में प्रदत्त यमक का लक्षण (६१ पू० : **आवृत्तिं वर्णसंघात-गोचरां यमकं विदुः**) तृतीय परिच्छेद में प्रदत्त लक्षण (१ : **अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसंहतेः । यमकं…**) से भिन्न है ।

हमारे मत में, उपर्युक्त युक्तियों में विशेष बल नहीं है, और इनके आधार पर तृतीय परिच्छेद की अप्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती । सबसे पहली बात तो यह है कि क्रमशः प्रथम और तृतीय परिच्छेद में उल्लिखित दोष और गुण शब्दों के उक्त प्रकार से संकुचित अर्थ में, अर्थात् क्रमशः गुण-विपर्यय दोष और दोष-गुणों के रूप में, ग्रहण करने का कोई तर्कसंगत कारण नहीं है । दोनों स्थानों पर दोषों और गुणों से मुख्यतः अपार्थ आदि दोष और श्लेष आदि गुण ही अभिप्रेत हैं । हां, गौण रूप में गुणविपर्यय रूप दोषों और दोष-गुणों का ग्रहण भी अभीष्ट हो सकता है । द्वितीय परिच्छेद के अन्तिम पद्य 'ग्रन्थ' की समाप्ति की सूचना न देकर परिच्छेद की समाप्ति की सूचना मात्र देते हैं; इनमें, विशेषतः अन्तिम पद्य में,[1] 'अलंकारमार्ग' का उपसंहार है, 'ग्रन्थ' का नहीं । वाणी द्वारा अभिसृत होकर उसके साथ रमण करने के आलं-कारिक वर्णन में अनौचित्य देखना एवं उसके आधार पर तृतीय परिच्छेद के लेखक के मूल लेखक से भिन्न होने की कल्पना करना उपयुक्त नहीं । श्री और सरस्वती दोनों के संबन्ध में ऐसे आलंकारिक वर्णन हमें श्रेण्य साहित्य में अन्यत्र भी मिलते हैं ।[2] दूसरी बात यह है कि आलोच्य स्थल में **वाग्भिः कृताभिसरणः** में बहुवचनान्त **वाक्** शब्द को सरस्वती के अर्थ में लेना तर्कोचित नहीं है; **वाक्** शब्द यहां साधारण 'काव्यवाणी' के अर्थ में प्रयुक्त है ।[3] इसी प्रकार, प्रथम और तृतीय परिच्छेद में प्रदत्त यमक के लक्षण में कोई अन्तर नहीं है; पहले लक्षण

---

१. पन्थाः स एष विवृतः परिमाणवृत्त्या संक्षिप्य विस्तरमनन्तमलंक्रियाणाम् । वाचामतीत्य विषयं परिवर्तमानानभ्यास एव विवरीतुमलं विशेषान् ॥ अध्याय-समाप्ति के सूचक इस प्रकार के पद्य हमें अन्य लक्षणग्रन्थों में भी प्राप्त होते हैं; तु० विशेषतः भामह ३.५८ : गिरामलंकारविधिः सविस्तरः स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः । अनेन वागर्थविदामलंकृता विभाति नारीव विदग्धमण्डना ॥

२. इस संबन्ध में स्वयं दण्डी की निम्नलिखित उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं : काव्यादर्श २.३४५ : पुंसः पुराणादाच्छिद्य श्रीस्त्वया परिभुज्यते । राजन्निक्ष्वाकुवंश्यस्य किमिदं तव युज्यते ॥, दशकुमारचरित, पृ० ५५ : अशक्यं हि मदिच्छया विना सरस्वतीमुख-ग्रहणोच्छेषणीकृतो दशनच्छद एष चुम्बयितुम् । अम्बुजासनास्तनतटोपभुक्तमुरः-स्थलं चेदमालिङ्गयितुम् ।, अवन्तिसुन्दरीकथा, पृ० १० : स यौवनारम्भ एवाति-सुभगाकृतिः …ललितपदविन्यासया चतुरहृद्यालंकारया विशुद्धजातिवृत्तया स्वयं-वर इव कन्यकया स्वयमुपेत्य सस्नेहमस्वज्यत ।

३. उसके ऐसे प्रयोग के लिए तु० काव्यादर्श १.९, ४०; २.२३५, ३६८ ।

से दूसरे लक्षण में नियम का विस्तार मात्र हुआ है। दोनों स्थानों पर उसे वर्ण-समुदाय की आवृत्ति कहा गया है; हां, दूसरे स्थान पर उसके मुख्य दो प्रकारों—व्यपेत और अव्यपेत—का निर्देश भी लक्षण में कर दिया गया है, जो वहाँ यमक के विस्तृत विवेचन की प्रस्तावना के प्रसङ्ग में अपेक्षित ही था। १.६१ में यह स्पष्ट कहा गया है कि यमक का, जो सभी स्थितियों में अथवा साकल्येन मधुर नहीं होता, निरूपण बाद में किया जाएगा : **तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद्विधास्यते**। यहाँ तृतीय परिच्छेद की, कम-से-कम यमक-प्रकरण की, स्पष्ट स्वीकृति है। डा० त्रिपाठी ने अपने पूर्वग्रह के मार्ग में बाधा बनकर आने वाली इस पंक्ति का निम्नलिखित 'सही अर्थ' सुझाया है : 'वह यमक एकान्ततः मधुर नहीं है, इसलिए (पूर्वलक्षणकारों ने) उसका निरूपण पश्चात् (अनभिमत रूप में) किया है।' स्पष्टतः यह अर्थ खींचातानी से युक्त है। प्राचीन अथवा आधुनिक किसी व्याख्याकार को यह अर्थ मान्य नहीं है।

डा० त्रिपाठी के अनुसार, 'कविसुलभ प्रौढ़ता के साथ' जो 'सहज-बोध, प्रवाह और लालित्य' **काव्यादर्श** के प्रथम दो परिच्छेदों में मिलते हैं वे तृतीय परिच्छेद में दृष्टिगोचर नहीं होते। वे लिखते हैं : "लालित्य की बात तो दूर रही, तृतीय परिच्छेद में छन्दोभङ्ग भी है जो कि प्रथम-द्वितीय परिच्छेद की कारिकाओं में कहीं देखने को नहीं मिला। विषय-निर्वचन संबन्धी तृतीय परिच्छेद की इस कारिका को देखिए—**इति पादादियमकविकल्पस्येदृशी गतिः। एवमेव विकल्प्यानि यमकानीतराण्यपि॥** (३.३७) इसके प्रथम चरण का छठवाँ वर्ण लघु है जब कि उसे गुरु होना चाहिए।" इस संबन्ध में हमारा निवेदन है कि तृतीय परिच्छेद की कारिकाओं में उक्त दोष-दर्शन पूर्वग्रहप्रेरित मात्र है। छन्दोभङ्ग वाली बात भ्रान्तिपूर्ण है। वस्तुतः अनुष्टप् छन्द की अनेक विधाएँ हैं। ऊपर उद्धृत पद्य का प्रथम चरण नविपुला नामक अनुष्टुप्-प्रकार का उदाहरण है। इस विधा के उदाहरण प्रथम और द्वितीय परिच्छेदों में भी दृष्टिगोचर होते हैं। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं : (१) **श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।** (२) **समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः।** (३) **अपेक्षमाणा ववृते पौरस्त्या काव्यपद्धतिः॥** (४) **चन्द्रबिम्बादिव विषं चन्दनादिव पावकः।** (५) **तव तन्वङ्गि वदनमित्यसौ विक्रियोपमा॥** (६) **कल्पद्रुमश्च क्रियते तदिदं हेतुरूपकम्॥**[1]

दण्डी के संबन्ध में सर्वाधिक विवादपूर्ण विषय है उसका स्थितिकाल। इस प्रश्न को लेकर विद्वानों में पर्याप्त नोकझोंक हुई है, और फिर भी यह प्रश्न

---

१. तु० क्रमशः १.४१ पू०, ४७ पू०, ५० उ०; २.३९ पू०, ४१ उ०, ८६ उ०।

आज तक अन्तिम रूप से हल नहीं हो सका है। जैसा कि हम देख चुके हैं, विद्वानों में दण्डी के नाम से अभिसंबन्धित कृतियों के अभिन्नकर्तृकत्व के संबन्ध में भी विवाद है। इन विद्वानों के अनुसार, इन कृतियों के भिन्नकर्तृक होने का एक कारण इनके रचनाकाल की परस्पर भिन्नता भी है। परंतु वास्तव में उक्त कृतियों का रचनाकाल, उनके अन्तःसाक्ष्य और उनसे संबन्धित बहिःसाक्ष्य का स्वतन्त्र परीक्षण करने पर भी, प्रायः अभिन्न सिद्ध होता है, और उनके रचनाकाल की यह अभिन्नता अन्ततोगत्वा उनके अभिन्नकर्तृक होने के अभिमत की पुष्टि करता है। यहाँ हम दण्डी की सभी कृतियों के रचनाकाल के प्रश्न को न लेकर मुख्यतः **काव्यादर्श** से संबन्धित समस्या पर अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे।

काव्यादर्श के काल की पूर्ववर्ती सीमा का निर्धारण निम्नलिखित तथ्यों के आधार पर किया जाता है: (१) **काव्यादर्श** १.३४ में **सेतुबन्ध** का उल्लेख, जिसका लेखक वाकाटकवंशी नरेश प्रवरसेन द्वितीय (लगभग ४१०-४० ई०) था; (२) **काव्यादर्श** २.२४० में कर्मत्रैविध्य का उल्लेख जो निश्चयतः भर्तृहरि (४५०-५०० ई०) के **वाक्यपदीय** (३.७.४५ प्रभृति) पर आधारित है; (३) **काव्यादर्श** में भास (लगभग ३०० ई०), कालिदास (४०० ई० के आसपास), भारवि (प्रायः ६०० ई०) और बाण (६१०-५० ई०) की रचनाओं से प्रभावित उदाहरणश्लोक।

भास का प्रसिद्ध पद्य, **लिम्पतीव तमोऽङ्गानि** इत्यादि, **काव्यादर्श** २.२२६ में अंशतः उद्धृत है।[1] एक अन्य पद्य, **मृतेति प्रेत्य संगन्तुं** इत्यादि (**काव्यादर्श** २.२८०), भास के **स्वप्नवासवदत्त** से उद्धृत प्रतीत होता है। यद्यपि यह पद्य उक्त नाटक के वर्तमान संस्करणों में उपलब्ध नहीं होता, तथापि इसे नाटक में ६.१७ के अनन्तर सरलता से व्यवस्थापित किया जा सकता है। कालिदास का प्रभाव **काव्यादर्श** के अनेक उदाहरणश्लोकों पर स्फुटतया लक्षित होता है,[2] और प्रायः सभी विद्वान् इस तथ्य को एक स्वर से स्वीकार करते हैं। भारवि का प्रभाव भी **काव्यादर्श** में जहाँ-तहाँ, विशेषतः चित्रकाव्यनिरूपण के प्रसङ्ग में, देखा जा सकता है। दण्डी का एकवर्णनियम का उदाहरण (३.६५) भारवि के एकवर्णनियम वाले पद्य (१५.१४) से निकटतः तुलनीय है। दोनों

---

१. २.३६२ में अविकल रूप में प्राप्त पद्य प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। कलकत्ता विश्वविद्यालय सं० और दरभंगा सं० में यह पद्य नहीं है। यह श्लोक मूलतः भास के चारुदत्त (१.१९) और बालचरित (१.१५) में प्राप्त होता है। चारुदत्त से यह शूद्रक के मृच्छकटिक (१.३४) में आया।

२. तु० १.४५; २.१२९, २०३, २८९। द्र० उक्त पर टि० भी।

लेखकों ने इस नियम को निदर्शित करने के लिए नकार को चुना है। स्थान-नियम के अन्तर्गत दण्डी द्वारा प्रदत्त निरोष्ठ्य रचना का **नयनानन्दजनने** इत्यादि उदाहरण (३.८८) भी **किरातार्जुनीय** के निरोष्ठ्य पद्यों (१५.७, २६) से प्रभावित प्रतीत होता है। महाकवि बाण का स्फुट प्रभाव **काव्यादर्श** के निम्नलिखित पद्य (२.१९७) पर लक्षित होता है : **अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः । दृष्टि-रोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः॥** उक्त पद्य, स्पष्टतः, **कादम्बरी** के इस गद्यांश (अनुच्छेद १०३) का श्लोकीकरण है : **केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्ना-लोकोच्छेद्यमदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्।** **काव्यादर्श** के निम्न-लिखित श्लोक (२.३०२) पर भी बाण का प्रभाव देखा जा सकता है : **रत्न-भित्तिषु संक्रान्तैः प्रतिबिम्बशतैर्वृतः । ज्ञातो लङ्केश्वरः कृच्छ्रादाञ्जनेयेन तत्त्वतः ॥** **कादम्बरी** का यह गद्यांश (अनुच्छेद ८५) इससे तुलनीय है : **अमल-मणिभूमिसंक्रान्तमुखनिवहप्रतिबिम्बतया विकचकमलपुष्पप्रकरमिव संपादयता··· वारविलासिनीजनेन····।**[1]

दण्डी **काव्यादर्श** (१.२५) में लिखता है कि आख्यायिका के प्राप्त रूपों में कहानी के वक्ता के रूप में नायकेतर व्यक्ति भी देखे जाते है। उसका यह कथन बाण के **हर्षचरित** की ओर संकेत करता है जिसमें हर्ष की कहानी स्वयं हर्ष द्वारा आख्यात न होकर बाण द्वारा कही गयी है।

उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि **काव्यादर्श** की रचना सातवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध के बाद कभी हुई। दूसरी ओर, उसके रचनाकाल की परवर्ती सीमा का निर्धारण निम्नलिखित साक्ष्यों के आधार पर किया जा सकता है : (१) शील-मेघवर्णसेन (८३१-५१ ई०) के **सियबसलकर** में दण्डी का उपजीव्य आचार्य के रूप में उल्लेख एवं **काव्यादर्श** से प्रचुर सामग्री का ग्रहण; (२) नृपतुङ्ग अमोघवर्ष प्रथम (८१५-७५ ई०) के **कविराजमार्ग** में **काव्यादर्श** से पर्याप्त सामग्री का, उसी रूप में अथवा कुछ परिवर्तन के साथ, ग्रहण; (३) आठवीं शती के अप-भ्रंश कवि स्वयंभू द्वारा दण्डी का आचार्य के रूप में उल्लेख; (४) वामन (लग-भग ७७५ से ८२५ ई०) की **काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** पर **काव्यादर्श** का प्रभाव; और (५) भामह द्वारा दण्डी के कतिपय काव्यसिद्धान्तों की आलोचना एवं उसके कुछ पद्यों का अविकल रूप में अथवा कुछ परिवर्तन के साथ उद्धरण। उक्त तथ्यों में से प्रथम तीन की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। अन्तिम दो

---

१. दण्डी का पद्य उसके समकालीन माघ के निम्नलिखित पद्य (शिशु० २.४) से भी तुल-नीय है : रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे । एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव ॥

सादृयों में से जहाँ पहला सादृय प्रायः सर्वमान्य है, वहाँ दूसरे के संबन्ध में पर्याप्त मतभेद है।

वामन के रीतिसिद्धान्त पर दण्डी का स्पष्ट प्रभाव संलक्षित होता है। वामन ने वैदर्भी को समग्रगुणोपेता कहा है (१.२.११)। इस कथन की प्रेरणा स्पष्टतः दण्डी की यह उक्ति है : **इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः** (१.४२)। रीति को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित करने के वामन के प्रयत्न (१.२.६) के पीछे भी दण्डी की प्रेरणा काम करती-सी प्रतीत होती है। वस्तुतः दण्डी ने मार्ग के गौरव की खोज की और वामन ने उस गौरव के अनुरूप उसके लिए स्थान बनाया; उसने उसे अधिक उपयुक्त और ग्रहणीय नाम, रीति, देकर काव्यात्मतत्त्व के रूप में उसकी प्रतिष्ठापना की। रीति के वर्गीकरण के संबन्ध में भी उसने दण्डी के कार्य को आगे बढ़ाया—उसे अधिक तर्कसंगत और स्वीकरणीय बनाया; उसने दण्डी के वैदर्भ और गौडीय मार्गों के साथ उनके मध्यवर्ती पाञ्चाल मार्ग की प्रस्तावना की (१.२.९)। गुण और अलंकार की संकल्पना में भी वामन ने यथेष्ट परिष्कार किया। जहाँ दण्डी ने अलंकार को काव्यशोभाकर धर्म मानते हुए गुण को, जिसकी परिभाषा उसने नहीं दी है, सामान्यतः अलंकार में अन्तर्भुक्त करने का संकेत किया (२.१, ३), वहाँ वामन ने दोनों के बीच निश्चित सीमारेखा खींचने का प्रयास किया जो स्पष्टतः उसके उत्तरवर्ती होने का सूचक है। गुण, उसके अनुसार, काव्यशोभा के विधायक धर्म और अलंकार उसके अतिशायक (=समृद्धिहेतु) धर्म हैं (तु० ३.१.१-२ : **काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।**; द्र० **काव्यादर्श** २.१ पर टि० भी)। इसी प्रकार, जहाँ दण्डी के युग में **इव** शब्द की उत्प्रेक्षाव्यञ्जकता साध्य थी और फलतः दण्डी को इस बात का प्रतिपादन करने के लिए एक विस्तृत प्रसङ्ग (२.२२६-३४) का उपक्रम करना पड़ा, वहाँ वामन के समय तक उक्त शब्द की उत्प्रेक्षाव्यञ्जकता सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी (तु० ४.३.९ वृत्ति : **एनां [उत्प्रेक्षां] चेवादिशब्दा द्योतयन्ति**)।[1]

दण्डी और भामह के पौर्वापर्य का प्रश्न संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास की सबसे बड़ी समस्या है।[2] यहाँ हम इस समस्या की संक्षिप्त चर्चा करके इस

---

१. कीलहार्न और पीटरसन (आगशे, दशकुमारचरित, भूमिका, पृ० ७-९) का यह मत कि वामन दण्डी से पूर्ववर्ती है आज मान्य नहीं है। इस संबन्ध में तु० प्रस्तुत व्याख्याकार, उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० ६४, पादटि० ३।

२. इस प्रश्न की विस्तृत चर्चा के लिए द्र० इण्डियन स्टडीज़ इन आनर आफ़ लैनमैन (कैम्ब्रिज, १९२९) में ए० बी० कीथ का लेख, पृ० १७०-८१; पी० वी० काणे, उप-

संबन्ध में अपना अभिमत प्रस्तुत करेंगे। सर्वप्रथम हम एतत्संबन्धी अन्तःसाक्ष्य पर विचार करेंगे। अन्तःसाक्ष्य के अन्तर्गत दोनों में समानरूप पद्य अथवा समानविषयक सामग्री एवं विवेच्य वस्तु के एक समान विवेचन की चर्चा की जाएगी। इस संबन्ध में यह बात यहाँ स्पष्ट कर दी जानी चाहिए कि यह सर्वथा संभव है कि दोनों आचार्यों ने अभिन्न या तुल्य स्रोत से अपनी सामग्री ग्रहण की हो। फिर भी, कई स्थलों पर एक लेखक के दूसरे पर प्रभाव की अथवा एक द्वारा दूसरे की आलोचना की बात निश्चित-सी जान पड़ती है, चाहे यह निर्विवाद रूप से स्थापित न किया जा सके कि किसका किस पर प्रभाव पड़ा है या किसने किसकी आलोचना की है।

निम्नलिखित पद्य दोनों लेखकों द्वारा प्रेयः के उदाहरण के रूप में गृहीत है : **अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते। कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः।।**[1] यह अवधेय है कि भामह प्रेयः अलंकार को अलंकार के रूप में मान्यता नहीं देता; वह परंपरा के आग्रह से, अन्य आलंकारिकों द्वारा प्रोक्त अलंकार के रूप में, उसका लक्षण दिए बिना उसे निदर्शित भर करता है। अतः संभावना यही हो सकती है कि उसने उक्त उदाहरण को अपने किसी पूर्ववर्ती लेखक से ग्रहण किया होगा, और वह लेखक दण्डी हो सकता है जिसने उक्त अलंकार को यथाविधि परिभाषित और दो उदाहरणों (जिनमें से एक **अद्य या मम** इत्यादि है) द्वारा निदर्शित किया है। श्री के० पी० त्रिवेदी के इस कथन में कोई बल नहीं है कि जहाँ भामह अपने स्रोत का सर्वदा नामोल्लेख करता है, वहाँ दण्डी अपने स्रोत का नामनिर्देश नहीं करता और अन्य काव्यग्रन्थों से चुपचाप उदाहरण ग्रहण कर लेता है, जैसे **लिम्पतीव** इत्यादि को उसने स्रोत का निर्देश किए बिना भास से ग्रहण कर लिया।[2] वस्तुतः भामह के संबन्ध में उसका अपना (तु० २.६६) अथवा उसके समर्थकों का उक्त दावा सर्वत्र सत्य सिद्ध नहीं होता।[3] दूसरी ओर, दण्डी उद्धृत पद्य अथवा पद्यांश को सर्वदा **इति** शब्द द्वारा निर्दिष्ट करता है। ऊपर उल्लिखित **लिम्पतीव** इत्यादि पद्यांश भी

युक्त ग्रन्थ, पृ० १०२-१५; सुशीलकुमार दे, उपर्युक्त ग्रन्थ, १, पृ० ६२-७; कन्हैयालाल पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास, १, पृ० ८३-७; जयशंकर त्रिपाठी, उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० ४०६-१७। उक्त विद्वानों में कीथ, काणे तथा त्रिपाठी दण्डी को और दे तथा पोद्दार भामह को पूर्ववर्ती मानते हैं। विस्तार के लिए, द्र० प्रस्तुत लेखक का उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० ६४-८१।

१. दण्डी २.२७६; भामह ३.५।

२. इण्डियन एंटिक्वेरी, ४२ (१९१३), पृ० २६१ प्रभृति।

३. तु० काणे, उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० ८६, १०९।

उसके द्वारा **इति** शब्द से उद्धृत है। २. ३६२ में, जहाँ उक्त पद्य अविकल रूप में प्राप्त होता है, यह प्रक्षिप्त प्रतीत होता है; कलकत्ता विश्वविद्यालय सं० तथा दरभंगा सं० में यह पद्य यहाँ नहीं है।

परिहारिका प्रहेलिका को दण्डी ने इस पद्य से उदाहृत किया है (३.१२०): **विजितात्मभवद्वेषिगुरुपादहतो जनः। हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमाभिनन्दति ॥** भामह ने अवाचक दोष के उदाहरण के रूप में इसे इस प्रकार अंशतः उद्धृत किया है: **हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमेत्यवाचकम्** (१.४१ पू०)। शार्ङ्गधर के अनुसार यह पद्य दण्डी का है, और इस संबन्ध में संदेह करने का कोई कारण नहीं है, जब कि भामह में यह स्पष्टतः उद्धरण मात्र है; उसके उद्धरणसूचक **इति** शब्द से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

दण्डी ने हेतु, सूक्ष्म और लेश अलंकारों को वाणी का उत्तम भूषण कहा है: **हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्** (२.२३५)। भामह इन अलंकारों को अस्वीकार करते हुए कहता है: **हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः** (२.८६)। जिस प्रकार से भामह ने उक्त अलंकारों के अलंकारत्व का प्रत्याख्यान किया है उससे यह स्पष्ट है कि उसका अपने पूर्ववर्ती किसी आचार्य के सिद्धान्त की ओर संकेत है।

इस कथन में कोई बल नहीं है कि दण्डी ने अपने चार उपमादोष (२.५१) भामह से ग्रहण किए जिसने कि मेधावी के प्रमाण पर सात उपमादोषों (२.३९-४०) का उल्लेख किया है। यह संभव है कि, इस संबन्ध में भामह के समान, दण्डी का स्रोत भी मेधावी का ही लक्षणग्रन्थ रहा हो। इसी प्रकार, यह मानना भी संदेहास्पद है कि दण्डी (१.१४-९) द्वारा किया गया महाकाव्यनिरूपण भामह (१.१९-२१) पर आधारित है। इस संबन्ध में भी इसी बात की संभावना अधिक है कि दोनों ने एतत्संबन्धी अपनी सामग्री परंपरा से ही ग्रहण की हो।

जैकोबी के अनुसार, दण्डी द्वारा वाङ्मय का स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति इन दो भागों में विभाजन (२.३६३) भामह के **युक्तं वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते** (१.३०) से प्रेरित है।[1] परंतु वास्तविकता यह है कि जहाँ दण्डी स्वभावोक्ति को काव्योक्ति के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में स्वीकार करता है और एक स्वतन्त्र अलंकार के रूप में भी उसे गौरवपूर्ण स्थान देता है, वहाँ भामह इसके अलंकारत्व का खण्डन करता है एवं केवल परंपरा के प्रति आदर-

---

१. *Zeitschrift der Deutschen Morgenländischen Gesellschaft*, ६४, पृ० ७५५।

भाव के कारण ही इसका उल्लेख करता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि भामह के उक्त पद्यांश में स्वभावोक्ति का उल्लेख है ही नहीं; उसका सही अर्थ यह है कि वक्र स्वभाव वाली उक्ति से (**वक्रस्वभावोक्त्या=वक्रस्वभावया उक्त्या**); अर्थात् वक्रोक्ति से, युक्त वाङ्मय ही काव्य के रूप में अभीष्ट है।

भामह ने अनेकत्र पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का, कभी-कभी उनका नामनिर्देश किए बिना, उल्लेख किया है। कतिपय ऐसे सिद्धान्तों की स्थापना **काव्यादर्श** में प्राप्त होती है। उदाहरणतः, भामह (२.९३) का कथन है : **स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित् प्रचक्षते। अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा॥** स्पष्टतः यह कथन स्वभावोक्ति की दण्डि-प्रदत्त इस परिभाषा (२.८) की ओर संकेत करता है : **नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद् विवृण्वती। स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या साऽलंकृतिर्यथा॥**

अपने अलंकारनिरूपण के अनन्तर भामह (३.१-४) ने तेईस अतिरिक्त अलंकारों का समुद्देश किया है जिन्हें उसने 'अन्यनिगीत' अथवा दूसरे आचार्यों द्वारा गृहीत कहा है। यह ध्यान देने की बात है कि ये सभी अलंकार, तथा आशीः अलंकार भी जिसका समुद्देश उसने आगे (३.५५ में) किया है, दण्डी के लक्षणग्रन्थ में व्याख्यात हैं और प्रायः उसी क्रम से आए हैं। इन अलंकारों के परिगणन से संबन्धित कारिकाएँ भी दोनों के ग्रन्थों में प्रायः समान हैं (तु० विशेषतः दण्डी २.५-६; भामह ३.१-२)। यहाँ यह भी संभव है कि दोनों आचार्यों ने अलंकारों की उक्त सूची सुस्थापित पूर्व परंपरा से ग्रहण की हो।

भामह के दण्डी से पूर्ववर्ती होने के पक्ष में यह युक्ति दी जाती है कि भामह (३.३५-६, ४३-८) ने उपमारूपक, ससंदेह, अनन्वय और उत्प्रेक्षावयव का स्वतन्त्र अलंकारों के रूप में निरूपण किया है, और दण्डी (२.३५८-९) ने, उनमें से प्रथम को अपने रूपक, अगले दो को उपमा और अन्तिम को उत्प्रेक्षा में अन्तर्भुक्त करते हुए भी, उनके परंपरागत स्वतन्त्र अस्तित्व का, संभवतः भामह के आधार पर, निर्देश किया है। परंतु इस युक्ति से भामह का पूर्ववर्तित्व सिद्ध नहीं होता, क्योंकि उससे पहले भट्टि (सातवीं शती, प्रथम चरण) में भी उक्त अलंकार स्वतन्त्र अलंकार के रूप में आ चुके हैं। यदि इस संबन्ध में दण्डी ने इन अलंकारों के भामह-कृत निरूपण को संकेतित किया होता, तो वह इनके साथ अन्योन्योपमा का उल्लेख भी अवश्य करता, जिसे उसने उपमा में अन्तर्भुक्त किया है (२.१८) और जो भामह (३.३७-८) में उपमेयोपमा के नाम से स्वतन्त्र अलंकार के रूप में आया है।

भामह की कतिपय उक्तियाँ किन्हीं पूर्ववर्ती आचार्यों के विरोध में अथवा उनकी व्यंगपूर्ण आलोचना के रूप में कही गई प्रतीत होती हैं। इन उक्तियों

में उसने आलोच्य आचार्यों को विपरीतलक्षणया सुधी, सुमेधा और महात्मा कहा है[1] एवं एक वार (१.३२ में) उसने अभिधा में इनके लिए अमेधा शब्द का प्रयोग भी कर दिया है। यद्यपि इन उक्तियों से यह स्पष्ट संकेत नहीं मिलता कि उसकी आलोचना अथवा निन्दोक्ति का लक्ष्य दण्डी ही है, तथापि कहीं-कहीं एतत्संबन्धी अस्फुट संकेत प्राप्त हो जाते हैं।

दण्डी ने महाकाव्य में नायक की शत्रु पर विजय के उल्लेख के द्वारा उसके अभ्युदय अथवा परातिशायी विक्रम के वर्णन को सर्वथा उचित ठहराया है। उसका कथन है (१.२१-२) : **गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम्। निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः॥ वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि। तज्जयान्नायकोत्कर्षवर्णनं च धिनोति नः॥** नायक के अभ्युदय के वर्णन की इस प्रक्रिया पर आक्षेप करते हुए भामह ने लिखा है (१.२२-३) : **नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः। न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया॥ यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते। न चाभ्युदयभाक् तस्य मुधादौ ग्रहणं स्तवे॥** यहाँ भामह के **न तस्यैव वधं ब्रूयाद्** और **मुधादौ ग्रहणं स्तवे** ये शब्द स्पष्टतः किसी पूर्ववर्ती आचार्य के अभिमत की ओर संकेत करते हैं, और वह आचार्य दण्डी हो सकता है जिसकी उक्ति के कुछ शब्द उसके कथन में ज्यों-के-त्यों आए हैं।

आख्यायिका और कथा में कहानी का वक्ता कौन हो—इस संबन्ध में अपना अभिमत प्रस्तुत करते हुए दण्डी ने लिखा है (१.२३-४) : ···**तयोराख्यायिका किल॥ नायकेनैव वाच्याऽन्या नायकेनेतरेण वा। स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र भूतार्थशंसिनः॥**, अर्थात् 'आख्यायिका में कहानी नायक द्वारा ही कही जाती है और कथा में वह नायक द्वारा या किसी अन्य व्यक्ति द्वारा भी कही जा सकती है। वस्तुतः इनमें यथार्थ का कथन करने वाले नायक द्वारा अपने गुणों का प्रासङ्गिक वर्णन दोष नहीं है।' दण्डी के इस प्रसङ्गप्राप्त सामान्य कथन पर आक्षेप करते हुए भामह कहता है (१.२९) : **अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते। स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः॥**, अर्थात् 'कथा में नायक के चरित का वर्णन अन्य व्यक्तियों द्वारा किया जाता है, नायक द्वारा नहीं, (क्योंकि) एक कुलीन व्यक्ति अपने गुणों का कीर्तन कैसे करेगा?' भामह के ये शब्द स्पष्टतः दण्डी के कथन के प्रति साक्षेप संकेत करते हैं। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि भामह आक्षेप के अपने आवेश में यह बिलकुल भूल गया कि अभी-अभी उसने आख्यायिका के संदर्भ में कहा है

---

१. १.३१; २.१,६,३७; ३.४ इत्यादि।

(१.२६) : **वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्** ।, अर्थात् 'आख्यायिका में स्वचेष्टित रूप कहानी का कथन नायक द्वारा किया जाता है।' यदि आख्यायिका में नायक स्वगुणाविष्कृति कर सकता है तो वह कथा में ऐसा क्यों नहीं कर सकता ?

भामह का दूसरा प्रमुख आक्षेप दण्डी के मार्गविभाग के प्रति है। दण्डी ने काव्यवाणी के अनेक सूक्ष्मभेद मार्गों के अस्तित्व का निर्देश करते हुए उनमें वैदर्भ और गौडीय को प्रस्फुटान्तर मार्गों के रूप में उपस्थापित किया है (१.४०), एवं उन मार्गों में वैदर्भ को श्रेष्ठ प्रतिपादित किया है। इस अभिमत की आलोचना करते हुए भामह ने कहा है (१.३१-२) : **वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे । तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम् ॥ गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक् । गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ॥**, अर्थात् 'दूसरे विद्वानों का मत है कि वैदर्भ नामक अन्य काव्यभेद है; वही श्रेष्ठ है; अर्थसौन्दर्य से संपन्न भी दूसरा काव्य श्रेष्ठ नहीं है। यह गौड है और यह वैदर्भ है, क्या ऐसा पार्थक्य संभव है ? हां, गतानुगतिकता के कारण बुद्धिहीन लोग ऐसा अवश्य कह सकते हैं।' भामह के इन शब्दों में, जो निःसंदेह दण्डी के अभिमत की प्रतिक्रिया के रूप में हैं, उसका आक्रोशभाव स्पष्ट झलक रहा है।

दण्डी ने अपने उपमाभेदों में निन्दोपमा, प्रशंसोपमा और आचिख्यासोपमा का भी ग्रहण किया है (२.३०-२)। भामह इन भेदों के ग्रहण पर आक्षेप करते हुए कहता है (२.३७-८) : **यदुक्तं त्रिप्रकारत्वं तस्याः कैश्चिन्महात्मभिः । निन्दाप्रशंसाचिख्यासाभेदादत्राभिधीयते ॥ सामान्यगुणनिर्देशात्त्रयमप्युदितं ननु । मालोपमादिः सर्वोऽपि न ज्यायान् विस्तरो मुधा ॥** यह अवधेय है कि दण्डी में उपमा के उक्त तीन भेद भामहनिर्दिष्ट क्रम से ही, साथ-साथ, आए हैं। भामह ने मालोपमा आदि भेदों के रूप में उपमा के विपुल विस्तार को व्यर्थ बताया है; उसका यह आक्षेप भी स्पष्टतः दण्डी के उपमा अलंकार के बत्तीस भेदों के विस्तृत प्रपञ्च की ओर संकेत करता है।

भामह का अन्यतम आक्षेप ओज गुण की दण्डि-गृहीत संकल्पना के प्रति है। दण्डी ने कहा है (१.८०) : **ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्** । भामह ने इस कथन पर इन शब्दों में आक्षेप किया है (२.२) : **केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि । यथा मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका ॥** स्पष्टतः ये शब्द दण्डी के अभिमत को लक्ष्य करके कहे गए हैं।

ज्ञापक हेतु को उदाहृत करते हुए दण्डी ने लिखा है (२.२४४) : **गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः । इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने ॥**, अर्थात् 'सूर्य अस्त हो गया है, चन्द्रमा चमक रहा है और पक्षी

अपने-अपने घोंसलों की ओर चल पड़े हैं—इस प्रकार का यह स्वरूपकथन भी कालविशेष (संध्या) की अवस्था का वर्णन करने में समीचीन (अतश्च अलंकार के रूप में ग्राह्य) ही है।' भामह ने हेतु के उदाहरण के रूप में इसके पूर्वार्ध को उद्धृत करके कहा है (२.८७) : **इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तामेनां प्रचक्षते ।।**, अर्थात् 'ऐसी भी उक्ति क्या काव्य है? इसे तो वार्त्ता कहते हैं।' कुछ विद्वान् यहाँ दण्डी द्वारा भामह पर आक्षेप मानते हैं, परंतु वास्तव में यहाँ भामह की उक्ति प्रतिक्रियात्मक प्रतीत होती है, दण्डी की नहीं। यह भी संभव है कि उक्त उदाहरणपंक्ति परंपराप्राप्त हो, और दोनों लेखकों ने उसके संबन्ध में अपनी-अपनी प्रतिक्रिया प्रस्तुत की हो।

दण्डी और भामह के लक्षणग्रन्थों में ऐसे कुछ और भी मत अथवा सिद्धान्त उल्लिखित हैं जहाँ उन दोनों में परस्पर विरोध तो स्पष्ट है, परंतु उनका पूर्वापरवर्तित्व नितान्त अस्पष्ट है। दोनों लेखकों के पौर्वापर्य के निर्धारण में ये प्रसङ्ग, निश्चयात्मकता के अभाव में, अधिक सहायक नहीं, तथापि इनका उल्लेख यहाँ अपेक्षित है। भामह आख्यायिका की परिभाषा करते हुए उसे **कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता** कहता है (१.२७)। दूसरी ओर, कथा और आख्यायिका आदि गद्यकाव्यरूपों की अभिन्नता प्रतिपादित करके दण्डी लिखता है (१.२६) : **कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः। सर्गबन्धसमा एव नैते वैशेषिका गुणाः ।।** कुछ विद्वानों के मत में यहाँ दण्डी ने भामह के कथन पर आक्षेप किया है। उनके अनुसार, कथा और आख्यायिका के जिन विशिष्ट लक्षणों का दण्डी में प्रत्याख्यान मिलता है वे भामह में प्राप्त होते हैं। परंतु उक्त गद्यरूपों के दोनों के द्वारा प्रदत्त विशिष्ट लक्षणों का तुलनात्मक परीक्षण करने से उक्त दावे की सत्यता सिद्ध नहीं होती।[1]

दण्डी और भामह दोनों में दस दोषों का समुद्देश अभिन्न है (तु० दण्डी ३.१२५ और १२६ पू०; भामह ४.१ और २ पू०)। ग्यारहवें दोष, प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानि, जो निश्चयतः परंपराप्राप्त था और दण्डी को अभिमत नहीं था, के संबन्ध में दण्डी कहता है (३.१२७) : 'प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानि नामक दोष दोष है या नहीं है—यह विचार शुष्क चर्चा मात्र है, अतः इस चर्चा में पड़ने से क्या लाभ है?' दूसरी ओर, भामह ने इस ग्यारहवें दोष को पूरे एक पृथक्, पाँचवें, अध्याय में निरूपित करके इसे सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। इस दोष के निरूपण की प्रस्तावना करते हुए वह लिखता है (५.२-३) : **प्रायेण दुर्बोधतया शास्त्राद् बिभ्यत्यमेधसः। तदुपच्छन्दनायैष हेतुन्याय-**

---

१. तु० कीथ, उपर्युक्त ग्रन्थ में लेख; काणे, उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० १०५-७।

लवोच्चयः ॥ स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते । प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम् ॥, अर्थात् 'बुद्धिहीन लोग प्रायः शास्त्रों से, उनकी दुर्बोधता के कारण, डरते हैं । उन्हें इस ओर आकर्षित करने के लिए हेतुन्याय के कुछ अंश का यहाँ संग्रह किया जाता है । लोग काव्य के मधुर रस से मिश्रित (कटु) शास्त्र का भी आस्वादन कर लेते हैं, जैसे वे पहले मधु को चखकर कड़वी दवा को भी पी लेते हैं ।' उक्त ग्यारहवें दोष की, काव्यशास्त्रीय दृष्टि से अनुपयोगी, इस लम्बी प्रस्तावना के पीछे, संभव है, दण्डी द्वारा किया गया इसका प्रत्याख्यान हो । यह भी संभव है कि भामह का **प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्** यह कथन दण्डी की **विचारः कर्कशप्रायस्तेनालीढेन किं फलम्** इस उक्ति की प्रतिक्रिया हो । कतिपय विद्वान् यहाँ दण्डी द्वारा भामह के कथन पर आक्षेप मानते हैं । वस्तुतः इस प्रसङ्ग से दोनों लेखकों के पूर्वापरवर्तित्व पर निश्चयात्मक प्रकाश नहीं पड़ता ।

दोनों लेखकों के अपार्थ के लक्षण और एकार्थ के लक्षण तथा उदाहरण में परस्पर पर्याप्त साम्य है (तु० दण्डी ३.१२८, १३५-६, और उक्त पर टि०) । परंतु इस संबन्ध में भी यह स्थापित करना कठिन है कि किसने किसका प्रभाव ग्रहण किया है । दूसरी ओर, भामह द्वारा प्रथम परिच्छेद में व्याख्यात नेयार्थ, अवाचक आदि दोष गुणों के संदर्भ में गुणविपर्यय के रूप में दण्डी द्वारा प्रसङ्गतः व्याख्यात दोषों से प्रभावित प्रतीत होते हैं ।

काव्यहेतु के रूप में प्रतिभा की अनिवार्यता के संबन्ध में भामह ने लिखा है (१.५) : **गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम् । काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ॥** अर्थात् 'गुरु के उपदेश से जड़बुद्धि भी शास्त्रों का अध्ययन कर सकते हैं, किंतु काव्य किसी प्रतिभाशाली को कभी-कभी ही स्फुरित होता है ।' दण्डी का अभिमत इस संबन्ध में मूलतः इससे अभिन्न होते हुए भी कुछ उदार है । उसका कहना है कि जन्मजात प्रतिभा काव्यसंपत्ति का कारण, और मुख्य कारण, तो है, परंतु फिर भी, उसके कृशत्व में भी काव्यों और शास्त्रों के अध्ययन तथा अभ्यास रूप प्रयत्न द्वारा कुछ-न-कुछ काव्यसिद्धि हो ही जाती है (तु० १.१०३-४, और उक्त पर टि०) । प्रो० जे० नोबेल के अनुसार, यहाँ दण्डी ने भामह के कथन की आलोचना की है,[1] परंतु इसके विपरीत यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि भामह ने दण्डी के उदार दृष्टिकोण पर कटाक्ष किया है ।

दण्डी की अर्वाचीनता के पक्ष में यह युक्ति भी दी जाती है कि उसके

---

१. फ़ाउण्डेशन आफ़ इण्डियन पोइट्री, पृ० १८ प्रभृति ।

लक्षणग्रन्थ में उपमा के प्रचुर भेदों का एवं यमकप्रकारों और चित्रालंकारों का विस्तृत निरूपण प्राप्त होता है, जब कि भामह में इनका संक्षिप्त विवरण एवं सामान्य विभाजन मात्र मिलता है। वास्तव में यह युक्ति दण्डी की प्राचीनता सिद्ध करने में अधिक सहायक है, क्योंकि उपमा के भेदों का विस्तार और यमक तथा चित्रालंकारों के प्रति विशेष आग्रह प्राचीनतर प्रवृत्ति के सूचक हैं। दूसरी बात यह है कि अनुप्रास तथा यमक का दण्डि-कृत निरूपण क्रमानुगत और योजनाबद्ध नहीं है। उसका उपमाविवेचन भी वैज्ञानिक नहीं है। इसकी तुलना में उपमा का भामह-कृत विभाजन अधिक वैज्ञानिक है, और उद्भट, मम्मट आदि उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा वह साग्रह ग्रहण किया गया है।[1]

जे० नोबेल के अनुसार, दण्डी की काव्यपरिभाषा, काव्यरूपों का वर्गीकरण, महाकाव्यलक्षण, मार्गसिद्धान्त का विशद निरूपण और अलंकारपरिभाषा भामह की अपेक्षा अधिक विकसित अवस्था का प्रतिनिधित्व करते हैं और इस प्रकार उसकी अर्वाचीनता सूचित करते हैं।[2] परंतु यह अवधेय है कि दण्डी की काव्यपरिभाषा (१.१० : **शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली**) की अपेक्षा भामह की काव्यपरिभाषा (१.१६ : **शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**), स्पष्टतः अपनी सैद्धान्तिक परिपक्वता के कारण, उत्तरवर्ती युग में अधिक ग्राह्य बनी। काव्यरूपों के वर्गीकरण आदि के संबन्ध में यदि दण्डी में सुव्यवस्थित योजना और अपेक्षित विस्तार है तो इसका कारण उसकी अर्वाचीनता कदापि नहीं है। विषय की, प्रायः सर्वत्र, क्रमबद्ध योजना और उसका यथेष्ट विस्तार के साथ निरूपण दण्डी की विषय-प्रतिपादन-शैली का अपना गुण है।

डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने यह अभिमत प्रकट किया है कि दण्डी काव्यशास्त्र के क्षेत्र में भामह की अपेक्षा अधिक विकसित विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है, क्योंकि वह रसव्यञ्जक शब्द और अर्थ के समन्वय के रूप में माधुर्य गुण की व्याख्या करके रस की एक प्रमुख काव्यतत्त्व के रूप में उद्भावना करता है, जब कि भामह में रस प्रेयः, रसवत् और ऊर्जस्वी जैसे अलंकारों के अधीन उनके उपकारक तत्त्व के रूप में ही आता है।[3] स्पष्टतः उक्त मत इस भ्रान्त धारणा पर आधारित है कि दण्डी द्वारा माधुर्य गुण के प्रसङ्ग में उल्लिखित रस (१.५१-२) प्रमुख काव्यतत्त्व के रूप में स्वीकृत रस का वाचक है। वास्तविकता यह है कि गुणप्रसङ्ग में उपात्त रस शब्द पदावली के लालित्य

---

१. तु० काणे, उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० १०४-५।

२. नोबेल, उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० ७८-९, ८८, १००-४, १२६, १३६, १४१-५।

३. कम्पेरेटिव एस्थेटिक्स, १ (इण्डियन एस्थेटिक्स), पृ० ५०२।

अथवा श्रुतिसुभगता या अर्थयोजना की शिष्टता का वाचक है,[१] काव्यरस का नहीं। दूसरी ओर, जहाँ अन्यत्र, २.२७५ प्रभृति में, रस शब्द गृहीत हुआ है, वहाँ वह, भामह (३.६) के रस के समान ही, रसवत् अलंकार के अधीन उसके उपकारक तत्त्व के रूप में आया है, स्वतन्त्र काव्यतत्त्व के रूप में नहीं।[२]

डा० सुशीलकुमार दे ने मार्ग, गुण, वक्रोक्ति और अलंकार के संबन्ध में दोनों लेखकों की धारणा, दोनों के अलंकारविवेचन के क्रम, और विशेषतः उनके यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अनन्वय, ससंदेह, उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव के निरूपण के आधार पर यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि भामह की अपेक्षा दण्डी के युग में काव्यशास्त्रीय अध्ययन अधिक विकसित अवस्था में था एवं उसमें अधिक सूक्ष्मता और गहराई आ गई थी।[३] डा० दे के कथन का यह अर्थ लिया जाएगा कि भामह और दण्डी के युगों के बीच लम्बा व्यवधान था, जब कि स्वयं दे दोनों के कालों के बीच इतना लम्बा अन्तराल मानने के पक्ष में नहीं हैं।[४] वास्तव में उपर्युक्त तत्त्वों के निरूपण के आधार पर दण्डी और भामह के पौर्वापर्य का निर्णय करना कठिन है। दोनों लेखकों की अपनी विशिष्ट प्रतिपादनशैली है; जहाँ एक की शैली सुव्यवस्थित और विस्तारपूर्ण है, वहाँ दूसरे की अव्यवस्थित, याद्दच्छिक और संक्षिप्त। अव्यवस्थित शैली प्राचीनता की सूचक हो—यह आवश्यक नहीं है। दूसरी ओर, यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि दण्डी की अलंकार-संकल्पना, जिसके अनुसार गुण, रस, संधि, संध्यङ्ग, वृत्ति, वृत्त्यङ्ग, लक्षण आदि सब उसमें अन्तर्भुक्त हो जाते हैं,[५] अलंकारशास्त्रीय अध्ययन की अपेक्षाकृत पूर्वतर अवस्था की सूचना देती है। गुणों की संख्या के संबन्ध में भी दण्डी का दृष्टिकोण भामह के दृष्टिकोण की अपेक्षा प्राचीनतर है; भामह द्वारा (उत्तरवर्ती युग में सामान्यतः स्वीकृत) गुणत्रयसिद्धान्त की स्थापना (२.१-३) उसके अपेक्षाकृत अर्वाचीन दृष्टिकोण की स्फुट सूचना देती है। वक्रोक्ति के संबन्ध में भी दण्डी का अभिमत प्राचीनतर दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है; जहाँ दण्डी (२.३६३) में स्वभावोक्ति के विपर्यय के रूप में वक्रोक्ति का आनुषङ्गिक उल्लेख मात्र है, वहाँ भामह में यह एक विशिष्ट काव्यतत्त्व के रूप में उपस्थित होता है। उसके अनुसार, यह अर्थ का विभावक तत्त्व है जिसके अभाव में अलंकार अस्तित्व में ही

---

१. तु० रत्नश्रीज्ञान; द्र० काव्यादर्श १.६२ पर प्रस्तुत व्याख्याकार की टि०।

२. प्रस्तुत लेखक, उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० ७६, २४५।

३. हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोइटिक्स, १, पृ० ६६, पादटि० २।

४. उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० ५० और ६७।

५. २.३, २७५-९२, ३६७।

नहीं आता।[1] भामह का यह नवीन दृष्टिकोण उत्तरवर्ती युग में कुन्तक के वक्रोक्तिविवेचन का आधार बना। इसी प्रकार, काव्यशास्त्र में कविप्रशिक्षण संबन्धी प्रकरण का समावेश सर्वप्रथम भामह (परिच्छेद ६) में दीख पड़ता है जो बाद में वामन, रुद्रट, राजशेखर आदि आचार्यों द्वारा अधिक योजनाबद्ध रूप में अपनाया गया। कतिपय क्षेत्रों में दण्डी के दृष्टिकोण की उपरिनिर्दिष्ट पूर्वतरता का यह अर्थ नहीं है कि उसका दृष्टिकोण भामहापेक्षया अत्यन्त प्राचीनतर है। वस्तुतः दोनों के सिद्धान्त कुछ पूर्वापर होते हुए भी परस्पर पर्याप्त संनिकट हैं, और यह तथ्य काल की दृष्टि से दोनों की परस्पर निकटता का सुस्पष्ट सूचक है।

भामह की प्राचीनता के पक्ष में यह युक्ति दी जाती है कि उत्तरवर्ती युग के आलंकारिक प्राचीन आचार्यों का प्रायः **भामहादयः** कहकर उल्लेख करते हैं, एवं भामह की रचना को आकर के रूप में विशेष प्रतिष्ठा देते हैं। प्रो० त्रिवेदी ने इस संबन्ध में नमिसाधु (रचनाकाल १०६९ ई०) के इस कथन का विशेष उल्लेख किया है (रुद्रट ८.८४ पर वृत्ति): **भामहादिमतेन त्वर्थान्तरन्यास एव**। प्रो० त्रिवेदी के अनुसार, नमिसाधु यहाँ **दण्ड्यादिमतेन** भी कह सकता था, यदि वह दण्डी को भामहापेक्षया पूर्वतर मानता, क्योंकि इस संबन्ध में भामह और दण्डी का मत अभिन्न है।[2] नमिसाधु द्वारा यहाँ (दण्डी के स्थान पर) भामह के उल्लेख को, जो यादृच्छिक भी हो सकता है, ऐतिहासिक महत्त्व देना व्यर्थ है। दूसरी ओर, उसी के निम्नलिखित शब्द अधिक महत्त्वपूर्ण हैं जहाँ उसने प्राचीन आचार्यों का उल्लेख संभवतः ऐतिहासिक क्रम में किया है (वही, १.२ पर वृत्ति) : **ननु दण्डिमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येवालंकारशास्त्राणि**...।

प्रो० ए० शंकरन् भोज के **शृङ्गारप्रकाश** (जिल्द २, पृ० ४३८) में आए निम्नलिखित श्लोक के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि दण्डी ने अपने लक्षणग्रन्थ में भामह का नामोल्लेख किया है : **वक्रत्वमेव काव्यानां परा भूषेति भामहः। श्लेषः पुष्णाति सर्वासु प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्॥** प्रो० शंकरन् के अनुसार, चूंकि इस पद्य का उत्तरार्ध **काव्यादर्श** (२.३६३) में प्राप्त होता है, अतः यह समस्त श्लोक **काव्यादर्श** से उद्धृत है।[3] परंतु यह धारणा

---

१. तु० २. ८५ : सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥, द्र० १. ३०, ३६ भी।

२. इण्डियन एंटिक्वेरी, ४२ (१९१३), में के० पी० त्रिवेदी का लेख, पृ० २६१ प्रभृति।

३. सम आस्पेक्टस आफ़ लिटरेरी क्रिटिसिज़्म इन संस्कृत, पृ० २३ प्रभृति।

सही नहीं है। उक्त पद्य का पूर्वार्ध **काव्यादर्श** की किसी हस्तलिखित पोथी अथवा संस्करण में प्राप्त नहीं होता, अतः उसे उत्तरार्ध के दण्डि-कृत होने से दण्डि-कृत मानना उचित नहीं है। यह संभव है कि भोज ने स्वरचित पूर्वार्ध के साथ दण्डि-कृत उत्तरार्ध को जोड़ दिया हो, जैसा कि उसने अनेकत्र किया है।[1] यह अवधेय है कि एक स्थान पर उसने दण्डी के उक्त पद्यार्ध को एक अन्य अज्ञातकर्तृक पद्यार्ध के साथ जोड़कर इस प्रकार उपस्थापित किया है (श्रृङ्गार० जिल्द २, पृ० ३८६) : **श्लेषः पुष्णाति सर्वासु प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्। वाकोवाक्येन हृष्यन्ति मनांसि कृषतामपि॥**

दण्डी के कुछ टीकाकार अपनी टीकाओं में दण्डी और भामह के मत-भेद के स्थलों में 'दण्डी भामह के मत की आलोचना करते हुए कहता है'—ऐसा निर्देश करते हैं।[2] इस आधार पर कुछ विद्वान् भामह की पूर्ववर्तिता सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। परंतु टीकाकारों के उक्त प्रकार के निर्देश को ऐतिहासिक महत्त्व न देते हुए उसे इस रूप में ग्रहण करना चाहिए कि जहाँ उन्होंने उक्त दोनों आचार्यों के सिद्धान्तों में भिन्नता देखी वहाँ उन्होंने दण्डी द्वारा भामह के मत के खण्डन का उक्त प्रकार से निर्देश कर दिया।[3]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि दण्डी भामह से पूर्व विद्यमान था,[4] और भामह ने यत्र-तत्र उसके सिद्धान्तों की आलोचना की है अथवा

---

१. तु० प्रस्तुत लेखक का ग्रन्थ, पृ० ८१, पादटि० ३।

२. तु० १. २९; २.२३५ पर तरुणवाचस्पति, १.१५ पर हरिनाथ; १.२१ पर वादिजङ्घाल। द्र० इण्डियन एंटिक्वेरी, ४१ (१९१२) में नरसिंहाचार का लेख, पृ० ९१, और ४२ (१९१३) में के० पी० त्रिवेदी का लेख, पृ० २६४। द्र० दे, उपर्युक्त ग्रन्थ, १, पृ० ६६।

३. काणे, उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० १०५।

४. डा० जयशंकर त्रिपाठी (उपर्युक्त ग्रन्थ, ४०९-१७) भी, उक्त तथा कतिपय अन्य बातों के आधार पर, दण्डी को भामह की अपेक्षा पूर्ववर्ती स्वीकार करते है, परंतु वे (तृतीय परिच्छेद से रहित) काव्यादर्श का रचनाकाल ३४०-५० ई० के आसपास मानते हैं (पृ० ४१७-३०)। उनके अनुसार, वैदर्भ मार्ग के प्रति दण्डी का विशेष आग्रह कला और साहित्य की समृद्धि से संपन्न वाकाटक युग की ओर साभिप्राय संकेत करता है। काव्यादर्श (१.३४) में उल्लिखित **सेतुबन्ध** को वे प्रवरसेन प्रथम (२८४-३४४ ई०) की कृति मानते हैं, तथा उनके मत में **काव्यादर्श** १.७३ का महावराह-वर्णन उदयगिरि की विशाल वराहमूर्ति (लगभग ४०० ई०) की कला-परंपरा से पूर्ववर्ती कला-परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है। डा० त्रिपाठी का उक्त अभिमत, पुष्कल भावात्मक प्रमाण के अभाव में, स्वीकरणीय नहीं है।

उनका साक्षेप उल्लेख किया है। भामह के **काव्यालंकार** (६.३६-७) में न्यास-कार का उल्लेख प्राप्त होता है। यह **न्यास**कार, अधिकांश विद्वानों के मत में, जिनेन्द्रबुद्धि (लगभग ७०० ई०) था, यद्यपि कुछ विद्वान् यहाँ किसी अन्य प्राचीनतर **न्यास**कार का उल्लेख देखते हैं। यदि भामह द्वारा उल्लिखित **न्यास**-कार जिनेन्द्रबुद्धि ही हो तो भामह का समय ७०० ई० के बाद माना जाएगा।[1] दूसरी ओर, उसे ७५० ई० से पहले मानना होगा, क्योंकि बौद्ध दार्शनिक शान्त-रक्षित (लगभग ७०५-६२ ई०) ने अपने **तत्त्वसंग्रह** (श्लोक ६१२-४) में भामह के तीन श्लोकों (६.१७-६) को, जिनमें अपोहवाद की आलोचना की गई है, उद्धृत किया है। इस प्रकार, भामह का काल आठवीं शती का द्वितीय चरण सिद्ध होता है, और यह काल दण्डी के रचनाकाल की परवर्ती सीमा है।

दण्डी और भामह के समय के बीच कितना व्यवधान था, यह कह सकना कठिन है। **काव्यादर्श** के रचनाकाल के संबन्ध में प्राप्त अन्य प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि दोनों लेखकों के समय के बीच बहुत अधिक व्यवधान नहीं था; यह व्यवधान संभवतः कुछ दशकों का ही था। यदि **काव्यादर्श** में निरूपित संख्याता प्रहेलिका (३.११४) के परम्परागत समाधान[2] को सही माना जाए तो उसके अनुसार दण्डी काञ्ची के पल्लववंशी राजाओं के राज्यकाल में था। **काव्यादर्श** (२.२७८-६) में राजवर्मा नामक एक राजा का उल्लेख है जो शिव का अनन्य उपासक था। इस राजा को नरसिंहवर्मा द्वितीय

---

१. न्यासकार की जिनेन्द्रबुद्धि से अभिन्नता के लिए, द्र० काणे, उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० ११५-६। प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा (काव्यालंकार, परिशिष्ट १, पृ० १७६) ने ध्वन्यालोक (४.४ वृत्ति) के निम्नलिखित कथन के आधार पर भामह का समय बाण से पूर्व, प्रायः ५०० से ५५० ई० के मध्य, माना है : तथा हि विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव शब्द-शक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यप्रकारसमाश्रयेण नवत्वम्। यथा—'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' [हर्षचरित, पृ० १६२-३] इत्यादेः 'शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः। यदलङ्घितमर्यादाश्चलन्तीं बिभृथ क्षितिम् ॥' [भामह ३.२८] इत्यादिषु सत्स्वपि। वस्तुतः आनन्दवर्धन के इस कथन को ऐतिहासिक महत्ता प्रदान करना और उसके आधार पर बाण को इस संबन्ध में भामह से प्रभावित मानना उचित नहीं है। उक्त आशय के पद्य संस्कृत के अनेक कवियों की रचनाओं में प्राप्त होते हैं (तु० विशेषतः काव्यादर्श २.१८८, ३४६; ३.६१ भी)।

२. तु० नासिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता। अस्ति काचित्पुरी यस्यामष्टवर्णाह्वया नृपाः ॥, तु० रत्नश्रीज्ञान और तरुणवाचस्पति। उक्त पद्य (अथवा उसका एक अंश ?) पल्लवनरेश महेन्द्रवर्मा प्रथम के मामन्डूर अभिलेख में भी उपलब्ध होता है; तु० एम० कृष्णमाचारियार, हिस्ट्री आफ् क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृ० ४५५, पादटि० २।

(६८० या ६६६ से ७२२ ई० तक) से, जिसके कई विरुदों में से दो विरुद **राजसिंह** और **राजसुन्दरवर्मा** थे, अभिन्न माना जाता है। इस राजा का एक अन्य विरुद **कालकाल** भी था जिसका अवगुण्ठित उल्लेख **काव्यादर्श** (३.५०) में हुआ है। यह राजा शिव का अनन्य भक्त था। यदि उक्त अभिन्नता सही है तो दण्डी का समय सातवीं शती का अन्तिम भाग और आठवीं शती का आरम्भ होगा। इस काल की पुष्टि कर्णाटक की कवयित्री विज्जका[1] के साक्ष्य से भी होती है जिसकी चर्चा ऊपर (पृ० १३-४ में) की जा चुकी है।

दण्डी के उपरिनिर्दिष्ट काल के समर्थन में महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है **अवन्तिसुन्दरीकथा** का प्रस्तावनाभाग जिसमें कतिपय इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तियों का अर्थवान् उल्लेख है। इस प्रस्तावनाभाग (पृ० ९-११) के अनुसार, दण्डी के प्रपितामह दामोदरस्वामी ने महाकवि भारवि के माध्यम से चालुक्य राजकुमार विष्णुवर्धन के साथ संपर्क स्थापित किया और उससे मैत्री की। कुछ समय बाद जब दामोदरस्वामी लगभग बीस वर्ष का हुआ तब वह गङ्गवंशी नरेश दुर्विनीत की राजसभा में आ गया। तत्कालीन पल्लवराज सिंहविष्णु ने उसकी कविप्रतिभा की कीर्ति सुनी, और किसी प्रकार उसे अपनी राजसभा में बुला लिया। उक्त विवरण में दक्षिण भारत के, छठी शताब्दी के उत्तरभाग एवं सातवीं शताब्दी के पूर्वभाग में विद्यमान, कतिपय ऐतिहासिक व्यक्तियों का समुल्लेख है। इनमें महाकवि भारवि निःसंदेह **किरातार्जुनीय** का प्रथितयशा लेखक है, जिसके कवित्व की कीर्ति ६३४ ई० तक आसपास के प्रदेशों में प्रतिष्ठित हो चुकी थी।[2] राजकुमार विष्णुवर्धन बादामी (ज़िला बीजापुर) के चालुक्यवंशी नरेश कीर्तिवर्मा प्रथम (लगभग ५५६-७ से ५९७-८ ई० तक) का पुत्र एवं सत्याश्रय पुलकेशी द्वितीय (६१०-१ से ६४२ ई० तक) का अनुज था। अपने अग्रज पुलकेशी के राज्यग्रहण के आरम्भिक काल में, ६१५ ई० के आसपास, वह युवराज बना, और बाद में उसने अपने अग्रज की अनुमति से वेंगी (ज़िला पश्चिम गोदावरी) में सामन्त राजवंश की स्थापना की। उसका राज्यकाल लगभग ६१५ से ६३३ ई० तक माना जाता है।[3] पश्चिमी गङ्गवंश के राजा दुर्विनीत का राज्य मैसूर

---

१. विज्जका का समय सातवीं शती का उत्तरार्ध है। जयशंकर त्रिपाठी (उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० ४२२-६) ने, उसे अपर्याप्त प्रमाण के आधार पर **कौमुदीमहोत्सव** की लेखिका मानकर, उसका काल ३४० ई० के आसपास निर्धारित करने का असफल प्रयास किया है।

२. द्र० ६३४ ई० के ऐहोल शिलालेख में निम्नलिखित पद्यांश : स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः।

३. तु० क्लासिकल एज, पृ० २३१-४१।

में ५४० से ६०० ई० तक था। वह साहित्य और कला का पारखी एवं कवियों और विद्वानों का आश्रयदाता था। स्वयं भी वह संस्कृत और कन्नड़ का मनीषी विद्वान् था।[1] काञ्चीपुर (—पुरम्) का नरेश सिंहविष्णु, जिसका राज्यकाल ५७५ से ६०० तक माना जाता है, पल्लववंश का प्रथम महत्त्वपूर्ण राजा था। राजनीतिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से उसने एक नये युग का प्रवर्तन किया था; शक्तिशाली विजेता होने के साथ-साथ वह कवियों और कलाकारों का वदान्य आश्रयदाता भी था।[2]

अवन्तिसुन्दरीकथा के अनुसार, जब दामोदरस्वामी विष्णुवर्धन के संपर्क में आया तब विष्णुवर्धन 'राजसूनु' था, अतः उससे इसका प्रथम साक्षात्कार ६१५ ई० से, जब उसका यौवराज्याभिषेक हुआ, पूर्व हुआ होगा। यह साक्षात्कार उस समय हुआ जब मैसूर पर दुर्विनीत का एवं काञ्चीपुर पर सिंहविष्णु का राज्य था। इन दोनों का राज्यकाल ६०० ई० के आसपास समाप्त होता है, अतः दामोदरस्वामी की विष्णुवर्धन से उक्त भेंट ५९५ ई० के आसपास हुई होगी। दामोदरस्वामी विष्णुवर्धन के पास कुछ समय के लिए ही रहा होगा, क्योंकि अभी वह केवल बीस वर्ष का ही था जब वह दुर्विनीत की राजसभा में आ चुका था। यहाँ भी वह थोड़े समय के लिए ही रहा; सिंहविष्णु के राज्यकाल में ही वह काञ्चीपुर आ चुका था। काञ्चीपुर को दामोदरस्वामी ने अन्तिम रूप से अपना निवासस्थान बनाया। यहाँ उसके तीन पुत्र हुए : सिंहविष्णु, मनोरथ और अतिलोभ। इनमें मँझले पुत्र मनोरथ के घर चार पुत्र हुए; ये थे दामोदर, भवदास, सिंहविष्णु और वीरदत्त। दण्डी वीरदत्त का, अनेक कन्याओं के अनन्तर उत्पन्न, कनिष्ठ पुत्र था। यदि मनोरथ का जन्मकाल सातवीं शती के आरम्भिक वर्षों में और वीरदत्त का ६३०-५ ई० के आसपास माना जाए, तो दण्डी का जन्मकाल ६६५ ई० के लगभग माना जाएगा। सातवें वर्ष में प्रवेश करते ही उसकी माता की मृत्यु हो गई। इसके कुछ समय बाद उपनयन संस्कार के अनन्तर उसने वेदाध्ययन आरम्भ किया, और उसके अध्ययन-काल में ही उसके पिता की भी मृत्यु हो गई। लगभग इसी समय काञ्ची पर शत्रुसेना ने आक्रमण किया,[3] और दण्डी को राजधानी छोड़नी पड़ी। वर्षों वह इधर-उधर घूमता रहा, और विभिन्न गुरुकुलों में उसने विद्या प्राप्त की। जब वह पर्याप्त

१. तु० उपर्युक्त, पृ० २६८ प्रभृति।

२. तु० उपर्युक्त, पृ० २५८-९।

३. ६७३-४ ई० में चालुक्यवंशी विक्रमादित्य प्रथम द्वारा पल्लवराज्य पर आक्रमण किया गया था (तु० उपर्युक्त, पृ० २६१, २८०)। संभवतः यही आक्रमण अवन्तिसुन्दरीकथा (पृ० १२) में 'परचक्रपीडा' के रूप में उल्लिखित है।

समय तक विभिन्न प्रदेशों का भ्रमण करने के अनन्तर काञ्ची वापिस आया, तब वहाँ पूर्ण शान्ति स्थापित हो चुकी थी। वह संभवतः परमेश्वरवर्मा प्रथम के राज्यकाल (६७० से ६८० या ६९५ ई०) के उत्तरभाग अथवा उसके पुत्र नरसिंहवर्मा द्वितीय के राज्यकाल (६८० या ६९५ से ७२२ ई०) के आरम्भिक वर्षों में काञ्ची वापिस आया होगा। इसके बाद वह जीवन के अन्तिम दिनों तक संभवतः वहीं रहा। नरसिंहवर्मा द्वितीय के कुछ विरुदों का निगूढ समुल्लेख, जैसा हम देख चुके हैं, काव्यादर्श में प्राप्त होता है। इसी ग्रन्थ में अन्यत्र (३.११४ में) काञ्ची का एवं वहाँ के पल्लववंशी राजाओं का निगूढ संकेत भी मिलता है। एक परंपरा[1] के अनुसार, दण्डी ने अपने आश्रयदाता के पुत्र (संभवतः नरसिंहवर्मा द्वितीय या उसके पुत्र महेन्द्रवर्मा तृतीय) को काव्यशास्त्र की शिक्षा देने के लिए **काव्यादर्श** की रचना की थी।

पल्लव राजसभा में दण्डी की स्थिति का काल लगभग ६८० से ७२० ई० तक माना जा सकता है। यहीं रहकर उसने अपने शास्त्रग्रन्थ एवं काव्य-प्रबन्धों की रचना की। इन ग्रन्थों का रचनाकाल अनुमानतः इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है: **दशकुमारचरित**—६८० ई०, **काव्यादर्श**—६९० ई०, **द्विसंधानकाव्य**—७०० ई०; और **अवन्तिसुन्दरीकथा**—७१५ ई०।

जीवन और व्यक्तित्व

दण्डी के जीवन के संबन्ध में प्रचलित विविध किंवदन्तियों का इसके अतिरिक्त कोई अन्य मूल्य नहीं है कि उनसे कवि की गौरवपूर्ण ख्याति और लोकप्रियता की सूचना मिलती है, क्योंकि इन किंवदन्तियों में उसका नाम कालिदास और भवभूति जैसे संस्कृत के मूर्धन्य साहित्यकारों के साथ जुड़ा हुआ है। कतिपय प्रशंसोक्तियों[2] में उसका समुल्लेख वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भारवि, माघ और बाण के साथ प्राप्त होता है।

अवन्तिसुन्दरीकथा के प्रस्तावनाभाग के अनुसार, दण्डी कुशिक गोत्र का ब्राह्मण था। उसके पूर्वज भारत के पश्चिमोत्तर दिग्भाग में, संभवतः प्राचीन

---

१. इसका आधार काव्यादर्श १.५ है; तु० उक्त पर टि०।

२. इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रशंसोक्ति है : उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्। दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥ दण्डी का यहाँ उल्लिखित पदलालित्य गुण उसके अन्य काव्यप्रबन्धों के साथ-साथ काव्यादर्श में यथेष्ट मात्रा में संलक्षित होता है। इसके कुछ पद्य पदलालित्य के सुन्दर उदाहरण हैं; तु० विशेषतः १.५६, ७०, ८४; २.६८, १०५, ११७, १४१, १७४, २१५, २५७, ३३४, ३३९; ३.८, १४, १६, १८, २०, ८८।

पञ्चनद प्रदेश में,[1] आनन्दपुर नामक नगर के निवासी थे। यहाँ से निकलकर उसके पूर्वज नासिक्य (वर्तमान नासिक) प्रदेश में अचलपुर नामक स्थान में रहे। वहाँ नारायणस्वामी के घर दण्डी के प्रपितामह दामोदरस्वामी ने जन्म लिया। दामोदरस्वामी प्रतिभाशाली कवि था। उसने अनुकूल राजाश्रय की खोज में विभिन्न राज्यों में भ्रमण करते हुए, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, अन्ततः काञ्चीपुर को अपना आश्रयस्थान बनाया। दण्डी इसी दामोदरस्वामी का प्रपौत्र, मनोरथ का पौत्र तथा वीरदत्त और गौरी का पुत्र था।

दण्डी को अपने जीवनकाल में ही पर्याप्त यश और संमान प्राप्त हुआ। उसकी प्रसिद्धि कवि और काव्यशास्त्री दोनों रूपों में थी। कला-पारखी के रूप में भी उसका स्थान गौरवपूर्ण था। उसका परिचय-क्षेत्र काफ़ी बड़ा था। उसकी मित्रमण्डली में विभिन्न प्रदेशों के कवि और विद्वान् संमिलित थे। उसके मित्रों में केरल के आचार्यकवि मातृदत्त, देवशर्मा, जयन्त, नारायण, भजनानन्द एवं विमत और चोलदेश के रामशर्मा के नाम उक्त कथा में उल्लिखित हैं।[2]

दण्डी ब्राह्मण धर्म का अनुयायी था, एवं विष्णु का उपासक था।[3] शैवमत के प्रति भी उसकी रचनाओं में जहाँ-तहाँ आदरभाव प्रकट है।[4] इसका कारण संभवतः यह था कि उसके आश्रयदाता राजसिंह शैव थे। दूसरी ओर, जैन और बौद्ध मतों के प्रति उसका विरोधभाव सुस्पष्ट है। इन संप्रदायों के प्रति उसका आक्रोशभाव अनेकत्र मुखर है।

आचार्य दण्डी विभिन्न शास्त्रों में पारंगत और विविध कलाओं के आगम और प्रयोग में निपुण था। तीक्ष्ण मेधा और अगाध पाण्डित्य के साथ-साथ उसमें अपूर्व कविप्रतिभा भी थी। व्यावहारिक जीवन में वह कुतूहलपूर्ण चित्तवृत्ति वाला और साहसरुचि मनुष्य था। वह वाग्विदग्ध और विनोदी प्रकृति

---

१. प्रस्तुत लेखक ने अपने ग्रन्थ सोसाइटी एंड कल्चर इन दि टाइम आफ़ दण्डिन् (पृ० १६, ६२-३) में सामान्यतः प्रचलित मत के आधार पर सौराष्ट्र के प्रदेश को दण्डी के पूर्वजों की मूलभूमि माना था, परंतु प्राचीन भारत में हुए कतिपय महत्त्वपूर्ण देशान्तराधिवासों के परिप्रेक्ष्य में पञ्चनद प्रदेश को उक्त मूलभूमि मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इस संबन्ध में अवन्तिसुन्दरीकथा (पृ० ६) का मूल पाठ इस प्रकार है : अस्ति दिशि पश्चिमोत्तरस्यामार्यदेशशिखामणिरानन्दपुरं नाम ब्राह्मणानां महानावासः। ततो हि निःसृता सरस्वतीव ब्रह्मलोकाद्˙˙˙दक्षिणां दिशमनुगृह्णती˙˙˙अचलपुरं नाम˙˙˙नासिक्यभूमौ नगरम् अधिवसति कुशिकवंशवर्धनी सर्वातिथिरप्रतिग्रहीत्री महत्युदाररूपा ब्रह्मराशिर्ब्रह्मसंततिः।

२. द्र० पृ० १२-७।

३. तु० काव्यादर्श २.८१, २७७; ३.२८, ४७; द्र० अवन्तिसुन्दरीकथा, पृ० १४ भी।

४. तु० काव्यादर्श २.२७८-६।

का सहृदय नागरक था। उसने प्रायः समस्त भारत का भ्रमण किया था। विभिन्न लोकरीतियों से उसका निकट का परिचय था। उसकी दृष्टि पैनी थी और वह उर्वर कल्पना का धनी था। उसकी रचनाओं में उसका व्यापक जीवन-दर्शन और विशाल अनुभव अपने पूर्ण परीणाह में और विविध रूपों एवं रंगों के साथ उभरा है।

संस्कृत काव्यशास्त्र की पूर्ववर्ती परंपरा और आचार्य दण्डी

नाट्यशास्त्र के लेखक भरतमुनि (लगभग प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व) को संस्कृत काव्यशास्त्र का प्रथम आचार्य माना जाता है, यद्यपि इस बात के प्रमाण हैं कि उससे पूर्व काव्यशास्त्र की परंपरा विद्यमान थी। स्वयं भरत के ग्रन्थ में कतिपय प्राचीन आचार्यों, यथा, तण्डु, शाण्डिल्य, वात्स्य, कोहल, दन्तिल, वादरायण, काश्यप, नन्दिस्वामी और वररुचि, का नामोल्लेख मिलता है। इनमें अन्तिम तीन का उल्लेख अन्यत्र भी प्राप्त होता है। इन आचार्यों का विषय नाट्यशास्त्र था अथवा काव्यशास्त्र या दोनों—यह कह सकना कठिन है, फिर भी इतना कहा जा सकता है कि इन्होंने, और विशेषतः अन्तिम तीन ने, काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के संबन्ध में भी कुछ-न-कुछ अवश्य लिखा था।

भरत का **नाट्यशास्त्र**, जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है, नाट्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ है, तथापि इसमें अन्य अनेक विद्यास्थानों और कलाओं का भी अल्पाधिक विवरण है। इसका एक पूरा, सत्रहवाँ, अध्याय काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के निरूपण को समर्पित है। इस अध्याय में दस काव्यगुणों, दस काव्यदोषों, छत्तीस काव्यलक्षणों और चार अलंकारों का वर्णन है। इसमें निरूपित दस काव्यगुण, कम-से-कम नामतः, वही हैं जिनका उल्लेख और विवेचन आगे चलकर दण्डी ने किया। काव्यदोषों का भरतकृत विवेचन उत्तरकालीन परंपरा में अंशतः ही स्वीकार्य हुआ। उसके काव्यलक्षणों की परंपरा तो आगे चलकर प्रायः समाप्त ही हो गई। हाँ, इनमें से कुछ लक्षण अवश्य उत्तरवर्ती युग में अलंकारों के रूप में विकसित हो गए। **नाट्यशास्त्र** में अलंकारों का स्थान प्रायः गौण ही है; उसमें उपमा, रूपक, दीपक और यमक—केवल इन्हीं चार अलंकारों का निरूपण है। उपमा के इसमें पाँच भेद प्राप्त होते हैं। ये भेद उत्तर-कालीन परंपरा में स्थान न पा सके, यद्यपि इनमें से दो—निन्दोपमा और प्रशंसोपमा—दण्डी (तु० २.३०-१) के युग तक किसी तरह जीवित रहे। रूपक और दीपक का भरत ने कोई भेदविभाग नहीं किया। दूसरी ओर, उसने यमक के दस भेदों का निरूपण किया जिनमें से कुछ भेद, चाहे नामतः ही सही, दण्डी द्वारा अपनाए गए। अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण भरत ने उपर्युक्त

काव्यतत्त्वों का वर्णन नाटक में रस की निष्पत्ति के संदर्भ में किया है, यद्यपि वह इन्हें काव्याश्रय धर्म के रूप में भी स्वीकार करता है।

भरत के बाद एक लम्बे कालव्यवधान के अनन्तर दण्डी (रचनाकाल : सप्तम शती का अन्तिम भाग) और भामह (आठवीं शती का द्वितीय चरण) की रचनाएँ प्राप्त होती हैं। इस लम्बे अन्तराल में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का अध्ययन-अनुशीलन होता रहा, इतना तो निश्चित है, परंतु इसके प्रमाणस्वरूप ग्रन्थ हमें उपलब्ध नहीं होते। हाँ, इस युग के कतिपय आचार्यों के नाम हमें अवश्य प्राप्त होते हैं। इसके साथ-साथ कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हमें उपलब्ध होते हैं जिनमें प्रसङ्गतः या गौण रूप में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की चर्चा अथवा निदर्शन है। ऐसे ग्रन्थों में **विष्णुधर्मोत्तरपुराण** (४०० और ५०० ई० के बीच) प्रथम है। इसके तृतीय काण्ड के तीन (१४-६) अध्यायों में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का निरूपण है। चौदहवें अध्याय में सत्रह अलंकारों का लक्षणतः वर्णन है। इनमें से उपन्यास (व्याजोक्ति का एक प्रकार) को छोड़कर अन्य सभी अलंकार दण्डी में भी निरूपित हैं। पन्द्रहवें अध्याय में महाकाव्य का लक्षण और विवरण है। सोलहवें अध्याय में प्रहेलिकाओं का वर्णन किया गया है। इसके बाद के पन्द्रह अध्याय मुख्यतः नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों से संबन्ध रखते हैं। इनके अन्तर्गत नौ रसों और उनचास भावों का वर्णन भी किया गया है जिनका काव्यशास्त्रीय दृष्टि से भी महत्त्व है।

भट्टि (लगभग ५६०-६१० ई०) ने अपने **रावणवध** के दशम सर्ग में अड़तीस अलंकारों को निदर्शित किया है। इनमें दो अलंकारों—निपुण और वार्त्ता—को छोड़कर अन्य सभी अलंकार दण्डी में भी आए हैं। वार्त्ता के स्थान पर दण्डी ने उससे अधिक व्यापक स्वरूप वाले स्वभावोक्ति अलंकार को लिया है। **रावणवध** के ग्यारहवें सर्ग में माधुर्य गुण को एवं बारहवें में भाविक अलंकार को निदर्शित किया गया है।

ऐसे आचार्यों में जिनके लक्षणग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं मेधावी अथवा मेधाविरुद्र का नाम महत्त्वपूर्ण है। भामह ने उपमादोषों के प्रसङ्ग (२.४०) में उसका उल्लेख किया है। अन्यत्र (२.८८ में) उसने यथासंख्य के संदर्भ में कहा है कि मेधावी इस अलंकार को 'संख्यान' नाम से ग्रहण करता है।[1] भामह के अतिरिक्त, रत्नश्रीज्ञान ने **काव्यादर्श** (२.२) की अपनी टीका में एवं नमिसाधु ने रुद्रट के **काव्यालंकार** (१.२; २.२; ११.२४) की अपनी व्याख्या में मेधावी का सादर समुल्लेख किया है। राजशेखर (**काव्यमीमांसा** ४, पृ० २७)

---

१. दण्डी यथासंख्य के इस नाम से परिचित है; तु० काव्यादर्श २.२७३।

ने उसका कवि के रूप में उल्लेख किया है। प्रतीत होता है कि वह कवि और आचार्य दोनों था। इस 'अन्धकार-युग' का एक अन्य लेखक रा म श र्मा था जिसे भामह (२.१६) ने **अच्युतोत्तर** नामक प्रहेलिकाग्रन्थ के लेखक के रूप में उल्लिखित किया है। इसका उल्लेख रत्नश्रीज्ञान की टीका (२.७) एवं संघ-रक्खित (बारहवीं शती ई०) के पालि अलंकारग्रन्थ **सुबोधालंकार** (कलकत्ता सं०, पृ० १) में भी प्राप्त होता है। **अवन्तिसुन्दरीकथा** (पृ० १७) के अनुसार, दण्डी के एक मित्र का नाम रामशर्मा था, परंतु यह कह पाना कठिन है कि वह उक्त रामशर्मा से अभिन्न था। **काव्यादर्श** के एक टीकाकार, वादिजङ्घाल (दसवीं शती, उत्तरार्ध), ने ब्र ह्म द त्त का दण्डी के पूर्ववर्ती लेखक के रूप में उल्लेख किया है। इन लेखकों के अतिरिक्त, भरत के कुछ टीकाकार भी संभवतः इस लम्बे अन्तराल में हुए। इनमें भ ट्ट लो ल्ल ट और भ ट्ट श ङ्कु क इस युग के लेखक प्रतीत होते हैं।

दण्डी ने अपने **काव्यादर्श** द्वारा इन ज्ञात-अज्ञात आचार्यों की परंपरा को आगे बढ़ाया, और पहली बार योजनाबद्ध रूप में काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का हृदयंगम प्रतिपादन किया। उसका **काव्यादर्श** सही अर्थों में काव्य का आदर्श (=दर्पण) है जिसमें काव्यसंबन्धी सिद्धान्त विशद रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं।

काव्यादर्श के उपलब्ध तीन परिच्छेदों में से प्रथम परिच्छेद में काव्य का लक्षण और विभिन्न आधारों पर उसका वर्गीकरण तथा मार्गगुणसिद्धान्त का विस्तृत निरूपण है। परिच्छेद के अन्त में तीन काव्यहेतुओं का संक्षिप्त उल्लेख है। दूसरे परिच्छेद में संसृष्टि और भाविक को मिलाकर, पैंतीस अलंकारों का निरूपण है। इन अलंकारों के अतिरिक्त, परंपराप्राप्त अनन्वय, ससंदेह, उपमारूपक और उत्प्रेक्षावयव—इन अलंकारों का उल्लेख भी दण्डी (२.३५८-९) ने किया है, यद्यपि उसके अपने मत में ये स्वतन्त्र अलंकार नहीं हैं। तीसरे परिच्छेद में शब्दालंकारों में यमक और चित्रमार्ग का विस्तृत निरूपण है। एक अन्य शब्दालंकार, अनुप्रास, का आनुषङ्गिक वर्णन आचार्य ने (प्रथम परिच्छेद में) माधुर्य गुण के प्रसङ्ग में किया है। शब्दालंकारों के निरूपण के अनन्तर, इसी तीसरे परिच्छेद में, काव्यदोषों का सुन्दर विवेचन है। उपसंहार-श्लोक में काव्यप्रयोजनों का संक्षिप्त-सा संकेत है। **काव्यादर्श** का एक कला-संबन्धी परिच्छेद भी था (तु० ऊपर, पृ० १५-७), परंतु आज वह उपलब्ध नहीं होता।

जैसा कि हम देख चुके हैं, दण्डी का प्रादुर्भाव संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा के प्रारंभिक युग में हुआ, अतः उसके लक्षणग्रन्थ में काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों को अपने परिपक्व अथवा प्रौढ़ रूप में देखने की प्रत्याशा करना उचित

नहीं है। इन सिद्धान्तों का परिपूर्ण विकास तो कालान्तर में ही संभव था। दण्डी के युग में काव्यशास्त्र, अथवा अलंकारशास्त्र, अपने प्रारम्भिक विकास की पहली अवस्था को पार करके दूसरी अवस्था में प्रवेश कर रहा था। दण्डी ने, वास्तव में, इस प्रवेश की प्रक्रिया को सुविधा और गति प्रदान की। उसके युग में कतिपय काव्यसिद्धान्त धीरे-धीरे परिपक्वता की ओर बढ़ रहे थे एवं कुछ अन्य सिद्धान्त शास्त्र द्वारा प्रत्यभिज्ञान या स्वीकृति प्राप्त करने की दिशा में प्रयत्नशील थे। काव्य का अनुशीलन और निरूपण इस समय वस्तुनिष्ठ था; फलतः काव्यशोभा के बाह्य साधनों, जो काव्यानन्द की अनुभूति में सहायक थे, की दृष्टि से ही काव्य का मूल्यांकन इस युग में हुआ। वास्तविक काव्यसौन्दर्य के आपादक आत्मतत्त्व की जिज्ञासा मात्र भी अभी इस काल में उत्पन्न नहीं हुई थी, अतः उस आत्मतत्त्व के आविर्भाव का तो प्रश्न ही नहीं उठता। प्राचीन आचार्यों—जिनमें दण्डी के अतिरिक्त भामह, उद्भट और रुद्रट भी थे—का ध्यान काव्य के 'शरीर' पर ही केन्द्रित था, उसकी 'आत्मा' की कल्पना, अथवा उसकी स्फुट उद्भावना, उनके मन में नहीं थी। यद्यपि दण्डी ने दस गुणों को वैदर्भ मार्ग का 'प्राण' कहकर तद्द्वारा गुणों से अनुप्राणित मार्गसिद्धान्त का प्रवर्तन करते हुए काव्यशास्त्र के क्षेत्र में सर्वप्रथम आत्मतत्त्व का संकेत किया, तथापि वह संकेत संकेत मात्र था; और यह संकेत भी अप्रत्यक्ष ही था, क्योंकि दण्डी ने उक्त गुणों को 'काव्य' का प्राण न कहकर प्रस्फुटान्तर काव्यमार्गों में 'अन्यतर मार्ग' का प्राण कहा है। समाधि गुण को काव्य का 'सर्वस्व' कहते समय भी दण्डी के मन में काव्य की आत्मा की सुनिश्चित कल्पना नहीं थी; अन्यथा वह समाधि को कम-से-कम वह स्थान देता जो उसने मार्ग या वैदर्भ मार्ग को दिया है। दूसरे शब्दों में, वह उसे वैदर्भ मार्ग के दस गुणों में से अन्यतम मात्र न मानकर उसे मार्गसमकक्ष स्थान देता। समाधि को 'काव्यसर्वस्व' कहने का उसका अभिप्राय उसे उभयमार्गसाधारण अथवा दोनों मार्गों द्वारा स्वीकरणीय गुण प्रतिपादित करना मात्र था (तु० **हृदयंगमा**)। वस्तुतः काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आत्मतत्त्व की प्रतिष्ठापना सर्वप्रथम वामन (१.२.६) द्वारा हुई जिसने निश्चित शब्दों में रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया।

अपनी शरीरवादी दृष्टि के अनुरूप दण्डी ने, काव्य अथवा उसकी आत्मा को परिभाषित न करके, उसके शरीर को परिभाषित किया है। इस शरीर को, जो स्पष्टतः काव्य का बाह्य तत्त्व है, उसने **इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली** कहा है (१.१०)। काव्यशरीर की इस परिभाषा में पदावली अर्थात् शब्द पर स्पष्टतः विशेष बल है; उसकी दृष्टि में शब्द ही प्रत्यक्षतः काव्यशरीर है, उसकी इष्टार्थव्यवच्छिन्नता, दूसरे शब्दों में, उसका अभिलषित अर्थ से समन्वित होना, तो

उसका गुण या धर्म मात्र है—अधिक-से-अधिक वह शब्द के काव्यशरीर बनने की आवश्यक शर्त है। यदि शब्द इष्टार्थव्यवच्छिन्न होगा तो वह काव्यशरीर होगा, अन्यथा नहीं,—इतनी मात्रा में दण्डी ने अर्थ का महत्त्व अवश्य स्वीकार किया है।

उक्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि काव्य का आन्तरिक तत्त्व अथवा उसकी आत्मा क्या है—इस प्रश्न का उत्तर दण्डी में नहीं मिलता। यहाँ यह अवधेय है कि काव्यशरीर की दण्डि-कृत उक्त परिभाषा संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा के अन्तिम प्रसिद्ध आचार्य जगन्नाथ की निम्नलिखित काव्यपरिभाषा से मेल खाती प्रतीत होती है : **रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्** (रस० पृ० १०)। परंतु वस्तुतः काव्यात्मतत्त्व के संवन्ध में दोनों के दृष्टिकोणों में व्यापक अन्तर होने के कारण दोनों की उक्त काव्यपरिभाषाएँ तत्त्वतः दूर जा पड़ी हैं, क्योंकि जहाँ दण्डी के अर्थ की इष्टता अर्थ के वाह्य सौन्दर्य अथवा लौकिक चमत्कार तक ही सीमित है, वहाँ जगन्नाथ के अर्थ की रमणीयता उसके आन्तरिक सौन्दर्य अथवा अलौकिक चमत्कार की ओर भी संकेत करती है, और यह संकेत स्फुट है।[1]

जैसा कि कहा जा चुका है, काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक आचार्यों की दृष्टि काव्यशरीर तक ही गई। शरीर को स्वीकार्य वनाने के लिए इन आचार्यों ने अलंकरण की आवश्यकता पर बल दिया। इस अलंकरण के साधन हैं मुख्यतः अलंकार जिनकी विस्तृत व्याख्या इन्होंने अपने-अपने ढंग से की। वास्तव में संस्कृत काव्यशास्त्र का आरम्भ अलंकारसिद्धान्त के आविर्भाव के साथ हुआ। यही कारण है कि प्रारम्भ के अधिकांश आचार्यों ने अपने लक्षणग्रन्थों का नाम **काव्यालंकार** रखा; और उस युग में काव्यशास्त्र प्रायः अलंकारशास्त्र के नाम से, जो नाम अभी तक जीवित है, अभिहित हुआ। चाहे इन आचार्यों ने अलंकार की काव्य के प्रमुख तत्त्व के रूप में व्याख्या की,[2] फिर भी यह मानना गलत होगा कि इन्होंने उसे काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया। यह ध्यान देने की बात है कि उत्तरकालीन अलंकारवादी आचार्यों ने भी अलंकार की काव्य के प्राणतत्त्व के रूप में प्रस्तुति नहीं की; हाँ, उसके प्रमुख तत्त्व के रूप में उसका ग्रहण और विस्तृत विवेचन अवश्य किया।

आचार्य दण्डी ने मार्ग और अलंकार दोनों सिद्धान्तों की समान रूप में व्याख्या की है। अतः इनमें से कौन-सा सिद्धान्त उसे काव्य के मूल सिद्धान्त के

---

१. तु० रस० पृ० १०-२ : रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः। कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनः पुनरनुसंधानात्मा।

२. तु० अलंसर्व० पृ० ८ : तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम्।

रूप में अभीष्ट था—यह कह सकना कठिन है। वस्तुतः इस संबन्ध में यही कहना सही होगा कि उसे दोनों सिद्धान्त सहभावेन अभीष्ट थे। डा० सुशील-कुमार दे उसे मुख्यतः रीतिवादी आचार्य मानते हैं,[1] क्योंकि, उनके मत में, मार्ग और उसके प्राणभूत गुणों के प्रति उसका विशिष्ट आग्रह था। अपने मत की पुष्टि में डा० दे यह युक्ति भी उपस्थापित करते हैं कि उत्तरकालीन अलंकार-वादी आचार्य स्पष्ट रूप में उसकी उपेक्षा करते हैं। परंतु यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि मार्गसिद्धान्त के प्रति विशिष्ट आग्रह रखते हुए भी दण्डी काव्य में उसके शोभाकारक तत्त्वों—अलंकारों—का प्रवल समर्थक था। उसकी अलं-कार-संकल्पना मार्गनिर्धारक गुणों की उसकी संकल्पना से कहीं अधिक व्यापक थी। उसके गुण अलंकारों में अन्तर्भुक्त होते हैं, अलंकार गुणों में नहीं। गुण, उसकी दृष्टि में, मार्गविभेद के परिलक्षक अलंकार ही हैं (तु० २.३)। अलंकारों की उसके द्वारा की गई विशद और विस्तृत विवेचना से भी उसके अलंकारवादी होने के तथ्य की पुष्टि होती है। उसके अलंकारवादी होने में संदेह करने का प्रमुख कारण यह रहा है कि प्रसिद्ध अलंकारवादी आचार्य भामह से उसका सैद्धान्तिक विरोध था, परंतु यहाँ यह वात स्पष्ट रूप से जान लेनी चाहिए कि उक्त दोनों आचार्यों का मतभेद अलंकार के मूल सिद्धान्त को अथवा काव्य में उसके स्थान के प्रश्न को लेकर कभी नहीं था। उनका मतभेद मुख्यतः कतिपय अलंकारों को अलंकार मानने या न मानने की वात को लेकर अथवा कुछ अलं-कारेतर विषयों को लेकर था। उदाहरणतः, वे इस बात पर सहमत नहीं थे कि हेतु, सूक्ष्म आदि अलंकारों को अलंकार माना जाए या नहीं, कि निन्दोपमा आदि उपमा के भेदों को मान्यता दी जाए या नहीं, कि काव्य में नायक का उत्कर्ष-विशेष दिखाने के उद्देश्य से प्रतिनायक के वंश, वीर्य आदि का वर्णन किया जाए या नहीं, कि कथा में स्वयं नायक अपनी कहानी कहे या कोई अन्य यह कार्य करे, कि कथा और आख्यायिका के बीच अन्तर माना जाए या नहीं, कि प्रादे-शिक आधार पर मार्गविभाग अथवा विभिन्न मार्गों का तारतम्य स्वीकार किया जाए या नहीं, कि गुण दस माने जाएं या केवल तीन, कि ओज गुण के नाम पर समासभूयस्त्व को काव्य में प्रश्रय दिया जाए या नहीं, और कि प्रतिज्ञाहेतु-दृष्टान्तहानि को दोष माना जाए या नहीं।[2]

---

१. उपर्युक्त ग्रन्थ, २, पृ० ७५-६, ७८।

२. तु० क्रमशः (क) दण्डी २.८-१३, २३५, २४४, ३५७; भामह २.९३, ८६, ८७, ५५ (ख) द २.३०-२, ४२; भा २.३७-८ (ग) द १.२१-२; भा १.२२-३ (घ) द १.२३-४; भा १.२९ (ङ) द १.२८; भा १.२५-९ (च) द १.४०; भा १.३२ (छ) द १.४१; भा २.१-२ (ज) द १.८०; भा ३.२ (झ) द ३.१२७; भा ४.२ उ०।

जहाँ तक अलंकारों के महत्त्व अथवा काव्य में उनके स्थान का प्रश्न है, दोनों में प्रायः पूर्ण मतैक्य दृष्टिगोचर होता है। दोनों काव्य में अलंकारों का सविशेष महत्त्व स्वीकार करते हैं। यदि भामह कहता है कि कविता-रूपी सुन्दरी का वदन कमनीय होता हुआ भी अलंकार के बिना शोभा नहीं पाता (१.१४; तु० ३.५८ भी), तो दण्डी का कथन है कि काव्य की शोभा का संपादन अलंकारों से होता है (२.१)। दोनों अपने लक्षणग्रन्थों में अलंकारविवेचना को प्रमुख स्थान देते हैं। इस संबन्ध में दण्डी को यह अतिरिक्त श्रेय अवश्य दिया जा सकता है कि उसका अलंकारविवेचन अधिक योजनाबद्ध, विस्तृत और विशद है। दोनों लेखकों के विवेच्य अलंकार, हेतु, सूक्ष्म आदि कुछ अलंकारों को छोड़कर, प्रायः समान हैं। दोनों में अनेक अलंकारों की संकल्पना भी परस्पर तुल्य है; ऐसे कतिपय अलंकार हैं प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, प्रेयः, ऊर्जस्वी, समाहित, उदात्त और विशेषोक्ति। भाविक की संकल्पना यद्यपि दोनों में भिन्न है, तथापि उसका 'प्रबन्धविषय गुण' होना दोनों को अभीष्ट है; इस संबन्ध में दोनों के कथन में भी अक्षरशः साम्य है।[1] कतिपय अलंकारों, जैसे, अन्योन्योपमा (=उपमेयो–), विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, प्रेयः, उदात्त, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, निदर्शन, सहोक्ति और परिवृत्ति, के उदाहरणों में भी पर्याप्त शब्दसादृश्य अथवा भावसाम्य है।[2]

अलंकारसिद्धान्त के संबन्ध में दोनों के दृष्टिकोणों में यदि कोई उल्लेखनीय अन्तर दीख पड़ता है तो वह वक्रोक्तितत्त्व के संबन्ध में है। दण्डी (२.३६३) जहाँ इस तत्त्व के साथ इसके विपर्यय के रूप में स्वभावोक्तितत्त्व को भी लेता है, वहाँ भामह केवल वक्रोक्ति को ही, जिसे वह संभवतः भ्रमवश अतिशयोक्ति से मिला देता है, अलंकार के मूलतत्त्व के रूप में ग्रहण करता है और इस संबन्ध में घोषित करता है कि इसी तत्त्व से अर्थ विभावित होता है तथा इसके अभाव में अलंकार की स्थिति संभव नहीं है।[3] अन्यत्र वह कहता है कि वक्र शब्द और

---

१. तु० दण्डी २.३६४ पू०; भामह ३.५३ पू० : तद्‍ भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।

२. तु० क्रमशः (क) दण्डी २,१८; भामह ३.३८ (ख) द २.२००; भा २.७८ (ग) द २.२०९-१०; भा २.८० (घ) द २.२१५; भा २.८२ (ङ) द २.२७६; भा ३.५ (च) द २.३०१-२; भा ३.११-२ (छ) द २.३२४; भा ३.२४ (ज) द २.३३१; भा ३.२८ (झ) द २.३४९; भा ३.३४ (ञ) द २.३५२, ३५४; भा ३.४० (ट) द २.३५६; भा ३.४२।

३. द्र० २.८५ : सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥ दण्डी वक्रोक्ति को इतना महत्त्व नहीं देता। दूसरी ओर, वह इसे अतिशयोक्ति से पृथक् स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में ग्रहण करता है। यदि भामह को वक्रोक्ति

अर्थ का प्रयोग ही वाणी का अलंकार है (१.३६ : **वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः**) । वक्रोक्तिसंबन्धी उसके इस विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण प्रो॰ देवेन्द्रनाथ शर्मा उसे अलंकारवादी मानने की अपेक्षा वक्रोक्तिवादी आचार्य कहना अधिक समीचीन समझते हैं ।[1]

अलंकार-क्षेत्र के अतिरिक्त, अन्य क्षेत्रों में भी, जहाँ दण्डी और भामह में परस्पर असहमति देखी जाती है, वहाँ उनमें यथेष्ट साम्य एवं मतैक्य भी प्राप्त होता है । दोष के सर्वथा परिहार के संबन्ध में दोनों का दृष्टिकोण समान है ।[2] महाकाव्य की परिभाषा के संबन्ध में भी दोनों में पर्याप्त साम्य है ।[3] इसी प्रकार, दोनों के दस दोषों के समुद्देश एवं उनमें से कुछ के विवेचन में भी यथेष्ट साम्य देखा जाता है ।[4]

उक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि दण्डी और भामह दोनों अलंकार-वादी आचार्य थे, और यद्यपि दोनों में कुछ बातों को लेकर मतभेद था, परंतु उनका मतभेद दोनों की अलंकारसंबन्धी विचारपरंपरा को प्रभावित नहीं करता ।

अलंकारसिद्धान्त के साथ-साथ दण्डी मार्गसिद्धान्त का भी सफल व्याख्या-कार और प्रबल समर्थक था । इस सिद्धान्त की सुनिश्चित व्याख्या और स्थिर आधार पर उसकी प्रतिष्ठा सर्वप्रथम उसी ने की । उसने परंपरागत दस गुणों को यथोचित परिवर्तन सहित ग्रहण किया और उनकी आधारभूमि पर मार्ग-संकल्पना की विशद विवेचना प्रस्तुत की । गुणों और मार्गों के आश्रयाश्रयिभाव-संबन्ध की कल्पना उसकी मौलिक उद्भावना थी । इन दोनों काव्यतत्त्वों का उसके द्वारा स्थापित यह संबन्ध संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास के अन्तिम युग तक किसी-न-किसी रूप में कायम रहा ।

की प्रशंसा द्वारा वास्तव में अतिशयोक्ति की ही प्रशंसा अभिप्रेत है, तो दण्डी भी इस तत्त्व की प्रशंसा करने में उसके साथ है (तु॰ २,२१४, २२०, उक्त पर टि॰) । अति-शयोक्ति का यह विशिष्ट महत्त्व उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा भी समवेत स्वर से स्वीकार किया गया (तु॰ ध्वन्या॰ ३.३७ वृत्ति, काप्र॰ १०.१३६ वृत्ति) ।

१. काव्यालंकार, भूमिका, पृ॰ ४२ ।

२. तु॰ दण्डी १.७ (द्र॰ उक्त पर टि॰); भामह १.११ ।

३. सर्गबन्धो महाकाव्यम् (दण्डी १.१४; भामह १.१९) यह मुख्य लक्षण दोनों में अभिन्न है । दोनों उसे 'मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि' (भामह १.२० : '-भ्युदयैश्च यत्') उपेत मानते हैं । दोनों उसे सदाश्रय, अलंकृत, सुसंधियुक्त, अनतिविस्तृत, चतुर्वर्ग के फल से समन्वित और रसों से समुपेत मानते हैं ।

४. द्र॰ (१) दण्डी ३.१२५, १२६ पू॰; भामह ४.१, २ पू॰; (२) द ३.१२८; भा ४.८; (३) द ३.१३६; भा ४.१६ ।

यद्यपि दण्डी ने मार्ग की परिभाषा नहीं की, फिर भी इस संबन्ध में उसके द्वारा अभिव्यक्त विचारों के पर्यालोचन से मार्गविषयक उसकी धारणा स्पष्ट हो जाती है। उसके अनुसार, इष्ट अर्थ से संवलित पदावली काव्य है (१.१०); इस प्रकार उसके मत में पदावली की इष्टता के लिए अर्थ की इष्टता आवश्यक है, और फलतः काव्य में पदावली (=शब्द) और अर्थ की समुचित योजना अभीष्ट है। वस्तुतः शब्द और अर्थ की उचित योजना ही, दण्डी के अनुसार, मार्ग अथवा रीति है। चाहे मार्ग की परिभाषा के अभाव में भी दण्डी की मार्गसंबन्धी धारणा स्फुट हो जाती है, तथापि उसे उसकी परिभाषा देनी चाहिए थी। इससे उसकी मार्गसंकल्पना के निर्धारण में अधिक स्पष्टता आ जाती। वामन (१.२.७-८) ने दण्डी की इस भूल का सुधार किया, और पहली बार मार्ग को, जिसे उसने अधिक स्वीकरणीय नाम, रीति, दिया, सुस्पष्ट शब्दों में लक्षित किया। उसने पदों की विशिष्ट योजना को रीति कहा, और पदयोजना की विशिष्टता का आधार गुणों को बताया। दण्डी की शब्द-अर्थ की योजना का आधार भी गुण हैं, परंतु उसकी मार्गव्याख्या में यह बात स्पष्ट रूप में नहीं आई है; उसने दस गुणों को, अपने मूल रूप में, 'मार्गविशेष' का प्राण कहा है, 'मार्ग' का नहीं। संभवतः वैदर्भ मार्ग के प्रति अपने विशेष आग्रह के कारण उसने ऐसा कहा।

दण्डी के मार्गसिद्धान्त के निरूपण में उक्त दोषों के होते हुए भी यह मानना होगा कि उसका मार्गविवेचन विशद और, कुछ सीमाओं में, वैज्ञानिक दृष्टिकोण लिए हुए है। प्रत्येक कवि की अपनी विशिष्ट अभिव्यक्तिपद्धति होती है और विभिन्न कवियों की अभिव्यक्तिपद्धति में परस्पर सूक्ष्म अन्तर होता है—इस तथ्य की खोज और इसकी सबल प्रस्तुति (१.४० प्रभृति) दण्डी की वैज्ञानिक दृष्टि की सूचना देती है। मार्गसिद्धान्त की इतिहासपरंपरा में अभिव्यक्तिशैली की भिन्नता और उसकी अनन्तता की कल्पना सर्वप्रथम दण्डी ने की, यद्यपि यह मानना होगा कि यह कल्पना उसके ग्रन्थ में परिस्फुट नहीं हो सकी। सूक्ष्म और अपरिच्छेद्य अभिव्यक्तिपद्धति के प्रकारों—मार्गों—के बीच उनके स्थूल अन्तरों को, उसके अनुसार, अलग से पहचाना जा सकता है, तथा इन स्थूल अन्तरों के आधार पर विभिन्न मार्गों का, साधारण रूप से, निर्धारण किया जा सकता है। स्वयं उसने इन स्थूल भेदों के आधार पर अभिव्यक्तिपद्धति के दो रूपों की व्याख्या की है जिन्हें उसने 'प्रस्फुटान्तर' मानते हुए विशिष्ट भौगोलिक प्रदेशों के आधार पर वैदर्भ और गौडीय नाम दिया है। इन दोनों मार्गों का सामान्य विभाग प्रदर्शित करने के अनन्तर उसने लिखा है कि जिस प्रकार ईख, दूध और गुड़ आदि की मिठास के बीच विद्यमान सूक्ष्म

अन्तर का निर्धारण करना संभव नहीं है, इसी प्रकार उक्त मार्गों के अवान्तर भेदों का, जो प्रत्येक कवि में पृथक्-पृथक् रूप में स्थित हैं, अलग-अलग विवेचन नहीं किया जा सकता (तु० १.१०१-२)।

उक्त कथन में मार्गसिद्धान्त के अन्तर्गत आत्मपरक तत्त्व की, परोक्ष रूप में, स्वीकृति है। आत्मपरक तत्त्व की यह स्वीकृति प्राचीन मार्गसिद्धान्त को, कुछ सीमाओं में, आधुनिक शैलीसिद्धान्त के साथ जोड़ देती है।[1]

मार्गविभाग के हेतुरूप और मार्गद्वय के अङ्गभूत गुणों के निरूपण में दण्डी को पूर्ण सफलता नहीं मिली। इस संबन्ध में सबसे बड़ी बात यह है कि उसने मार्ग के समान गुण को भी परिभाषित नहीं किया। संभवतः उसे अलंकार की परिभाषा (२.१) को ही गुण की परिभाषा के रूप में ग्रहण करना अभीष्ट था। यहाँ यह अवधेय है कि वामन ने उसकी अलंकारपरिभाषा को अपने गुण की परिभाषा (३.१.१) के रूप में अपनाया, और अलंकार को एक नई और अधिक तर्कसंगत परिभाषा (३.१.२) दी। उसने, इस प्रकार, यहाँ भी दण्डी के अधूरे कार्य को, यथेष्ट संशोधन सहित, पूरा किया। यद्यपि भरत की तुलना में दण्डी में कतिपय गुणों की व्याख्या अधिक विशद है, तथापि कुछ गुणों की उसकी संकल्पना अस्पष्ट-सी है। उदाहरणतः, उदारत्व और कान्ति के लक्षणों में अपेक्षित स्फुटता नहीं है। कान्ति की परिभाषा तो अधूरी-सी ही लगती है। माधुर्य की स्थिति भी संतोषजनक नहीं है। इसे शब्द और अर्थ दोनों का गुण माना गया है, परंतु शब्दमाधुर्य और अर्थमाधुर्य में अपेक्षित परस्पर सामञ्जस्य का अभाव है। दूसरी बात यह है कि इस गुण के अन्तर्गत अर्थमाधुर्य का भावात्मक रूप अस्पष्ट है। इसकी यह कहकर व्याख्या की गई है कि यह ग्राम्यता अथवा अशिष्टता के अभाव में अस्तित्व में आता है। यह यहाँ नहीं बताया गया है कि वह कौन-सा भावात्मक तत्त्व है जो अर्थमाधुर्य का आधान करता है। कुछ अन्य गुणों—जैसे, श्लेष, सुकुमारता और अर्थव्यक्ति—की भी, जो निश्चयतः भावात्मक धर्म हैं, अभावात्मक परिभाषा की गई है। कतिपय गुणों—यथा, माधुर्य और सुकुमारता अथवा प्रसाद और अर्थव्यक्ति में विद्यमान परस्पर अन्तर को स्पष्टतया लक्षित नहीं किया गया है। कुछ गुण तो, यथा, उदारत्व, कान्ति और समाधि, अलंकार की सीमा में प्रवेश करते-से प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार, गुणों का शब्द और अर्थ के साथ संबन्ध तो बताया गया है, परंतु उसके आधार पर उनका विभाजन नहीं किया गया है,

---

१. इस संबन्ध में द्र० वे० राघवन् : सम कन्सेप्ट्स आफ़ अलंकारशास्त्र, पृ० १४०-७२; तु० दे, उपर्युक्त ग्रन्थ, २, पृ० ६२; प्रस्तुत लेखक, उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० १३५-६ भी।

अतश्च यह संबन्ध अस्पष्ट-सा ही रह गया है। वस्तुतः गुणों का विवेचन, जैसा कि डा० दे ने कहा है, संपूर्ण संस्कृत काव्यशास्त्र में, और विशेषतः प्राचीन लक्षणग्रन्थों में, अस्पष्ट और अवैज्ञानिक ही रहा है।[1] फिर भी, दण्डी का इस क्षेत्र में विशेष योगदान यह है कि उसने गुणों का अत्यन्त विस्तृत और सप्रपञ्च निरूपण किया है।

यदि दण्डी का गुणविवेचन कुछ सीमा तक दोषपूर्ण है, तो उसका दोष-विवेचन काफ़ी हद तक गुणान्वित है। दोषों के व्याख्यान में उसकी दृष्टि प्रायः सर्वत्र वैज्ञानिक रही है। यद्यपि उसने दोष को भी परिभाषित नहीं किया और न ही उसने उसके भावात्मक अथवा अभावात्मक स्वरूप के संबन्ध में कोई निर्देश किया है, तथापि उसके दोषविश्लेषण से यह स्पष्ट है कि उसकी दृष्टि में दोष मुख्यतः भावात्मक तत्त्व अथवा परिस्फुट धर्म हैं, चाहे वे कहीं-कहीं गुणों के अभाव के रूप में भी हों। दोष के स्वरूप के संबन्ध में उसकी स्थापना यह है कि प्रसङ्गविशेष में या अवस्थाविशेष में जो अनौचित्य का कारण बनता है और इस कारण से जो सहृदय के हृदय को उद्वेजित करता है वह, उस प्रसङ्गविशेष अथवा अवस्थाविशेष के संदर्भ में, दोष है। दोष की इस संकल्पना में काव्य के आत्मपरक तत्त्व की, जिसका विश्लेषण आधुनिक युग में विशेष रूप में हो रहा है, स्पष्ट स्वीकृति है। दण्डी के दोषविवेचन में उत्तरवर्ती युग में क्षेमेन्द्र द्वारा प्रवर्तित औचित्य सिद्धान्त का बीज स्फुट रूप में संलक्षित होता है। यद्यपि दण्डी की दोषों की सूची प्रमुखतः भरत के **नाट्यशास्त्र** पर आधारित है, तथापि उसके द्वारा की गई उनकी व्याख्या उसके वैज्ञानिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती है। दोष अनित्य हैं एवं प्रसङ्गसापेक्ष और अवस्थासापेक्ष हैं—प्रसङ्गविशेष अथवा अवस्थाविशेष में वे अपना दोषत्व छोड़ देते हैं और कभी-कभी गुणत्व भी धारण कर लेते हैं—यह महत्त्वपूर्ण उद्भावना दण्डी की इस दिशा में वैज्ञानिक चिन्तनदृष्टि को सूचित करती है।

दण्डी की अलंकारव्याख्या, उसकी दृष्टि में, काव्य में अलंकारों की प्रधानता का बोध कराती है, और उसके आधार पर यह निश्चय से कहा जा सकता है कि वह अलंकारवादी आचार्य था। ग्रन्थ के आरम्भ में ही **तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः** (१.१०) इस कथन द्वारा काव्यशरीर के साथ तदनन्तर ही अलंकारों का निर्देश करके दण्डी ने उनका काव्यशरीर के साथ घनिष्ठ संबन्ध व्यञ्जित किया है। उक्त कथन के प्रकाश में उसके **काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते** (२.१) इस अलंकारपरिभाषा में आए **काव्य**

१. दे, उपर्युक्त ग्रन्थ, २, पृ० ९८।

शब्द का अर्थ स्पष्टतः 'काव्यशरीर' है। एतदनुसार, उसके मत में, काव्यशरीर को अर्थात् काव्यगत शब्द और अर्थ को अलंकृत करने वाले तत्त्व अथवा उसके सौन्दर्य के संपादक धर्म अलंकार हैं।

यद्यपि दण्डी ने अलंकारों का शब्दाश्रित और अर्थाश्रित अलंकारों के रूप में स्पष्ट विभाजन नहीं किया, तथापि उसके द्वारा किए गए उनके पृथक् निरूपण से स्पष्ट है कि वह इस वर्गीकरण से परिचित था। उसके **काव्यादर्श** में कुल मिलाकर अड़तालीस अलंकारों का निरूपण है। इनमें उनतालीस अर्थालंकार तथा, प्रथम परिच्छेद में प्रसङ्गतः निरूपित अनुप्रास को मिलाकर, नौ शब्दालंकार हैं। उनतालीस अर्थालंकारों में पैंतीस का दण्डी ने स्वतन्त्र अलंकारों के रूप में वर्णन किया है। चार अलंकार, जो उसके अपने युग में स्वतन्त्र अस्तित्व रखते थे (तु० २.३५८-६), उसके द्वारा अन्य अलंकारों के अन्तर्गत रखे गए हैं; इनमें अनन्वय और ससंदेह को उसने उपमाभेद के रूप में एवं उपमारूपक को रूपकभेद के रूप में निरूपित किया है। उत्प्रेक्षावयव उसे उत्प्रेक्षाभेद के रूप में अभीष्ट है। एक अन्य स्वतन्त्र अलंकार, जिसका पृथक् उल्लेख उसने नहीं किया, उपमेयोपमा है (तु० भामह ३.३७-८); इसे उसने अन्योन्योपमा (२.१८) के नाम से उपमाभेदों में स्थान दिया है। उसके द्वारा निरूपित नौ शब्दालंकार हैं अनुप्रास, यमक, गोमूत्रिका, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, स्वरनियम, स्थान–, वर्ण–, और प्रहेलिका। इनमें अन्तिम सात संभवतः उसे चित्रमार्ग (३.१८६) के रूप में अभीष्ट हैं।

अलंकारविश्लेषण के क्षेत्र में दण्डी की अपनी कतिपय ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण वह प्राचीन आलंकारिकों में महनीय स्थान रखता है। अलंकारों और उनके प्रकारों का जैसा सम्यक् विवेचन उसके ग्रन्थ में प्राप्त होता है वैसा अन्य प्राचीन आचार्यों—भामह, उद्भट, वामन, रुद्रट—की रचनाओं में नहीं मिलता। 'विविध रूप से उद्भावित किए जा रहे अलंकारों का पूर्ण रूप से निरूपण कौन कर सकता है?'—इस स्वीकारोक्ति के अनन्तर दण्डी इस संबन्ध में पूर्ववर्ती आचार्यों के कार्य और उसमें अपने योगदान का संकेत करते हुए कहता है (२.२): **किंतु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्। तदेव परिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः॥**, अर्थात् 'अलंकारों की विविध कल्पना का बीज (=सामान्य मूल) पूर्ववर्ती आचार्यों ने निर्दिष्ट किया है। उसी बीज का परिसंस्कार करने के लिए यह हमारा प्रस्तुत प्रयास है।' अलंकारविकल्पों के मूल का परिष्कार करने के संबन्ध में आचार्य का यह दावा काफ़ी हद तक सही है। उसने पहली वार विभिन्न अलंकारों के परंपराप्राप्त प्रकारों का संग्रह करके उन्हें वैज्ञानिक दृष्टि से विभाजित करने का प्रयास किया है और इस कार्य में

वह, यदि हम उसे उसके युग की सीमाओं में रखकर देखें तो, पर्याप्त मात्रा में सफल हुआ है। आज विगतानुदर्शन करने पर चाहे हमें उसके द्वारा प्रदत्त विकल्पों का प्रपञ्च अनावश्यक-सा लगे, परंतु उसके अपने युग की दृष्टि से उस समय तक के नानाविध विकल्पों का सयत्न संकलन करके उन्हें यथासंभव वैज्ञानिक रीति से समुपस्थापित करने का उसका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दण्डी द्वारा निर्दिष्ट बहुत-से अलंकारभेद उत्तरवर्ती युग में स्वतन्त्र अलंकार बन गए। इन स्वतन्त्र अलंकारों के जन्म की कथा का आकलन करने के लिए दण्डी का **काव्यादर्श** निःसंदेह एक आकरग्रन्थ है।[1]

द्वितीय परिच्छेद में स्वतन्त्र रूप से व्याख्यात पैंतीस अलंकारों में से सत्ताईस अलंकारों के कुल मिलाकर १६० भेद दण्डी द्वारा निर्दिष्ट अथवा उदाहृत हुए हैं। इन अलंकारों में सर्वाधिक भेद (३२) उपमा के हैं। बहु-विकल्पित अन्य अलंकार हैं आक्षेप (२४), रूपक (२०), हेतु (१६), दीपक (१२), और व्यतिरेक (१०)। अन्य विकल्पित अलंकार हैं श्लिष्ट (६), अर्थान्तरन्यास (८), रसवत् (८), विरोध (६), विशेषोक्ति (५), स्वभावोक्ति, समासोक्ति और लेश (प्रत्येक के चार-चार भेद), आवृत्ति और अपह्नुति (तीन-तीन), विभावना, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, सूक्ष्म, प्रेयः, उदात्त, तुल्ययोगिता, व्याजस्तुति, निदर्शन सहोक्ति और संसृष्टि (दो-दो)। केवल निम्नलिखित आठ अलंकार अविकल्पित हैं : यथासंख्य, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, अप्रस्तुत-प्रशंसा, परिवृत्ति, आशीः और भाविक। शब्दालंकारों में यमक की विकल्प-कल्पना विशेष उल्लेखनीय है। आचार्य के अनुसार, इसके कुल मिलाकर ३१५ प्रभेद बनते हैं (तु० ३.२, टि०)। इसके अतिरिक्त, संदष्ट, समुद्ग आदि इसके सात भेद और उल्लिखित हैं। दण्डी ने इसके लगभग पचास भेदों को स्वरचित पद्यों से निदर्शित किया है। यद्यपि उसने इस अलंकार की 'एकान्तमधुरता' का निषेध किया है, तथापि इसके प्रति उसका भूयिष्ठ आग्रह स्पष्ट है। उसका यमकविवेचन संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में परिपूर्ण तथा विशद निरूपण का अद्वितीय निदर्शन है।[2] शब्दालंकारों के प्रसङ्ग में निरूपित अन्य अलंकारों में स्वर–, स्थान– और वर्ण-नियम में से प्रत्येक के चार-चार तथा प्रहेलिका के सोलह प्रभेद उदाहृत किए गए हैं।

अलंकारों के अनुशीलन के संबन्ध में दण्डी का दूसरा वैशिष्ट्य है

---

१. ऐसे उत्तरवर्ती स्वतन्त्र अलंकार जिनका बीज काव्यादर्श में देखा जा सकता है ये हैं : अत्युक्ति, अधिक, अनुमान, असंगति, कारकदीपक, निश्चय, परिसंख्या, प्रतीप, भ्रान्ति-मान्, मीलित, विषम, सम, और समाधि।

२. तु० दे, उपर्युक्त ग्रन्थ, २, पृ० ६४।

उसके द्वारा अलंकार का क्षेत्रविस्तार। उसके अलंकार की संकल्पना में गुण, रस, लक्षण, संधि, संध्यङ्ग, वृत्ति, वृत्त्यङ्ग आदि अन्तर्भुक्त हैं (तु० २.३६७)। उक्त सभी तत्त्वों को उसने काव्यशरीर के शोभाकर धर्मों के रूप में आकलित किया है।

अर्थालंकारों के निरूपण में दण्डी ने उनके मूल तत्त्वों का भी प्रसङ्गतः संकेत किया है। इन मूल तत्त्वों के रूप में उसने औपम्य, अतिशयोक्ति, श्लेष, स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति की संकल्पनाओं का उपन्यास किया है, परंतु मानना होगा कि यह उपन्यास अस्फुट और अनिश्चित-सा है। हाँ, अर्थालंकारों के वैज्ञानिक विवेचन की दिशा में यह आचार्य का सर्वप्रथम पदन्यास अवश्य है। उक्त संकल्पनाओं में वक्रोक्ति की संकल्पना को भामह ने (उसे अतिशयोक्ति के साथ मिलाकर) अलंकारों के सर्वप्रमुख तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठापित किया। आगे चलकर कुन्तक ने इसका स्वतन्त्र काव्यसिद्धान्त के रूप में विकास किया और इसे काव्यजीवित कहकर सर्वोच्च प्रतिष्ठा दी। स्वभावोक्ति की संकल्पना के माध्यम से दण्डी ने सर्वप्रथम काव्य में कवीय स्वाभाविकता का महत्त्व अङ्गीकार किया, और तद्द्वारा काव्यप्रवन्ध में प्रसङ्गविशेष अथवा अर्थविशेष की सुस्पष्ट और परिपूर्ण अभिव्यक्ति की महत्ता का प्रतिपादन किया।

उसके द्वारा की गई भाविक अलंकार की व्याख्या (२.३६४-६) भी उसके अलंकारनिरूपण के वैशिष्ट्य का प्रख्यापन करती है। इस अलंकार की परिभाषा करते हुए वह लिखता है, कि 'यह समस्त काव्यप्रवन्ध में व्याप्त होने वाला गुणविशेष है जिसका आधार कविगत भाव या अभिप्रायविशेष है।' अलंकार और गुण दोनों की सीमा का अतिक्रमण-सा करने वाले इस विलक्षण 'अलंकार-गुण' के माध्यम से दण्डी ने संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में पहली बार कवीय संकल्पना से संबन्धित सौन्दर्यतत्त्व की महत्ता प्रतिष्ठापित की, जिसके कि संबन्ध में संस्कृत के आचार्यों ने सामान्यतः बहुत कम कहा है। इस विशिष्ट अलंकार द्वारा दण्डी काव्य में कवि के आन्तरिक भाव या अभिप्राय के महत्त्व पर विशेष बल देता है। यह भाव, उसके अनुसार, कवि का, काव्यकृतिविशेष का प्रयोजक, मनःसंकल्पविशेष है, जो उसकी कृति में आदि से अन्त तक व्याप्त रहता है, उसे नियमित करता है तथा नीरस और निष्प्राण विषयवस्तु में प्राण का संचार करता है।

अलंकारों को परिभाषित और निदर्शित करने एवं तद्द्वारा उनका स्वरूप निर्धारित करने में दण्डी को पर्याप्त सफलता मिली है, यद्यपि उसके कुछ, विशेषतः विरोधमूलक, अलंकार समीचीन ढंग से लक्षित या उदाहृत नहीं कहे ज़ा सकते। इसी प्रकार, अलंकारों के उसके द्वारा परिसंख्यात भेदों का ऐतिहासिक

महत्त्व तो है, परंतु विविध अलंकारों के स्वरूपनिर्धारण में ये भेद अधिक सहायक नहीं हैं; कई बार तो ये भेद उनके स्वरूपनिर्धारण में बाधा उपस्थित करते हैं। वस्तुतः इस संबन्ध में दण्डी की भेदविस्तार की प्रवृत्ति की पर्याप्त आलोचना हुई है, और यह आलोचना कुछ सीमा तक सही भी है।

दण्डी के उदाहरणों में विविधता है, एवं उनके द्वारा लक्षण के समुचित व्याख्यान में प्रायः विशदता आई है, परंतु उसके कतिपय उदाहरण लक्षणापेक्षया अतिव्याप्त या न्यूनव्याप्त हैं (हाँ, अव्याप्त नहीं हैं)। ये उदाहरण प्रायः दण्डी द्वारा ही विरचित हैं, और इस रूप में ये उसकी उत्कृष्ट कविप्रतिभा के सुन्दर निदर्शन भी हैं। इनमें से बहुत-से उदाहरण उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा अपनाए गए। कुछ पद्य सुभाषितसंग्रहों में भी उद्धृत हैं।

काव्यहेतुओं के निर्देश के संबन्ध में कुछ समालोचक दण्डी के इस कथन पर आपत्ति करते हैं कि चाहे पूर्वजन्म के संस्कारविशेष से उत्पन्न अद्भुत प्रतिभा किसी लेखक में न हो, तो भी काव्यों और शास्त्रों के अध्ययन और अभ्यासरूप प्रयत्न द्वारा भलीभांति आराधना किए जाने पर वाग्देवता कुछ-न-कुछ अनुग्रह कर ही देती है (१.१०४)। आलोचकों का इस संबन्ध में आक्षेप यह है कि आचार्य दण्डी इस कथन द्वारा काव्यसंपत्ति के कारण के रूप में व्युत्पत्ति और अभ्यास की विशेष महिमा प्रतिपादित करके परोक्षतः प्रतिभा की अननिवार्यता स्वीकार करता है। वस्तुतः यह आक्षेप अंशतः ही ठीक है, क्योंकि दण्डी प्रतिभा के अभाव में नहीं अपितु उसकी **विलक्षणता** के अभाव में या उसके कृशत्व में, जैसा कि उसने १.१०५ में स्पष्ट किया है, श्रुत और अभ्यास द्वारा काव्यसंपत्ति, अथवा वाग्देवी का किंचिन्मात्र अनुग्रह, मानता है। आचार्य का उपर्युक्त कथन वास्तव में काव्यसिद्धान्तों के संबन्ध में उसके उदार दृष्टिकोण का सूचक है। उसका यह उदार दृष्टिकोण अन्य विषयों के निरूपण में भी जहाँ-तहाँ प्रतिफलित हुआ है। महाकाव्य के लक्षण, और गुण, दोष, अलंकार आदि के विशद व्याख्यान में एवं विशेषतः कथा और आख्यायिका के मूलतः अभिन्न होने के तथ्य के प्रतिपादन में उसका उदार दृष्टिकोण संलक्षित होता है।

इस प्रकार, काव्यशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र में दण्डी का, अपनी कुछ सीमाओं में, महत्त्वपूर्ण योगदान है। उसने परंपराप्राप्त संकल्पनाओं की नवीन व्याख्या की और उनकी वैज्ञानिक समीक्षा की। उनके संबन्ध में उसने अपने अभिमत को जहाँ-तहाँ उन्मुक्त रूप में, परंतु पूर्वग्रह से मुक्त होकर, अभिव्यक्त किया। संस्कृत में काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों के प्रारम्भिक विकास में दण्डी के योगदान के संबन्ध में डा० दे का यह अभिमत यथार्थ है : "दण्डी नवनवोन्मेषशालिनी

शक्ति, विशद विवेचना की प्रतिभा और सूक्ष्मेक्षिकापुरस्कृत वैदुष्य से संपन्न लेखक था, और इस प्रकार उसने न केवल प्राचीन अभिमतों का संशोधन किया, अपितु अनेकत्र उन्हें नवीन सज्जा भी दी।"[1] वस्तुतः संस्कृत काव्यशास्त्र की परंपरा में, पुरातन सिद्धान्तों के प्रकाशन में तथा उत्तरवर्ती सिद्धान्तों का पथ प्रशस्त करने में आचार्य दण्डी का ग्रन्थ प्रकाशस्तम्भ का काम करता है।

उत्तरवर्ती आचार्यों पर दण्डी का व्यापक प्रभाव दीख पड़ता है। कुछ आचार्यों, जैसे भोज और **अग्निपुराण**कार, पर तो उसका गहरा प्रभाव पड़ा है। इन लेखकों ने दण्डी को पर्याप्त मात्रा में जहाँ-तहाँ उद्धृत किया है। उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करते हुए भी यह मानना होगा कि सामान्यतः उत्तरकालीन आचार्यों की दृष्टि उसके प्रति कुछ औदासीन्यपूर्ण रही; विशेषतः, जितना संमान उसे मिलना चाहिए था उतना उसे नहीं दिया गया। उसकी तुलना में, इन आचार्यों ने भामह को अधिक आदर दिया। संभवतः इसका कारण यह था कि दण्डी दाक्षिणात्य परंपरा का आचार्य था, और उत्तरवर्ती युग में काव्यशास्त्र के विकास का प्रमुख क्षेत्र कश्मीर था; आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि आचार्य इसी भूमि से संबन्धित थे। यह स्वाभाविक था कि इनके द्वारा कश्मीरी आलंकारिक भामह (और उसके साथ उद्भट, रुद्रट और वामन) को दण्डी की अपेक्षा अधिक संमान दिया जाता।

दूसरी ओर, संस्कृत काव्यशास्त्र से वाहर दण्डी का, संस्कृत के अन्य आचार्यों की अपेक्षा, अधिक संमान संलक्षित होता है। उसके **काव्यादर्श** का पुष्कल प्रभाव सिंहली, तमिल और कन्नड़ भाषाओं के अलंकारग्रन्थों पर दृष्टिगोचर होता है। सिंहली भाषा में शीलमेघवर्णसेन द्वारा रचित **सियबसलकर** पर, कन्नड़ भाषा में नृपतुङ्ग अमोघवर्ष प्रथम द्वारा विरचित **कविराजमार्ग** पर, तमिल में बुद्धमित्र (ग्यारहवीं शती का मध्यभाग) द्वारा विरचित **वीरचोलियम्** (व्याकरणग्रन्थ) के अलंकारप्रकरण पर[2] तथा अज्ञातकर्तृक **दण्डियलंगारम्** (लगभग ११४० ई०) पर[3] एवं हिन्दी में केशवदास द्वारा लिखित **कविप्रिया** (१६०१ ई०) पर[4] दण्डी के लक्षणग्रन्थ का पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है।

भारत से वाहर भी कतिपय देशों में दण्डी का **काव्यादर्श** लोकप्रिय अलंकारग्रन्थ रहा। **सियबसलकर** का लेखक राजा शीलमेघवर्णसेन सिंहल का राजा था। **काव्यादर्श** का एक प्रसिद्ध टीकाकार, रत्नश्रीज्ञान, सिंहलवासी था; प्रतीत

---

१. दे, उपर्युक्त ग्रन्थ, २, पृ० ८६।
२. तु० वी० वेंकटेश्वर शास्त्री : काव्यादर्श (सं० वि० नारायणय्यर), भूमिका, पृ० ६।
३. तु० क० ऐ० नीलकण्ठ शास्त्री : हिस्ट्री आफ़ साउथ इण्डिया, पृ० ३४५, ३८१।
४. तु० रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २०६।

होता है कि उसके समय में सिंहल में दण्डी का ग्रन्थ काव्यशास्त्रसंबन्धी पाठ्य-क्रम का एक अङ्ग था। सिंहल का एक अन्य लेखक, जिसपर दण्डी का पुष्कल प्रभाव परिलक्षित होता है, संघरक्खित (१२वीं शताब्दी) है। यह भिक्खु सारिपुत्त का शिष्य था। इसका पालिभाषा में लिखित अलंकारग्रन्थ, **सुबोधालंकार,** मुख्यतः दण्डी के लक्षणग्रन्थ पर आधारित है।[1] इसके कई पद्य तो **काव्यादर्श** के पद्यों के अनुवाद मात्र हैं। तिब्बत में भी दण्डी के ग्रन्थ का पर्याप्त प्रचार था। हमें यहाँ की तिब्बती अथवा भोट भाषा में **काव्यादर्श** का अनुवाद उपलब्ध होता है।[2] यह अनुवाद श्रीलक्ष्मीकर और सों-तों-लो-च़ा-बा (Śoṅ. ston. Lo. tsā. ba) द्वारा पश्चिमी तिब्बत के प्रसिद्ध सा-स्क्य नामक बौद्ध विहार में किया गया था। इसका संपादन डा० अनुकूलचन्द्र बैनर्जी ने किया है (तु० **सहायकग्रन्थसूची**)। इसके अतिरिक्त, तिब्बती भाषा में **काव्यादर्श** की एक स्वतन्त्र टीका भी प्राप्त होती है जो मि-फम्-जे-ले-नम्-जाल् (Mi. pham. dge. legs. rnam. rgyal) द्वारा तेरहवीं शती ई० में लिखी गई थी।[3]

काव्यादर्श पर प्राप्त अनेक संस्कृत टीकाओं से भारतीय काव्यशास्त्रीय परंपरा में भी इस ग्रन्थ की विशेष लोकप्रियता सूचित होती है। इन टीकाओं की रचना का क्रम दसवीं शताब्दी ई० से ही प्रारम्भ हो जाता है। इन टीकाओं का संक्षिप्त विवरण[4] इस प्रकार है :

१. रत्नश्रीज्ञान की **रत्नश्री** टीका (प्रकाशित)। इसकी ताड़पत्र वाली हस्तलिखित पोथी प्रो० उपेन्द्र झा के निजी संग्रह में है। इसका कुछ भाग (१.१-३; ३.५०-६), पूर्णतः या अंशतः, नष्ट हो गया है। रत्नश्रीज्ञान सिंहल का बौद्ध भिक्षु था जिसने गौड और मगध के राजा राज्यपाल (राज्यारम्भ : ९०८ ई०) के राज्य के तेईसवें वर्ष में अर्थात् ९३१ ई० में उक्त राजा के राष्ट्रकूटवंशी सामन्त तुङ्ग के समाश्रय में भारत में रहकर अपनी टीका लिखी। प्रस्तुत टीका में भरत, अश्वघोष, गुणाढ्य, मल्लनाग (=वात्स्यायन), कालिदास, प्रवरसेन, मातृचेट, आर्यशूर, कोहल,

---

१. अनन्तलाल ठक्कुर एवं उपेन्द्र झा (सं०) : काव्यलक्षण, भूमिका, पृ० २१।

२. यह तंजूर संग्रह में सुरक्षित है। इसकी एक हस्तलिखित पोथी संस्कृत विश्वविद्यालय म्यूजियम, वाराणसी, के लिए प्राप्त की गई है; तु० विंटरनिट्ज़ के Geschichte der Indischen Litteratur का सुभद्र झा कृत अंग्रेज़ी अनुवाद, हिस्ट्री आफ़ इण्डियन लिटरेचर, जिल्द ३, भाग १, पृ० १३, पादटि० १।

३. तु० अनुकूलचन्द्र बैनर्जी (सं०) : काव्यादर्श (संस्कृत-तिब्बती पाठ), भूमिका, पृ० १७।

४. यह विवरण मुख्यतः दे, उपर्युक्त ग्रन्थ, १, पृ० ७०-२, काणे, उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० ४१४, और एम० कृष्णमाचारियार, उपर्युक्त ग्रन्थ, पृ० ७३१-२, पर आधारित है। यहाँ उल्लिखित प्रकाशित टीकाओं के लिए, द्र० सहायकग्रन्थसूची भी।

रामशर्मा, मेधाविरुद्र, श्यामवादी, कम्बल, हरिवृद्ध, धर्मकीर्ति, भारवि, बाण, माघ, भामह और भर्तृमेण्ठ का उल्लेख है। व्याकरणसंबन्धी टिप्पणियों में **चान्द्रव्याकरण** के सूत्र उद्धृत हैं। **ध्वन्यालोक** से भी एक कारिका (१.१३) इसमें (**काव्यादर्श** २.२०५ पर) उद्धृत है।

२. वादिजङ्घाल अथवा -घङ्घल की **श्रुतानुपालिनी** (प्रकाशित)। इसकी हस्तलिखित पोथी (ग्रन्थसूची १२, सं० १२५) भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, में सुरक्षित है। गङ्गवंशी नरेश मारसिंह के ९६३ ई० के ताम्र अभिलेख में एक जैन विद्वान् मुञ्जार्य का उल्लेख है जिसका विरुद **वादिघङ्घालभट्ट** था। प्रस्तुत टीकाकार संभवतः इससे अभिन्न है। इसकी टीका में काश्यप, ब्रह्मदत्त, नन्दिस्वामी एवं भामह का दण्डी के पूर्ववर्ती आचार्यों के रूप में उल्लेख है।

३. अज्ञातकर्तृक **हृदयंगमा** अथवा **-गम** टीका (प्रकाशित)। इस टीका में दण्डि-पूर्व आचार्यों के रूप में काश्यप, वररुचि और भामह का एवं कवियों में कालिदास का उल्लेख है। डा० दे के अनुसार, इसका २.२८४, २८६, २८८ और २८९-९१ का टीकांश भोज (१०००-५० ई०) के **शृङ्गार०** (११) में अक्षरशः परंतु स्रोतनिर्देश के बिना उद्धृत है; अतः यह भोज से पूर्ववर्ती है। परंतु डा० राघवन् (**शृङ्गारप्रकाश [एक अध्ययन]**, पृ० ६७८-९) के अनुसार, **हृदयंगमा** के लेखक ने भोज के **सरस्व०** (पृ० ५९५-८) से **काव्यादर्श** २.२८४-९१ की अपनी टीका में सामग्री ग्रहण की है। इस स्थिति में इस टीका का काल भोज के बाद माना जाएगा।

४. तरुणवाचस्पति की टीका (प्रकाशित)। इसका पुत्र केशवभट्टारक होयसल नरेश रामनाथ (राज्यारम्भ : १२५५ ई०) का गुरु था, अतः इसका स्थितिकाल बारहवीं शती का अन्त और तेरहवीं का आरम्भ माना जा सकता है। इसकी टीका में भोज के **सरस्व०** (२.२८) और धनंजय (दसवीं शती का अन्तिम चरण) के **दशरूपक** (१.८) से उद्धरण हैं; एवं हस्तिमल्ल (नवीं शती) नामक जैन कवि का उल्लेख है।

५. केशवभट्टारक की टीका (अप्रकाशित)। यह तरुणवाचस्पति का पुत्र और होयसल नरेश रामनाथ (राज्यारम्भ : १२५५ ई०) का गुरु था। इसका काल तेरहवीं शती का मध्यभाग है।

६. हरिनाथ की **मार्जना** (अप्रकाशित)। इसकी हस्तलिखित पोथी (ग्रन्थसूची १२, सं० १२४) भाण्डारकर ओ० रि० इ० में सुरक्षित है; इस पोथी का लिपिकाल १६८६ ई० है। हरिनाथ विश्वधर का पुत्र और

केशव (?) का अनुज था। इसने अपनी टीका में केशवमिश्र (१६वीं शती का तृतीय चरण) को उद्धृत किया है। इसका काल, इस प्रकार, १५७५ और १६७५ ई० के बीच है। इसने भोज के **सरस्व०** पर भी **मार्जना** नामक टीका लिखी थी।

७. मल्लिनाथ की **वैमल्यविधायिनी** (अप्रकाशित)। यह मल्लिनाथ जगन्नाथ (?) का पुत्र है, एवं प्रसिद्ध कोलाचल मल्लिनाथ से भिन्न है। यह विश्वेश्वरभट्ट (१८वीं, पूर्वार्ध) के **अलंकारकौस्तुभ** में **काव्यादर्श** के टीकाकार के रूप में उल्लिखित है, अतः इसका काल १८वीं शती से पूर्व है।

८. त्रिभुवनचन्द्र वादिसिंह की अपूर्ण टीका (अप्रकाशित)। यह टीकाकार जैन विद्वान् था। इसका समय अज्ञात है।

९. त्रिशरणतटभीम की **चन्द्रिका** (अप्रकाशित)। समय अज्ञात।

१०. नरसिंहसूरि की **दण्ड्यर्थमुक्तावली** (अप्रकाशित)। टीकाकार (समय अज्ञात) गदाधर का पुत्र और कृष्णशर्मा का पौत्र था।

११. विश्वनाथ की **रसिकरञ्जनी** (अप्रकाशित)। काल अज्ञात।

१२. भगीरथ की टीका (अप्रकाशित)। काल अज्ञात।

१३. विजयानन्द की अपूर्ण टीका (अप्रकाशित)। लिपिकाल १६२६ ई०। भाण्डारकर ओ० रि० इ० में इसकी हस्तलिखित पोथी (ग्रन्थसूची १२, सं० १२३) सुरक्षित है।

१४. यामुन अथवा यामुनेय की टीका (अप्रकाशित)। काल अज्ञात। इसमें **काव्यादर्श** का चार परिच्छेदों में विभाजन है, अतः इसका लेखक दक्षिण भारत का प्रतीत होता है। टीका की हस्तलिखित पोथी (ग्रन्थसूची १२, सं० १२६) भाण्डारकर ओ० रि० इ० में है।

१५. कृष्णकिंकर तर्कवागीश की **विवृति** अथवा **काव्यतत्त्वविवेककौमुदी** (अप्रकाशित)। इसकी हस्तलिखित पोथी इण्डिया आफ़िस लाइब्रेरी, लन्दन, में सुरक्षित है।

१६. वाचस्पति अथवा धर्मवाचस्पति की टीका। डा० दे के अनुसार, यह टीकाकार तरुणवाचस्पति से अभिन्न प्रतीत होता है।

तीन अन्य अज्ञातकर्तृक टीकाओं का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थसूचियों में प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त, **काव्यादर्श** पर लिखी गई तीन टीकाओं का महत्त्वपूर्ण उल्लेख १४४२ ई० के पगान (बरमा) के अभिलेख में मिलता है। इस अभिलेख के अनुसार, बरमा के तौंगद्विन नामक प्रान्त के बौद्ध उपासक राज्यपाल और उसकी पत्नी ने १४४२ ई० में वहाँ के भिक्षुसंघ को कुछ महत्त्व-

पूर्ण दान दिया था जिसमें २६५ ग्रन्थ भी थे। इनमें तीन पुस्तकें दण्डि-टीकाएँ थीं।[1] यह निश्चित रूप में नहीं कहा जा सकता कि इन टीकाओं का लेखक कौन था अथवा ये किस भाषा में थीं। संभव है, इनमें एक टीका बौद्ध टीकाकार रत्नश्रीज्ञान की **रत्नश्री** भी रही हो।

काव्यादर्श पर कुछ संस्कृत टीकाएँ आधुनिक युग में भी लिखी गई हैं, और आज भी लिखी जा रही हैं। अब तक प्रकाशित ऐसी टीकाओं में निम्न-लिखित प्रमुख हैं :

१. प्रेमचन्द्र तर्कवागीश की **मालिन्यप्रोञ्छनी**, १८६३ में कलकत्ता से प्रकाशित।
२. जीवानन्द विद्यासागर की **विवृति**, १८८२ में कलकत्ता से प्रकाशित।
३. नृसिंहदेवशास्त्री की **कुसुमप्रतिमा**, १६२५ में लाहौर से प्रकाशित।
४. रङ्गाचार्यशास्त्री की **प्रभा**, १६३८ में पूना से प्रकाशित।
५. रामचन्द्र मिश्र की **प्रकाश** टीका, १६५८ में वाराणसी से प्रकाशित।

इन टीकाओं के अतिरिक्त, विभिन्न भाषाओं में, जिनमें तिब्बती, अंग्रेज़ी, जर्मन और हिन्दी मुख्य हैं, इस ग्रन्थ के अनुवाद भी प्राप्त होते हैं। तिब्बती भोट भाषा में इसके अनुवाद की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। अन्य प्रसिद्ध अनुवादों का उल्लेख **सहायकग्रन्थसूची** में किया गया है।

दण्डी के उत्तरकाल की काव्यशास्त्र-परंपरा

काव्यशास्त्र के क्षेत्र में दण्डी का निकटतम उत्तरवर्ती आचार्य भा म ह (आठवीं शती का द्वितीय चरण) है। वह संभवतः प्रथम आचार्य है जिसने कश्मीर में काव्यशास्त्र के गम्भीर अध्ययन और अनुशीलन की परंपरा का प्रवर्तन किया। अपनी रचना **काव्यालंकार** में उसने, छः परिच्छेदों में, बहुसामान्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के पर्यवेक्षण के साथ-साथ अलंकारों का व्यापक निरूपण किया है। उसने दण्डी द्वारा गृहीत अलंकारों की प्रायः उसी क्रम से चर्चा की है। इस संबन्ध में उसने मुख्य अन्तर यह किया है कि उसने उपमारूपक, उपमेयोपमा, ससंदेह, अनन्वय और उत्प्रेक्षावयव को स्वतन्त्र अलंकारों के रूप में निरूपित किया है। दूसरा प्रमुख अन्तर उसने यह किया है कि वक्रोक्ति को, उसे अतिशयोक्ति से अभिन्न मानते हुए, उसने अलंकारों के मूल तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठापित कर दिया (तु० ऊपर, पृ० ४६-७)। इस तत्त्व के अभाव में उसने अलंकार की स्थिति नहीं मानी, और फलतः उसने इस तत्त्व से विरहित कतिपय

---

१. तु० भरतसिंह उपाध्याय : पालि-साहित्य का इतिहास, पृ० ६८४ प्रभृति, ६८८।

अलंकारों, यथा, स्वभावोक्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश और आशीः, के अलंकारत्व का खण्डन किया। आवृत्ति को भी उसने संभवतः इसी तत्त्व के अभाव में ग्रहण नहीं किया। शब्दालंकारों में उसमें लाटानुप्रास नया अलंकार है।

अलंकारों के अपने निरूपण में भामह ने किसी क्रमवद्ध योजना का अनुपालन नहीं किया। अनेक अलंकारों को उसने यथाविधि लक्षित तक नहीं किया, और अनेक महत्त्वपूर्ण अलंकारों को उसने एक-एक उदाहरण देकर ही चलता कर दिया।। दण्डी के विशद, विस्तृत और योजनाबद्ध अलंकारवर्णन की तुलना में उसका अलंकारनिरूपण योजनारहित, संक्षिप्त और वैशद्यविहीन है। जहाँ दण्डी ने ४५० पद्यों में, यमक को मिलाकर, छत्तीस अलंकारों का विवेचन किया है, वहाँ भामह में लगभग इतने ही अलंकारों का निरूपण १५० पद्यों में है।

दण्डी के दस गुणों के स्थान पर उसने तीन गुणों—प्रसाद, माधुर्य और ओज—को स्वीकार किया। उसके ये तीन गुण ही उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा सामान्यतः स्वीकृत हुए। देशभेद से रीतिभेद मानने का उसने विरोध किया, परंतु इस संवन्ध में उसने अधिक कुछ नहीं कहा। दण्डी के दस दोषों के स्थान पर उसने ग्यारह दोष माने, और ग्यारहवें दोष की एक पूरे अध्याय में विस्तृत व्याख्या की। भामह की सैद्धान्तिक विवेचना में कुछ सीमा तक नवीनता और मौलिकता है, परंतु उसकी विवेचनापद्धति सुनियोजित और क्रमबद्ध नह है। ऐसा होते हुए भी वह उत्तरवर्ती आचार्यों, विशेषतः कश्मीरी परंपरा के लेखकों, में पर्याप्त लोकप्रिय रहा। अनेक बातों में उसने दण्डी की आलोचना की एवं कुछ क्षेत्रों में उसने उससे यथेष्ट प्रभाव भी ग्रहण किया, जिसकी चर्चा ऊपर (पृ० २३ प्रभृति) की जा चुकी है।

उ द्भ ट कश्मीर के राजा जयापीड (राज्यकाल : ७७९-८१३ ई०) की राजसभा का सभापति था। उसने अपनी कृति **काव्यालंकारसारसंग्रह** में इकतालीस अलंकारों का निरूपण किया है जिन्हें उसने छः वर्गों में वांटा है। इन अलंकारों में पुनरुक्तवदाभास, छेकानुप्रास, काव्यलिङ्ग, दृष्टान्त और संकर (संसृष्टि से भिन्न) नये अलंकार हैं जो दण्डी और भामह में नहीं हैं। दण्डी की तुलना में भामह की अन्य नवीनताएँ हैं परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या वृत्तियों का त्रिविध अनुप्रास के अन्तर्गत निरूपण, कतिपय अलंकारों की परिभाषा में नये तत्त्वों का समावेश, और रसवत् के अन्तर्गत निरूपित रसों में शान्त रस का भी ग्रहण। अलंकारों के उसके द्वारा किए गए छः वर्गों में विभाजन का कोई वैज्ञानिक महत्त्व नहीं, परंतु उसकी ऐतिहासिक महत्ता अवश्य है, क्योंकि इस वर्गीकरण से अलंकारों के ऐतिहासिक विकासक्रम पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। उद्भट पर भामह का प्रभाव सर्वाधिक है। बारह अलंकारों

के लक्षण उसने अक्षरशः भामह से ग्रहण किए हैं। उसने भामह के **काव्यालंकार** पर **भामहविवरण** नाम से विवृति भी लिखी थी जो आज उपलब्ध नहीं है। उद्भट का प्रसिद्ध टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज (दसवीं शती, पूर्वार्द्ध) था।

वा म न उद्भट का समकालीन एवं कश्मीरराज जयापीड (७७६-८१३ ई०) का मन्त्री था। अपनी रचना, **काव्यालंकारसूत्र**, जिसपर उसने स्वयं वृत्ति भी लिखी, में उसने पाँच अधिकरणों में बहुसामान्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के निरूपण के साथ-साथ रीति, गुण, दोष और अलंकार का भी गम्भीर विवेचन किया है। उसका गुणविमर्श विशेष महत्त्वपूर्ण है। दण्डी के दस गुणों को उसने शब्द- और अर्थ-गुणों के रूप में विभाजित करके उन्हें तत्त्वतः बीस कर दिया। गुण को परिभाषित करने के लिए उसने दण्डी की अलंकारपरिभाषा का उपयोग किया, एवं अलंकार को उसने नये और अधिक वैज्ञानिक ढंग से लक्षित किया। इन गुणों के प्रयोग से पदरचना में एक विशिष्टता आ जाती है। पदरचना की इस विशिष्टता को उसने रीति का नाम दिया और उसे काव्य की आत्मा कहा। दण्डी की दो रीतियों के साथ पाञ्चाली को जोड़कर उसने तीन रीतियों की व्याख्या की। वामन का दोषनिरूपण भी महत्त्वपूर्ण है। उसने वाक्य और वाक्यार्थ से संबन्धित बीस दोषों का निरूपण किया है। दण्डी के अनेक अलंकारों को उसने ग्रहण नहीं किया। दूसरी ओर, वक्रोक्ति और व्याजोक्ति उसके नये अलंकार हैं। वामन के काव्यसिद्धान्तों पर यत्र-तत्र दण्डी का प्रभाव दीख पड़ता है, यद्यपि उसने दण्डी का अथवा उसके मत का कहीं उल्लेख नहीं किया है। कुछ क्षेत्रों में उसने दण्डी के अस्फुट एवं दोषपूर्ण सिद्धान्तों में यथेष्ट संशोधन किया (तु० ऊपर, पृ० ४८-९)। वामन का प्रमुख टीकाकार गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपाल (१५वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) है।

रु द्र ट (८५० ई० के आसपास) भी कश्मीरी परम्परा का आचार्य था। उसके **काव्यालंकार** के सोलह अध्यायों में से ग्यारह अध्यायों में अलंकारों का विवेचन है। अन्य अध्यायों में रस, नायक-नायिका तथा अन्य सामान्य काव्यशास्त्रीय प्रश्नों की चर्चा है। रससिद्धान्त से अंशतः प्रभावित होते हुए भी रुद्रट मुख्यतः अलंकारवादी आचार्य है। अलंकारों का उसने शब्दगत और अर्थगत अलंकारों के रूप में स्पष्ट विभाजन किया। शब्दगत अलंकारों को उसने वक्रोक्ति, श्लेष, अनुप्रास और यमक—इन चार वर्गों में बांटा है। अर्थगत अलंकारों को भी उसने चार वर्गों में विभाजित किया है। ये चार वर्ग हैं—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। रुद्रट में पहली बार अनेक नये अलंकार आए हैं। ऐसे नये अलंकारों में से कुछ का बीज दण्डी के अलंकारविकल्पों में देखा जा सकता है। रीति के क्षेत्र में रुद्रट ने वामन की तीन

रीतियों के साथ लाटी को भी जोड़ दिया। अनुप्रास के प्रसङ्ग में उसने मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा—इन पाँच वृत्तियों की भी चर्चा की है। रुद्रट के टीकाकारों में वल्लभदेव (१०वीं शती का पूर्वार्ध), नमिसाधु (रचनाकाल १०६८ ई०) और आशाधर (१३वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) प्रमुख हैं। इनमें नमिसाधु की टीका आज उपलब्ध है।

यद्यपि **अग्निपुराण** का काल अनिश्चित है, तथापि इसका काव्यशास्त्रीय भाग (अध्याय ३३७-४७), जिसमें पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों का क्रमहीन-सा संकलन है, निश्चयतः नवीं शती के मध्यभाग के बाद का है। उक्त काव्यशास्त्रीय भाग में काव्य का लक्षण, उसके भेद, रीति, अलंकार, गुण और दोष आदि विषयों का निरूपण है। इस भाग के कुछ अध्यायों में नाटकीय तत्त्वों का विवेचन है। पुराण के इन काव्यशास्त्रीय अध्यायों में भरत, दण्डी और भामह की कारिकाओं का जहाँ-तहाँ प्रचुर एवं स्वच्छन्दतापूर्ण उपयोग हुआ है। इन आचार्यों में से भी दण्डी का प्रभाव इन अध्यायों में सर्वाधिक लक्षित होता है। कतिपय गुणों एवं अनेक अलंकारों के लक्षण प्रायः दण्डी से ही लिए गए हैं। इसके अतिरिक्त, काव्य का लक्षण, उसके भेद, पद्य का लक्षण और उसके भेद आदि से संबन्धित कारिकाएँ भी दण्डी से ही गृहीत प्रतीत होती हैं।

रुद्रट और **अग्निपुराण** के लेखक के साथ काव्यशास्त्रीय परंपरा का एक युग—अलंकाररीतियुग—समाप्त हो जाता है। इस युग के बाद ध्वनि अथवा रसध्वनि का युग आता है, जिसके मुख्य आचार्य अज्ञातनामा **ध्वनिकार**, **आनन्दवर्धन** और **अभिनवगुप्त** हैं। इनमें ध्वनिकार को ध्वनिसिद्धान्त का प्रवर्तक माना जाता है। आज उपलब्ध **ध्वन्यालोक** का कारिकाभाग ध्वनिकार का एवं वृत्तिभाग आनन्दवर्धन का माना जाता है। इस ग्रन्थ में ध्वनिकार की यह घोषणा महत्त्वपूर्ण है कि काव्य की आत्मा ध्वनि है। कविता में रस या चमत्कार की स्थिति उसके वाच्य अर्थ की प्रतीति के अनन्तर उत्पन्न होती है। अभिधा शक्ति के साधारण व्यापार के बाद व्यञ्जना का महनीय व्यापार—सांकेतिक अर्थों के भीतर ध्वनित या व्यञ्जित अर्थों का उद्घाटन—आरम्भ होता है। रससंचार की स्थिति यहाँ है। ध्वनिसिद्धान्त ध्वन्य अर्थ की मुख्यता के आधार पर काव्यकोटियों का निर्धारण करता है। ध्वन्य अर्थ मूलतः क्या है—इस प्रश्न के उत्तर में ध्वनि के तीन रूपों का उल्लेख किया गया है। ये तीन रूप हैं वस्तु, अलंकार और रस। इनके आधार पर तीन प्रकार की ध्वनियों—वस्तु-, अलंकार- और रस-ध्वनि—की व्याख्या की गई है। इनमें रसध्वनि की श्रेष्ठता का प्रतिपादन ध्वनिसिद्धान्त का मुख्य विषय है। वस्तुतः इन ध्वनिवादी आचार्यों ने रस को केन्द्रबिन्दु मानकर ध्वनि की व्याख्या की है।

ध्वन्यालोक के व्याख्याकारों में अभिनवगुप्त का मूर्धन्य स्थान है। इसकी व्याख्या का नाम **लोचन** अथवा **काव्यालोकलोचन** है। लोचन के अतिरिक्त, अभिनवगुप्त की अन्य प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय कृति है **अभिनवभारती** जो भरत के **नाट्यशास्त्र** की व्याख्या है। अभिनवगुप्त ने अपनी कृतियों में गुण और अलंकार के अभेद के संबन्ध में, रस की निष्पत्ति के प्रसङ्ग में एवं चम्पूकाव्य के संदर्भ में दण्डी के मत का उल्लेख किया है।

आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त के समय के बीच लगभग सवा सौ वर्षों का व्यवधान था। इस अन्तराल में, दसवीं शताब्दी के प्रमुख आचार्य हैं **अभिधावृत्तिमातृका** के लेखक मुकुलभट्ट (नवीं शती का अन्तिम चरण), **काव्यमीमांसा** के लेखक राजशेखर (लगभग ६०० ई०), **काव्यकौतुक** के लेखक भट्टतौत (दसवीं शती का तृतीय चरण), **हृदयदर्पण** के लेखक भट्टनायक (६०० और १००० के बीच) और **वक्रोक्तिजीवित** के लेखक कुन्तक (लगभग ६५० से १००० के बीच)।

उक्त लेखकों में रा ज शे ख र प्रसिद्ध नाटककार, और काव्यशास्त्र का सूक्ष्म विवेचक था। वह विदर्भाभिजन था, परंतु उसका कार्यक्षेत्र कन्नौज था। उसकी **काव्यमीमांसा** सामान्य काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं कविशिक्षा पर बहुमूल्य ग्रन्थ है। यह एक प्रकार से अलंकारग्रन्थ न होकर साहित्यसंबन्धी विश्वकोश है। इसमें लेखक ने अनेक पूर्ववर्ती और समकालीन आचार्यों तथा उनके मतों का उल्लेख किया है। कविसमयस्थापना के प्रसङ्ग में उसने **काव्यादर्श** के **मण्डलीकृत्य बर्हाणि** इत्यादि पद्य (१.७०) को, वर्षा में मयूरों के नृत्य के वर्णन के उदाहरण के रूप में, मूल स्रोत के निर्देश के विना, उद्धृत किया है (तु० अध्याय १४, पृ० २०७)।

वक्रोक्तिजीवित का लेखक राजानक कु न्त क कश्मीर का प्रमुख आचार्य था। उसने प्राचीन आचार्यों के अलंकारसिद्धान्त को संशोधित रूप में प्रस्तुत किया। उसने लोकोत्तर अभिव्यञ्जनाशैली को काव्य के प्राणतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठापित किया। लोक और काव्य में व्यवहृत उक्ति के बीच एक विभाजक रेखा के तौर पर उसने उक्तिवैचित्र्य अथवा विदग्धतापूर्ण एवं वक्रतासम्पन्न कथन की स्थापना की। उसके अनुसार, यही उक्तिवक्रता, जिसे उसने 'वक्रोक्ति का नाम दिया है, काव्य की आत्मा है। इस सिद्धान्त में स्पष्टतः भावपक्ष की अपेक्षा शैलीपक्ष या कलापक्ष पर अधिक बल है। इस सिद्धान्त के अनुसार अभिव्यञ्जना की लोकोत्तरता काव्य का मूल तत्त्व है। इसमें भावपक्ष की स्वीकृति तो है, पर उसे कलापक्ष के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है। उदाहरणतः रस यहाँ वाक्यवक्रता और प्रबन्धवक्रता का एक रूप है तथा ध्वनि उपचारवक्रता का

दूसरा नाम है। वक्रोक्ति की व्याख्या में रीतिसिद्धान्त का आश्रय भी लिया गया है। रीति को यहाँ मार्ग के रूप में ग्रहण किया गया है और उसका वर्गीकरण प्रादेशिक आधार पर न करके कवि के अपने व्यक्तिगत स्वभाव के आधार पर किया गया है (१.२४ वृत्ति)। यह स्पष्टतः दण्डी आदि के मत का संशोधित रूप है। उक्त आधार पर कुन्तक ने निम्नलिखित तीन मार्ग माने हैं : सुकुमार, विचित्र और मध्यम। उसके ये तीन मार्ग क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियों से मेल खाते हैं। कुन्तक ने दण्डी के मत का अनेकत्र उल्लेख किया है। एक स्थान पर उसने दण्डी को 'लक्षणकार' कहकर उसके मत को उद्धृत किया है।

ग्यारहवीं शती के प्रमुख आचार्य हैं भोजदेव (१०००-५०), क्षेमेन्द्र (द्वितीय-तृतीय चरण), महिमभट्ट (अन्तिम चरण) और मम्मट (अन्तिम चरण)। इनमें भो ज दे व मध्यभारत का निवासी था, एवं शेष आचार्य कश्मीर की भूमि से संबन्धित थे। **सरस्वतीकण्ठाभरण** और **शृङ्गारप्रकाश** का लेखक भोजदेव धारा का परमारवंशी नरेश था। यह समन्वयवादी आचार्य था, यद्यपि विभिन्न सिद्धान्तों के इसके द्वारा किए गए समन्वय के प्रयास को पूर्ण सफल नहीं कहा जा सकता। भोज पर सर्वाधिक प्रभाव दण्डी का पड़ा है। उसने लगभग ४१ कारिकाएँ एवं १६४ उदाहरणश्लोक दण्डी से लिए हैं। **शृङ्गारप्रकाश** में भी उसने दण्डी को प्रचुर मात्रा में उद्धृत किया है।

क्षे मे न्द्र बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न लेखक था। उसकी काव्यशास्त्रीय रचनाएं हैं **औचित्यविचारचर्चा** और **कविकण्ठाभरण**। इनमें से प्रथम रचना में उसने औचित्य को रससिद्ध काव्य का स्थायी प्राण अथवा मूलतत्त्व प्रतिपादित किया है। उसके इस सिद्धान्त में स्पष्टतः रस की प्रतिष्ठा पहले है और औचित्य की वाद में; काव्य का रससिद्ध होना पहले आवश्यक है और उसमें औचित्य की स्थिति वाद में अपेक्षित है। औचित्य सिद्धान्त का अस्फुट बीज हमें दण्डी की रचना में, गुण, दोष और अलंकार की व्याख्या के संदर्भ में, यत्र-तत्र प्राप्त होता है।

म हि म भ ट्ट ने **व्यक्तिविवेक** में ध्वनिसिद्धान्त का सप्रपञ्च खण्डन करके उसके स्थान पर अनुमानवाद को स्थापित करने का प्रयास किया। उसके मत में, शब्द की व्यञ्जनावृत्ति का अस्तित्व ही नहीं है। ध्वनिवादियों के वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य—इन तीन अर्थों के स्थान पर उसने वाच्य और अनुमेय दो ही अर्थ माने हैं। उसका अनुमानसिद्धान्त उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य नहीं हुआ। उसके अपने युग से ही उसके सिद्धान्त का विरोध होना आरम्भ हो गया। इस विरोध का सूत्रपात उसके अपने समकालीन आचार्य मम्मट ने किया।

म म्म ट की कृति **काव्यप्रकाश** को संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त है। इस ग्रन्थ में संक्षिप्त शैली में काव्यशास्त्र के जटिलतम विषयों का गम्भीर विवेचन किया गया है। महिमभट्ट द्वारा प्रत्याख्यात व्यञ्जना की मम्मट ने पुनः प्रतिष्ठा की। **काव्यप्रकाश** पर विभिन्न युगों में लिखी गई लगभग पचहत्तर टीकाएं इसके व्यापक प्रभाव को सूचित करती हैं। इनमें से कतिपय टीकाएं लब्धप्रतिष्ठ आचार्यों द्वारा लिखी गई हैं। इन टीकाकारों में राजानक रुय्यक, माणिक्यचन्द्र (रचनाकाल : ११५९-६० ई०), विश्वनाथ, विद्याचक्रवर्ती (१२९१-१३४२ ई०), गोविन्द ठक्कुर (१५वीं शती का अन्त) और नागेशभट्ट (१८वीं शती का प्रथम चरण) मुख्य हैं।

मम्मट के उत्तरवर्ती आचार्यों में सर्वप्रथम नाम रु य्य क (लगभग ११५० ई०) का आता है। यह कश्मीरी आचार्य था। इसकी कृति **अलंकारसर्वस्व** में सूत्रवृत्तिशैली में छः शब्दालंकारों और पचहत्तर अर्थालंकारों का विशद निरूपण है। अलंकारविषयक होते हुए भी यह ग्रन्थ ध्वनिसिद्धान्त को महत्त्वपूर्ण स्थान देता है। रुय्यक के टीकाकारों में **अलंकारविमर्शिनी** का लेखक जयरथ (१२वीं शती का अन्त और १३वीं का आरम्भ), **विवृतिकार** समुद्रबन्ध (जन्म : १२६५ ई०) और **संजीविनी**कार विद्याचक्रवर्ती हैं।

इस युग का अन्यतम आचार्य हे म च न्द्र था जिसका जन्म धुन्धुक (अहमदाबाद) में १०८८ ई० में हुआ था। उसकी कृति **काव्यानुशासन** है जिसपर उसने स्वयं **अलंकारचूडामणि** नामक वृत्ति और **विवेक** नामक टीका भी लिखी है। हेमचन्द्र का ग्रन्थ प्रायः संग्रहात्मक है। इसके लगभग १३३० उदाहरणों में से ३५ पद्य **काव्यादर्श** से लिए गए हैं।

वा ग्भ ट प्रथम अनहिलवाड के चालुक्यवंशी जयसिंहदेव (राज्य : १०९४-११४३ ई०) का सभाकवि था। उसकी रचना **वाग्भटालंकार** है जिसमें पाँच परिच्छेदों में विभिन्न काव्यशास्त्रीय विषयों का संक्षिप्त निरूपण है। वाग्भट का गुणविवेचन दण्डी से प्रभावित है।

शो भा क र मि त्र (लगभग १२वीं शती का अन्त और १३वीं का आरम्भ) का **अलंकाररत्नाकर** सूत्रवृत्तिशैली में लिखित ग्रन्थ है। सिद्धान्त की दृष्टि से यह लेखक दण्डी, भामह और रुद्रट की परंपरा का अनुयायी है। दूसरी ओर, यह रुय्यक का प्रतिद्वन्द्वी कश्मीरी लेखक है जिसने रुय्यक के विचारों का प्रायः खण्डन किया है।

ज य दे व (अथवा पीयूषवर्ष जयदेव) **प्रसन्नराघव** का प्रसिद्ध लेखक है। इसका स्थितिकाल १३वीं शताब्दी है। अपने **चन्द्रालोक** में इसने प्रायः सभी काव्यशास्त्रीय विषयों का संक्षिप्त विवेचन किया है। इसका अलंकारप्रकरण

विशेष लोकप्रिय रहा है। इसपर अन्य आचार्यों के साथ-साथ दण्डी का भी यथेष्ट प्रभाव संलक्षित होता है।

वि द्या ध र कलिङ्गराज नरसिंहदेव (राज्यकाल : १२८३ ई० से आरम्भ) का सभापण्डित था। इसकी प्रसिद्ध रचना **एकावली** है जिसमें विभिन्न काव्यशास्त्रीय विषयों का संक्षिप्त विवेचन है। इस रचना पर **अलंकारसर्वस्व** और **काव्यप्रकाश** का पर्याप्त प्रभाव दीख पड़ता है।

वि द्या ना थ आन्ध्र के काकतीय नरेश प्रतापरुद्रदेव (१२९५-१३२३ ई०) का सभापण्डित था। इसके ग्रन्थ, **प्रतापरुद्रीय**, के नौ प्रकरणों में काव्यशास्त्रीय एवं नाट्यशास्त्रीय विषयों का सुन्दर विवेचन है।

वा ग्भ ट द्वितीय का स्थितिकाल १४वीं शताब्दी है। इसकी रचना **काव्यानुशासन** है जो सूत्रवृत्तिशैली में लिखित है। इसमें गुणविवेचन के प्रसङ्ग में वामन और वाग्भट (प्रथम) के साथ दण्डी का भी उल्लेख है।

वि श्व ना थ (१३वीं शती का अन्त और १४वीं का आरम्भ) मम्मट और रुय्यक के अनन्तर सर्वाधिक प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण आचार्य है। इसका **साहित्यदर्पण** आज सर्वाधिक प्रचलित काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। इसके छठे परिच्छेद में नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का भी व्यापक निरूपण है। विशद प्रतिपादनशैली एवं सारगर्भित गम्भीर विवेचन की दृष्टि से यह ग्रन्थ विशेष महत्त्व रखता है।

वि श्वे श्व र कविचन्द्र शिङ्गभूपाल (राज्यकाल : १३८१-१४२१ ई०) का सभापण्डित था। **चमत्कारचन्द्रिका** इसकी प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय कृति है जिसका प्रकाशन अभी हाल में हुआ है। इसके आठ विलासों में विविध काव्यशास्त्रीय विषय विवेचित हैं। इस ग्रन्थ पर भोज के **सरस्वतीकण्ठाभरण** का पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है।

के श व मि श्र कोटकांगड़ा के राजा माणिक्यचन्द्र का सभापण्डित था। उसका **अलंकारशेखर** शौद्धोदनि (?) की कारिकाओं पर लिखा गया वृत्तिग्रन्थ है। इसका रचनाकाल १६वीं शती का तीसरा चरण है। यह संग्रहात्मक ग्रन्थ है। इसमें कुछ कारिकाएँ एवं उदाहरणश्लोक दण्डी से भी उद्धृत हैं।

अ प्प य दी क्षि त विजयनगर के राजा वेंकट प्रथम (राज्यकाल : १५८६-१६१३ ई०) का सभापण्डित था। उसकी तीन काव्यशास्त्रीय कृतियाँ हैं **कुवलयानन्द, चित्रमीमांसा** और **वृत्तिवार्त्तिक**। **कुवलयानन्द** जयदेव के **चन्द्रालोक** के अलंकारप्रकरण का विशद व्याख्याग्रन्थ है। **चित्रमीमांसा** अपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें बारह अलंकारों की विस्तृत एवं गम्भीर विवेचना प्राप्त होती है। **वृत्तिवार्त्तिक** भी अपूर्ण कृति है।

ज ग न्ना थ संस्कृत काव्यशास्त्रपरंपरा का अन्तिम महत्त्वपूर्ण आचार्य

है। यह तैलङ्ग ब्राह्मण था। यह दिल्ली के मुगलसम्राट् शाहजहाँ (१६२६-५८ ई०) और उसके पुत्र दाराशिकोह का प्रेमभाजन था। यह उदयपुर के जगत्सिंह (१६२८-५४ ई०) और कामरूप के प्राणनारायण (१६३३-६६ ई०) की सभा में भी कुछ समय रहा था। इसकी काव्यशास्त्रीय कृतियाँ हैं **रसगङ्गाधर** और **चित्रमीमांसाखण्डन**। दुर्भाग्यवश दोनों ही अपूर्ण हैं। प्रौढ एवं सूक्ष्म विवेचनापद्धति की दृष्टि से दोनों ग्रन्थों के उपलब्ध अंश अपूर्व हैं।

जगन्नाथ के उत्तरवर्ती आचार्यों में आशाधर भट्ट, नरसिंह कवि और विश्वेश्वर पण्डित के नाम उल्लेखनीय हैं। तीनों १८वीं शती के आचार्य हैं।

उपसंहार

संस्कृत काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परंपरा में दण्डी का **काव्यादर्श** एक छोर पर है और जगन्नाथ का **रसगङ्गाधर** दूसरे छोर पर। दोनों में स्पष्टतः पर्याप्त अन्तर है। आज इस 'पर्याप्त अन्तर' को ऐतिहासिक परिवेश में हृदयंगम करने एवं तद्द्वारा इस परंपरा की विभिन्न कड़ियों का सही मूल्यनिर्धारण करने की आवश्यकता है। इसके लिए अपेक्षित हैं नवीन आलोचनात्मक दृष्टि, और ऐसी आलोचनात्मक दृष्टि से प्राचीन काव्यशास्त्रीय कृतियों का अनुशीलन।

काव्यादर्श की प्रस्तुत व्याख्या इसी दिशा में एक प्रयत्न है। इसमें जहाँ **काव्यादर्श** पर प्राप्त प्राचीन टीकाओं एवं अर्वाचीन व्याख्याग्रन्थों का प्रचुर उपयोग किया गया है, वहाँ आधुनिक समालोचनात्मक और तुलनात्मक दृष्टि का भी यथासंभव समावेश किया गया है। विवेच्य विषयों के संबन्ध में इसमें दण्डी से पूर्व की परंपरा का निर्देश तथा समकालीन और उत्तरवर्ती परंपराओं का संक्षिप्त निरूपण किया गया है एवं उक्त परंपराओं के परिप्रेक्ष्य में आचार्य दण्डी के अपने योगदान का समीक्षात्मक मूल्यांकन किया गया है।

समीचीन मूलपाठ का निर्धारण करने, प्रसङ्गोचित अर्थ का आकलन करने, एवं कतिपय महत्त्वपूर्ण शब्दों पर, विशेषतः काव्यशास्त्रीय शब्दावली पर, नया प्रकाश डालने के संबन्ध में भी प्रस्तुत व्याख्याकार ने विशेष यत्न किया है। प्रत्येक प्रकरण अथवा उसके अन्तर्गत आने वाले प्रत्येक काव्यतत्त्व के निरूपण के आरम्भ में तत्संबन्धी अपेक्षित भूमिका दे दी गई है, ताकि विषय को हृदयंगम करने में एवं उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ज्ञान प्राप्त करने में सुविधा हो सके।

—व्याख्याकार

संक्षेपसूची

ग्रन्थनामसंक्षेपाः

अलंसर्व०	अलंकारसर्वस्वम्
काअ०	काव्यालंकारः
काअनु०	काव्यानुशासनम्
काअसू०	काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः
काप्र०	काव्यप्रकाशः
किराता०	किरातार्जुनीयम्
कुवलया०	कुवलयानन्दः
चन्द्रा०	चन्द्रालोकः
चम०	चमत्कारचन्द्रिका
ध्वन्या०	ध्वन्यालोकः
पा०	पाणिनीया अष्टाध्यायी
प्रताप०	प्रतापरुद्रीयम्
रस०	रसगङ्गाधरः
वक्रोक्ति०	वक्रोक्तिजीवितम्
शिशु०	शिशुपालवधम्
शृङ्गार०	शृङ्गारप्रकाशः
सरस्व०	सरस्वतीकण्ठाभरणम्
साद०	साहित्यदर्पणः

अन्ये संक्षेपाः

उ०	उत्तरार्ध
उदा०	उदाहरण
टि०	टिप्पणी
तु०	तुलनीय
द्र०	द्रष्टव्य
पू०	पूर्वार्ध
पृ०	पृष्ठ
सं०	संपादक, संस्करण

आचार्यदण्डिविरचितः काव्यलक्षणापराभिधः

काव्यादर्शः

प्रथमः परिच्छेदः

चतुर्मुखमुखाम्भोजवनहंसवधूर्मम ।
मानसे रमतां नित्यं[1] सर्वशुक्ला[2] सरस्वती ॥१॥

विभुं संध्याय संस्मृत्य पितरौ च गुरूंस्तथा ।
धर्मेन्द्रोऽहं विरचये काव्यादर्श-सुदर्शनाम् ॥

काव्यादर्शनामकं काव्यशास्त्रग्रन्थमिममारभमाण आचार्यदण्डी मङ्गलं चिकीर्षुः विद्याधिष्ठात्रीं देवीं सरस्वतीं स्तुवन्, तस्याश्च नित्यं निवासं निजे मानसे कामयमान आह—**चतुर्मुखे**ति । चतुर्मुखः ब्रह्मा तस्य मुखानि एव अम्भोजवनानि कमलवृन्दानि तेषु (विहरन्ती) हंसवधूः हंसी तत्स्वरूपा अथ च सर्वशुक्ला सर्वतः सर्वावयवेन वा शुक्ला शुभ्रवर्णा सरस्वती मम मानसे चेतसि चित्त-स्वरूपे वा मानसे तदाख्यसरोवरे नित्यं सततं रमतां विहरतु । मानसे सरसि कमलवनेषु हंसीव या सरस्वती ब्रह्मणो मुखकमलेषु श्रुतिरूपेण नित्यं विहरति सा सर्वशुक्ला, लक्षणया सर्वशुद्धा पदपदार्थवाक्यादिगतदोषरहिता, वाग्देवी मम चेतसि सातत्येन प्रीतिपूर्वकं निवसतु इति भावः ।

चतुर्मुख ब्रह्मा के (चार) मुख रूपी कमलवनों में हंसी (के समान श्रुतिरूप में विचरण करने वाली) शुभ्रवर्णा (=सर्वात्मना शुद्धा) सरस्वती मेरे मानस में सदा विहार करे ।

प्राचीन लेखक अपने ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण करते आए हैं । **महाभाष्य** (१, पृ० २४) में कहा गया है कि मङ्गलाचरण से आरम्भ होने वाले शास्त्र प्रसिद्धि को प्राप्त होते हैं : **मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते ।** अपनी रचना के आरम्भ में उसकी निर्विघ्न समाप्ति के लिए लेखक द्वारा अपने इष्ट देवता का स्मरण करना प्राचीन परंपरा का एक अङ्ग रहा है । इसी परंपरा का अनुसरण करते हुए आचार्य दण्डी ने प्रस्तुत ग्रन्थ के आरम्भ में मङ्गलाचरण के रूप में सरस्वती की वन्दना की है । सरस्वती के साथ उसने ब्रह्मा को भी

---

१. दीर्घं । २. सर्वशुभ्रा ।

स्मरण किया है और प्रकारान्तर से उसका स्तवन भी किया है। देवस्तुति के साथ-साथ उसने यह मङ्गल कामना भी की है कि वाणी अथवा विद्या की अधिष्ठात्री सर्वशुद्धा, अर्थात् पद, पदार्थ, वाक्य आदि के दोषों से रहित, वाग्देवी सरस्वती उसके मन-मानस में निवास करे। ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति और उसकी सफलता के लिए वाग्देवी का उसके मानस में सतत निवास सर्वथा अभीष्ट है।

प्रस्तुत मङ्गलाचरण-पद्य सुन्दर कविता का उत्कृष्ट निदर्शन है। यहाँ सरस्वती पर हंसी का आरोप किया गया है; इस आरोप के हेतु के रूप में ब्रह्मा के मुखों पर कमलों का आरोप किया गया है। अतः यहाँ परंपरित रूपक अलंकार है। 'मुखमुख' इस आवृत्ति में छेकानुप्रास है। 'मानस' शब्द में श्लेष अलंकार की सुन्दर स्थिति है।

पूर्वशास्त्राणि संहृत्य[1] प्रयोगानुपलक्ष्य[2] च।
यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम् ॥२॥

ग्रन्थस्य प्रतिपाद्यं तत्प्रतिपादनप्रक्रियां च निर्दिशन्नाह—**पूर्वशास्त्राणीति**। पूर्वशास्त्राणि पूर्वेषां भरतकाश्यपवररुचिप्रभृत्याचार्याणां लक्षणशास्त्राणि काव्यशास्त्रग्रन्थान् संहृत्य संक्षिप्य, तेभ्यः सारमाकृष्येति भावः, अथ च प्रयोगान् वाल्मीकिव्यासभासकालिदासादिकवीनां काव्येषु स्थितान् प्रयोगान् तत्प्रयुक्तान् विषयान् उपलक्ष्य सम्यगालोच्य अस्माभिः यथासामर्थ्यं यथाशक्ति स्वबुद्धिवैभवानुसारं काव्यलक्षणं काव्यस्य लक्षणम् (इतरव्यवच्छेदकम् असामान्यधर्मरूपं स्वरूपं लक्ष्यते निरूप्यतेऽनेनेति तत्काव्यलक्षणं) काव्यस्वरूप-परिचायकं वस्तुवर्णनं क्रियते विधीयते। पद्येऽस्मिन् विषयप्रयोजनसंबन्धाधिकारिरूपानुबन्धचतुष्टये प्रथमस्य निर्देशो द्वितीयस्य च संकेतो वर्तते। इत्थं ग्रन्थेऽस्मिन् काव्यलक्षणं विषयः प्रतिपाद्यं वा, काव्यलक्षणज्ञानं च प्रयोजनम्। अथ प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावोऽत्र संबन्धः, काव्यलक्षणजिज्ञासुश्चास्याधिकारी।

प्राचीन (भरत आदि लेखकों के) काव्यशास्त्र-ग्रन्थों का संक्षेप करके तथा (प्राचीन कवियों द्वारा प्रयुक्त) प्रयोगों का निरूपण करके मैं यथाशक्ति काव्य का लक्षण (=काव्यलक्षण-प्रतिपादक ग्रन्थ की रचना) करता हूँ।

यहाँ आचार्य अपने ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का निर्देश करता है। ग्रन्थ का यह प्रतिपाद्य विषय है काव्य के स्वरूप का निरूपण। काव्य की परिभाषा, उसके विविध रूपों एवं उसके गुणों, दोषों और अलंकारों की व्याख्या उक्त काव्यस्वरूपनिरूपण के विभिन्न अङ्ग हैं। काव्यस्वरूपनिरूपण की प्रक्रिया में

---

१. संक्षिप्य। २. उपलभ्य।

आचार्य शास्त्र और प्रयोग अथवा लक्षण और लक्ष्य दोनों के सम्यक् अनुशीलन पर बल देता है। वह अपना ग्रन्थ केवल काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के आधार पर ही नहीं रचता, अपितु वह काव्यकृतियों में प्रयुक्त वास्तविक प्रयोगों का अनुसरण भी करता है; यह उसके लक्षणग्रन्थ की विशेषता है।

कुछ व्याख्याकार **क्रियते काव्यलक्षणम्** के आधार पर दण्डी के प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम **काव्यलक्षण** मानते हैं। रत्नश्रीज्ञान की **रत्नश्री** टीका (९३१ई०) की उपलब्ध पाण्डुलिपि (मिथिला विद्यापीठ, दरभङ्गा, द्वारा १९५७ ई० में प्रकाशित) में ग्रन्थ का नाम **काव्यलक्षण** दिया गया है। उक्त टीकाकार ने **काव्यादर्श** के ३.१२७ की व्याख्या के प्रसङ्ग में भी इस ग्रन्थ का नाम **काव्य-लक्षण** होने का संकेत किया है। कुन्तक अपने **वक्रोक्तिजीवित** (३.३३) में दण्डी को **लक्षणकार** कहता है।

दण्डी के **पूर्वशास्त्राणि संहृत्य** से स्पष्ट है कि उसके सामने प्राचीन आचार्यों के काव्यशास्त्र ग्रन्थ विद्यमान थे। **काव्यादर्श** की अज्ञातकर्तृक **हृदयंगमा** टीका में काश्यप और वररुचि का दण्डी के पूर्ववर्ती आचार्यों के रूप में उल्लेख हुआ है। भरत, मेधावी और विष्णुधर्मोत्तरपुराणकार कतिपय अन्य लेखक हैं जो दण्डी से पहले हुए।

इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥३॥

काव्याधारभूतानां वाचां लोकव्यवहारोपयोगित्वम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां निर्दिदिक्षुराचार्यः प्रथममन्वयमुखेन वाचां महिमानमाह—इहेति। इह अस्मिन् संसारे शिष्टानुशिष्टानां शिष्टैः शब्दानुशासनकृद्भिः पाणिनिप्रभृतिभिः अनुशिष्टानां प्रकृतिप्रत्ययविभागनिर्देशेन निरुक्तानां शब्दापशब्दविवेकविधया वा शासितानाम् अथ च शिष्टानां शिष्टानुशिष्टाभ्यो वाग्भ्यो भिन्नानाम्, अर्थात् शब्दानुशासनकृद्भिः अननुशासितानां, वाचां गिराम् एव प्रसादेन अनुग्रहेण साहाय्येन वा लोकयात्रा लोकानां व्यवहारः सर्वथा प्रवर्तते प्रचलति सिद्ध्यति वा। अयं भावः—लोकव्यवहारो वाचां (शब्दानां) प्रयोगेनैव सिद्ध्यति। वाचश्च द्विविधाः—शिष्टानुशिष्टा व्याकरणसंमताः संस्कृतरूपाः, इतराश्च प्राकृतापभ्रंशरूपाः। द्विविधानामप्यासां गिरां प्रयोगो लोकयात्राप्रवृत्तौ हेतुः, वाक्प्रयोगाभावे लोकव्यवहारासिद्धेः।

इस संसार में शिष्टों (=शब्दशास्त्रियों) द्वारा अनुशासित शब्दों एवं उनसे भिन्न (=अननुशासित) शब्दों की सहायता से ही सर्वथा लोकव्यवहार चलता है।

लोकव्यवहार की सिद्धि के लिए शब्द-प्रयोग की उपयोगिता को भर्तृहरि (वाक्यपदीय १.१२१) ने इस शब्दों में स्वीकार किया है: **इति-कर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया। यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते ॥** आचार्य दण्डी लोकव्यवहार की सिद्धि के लिए यहाँ संस्कृत शब्दों एवं तदितर शब्दों—दोनों—के प्रयोग को आवश्यक मानता है। इस प्रकार संस्कृत के साथ-साथ वह प्राकृत, अपभ्रंश आदि लोकभाषाओं को भी लोकयात्रा के लिए उपादेय स्वीकार करता है। आगे, १.३२ में, वह भाषा के आधार पर काव्य-वाङ्मय को निम्नलिखित चार भागों में बाँटता है: संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र। इनमें प्रथम (तथा कुछ व्याख्याकारों के अनुसार द्वितीय भी) शिष्टों द्वारा अनुशासित है और शेष (कुछ के अनुसार अन्तिम दो) उनके द्वारा अननुशासित हैं।

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं[1] न दीप्यते ॥४॥

संप्रति व्यतिरेकेण वाचां लोकव्यवहारसाधनत्वमाह—इदमिति। यदि शब्दाह्वयं शब्दनामकं वाङ्मयं ज्योतिः प्रकाशकरं तत्त्वम् आसंसारं सर्वं जगद् अभिव्याप्य सृष्टिकालादारभ्य वा न दीप्यते न प्रकाशते, तर्हि इदं कृत्स्नं सकलं भुवनत्रयं स्वर्गभूलोकपातालाभिधानां लोकानां त्रयम् अन्धं तमः गाढान्धकाररूपं सर्वथाऽन्धकारमयं जायेत। यथा सूर्यादिज्योतिषोऽभावे जगदिदम् अन्धकारमयं तिष्ठति तथैव शब्दरूपज्योतिषोऽभावेऽपि शब्दसाध्यानां व्यवहाराणाम् अनुपगमाद् अज्ञानान्धकारमयं विलुप्तलोकव्यवहारं सकलं जगत् स्यादिति भावः।

यदि शब्द-रूप ज्योति समस्त संसार में प्रदीप्त न हो तो यह सारा त्रिभुवन अज्ञान के सघन अन्धकार में लीन हो जाए।

पिछले श्लोक में लोकव्यवहार की सिद्धि में वाणी की महत्ता का कथन अन्वय (positive assertion) द्वारा किया गया था। इस श्लोक में व्यतिरेक (negative assertion) द्वारा लोकव्यवहार-सिद्धि में उसकी महत्ता प्रतिपादित की गई है। आचार्य दण्डी ने यहाँ शब्द को ज्योति कहा है, क्योंकि शब्द समस्त लोकव्यवहार का प्रकाशक होता है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में वाक्प्रयोग की महत्ता इन शब्दों में प्रकट की है: **आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते। अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते ॥···न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यश्शब्दानुगमाद् ऋते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥ वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदव-**

---

१. आसंसारान्न।

बोधस्य शाश्वती । न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥ (१.५०,१२३-४)। **वाक्यपदीय** के टीकाकार पुण्यराज द्वारा अपनी टीका में किसी प्राचीन वैदिक ग्रन्थ से उद्धृत यह वचन भी इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है: **त्रीणि ज्योतींषि त्रयः प्रकाशा योऽयं जातवेदा यश्च पुरुषेष्वान्तरः प्रकाशो यश्च प्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाशस्तत्रैतत्सर्वमुपनिबद्धम् ।** (बनारस संस्कृत सीरीज़ सं०, पृ० ७)।

आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम् ।
तेषामसंनिधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति ॥५॥

सामान्येन वाचो महिमानं प्रतिपाद्य संप्रति विशेषेण वाङ्मयस्य काव्य-प्रबन्धरूपस्य महत्तामाह—**आदिराजेति** । आदिराजानां प्राचीनानां राज्ञां मन्वादीनां यशोबिम्बं कीर्तिरूपं प्रतिरूपं (कर्तृ) वाङ्मयं (कविनिबद्धं) काव्यप्रबन्धरूपम् आदर्शं दर्पणं प्राप्य इदानीं तेषां राज्ञाम् असंनिधानेऽपि अभावेऽपि न नश्यति न विलीयते इति स्वयं पश्य अवलोकय । दर्पणे बिम्बस्य प्रतिबिम्बनं तावदेव भवति यावद् बिम्बं तत्र तिष्ठति, तदपगमे तु प्रतिबिम्बस्याप्यपगमो निश्चितः । परं तु काव्यप्रबन्धरूपे दर्पणे प्राचां राज्ञां यशोरूपं बिम्बं तेषां नृपाणामपगमेऽपि प्रतिबिम्बितं विद्यते इत्याश्चर्यकरः खलु वाङ्मयरूप आदर्शः । अत्रोपमानभूताद् लौकिकादादर्शाद् उपमेयभूतस्य वाङ्मयरूपादर्शस्याधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकालंकारः । श्लोकेऽस्मिन् प्राचां राज्ञां यशःकीर्तनं काव्य-प्रयोजनमुक्तम् । कवेरात्मयशोऽपि काव्यस्य प्रयोजनं भवति । तत्तु प्रयोजनं दण्डिना प्रथमपरिच्छेदान्ते ग्रन्थान्ते च निर्दिष्टम् ।

प्राचीन राजाओं का यशरूपी बिम्ब वाङ्मय (=कवियों द्वारा विरचित काव्य-साहित्य) रूपी दर्पण को प्राप्त करके (=दर्पण में एक बार प्रतिबिम्बित होकर) आज उन राजाओं का अस्तित्व न होने पर भी विनाश को प्राप्त नहीं हो रहा है । यह तुम स्वयं देख लो ।

लोक में दर्पण आदि में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का नियम यह है कि जब तक बिम्ब सामने उपस्थित रहता है तभी तक उसका प्रतिबिम्ब झलकता है । बिम्ब के सामने से हट जाने पर प्रतिबिम्ब भी लुप्त हो जाता है । परन्तु वाङ्मय रूपी दर्पण की विशेषता यह है कि इसमें प्रतिबिम्बित प्राचीन राजाओं की कीर्ति, उन राजाओं के विनष्ट हो जाने पर भी, पूर्ववत् झलक रही है । इस पद्य द्वारा दण्डी पूर्ववर्ती राजाओं के यशःख्यापन को काव्य का एक प्रयोजन मानता है । स्वयं कवि द्वारा यश की प्राप्ति भी काव्य का एक प्रयोजन है; इस प्रयोजन का निर्देश उसने १.१०५ और ३.१८७ में किया है ।

स्वयं पश्य इस कथन के आधार पर अनुमान लगाया जाता है कि दण्डी ने प्रस्तुत लक्षणग्रन्थ की रचना किसी राजकुमार, संभवतः पल्लव नरेश नरसिंह-वर्मा द्वितीय (राज्यकाल : ६८० अथवा ६९५ से ७२२ ई० तक), को काव्यशास्त्र की शिक्षा देने के लिए की थी।

गौर्गौः कामदुघा सम्यक्प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः ।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ॥६॥

काव्यप्रबन्धरूपाया वाच उपादेयत्वं प्रतिपाद्याधुना तस्याः सुप्रयोगस्य फलप्रदत्वं दुष्प्रयोगस्य चाकीर्तिकरत्वं निर्दिशन्नाह—**गौर्गौरिति**। सम्यक् प्रयुक्ता दोषराहित्येन गुणालंकारवत्त्वेन च सुनिबद्धा गौः वाग् बुधैः विद्वद्भिः कामदुघा कामदोहिनी इष्टफलप्रदा गौः धेनुः स्मर्यते मन्यते कीर्त्यते वा। तथा च—**एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग्भवति** इति श्रुतिः। अथ दुष्प्रयोगस्यायशस्करत्वमाह। पुनः परंतु दुष्प्रयुक्ता सदोषत्वेन गुणालंकारराहित्येन च निबद्धा सैव वाक् प्रयोक्तुः प्रयोगकर्तुः कवेर्वक्तुर्वा गोत्वं वृषभत्वं, लक्षणया मूर्खत्वं, शंसति प्रख्यापयति। तथा चाह **महाभाष्ये** (प्रथमाह्निके) पतञ्जलिः—**यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले। सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद्, दुष्यति चापशब्दैः॥** इति।

भली भाँति प्रयुक्त (=दोषरहित एवं गुणयुक्त) वाणी को विद्वानों ने अभीष्टफलप्रद कामधेनु कहा है। परन्तु (दूसरी ओर) दोषपूर्ण ढंग से प्रयुक्त वही वाणी प्रयोग करने वाले के वृषभत्व अर्थात् मूर्खता को प्रकट करती है।

प्रस्तुत पद्य में आचार्य ने सुप्रयुक्त और दुष्प्रयुक्त वाणी से प्राप्त होने वाले फल के अन्तर को स्पष्ट किया है। इस संबन्ध में **महाभाष्य** का कथन संस्कृत व्याख्या में उद्धृत किया जा चुका है। वाणी के सुप्रयोग के साधनभूत तत्त्व हैं गुणों और अलंकारों का प्रयोग एवं दोषों का परिहार। गुणों और अलंकारों से रहित एवं दोषों से युक्त रचना वाणी के दुष्प्रयोग का रूप है। दण्डी ने अपने लक्षणग्रन्थ में इन्हीं तत्त्वों—गुणों, अलंकारों और दोषों—की विस्तृत चर्चा की है। इस प्रकार उसने वाणी के सुप्रयोग और दुष्प्रयोग के विविध प्रपञ्च का अपने ग्रन्थ में विस्तार किया है।

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन ।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥७॥

वाचो दुष्प्रयोगस्य मूर्खत्वप्रख्यापकत्वमभिधायाधुना काव्ये तस्य दुर्भगत्वापादकत्वम् अतश्च सर्वथा हेयत्वं प्रतिपादयन्नाह—**तदल्पमिति**। तत् तस्मात्

कारणात्, दुष्प्रयुक्ताया वाचोऽकीर्तिकरत्वाद् इति भावः, काव्ये काव्यप्रबन्धे अल्पमपि स्वल्पमात्रमपि, पदपदांशगतम् अपि इति यावत्, दुष्टम् (भावे क्तः) दोषः कथंचन केनापि प्रकारेण न उपेक्ष्यं न क्षन्तव्यम्। दोषः स्वल्पोऽपि सर्वथा परिहार्यः। गुणभूयस्त्वे स्वल्पस्य दोषस्य स्थितौ का हानिरिति चेत् तत्र दृष्टान्तेनाह—सुन्दरमपि निसर्गतो रमणीयमपि सुविभक्तमुखाद्यङ्गतया शोभनमपि वपुः शरीरम् एकेन एकाङ्गवर्तिना लघुनाऽपि श्वित्रेण श्वेतकुष्ठेन दुर्भगं कुरूपं घृणितं वा स्याद् भवेत्। यथा देहैकभागस्थितं स्वल्पमपि श्वित्रं सकलमपि सुन्दरं शरीरं दुर्भगं करोति, तथा स्वल्पोऽपि दोषः समस्तमपि सुभगं काव्यं दूषयति। अतः सर्वथा दोषपरिहारे यत्नो विधेय इति भावः। अत्रोपमेयोपमानभूतयोर्वाक्ययोः बिम्बप्रतिबिम्बभावाद् दृष्टान्तोऽलंकारः।

इस कारण से काव्य में एक छोटे-से दोष की भी किसी प्रकार भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए; क्योंकि सुन्दर शरीर भी श्वेत कुष्ठ के एक चिह्न मात्र से कुरूप हो जाता है।

काव्य में दोषों के परिहार पर आचार्य दण्डी ने विशेष बल दिया है। भामह (१.११) ने भी दोषयुक्त काव्य की इन शब्दों में निन्दा की है: **सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्। विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते॥** उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी दोषों को रस का अपकर्षक (तु० **साद० ७.१; काप्र० ७.१**) कहकर काव्य में उनके परिहार पर बल दिया है।

गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः।
किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु ॥८॥

गुणा उपादेया दोषाश्च हेया इत्याख्याय तेषां क्रमेण उपादाने हाने च शास्त्रज्ञानस्यानिवार्यतामाह—**गुणदोषानिति**। अशास्त्रज्ञः काव्यशास्त्रज्ञानरहितः जनः मनुष्यः गुणदोषान् श्लेषप्रसादादीन् गुणान् परिहरणीयांश्च अपार्थव्यर्थप्रभृतीन् दोषान् कथं विभजते विशेषेण बुध्यते विभज्य वा तान् परिचिनोति; न कथमप्येतादृशो लोको गुणान् दोषांश्च विविच्य जानातीति फलितार्थः। दृष्टान्तमुखेन तद् विशदयति—रूपस्य चक्षुर्ग्राह्यगुणविशेषस्य भेदानां श्वेतपीतहरितादिप्रकाराणाम् उपलब्धिषु विशेषज्ञानेषु अन्धस्य चक्षुरिन्द्रियरहितस्य जनस्य अधिकारः सामर्थ्यं किमस्ति? नास्तीत्यर्थः। न खलु नेत्रहीनो जनो नेत्रग्राह्यस्य रूपस्य भेदान् परिच्छेत्तुमलम्; तद्वदेव शास्त्रज्ञानरहितो मनुष्योऽपि शास्त्रज्ञानैकसंपाद्यान् गुणदोषविभागान् अवगन्तुं न पारयेद् इति काव्यस्य कर्तुः श्रोतुश्च काव्यशास्त्रपरिचयोऽनिवार्य इति प्रदर्शितम्।

शास्त्र को न जानने वाला मनुष्य गुणों और दोषों का विभाग

(=विवेक अथवा विशेष ज्ञान) किस प्रकार कर सकता है ? क्या नेत्रहीन व्यक्ति में रूप के (सफेद, पीला, हरा आदि) विविध प्रकारों को पहचानने की शक्ति होती है ?

जिस प्रकार नेत्रहीन व्यक्ति रूप के विविध भेदों का विभाग नहीं कर सकता, उसी प्रकार काव्यशास्त्र के ज्ञान से शून्य मनुष्य काव्य के गुणों और दोषों को नहीं परख सकता। अतः कवि, पाठक और आलोचक के लिए काव्यशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है। काव्य के श्लेष, प्रसाद आदि गुणों का तथा अपार्थ, व्यर्थ आदि दोषों का विवेचन आगे किया गया है।

अतः प्रजानां[1] व्युत्पत्तिमभिसंधाय सूरयः ।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम् ॥९॥

गुणदोषविवेके काव्यशास्त्रज्ञानस्यानिवार्यताया हेतोः काव्यशास्त्रग्रन्थानां लोके प्रवृत्तिरिति संकेतयन्नाह—**अत** इति। अतः एतस्मात् कारणात् (गुण-दोषविभागस्य साहित्यशास्त्रपरिचयाधीनत्वाद् हेतोः) सूरयः विद्वांसः काव्य-शास्त्रिणः प्रजानां लोकानां व्युत्पत्तिं काव्यशास्त्रपरिज्ञानम् अभिसंधाय अभिप्रेत्य (लोकाः काव्यशास्त्रविदो लोकव्यवहारविदो वा स्युरिति मनसिकृत्य) विचित्र-मार्गाणां वैदर्भगौडीयादिभेदेन विचित्राः विविधाः मार्गाः पन्थानः यासां तथाभूतानां वाचां वाक्प्रबन्धानां, काव्यानाम् इति भावः, क्रियाविधिं रचना-विधानं क्रियाकल्पं (=काव्यशास्त्रं) वा निबबन्धुः चक्रुः, काव्यशास्त्रग्रन्थानां विरचने प्रवृत्ता बभूवुरित्यर्थः।

(गुणों और दोषों के सम्यक् विवेचन के लिए काव्यशास्त्र का ज्ञान आवश्यक है,) इसलिए विद्वान् आचार्यों ने, लोगों के (काव्यशास्त्र अथवा लोक व्यवहार के) ज्ञान के उद्देश्य से, (वैदर्भ, गौडीय आदि) विभिन्न काव्यमार्गों में विभक्त वाक्प्रबन्धों (=काव्यग्रन्थों) की रचना की पद्धति का विधान किया है।

आचार्य दण्डी ने वाक्प्रबन्ध के अनन्त मार्गों या पद्धतियों का आगे भी संकेत किया है (तु० १.४०, १०१-२)। फिर भी मोटे तौर पर उसने दो काव्यमार्गों—वैदर्भ और गौडीय—की चर्चा की है (१.४०-१००)।

'क्रियाविधि' शब्द काव्यशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त प्रतीत होता है। **वात्स्यायनकामसूत्र** (१.३.१५) में काव्यशास्त्र के लिए 'क्रियाकल्प' शब्द का प्रयोग हुआ है जो दण्डी के 'क्रियाविधि' शब्द से तुलनीय है। **रत्नश्री** टीका

१. पदानां।

में इस बात का संकेत इन शब्दों में किया गया है: **क्रियाविधि क्रियाकल्पं··· मल्लनागेन (=वात्स्यायनेन) विद्यासमुद्देशे क्रियाकल्प इति काव्यालंकार उक्तः।** परन्तु दूसरी ओर **हृदयंगमा** में 'क्रियाविधि' का अर्थ 'विधान' किया गया है।

तैः शरीरं च काव्यानामलंकाराश्च दर्शिताः[1] ।
शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली[2] ॥१०॥

तैः पूर्वोक्तैः सूरिभिः निजकाव्यशास्त्रग्रन्थेषु काव्यानां बहुविधानां काव्यप्रबन्धानां शरीरं शरीरभूतं तत्त्वम् अलंकाराश्च तदलंकरणसाधनभूताः गुणाः अलंकाराश्च दर्शिताः निदर्शिताः, निरूपिता इति यावत्। ते च यथास्थानमस्मिन् ग्रन्थेऽपि व्याख्यास्यन्ते। किं तच्छरीरमिति जिज्ञासायामाह—शरीरं काव्यशरीरं तावद् इष्टैः अभिलषितैः रसाद्यनुगमेन वक्तुमिष्टैः अर्थैः वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यभेदेन भिन्नैरर्थैः व्यवच्छिन्ना समन्विता, विभूषितेति भावः, पदावली पदसमष्टिः, शब्दानां समूहः, वर्तते। एवम् अभिलषितार्थसमन्विता हृद्यार्थविभूषिता वा पदसमष्टिः काव्यशरीरम् इति फलितम्।

उन (प्राचीन आचार्यों) ने काव्य-प्रबन्धों के शरीर का तथा अलंकरण-साधनों (=गुणों और अलंकारों) का निरूपण किया है। अभिलषित अर्थ से समन्वित पदावली (=पदसमूह) काव्य का शरीर है।

पिछले पद्य में काव्य के संदर्भ में मार्गों की बात की गई थी। इस पद्य में आचार्य ने काव्य के शरीर-तत्त्व और उसके अलंकरण-साधनों की चर्चा की है। ये अलंकरण-साधन हैं गुण और अलंकार। काव्य अथवा काव्य-शरीर की उक्त परिभाषा में दण्डी ने स्पष्टतः अर्थ की अपेक्षा शब्द पर अधिक बल दिया है, क्योंकि उसके अनुसार शब्द-समूह काव्य या काव्य-शरीर है। अर्थ की इष्टता उस शब्द-समूह के काव्यत्व की शर्त मात्र है। अर्थ की इस इष्टता के साधन हैं गुण और अलंकार एवं दोषाभाव, क्योंकि गुणों और अलंकारों से समन्वित एवं दोषरहित अर्थ ही इष्ट अथवा हृदयावर्जक हो सकता है। दूसरी ओर, पदावली विभिन्न काव्यमार्गों के रूप में स्वयं को प्रकट करती है। इस प्रकार दण्डी की काव्यपरिभाषा व्यापक है; उसमें मार्ग-विभाग, गुणों और अलंकारों की स्थिति एवं दोषों के परिहार का अध्याहार स्वतः हो जाता है।

अग्निपुराण इस संबन्ध में दण्डी का अनुसरण करता है। दण्डी के काव्यशरीर के लक्षण को उसमें काव्य की परिभाषा के रूप में ग्रहण किया गया

---

१. अलंकारश्च दर्शितः। २. पदावलिः।

है; तु० ३३७.६: **संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली [काव्यम्]**। दूसरी ओर भामह, रुद्रट, वामन, आनन्दवर्धन, मम्मट, विद्यानाथ आदि आचार्य शब्दार्थयुगल को काव्य मानते हुए शब्द और अर्थ दोनों पर समान बल देते हैं। उक्त आचार्यों द्वारा प्रदत्त काव्य-परिभाषा इस प्रकार है :

भामह (१.१६): **शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**।

रुद्रट (२.१): **शब्दार्थौ काव्यम्**।

वामन (१.१.१ वृत्ति): **काव्यशब्दोऽयं गुणालंकारसंस्कृतयोः शब्दार्थयोर्वर्तते**।

आनन्दवर्धन (ध्वन्या० १.१ वृत्ति): **शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्**।

मम्मट (**काप्र० १.४**): **तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि**।

विद्यानाथ (**प्रताप० २.१**): **गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ (काव्यम्)**।

उक्त आचार्यों ने प्रायः गुण, अलंकार और दोषाभाव को अपनी काव्य-परिभाषा में उल्लिखित किया है।

जगन्नाथ की काव्य-परिभाषा दण्डी की काव्य-परिभाषा से विशेष रूप से तुलनीय है। उसके अनुसार रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द(–समूह) काव्य है : **रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्** (रस० पृ० १०)। दण्डी ने भी लगभग यही बात कही है, परन्तु जहाँ उसका **इष्ट अर्थ** केवल हृद्य अथवा विवक्षित अर्थ है, वहाँ जगन्नाथ का **रमणीय अर्थ** अलौकिक आनन्द का हेतु है और रस-सापेक्ष है। दूसरी ओर, दण्डी की काव्य-परिभाषा में रस का उल्लेख नहीं है; काव्य की आत्मा का संकेत भी उसमें नहीं है। काव्य-परिभाषा में रस का स्पष्ट समावेश विश्वनाथ, जयदेव और माणिक्यचन्द्र में मिलता है। विश्वनाथ के अनुसार रसात्मक वाक्य काव्य है : **वाक्यं रसात्मकं काव्यम्** (**साद० १.३**)। जयदेव ने अपनी काव्य-परिभाषा में दोष, लक्षण, रीति, गुण, अलंकार, रस और वृत्ति—इन सभी का समावेश किया है; तु० **चन्द्रा० १.७** : **निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता। सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्य-नामभाक्॥**

गद्यं पद्यं[1] च मिश्रं च तत्त्रिधैव व्यवस्थितम्।
पद्यं चतुष्पदी तच्च वृत्तं जातिरिति द्विधा॥११॥

काव्यस्वरूपं निरूप्याधुना तद्भेदानाह—गद्यमिति। तत् पूर्वोद्दिष्टं काव्यं

१. पद्यं गद्यं।

गद्यं छन्दोरहितम् अमिताक्षरम्, पद्यं छन्दोबद्धं मिताक्षरम्, मिश्रं गद्यपद्योभयात्मकम् इति त्रिधैव त्रिप्रकारेणैव व्यवस्थितं सिद्धान्तितं वर्तते प्राचीनैराचार्यैरिति शेषः। तत्र पद्यं चतुष्पदी चतुर्भिः पादैर्निबद्धं भवति, तच्च पद्यं वृत्तं जातिः इति द्विधा विभक्तं (द्विविधं) भवति। वृत्तम् अक्षरसंख्यया नियम्यते जातिश्च मात्रासंख्यया नियमिता भवति। इत्थं मन्दाक्रान्ताशिखरिणीशार्दूलविक्रीडितादीनि वृत्तरूपाणि, आर्यागीतिप्रभृतीनि च जातिरूपाणि वर्तन्ते।

वह (काव्य) गद्य, पद्य और मिश्र—इन तीन भेदों में विभक्त है। (इनमें से) पद्य चार पादों वाली छन्दोबद्ध रचना को कहते हैं। इस पद्य के दो भेद हैं : वृत्त और जाति।

रूप की दृष्टि से काव्य के तीन भेद हैं—गद्य, पद्य और मिश्र। भाषा के स्वाभाविक रूप को गद्य कहते हैं; यह रूप छन्दोरहित होता है। पादों अथवा चरणों में निबद्ध छन्दोबद्ध रचना को पद्य कहते हैं। गद्य और पद्य का मिश्रित काव्य-रूप मिश्र है। इसके अन्तर्गत नाटक आदि आते हैं। चम्पू नामक काव्यविधा भी गद्यपद्यमिश्रित होती है (द्र० १.३१)। पद्य को चतुष्पदी इसलिए कहा गया है कि साधारणतः इसके चार चरण होते हैं (षट्पदी छन्द इसके अपवाद रूप हैं)। छन्दोरूप की दृष्टि से इसके दो भेद हैं; अक्षरों (वर्णों) की संख्या से नियमित होने वाले मन्दाक्रान्ता आदि छन्द वृत्त कहलाते हैं तथा मात्राओं की संख्या से नियमित होने वाले आर्या, गीति आदि छन्द जाति अथवा मात्रिक छन्द कहे जाते हैं।

भामह (१.१६) ने मिश्र भेद का उल्लेख नहीं किया है। दूसरी ओर, **अग्निपुराण** (३३७.८) के लेखक एवं भोजदेव (**सरस्व०** २.१८) आदि ने इसकी पृथक् चर्चा की है।

छन्दोविचित्यां सकलस्तत्प्रपञ्चो निदर्शितः।
सा विद्या नौस्तितीर्षूणां[1] गम्भीरं काव्यसागरम् ॥१२॥

वृत्तजातिभेदेन पद्यस्य द्विप्रकारत्वमाख्याय तत्प्रपञ्चः शास्त्रान्तरविषय इति निर्दिशन्नाह—**छन्दोविचित्या**मिति। सकलः समग्रः तत्प्रपञ्चः तयोर्वृत्तजात्योः प्रपञ्चः विस्तारः छन्दोविचित्यां (छन्दांसि विचीयन्ते संगृह्यन्तेऽत्रेति विज्ञायन्तेऽनयेति वा छन्दोविचितिः तस्यां) छन्दःशास्त्रे निदर्शितः निरूपित उदाहृतो वा वर्तते। सा विद्या छन्दोविद्या (छन्दःशास्त्रं) गम्भीरम् अगाधं दुरवगाहं काव्यसागरं काव्यप्रबन्धरूपम् अर्णवं तितीर्षूणां तर्तुम् इच्छूनां, काव्य-

---

१. नौर्विविक्षूणां, –विवक्षूणां।

प्रबन्धं रिरचयिषूणां जनानामिति भावः, नौः पोतः पोततुल्योऽस्ति।

उन (वृत्त और जाति नामक पद्यभेदों) का समग्र विस्तार छन्दःशास्त्र में किया गया है। वह शास्त्र गंभीर काव्यरूपी समुद्र को पार करने के इच्छुक (=कविकर्म के आकांक्षी) व्यक्तियों के लिए नाव (के समान) है।

तरुणवाचस्पति एवं **हृदयंगमा** के अनुसार छन्दोविचिति **पिङ्गलच्छन्दःसूत्र** है। प्रेमचन्द्र तर्कवागीश और जैकोबी इस नाम की दण्डी की रचना मानते हैं। पी. पीटरसन और ए. बी. कीथ का अनुमान है कि यह **काव्यादर्श** का ही परिशिष्ट ग्रन्थ था। वस्तुतः यहाँ छन्दोविचिति छन्दःशास्त्र के सामान्य अर्थ में आया है (तु० **रत्नश्री**)। इस अर्थ में यह शब्द **आपस्तम्बधर्मसूत्र** (२.४.८.११), पाणिनि (४.३.७३) के ऋगयन गण, कौटिल्य के **अर्थशास्त्र** (१.३.३), वामन के **काव्यालंकारसूत्र** (१.३.३,६) आदि में आया है। दण्डी के प्रस्तुत श्लोक के **सा विद्या** से भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है।

मुक्तकं कुलकं कोषः[1] संघात इति तादृशः।
सर्गबन्धाङ्ग[2]रूपत्वादनुक्तः पद्यविस्तरः ॥१३॥

सर्गबन्धं महाकाव्यं निरूपयिष्यन् तदवान्तरभेदानां मुक्तकादीनां तदन्तर्गतत्वात् पृथग् वर्णनस्यानुपयोगित्वं दर्शयन्नाह—**मुक्तकमिति**। मुक्तकं पद्यान्तरमुक्तं श्लोकान्तरनिरपेक्षम् एकमेव पद्यम्, कुलकं समाप्तिबोधकक्रियान्वये परस्परैकवाक्यतापन्नः एकाधिकश्लोकसमूहः, कोषः अन्योन्यनिरपेक्षाणां श्लोकानां कोषः समूह आकरग्रन्थ इति यावत्, संघातः एकेनैव वृत्तेन परिमितस्यार्थस्य कथावस्तुभागस्य वा वर्णनम् इति तादृशः एवंप्रकारः पद्यविस्तरः पद्यभेदानां प्रपञ्चः सर्गबन्धस्य महाकाव्यस्य वक्ष्यमाणस्य अङ्गरूपत्वाद् अवयवरूपत्वात्, ते पद्यभेदा महाकाव्यस्यैव अङ्गभूताः सन्ति इति हेतोः, अनुक्तः न प्रदर्शितः, अस्मिन् ग्रन्थे इति शेषः।

मुक्तक, कुलक, कोष और संघात (आदि) भेद सर्गबन्ध (महाकाव्य) के अङ्ग मात्र हैं, इसलिए (यहाँ) इन पद्यरूपों का विस्तार नहीं किया गया है।

मुक्तक आदि का अन्तर्भाव महाकाव्य में हो जाता है। इसलिए आचार्य दण्डी ने यहाँ इनकी विस्तृत चर्चा नहीं की है। इनमें मुक्तक अन्य पद्य से मुक्त (निरपेक्ष या स्वतन्त्र) एक पद्य को कहते हैं। जहाँ एक ही पद्य वाक्य और वर्ण्यवस्तु की दृष्टि से पूर्ण हो, अर्थात् वाक्यान्वय और विषय की पूर्णता की दृष्टि से अन्य पद्य की अपेक्षा न रखता हो, वहाँ मुक्तक की स्थिति होती है।

---

१. कोशः। २. –बन्धांश–।

अग्निपुराण (३३७.२३-४) के अनुसार इसकी परिभाषा है : **मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।** अमरुशतक के अलग-अलग श्लोक मुक्तक के सुन्दर उदाहरण हैं। कुलक वाक्यान्वय की दृष्टि से परस्पर-संबद्ध श्लोकसमूह का नाम है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने पांच श्लोकों के ऐसे समूह को कुलक माना है, एवं दो, तीन और चार श्लोकों के ऐसे समूह को क्रमशः युग्मक, संदानितक और कलापक कहा है। विश्वनाथ (**साद० ६.३१४-५**) ने इनकी परिभाषा इस प्रकार की है : **छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्। द्वाभ्यां तु युग्मकं संदानितकं त्रिभिरिष्यते ॥ कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्।** एक अन्य परंपरा के अनुसार दो श्लोकों से युग्म, तीन से विशेषक, चार से कलापक और इससे अधिक श्लोकों से कुलक बनता है। यह मत अधिक तर्कसंगत प्रतीत होता है। कोष मुक्तक पद्यों का समूह है। इसकी परिभाषा है : **कोषः श्लोक-समूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः ॥ व्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः।** (**साद० ६.३२९-३०**)। **आर्यासप्तशती, सुभाषितावली** आदि कोष के रूप हैं। संघात परिमित कथावस्तु से युक्त एवं एक ही छन्द में ग्रथित प्रबन्धात्मक रचना है। इसकी परिभाषा इस प्रकार है : **यत्र कविरेकमर्थं वृत्तेनैकेन वर्णयति काव्ये। संघातः स निगदितो वृन्दावन-मेघदूतादिः ॥** इस प्रकार यह खण्डकाव्य से तुलनीय है। **मेघदूत** संघात का सुन्दर निदर्शन है। रत्नश्रीज्ञान के मत में वर्षा आदि एक ही विषय को लेकर लिखी गई पद्यरचना संघात है। इसके अनुसार **ऋतुसंहार** संघात का उदाहरण है। अभिनवगुप्त (**ध्वन्या० लोचन ३.७**) ने इस काव्यरूप को पर्यायबन्ध माना है।

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ॥१४॥

पूर्वसंकेतितं महाकाव्यं लक्षयति—**सर्गबन्ध** इत्यादिभिः षड्भिः श्लोकैः (१४-९)। प्रस्तुते श्लोके महाकाव्यबन्धं तन्मुखं च वर्णयत्याचार्यः। महाकाव्यं सर्गैः प्रबन्धावान्तरप्रकरणैः बन्धः बन्धनं रचना वा यस्य स सर्गबन्धः सर्ग-बद्धकाव्यप्रबन्धः भवति। तस्य महाकाव्यस्य लक्षणं स्वरूपमुच्यते आशीरित्या-दिना। आशीः शुभाशंसनम्, नमस्क्रिया नमस्कारो देवगुरुपित्राद्यभिवादनं शब्दोपनिबद्धम्, अथवा वस्तुनिर्देशः प्रकृतस्य वस्तुनः तद्भागस्य वा निर्देशः कथनं प्रकारान्तरेण वा सूचनं तन्मुखं तस्य महाकाव्यस्य मुखं प्रारम्भः भवति, महा-काव्यस्य प्रारम्भः आशीर्वचनेन, नमस्क्रियया, वस्तुनिर्देशेन वा स्यादिति भावः।

महाकाव्य सर्गों में निबद्ध रचना को कहते हैं। उसकी परिभाषा (इस प्रकार) की जाती है: आशीर्वचन, (देव, गुरु आदि का शब्दों द्वारा)

नमस्कार अथवा वस्तुनिर्देश द्वारा उस का प्रारम्भ होता है।

सर्गबन्धो महाकाव्यम् महाकाव्य के लक्षण का यह अंश भामह (१.१९) में भी इसी रूप में आया है। दण्डी महाकाव्य में सर्गों की संख्या के संबन्ध में मौन है। वाद के काव्यशास्त्रियों ने इसमें आठ से अधिक सर्गों का होना आवश्यक माना है। उन्होंने यह भी निर्दिष्ट किया है कि एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग हो; सर्ग के अन्त में छन्द-परिवर्तन हो; सर्गान्त में आगामी सर्ग की कथा का संकेत हो; और सर्ग में वर्णित कथाभाग के आधार पर सर्ग का नामकरण हो (तु० विश्वनाथ : **साद०** ६.३२०-५)। सर्गों के संबन्ध में दण्डी ने केवल यही कहा है कि सर्ग अधिक विस्तृत न हों, उनमें श्रुतिसुखद छन्दों का प्रयोग हो, वे परस्पर सुसंवद्ध हों तथा उनमें भिन्न वृत्तान्तों का वर्णन हो (द्र० १.१८-९)।

महाकाव्य का आरम्भ मङ्गलाचरण से या वस्तुनिर्देश से होना चाहिए। मङ्गलाचरण आशीर्वादात्मक या नमस्कारात्मक हो सकता है। नीतिवर्मा के **कीचकवध** तथा नीलकण्ठ दीक्षित के **शिवलीलार्णव** का आरम्भ आशीर्वाद से होता है। कालिदास ने **रघुवंश** का आरम्भ देव-वन्दना से किया है। कथावस्तु के निर्देश से प्रारम्भ होने वाले कतिपय काव्य हैं भारवि का **किरातार्जुनीय**, माघ का **शिशुपालवध** और श्रीहर्ष का **नैषधचरित**। संस्कृत के अधिकांश काव्य वस्तुनिर्देश से आरम्भ होते हैं, तथा उनमें वस्तुनिर्देश मङ्गलात्मक ढंग से होता है।

इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलोपेतं[1] चतुरोदात्तनायकम् ॥१५॥
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ॥१६॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ॥१७॥
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः[2] सुसंधिभिः ॥१८॥
सर्वत्र भिन्नवृत्ता[3]न्तैरुपेतं लोकरञ्जकम्[4]।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायेत[5] सदलंकृति ॥१९॥

महाकाव्यस्य सामान्यस्वरूपमुक्त्वाऽधुना तद्विशिष्टलक्षणानि निर्दिशति

---

१. -फलायत्तं। २. श्राव्यवृत्तैः। ३. -सर्गा- ४. -रञ्जनम्। ५. जायते।

—इतिहासेत्यादिना । वक्ष्यमाणस्वरूपं काव्यं महाकाव्यं कल्पान्तरस्थायि कल्पान्तरेऽपि तिष्ठति इति तत् तादृशं, चिरस्थायि इति भावः, जायेत भवेत् । कीदृशं तत्काव्यमिति तद् विशिनष्टि । (१) इतिहासकथोद्भूतम् ऐतिहासिक-कथामाश्रित्य प्रवृत्तम्, इतरद् अन्यद् वा काल्पनिकं किंतु सदाश्रयं सत्कथां सत्पुरुषं वाधारीकृत्य निबद्धं काव्यम्; (२) चतुर्वर्गफलोपेतं चतुर्णां धर्मार्थ-काममोक्षाणां वर्गः चतुर्वर्गः स एव (तद्रूपं वा यत्) फलं तेन उपेतं युक्तम्, धर्मादिफलप्रदमिति भावः (काव्यरचनया चतुर्वर्गफलसिद्धिर्जायते इति प्रसिद्धिः), अथवा चतुर्वर्गस्य तत्फलस्य वा वर्णनेन समन्वितम्; (३) चतुरोदात्तनायकं चतुरः कार्यकुशलः उदात्तः उदारगुणयुक्तः नायकः प्रधानपुरुषः यस्मिन् तथाभूतम्; (४) नगरादीनां वर्णनैः अन्यैश्च विविधैर्वर्ण्यविषयैः अलंकृतम् इति दूरेणान्वयः । तान् विषयान् विशिष्याह—नगरं पुरम्, अर्णवः समुद्रः, शैलः पर्वतः, चन्द्रार्कोदयः चन्द्रसूर्ययोः उदयः (तयोरस्तंगमनमपि अध्याहार्यम्), एतेषां वर्णनैः; अथ उद्यानं वाटिका, सलिलं जलं (सरित्सरोवरादिरिति भावः) तत्र क्रीडा उपवनक्रीडा जलविहारश्चेत्याशयः, मधुपानं मदिरापानम्, रतोत्सवः सुरतोत्सवः संभोगशृङ्गारः इत्येतैः; विप्रलम्भैः पूर्वराग-मान-प्रवास-करुणभेदैः विप्रलम्भशृङ्गारभावैः; विवाहैः अष्टविधैः परिणयव्यापारैः; कुमारोदयवर्णनैः कुमारोदयस्य पुत्रोत्पत्तेः वर्णनैः; अथ च मन्त्रः मन्त्रणा, राज्ञो नायकस्य वा मन्त्रिभिर्मित्रैर्वा सह परामर्शः, दूतः राजदूतः (निःसृष्टार्थ-परिमितार्थ-संदेशहर-भेदात् त्रिविधः), प्रयाणं विजययात्रा, आजिः युद्धं, नायकाभ्युदयः नायकस्य उत्कर्षः विजयादिना समुन्नतिः इत्येतैर्वर्ण्य-विषयैः अलंकृतं शोभितम्; (५) असंक्षिप्तम् अतिसंक्षेपरहितम्; (६) रसभाव-निरन्तरं रसैः शृङ्गारादिभिः भावैः प्राधान्येनाभिव्यक्तैः संचारिभावैः निरन्तरं परिपूर्णम्; (७) अनतिविस्तीर्णैः नात्यन्तविस्तृतैः श्रव्यवृत्तैः श्रुतिसुखदच्छन्दोनिबद्धैः सुसंधिभिः परस्परं सम्यक्संहितैः तथा च सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैः विविधवृत्तान्तसमन्वितैः, अथवा भिन्नेन वृत्तेन च्छन्दसा भिन्नैर्वा तैरन्तो येषां तैः, अवसान-भिद्यमानवृत्तैरिति भावः, एतादृशैः सर्गैः काव्य-प्रकरणैः उपेतं समन्वितम्; (८) लोकरञ्जकं सहृदयजनमनोहरम्; अथ च (९) सदलंकृति सत्यः विद्यमानाः अथवा शोभनाः अलंकृतयः उपमारूपकादयो वक्ष्यमाणाः यस्मिन् तादृशम् । उक्तैर्विशिष्टलक्षणैर्लक्षितं महाकाव्यं कल्पान्तरस्थायि भवतीति प्राङ् निर्दिष्टम् ।

(१) ऐतिहासिक कथा पर आधारित अथवा अन्य किसी काल्पनिक परन्तु उत्कृष्ट कथा (या पात्र) पर आश्रित; (२) चतुर्वर्ग (=धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के फल (के वर्णन) से युक्त; (३) व्यवहारकुशल एवं उदात्त नायक से समन्वित; (४) नगर, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यानक्रीडा, जलविहार, मदिरापान, संभोगशृङ्गार, विप्रलम्भशृङ्गार, विवाह,

पुत्रजन्म, (राजनीतिक) मन्त्रणा, दूत(संप्रेषण), विजययात्रा, युद्ध, नायक की विजय—इन (अथवा इस प्रकार के) वर्णनों से अलंकृत; (५) अतिसंक्षेप से रहित (=अपेक्षित विस्तारयुक्त); (६) रसों और भावों (के वर्णन) से परिपूर्ण; (७) साधारण विस्तार वाले, श्रुतिसुखद छन्दों में निबद्ध, परस्परसंबद्ध एवं भिन्न घटनाओं से समुपेत (अथवा अन्त में भिन्न छन्दों वाले) सर्गों में विभक्त; (८) सहृदयजन-मनोहारी; और (९) श्रेष्ठ अलंकारों से युक्त महाकाव्य युगान्तरस्थायी (=चिरस्थायी कीर्ति वाला) होता है।

ऐतिहासिक कथा में पौराणिक कथा का भी अन्तर्भाव अपेक्षित है। **रघुवंश, कुमारसंभव, किरातार्जुनीय** आदि महाकाव्य इतिहास-पुराण से ली गई कथाओं पर आधारित हैं। **बुद्धचरित** अथवा उत्तरकालीन कवियों द्वारा अपने आश्रयदाताओं के या अन्य संत-महात्माओं के जीवन को लेकर लिखे गए काव्य (जैसे कनकसेनवादिराज का **यशोधरचरित**, पद्मगुप्त का **नवसाहसाङ्कचरित**, हरिचन्द्र का **धर्मशर्माभ्युदय** आदि) भी इस श्रेणी में आ जाते हैं। महाकाव्य की कथा काल्पनिक भी हो सकती है, परन्तु उसका सदाश्रय होना अर्थात् जीवन के किसी उदात्त पक्ष पर आश्रित होना आवश्यक है। महाकाव्य के सदाश्रयत्व का उल्लेख भामह (१.१९) ने भी किया है।

चतुर्वर्ग (=पुरुषार्थचतुष्टय) और उसके फल का वर्णन महाकाव्य में अभीष्ट है। भामह (१.२१) ने (धर्म, अर्थ आदि) चतुर्वर्ग के सामान्य वर्णन को महाकाव्य में अभीष्ट मानते हुए भी अर्थ के वर्णन को विशेष महत्त्व दिया है। **साहित्यदर्पण** (३.३१८) के अनुसार महाकाव्य में चार पुरुषार्थों का एवं उनमें से एक के फल का प्रधान रूप से वर्णन होना चाहिए।

नायक दक्ष और उदात्त हो। दण्डी का उदात्त नायक उत्तरवर्ती युग के धीरोदात्त नायक से तुलनीय है। नायक के अन्य भेद हैं धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त, जिनका उल्लेख दण्डी में नहीं है। नायक के साथ प्रतिनायक की उपस्थिति भी दण्डी को अभीष्ट है; इस संबन्ध में उसने अपना मत (१.२१-२) में प्रस्तुत किया है।

नगर, समुद्र, पहाड़ आदि का प्रसङ्गोपात्त वर्णन महाकाव्य में आवश्यक है। संस्कृत महाकाव्य ऐसे वर्णनों से भरे पड़े हैं। **शिशुपालवध** के तृतीय सर्ग में द्वारका का वर्णन, उसी के चतुर्थ सर्ग में रैवतक पर्वत का, **रघुवंश** के तेरहवें सर्ग में समुद्र का और **कुमारसंभव** के तृतीय सर्ग में वसन्त ऋतु का वर्णन इसके सुन्दर उदाहरण हैं। भामह (१.२०) ने उक्त वर्ण्य विषयों में अन्तिम पाँच का दण्डी के आधार पर विशेष उल्लेख किया है (**मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।**)।

रसों में शृङ्गार आदि रस आते हैं। दण्डी ने रसवत् अलंकार के संदर्भ

में आठ रसों का उल्लेख किया है (२.२८०-९२)। रति आदि स्थायिभावों, प्रधान रूप से अभिव्यक्त निर्वेद, आवेग आदि संचारिभावों एवं देवता आदि से संबन्धित अनुराग आदि भावों को भाव के अन्तर्गत माना जाता है (विस्तार के लिए द्र० **साद०** ३)।

सुसंधिभिः सर्गैः का अर्थ "नाट्यलक्षणोक्त मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण नामक पाँच संधियों से युक्त सर्गों से" करना समीचीन नहीं, क्योंकि सर्ग एवं सर्गबद्ध महाकाव्य में इन संधियों की स्थिति अभीष्ट नहीं है (द्र० जीवानन्द विद्यासागर तथा रत्नश्रीज्ञान)। दूसरी ओर, भामह (१.२०) ने महाकाव्य को 'पाँच संधियों से युक्त' स्वीकार किया है।

भिन्नवृत्तान्तैः सर्गैः के दो अर्थ संभव हैं: (१) भिन्न वृत्तान्तों वाले सर्गों से; और (२) अन्त में भिन्न या परिवर्तित छन्द वाले सर्गों से। संस्कृत-महाकाव्यों के सर्गों में ये दोनों लक्षण घटित होते हैं। बाद के आचार्यों ने प्रायः दूसरे अर्थ को ग्रहण किया है, और अपनी बात को अधिक स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है; तु० **साद० ६.३२० : अवसानेऽन्यवृत्तकैः।**

भामहकृत महाकाव्य-परिभाषा (१.१९-२१) अधिक स्पष्ट नहीं है। उत्तरवर्ती युग में विश्वनाथ (**साद०** ६.३१५-२५) की परिभाषा सर्वाधिक मान्य रही है। उसकी परिभाषा में निम्नलिखित नई बातें आई हैं: महाकाव्य में एक नायक के बदले एक ही वंश के अनेक नायकों का वर्णन भी हो सकता है (जैसे **रघुवंश** में); उसमें प्रसङ्गवश दुष्टनिन्दा और सज्जनप्रशंसा होनी चाहिए; एक सर्ग में एक ही घटना का वर्णन हो तथा सर्गान्त में आगामी सर्ग की कथा का संकेत हो; काव्य का नाम कवि, कथा या कथानायक अथवा अन्य पात्र के नाम पर हो; और सर्ग में वर्णित कथाभाग के आधार पर सर्ग का नामकरण हो।

न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति[1]।
यद्युपात्तेषु[2] संपत्तिराराधयति तद्विदः ॥२०॥

किमुपरिवर्णितमहाकाव्यतत्त्वेषु सर्वेषां सामस्त्येन भाव एव महाकाव्यत्व-स्थितिः, अथवा तेषु केषांचिदभावेऽपि महाकाव्यत्वं स्वीक्रियेतेत्याशङ्कायामाह—**न्यून**मिति। यदि उपात्तेषु महाकाव्यविशेषे वर्ण्यरूपेण गृहीतेषु विषयेषु तस्मिन् समावेशयितुं वाऽङ्गीकृतेषु तत्त्वेषु संपत्तिः सम्यक्संपादनजनितं चारुत्वं तद्विदः काव्याभिज्ञान्, काव्यरसिकानिति भावः, आराधयति प्रसादयति तेषां मनांसि हरति, तर्हि अत्र निर्दिष्टेषु यैः कैश्चिद् अङ्गैः तत्त्वैः वर्ण्यविषयैर्वा न्यूनमपि हीनमपि

---

१. वर्ज्यते। २. यद्युपात्तार्थ-।

काव्यं महाकाव्यं न दुष्यति, न तद् महाकाव्यत्वं जहातीति निष्कृष्टार्थः । तदुक्तं भोजदेवेन—**नावर्णनं नगर्यादेर्दोषाय विदुषां मनः । यदि शैलर्तुरात्र्यादेर्वर्णनेनैव तुष्यति ॥ (सरस्व० ५.१३५)** ।

यदि (वर्ण्य विषय के रूप में) गृहीत तत्त्वों में (विद्यमान) चारुता काव्य-पारखियों के मन को प्रभावित कर ले, तो उक्त अङ्गों में से कुछ अङ्गों के न होने पर भी काव्य (=महाकाव्य) दूषित नहीं होता (अर्थात् उसका काव्यत्व बना रहता है) ।

महाकाव्य के लक्षण में वर्णित विविध तत्त्वों का महाकाव्य में साकल्येन होना उसकी अनिवार्य शर्त नहीं है । चाहे उक्त अङ्गों (तत्त्वों) या वर्ण्यविषयों में से कुछ न भी हों तो भी यदि महाकाव्य में विद्यमान तत्त्वों या वर्णित विषयों में मनोहारिता है तो वह महाकाव्य ग्राह्य होगा । वास्तव में महाकाव्य का महाकाव्यत्व उसके प्रधान अङ्गों के सामान्य रूप से ग्रहण में और, उसके साथ-साथ, सहृदयहृदयहारित्व में है । यहाँ यह आशङ्का की जा सकती है कि महाकाव्य के लक्षण के आंशिक अनुपालन से काव्य खण्डकाव्य का रूप धारण कर लेगा, क्योंकि खण्डकाव्य महाकाव्य का एकदेशानुसारी रूप होता है; द्र० **साद० ६.३२९ : खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च** । इसका समाधान यह है कि वस्तुतः खण्डकाव्य में एक कथाखण्ड का वर्णन होता है; वह महाकाव्य में वर्णित समग्र जीवन के 'एक देश' या भाग को ही लेकर चलता है । महाकाव्य के विभिन्न अङ्गों में से एक-दो अङ्गों के अनुपादान मात्र से कोई काव्य खण्डकाव्य नहीं बन जाता ।

गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम् ।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः ॥२१॥

महाकाव्यवर्ण्यविषयेषु नायकाभ्युदयोऽप्येकः, स च द्विधा वर्णयितुं शक्यः । तत्रैकं प्रकारं विवृण्वन्नाह—**गुणत** इति । प्राक् प्रथमं नायकं प्रधानपुरुषं गुणतः तद्गुणवर्णनद्वारा उपन्यस्य उपस्थाप्य, गुणवत्त्वेन तं कीर्तयित्वा, तेन नायकेन विद्विषां शत्रूणां निराकरणम् उच्छेदः इति एष मार्गः नायकाभ्युदयवर्णनक्रमः प्रकृतिसुन्दरः निसर्गहृद्यः वर्तते ।

सर्वप्रथम नायक के गुणों को प्रस्तुत करके उसके द्वारा (उसके) शत्रुओं के विनाश (का वर्णन करना)—(नायक का उत्कर्ष प्रतिपादित करने का) यह क्रम स्वभावतः मनोहारी है ।

नायक के अभ्युदय अथवा उत्कर्ष का वर्णन महाकाव्य के वर्ण्य विषयों में अन्यतम है । उसके अभ्युदय का वर्णन दो रीतियों से किया जा सकता है;

उसके शौर्य आदि गुणों का वर्णन करके, उसके द्वारा उसके शत्रुओं के विनाश का चित्रण एक क्रम है और शत्रु के वंश, पराक्रम आदि गुणों का वर्णन करके नायक द्वारा उसके उच्छेद का विवरण प्रस्तुत करना दूसरा क्रम है। **रामायण** में इनमें से पहला क्रम अपनाया गया है और **महाभारत** में दूसरा। दण्डी के मत में ये दोनों क्रम उपयुक्त अतश्च ग्राह्य हैं। प्रस्तुत श्लोक में इनमें से पहले क्रम की चर्चा की गई है। दूसरे क्रम का वर्णन अगले पद्य में है।

वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि।
तज्जयान्नायकोत्कर्षवर्णनं[1] च धिनोति नः ॥२२॥

नायकोत्कर्षवर्णनस्य द्वितीयं क्रममाह —**वंशवीर्ये**ति। रिपोः शत्रोः, प्रतिनायकस्येति भावः, अपि वंशवीर्यश्रुतादीनि वंशः कुलं वीर्यं पराक्रमः श्रुतं शास्त्रज्ञानम् (आदिना नीतिज्ञत्वदाक्षिण्यादिग्रहणम्) इतीदृशान् गुणान् वर्णयित्वा तज्जयात् नायकद्वारा तस्य रिपोः विजयात् नायकोत्कर्षवर्णनं नायकस्य उत्कृष्टतायाः प्रतिपादनं चापि नः अस्मान् धिनोति प्रीणयति तोषयतीति यावत्। नायकगुणोपन्यासात् प्राक् प्रतिनायकगुणान् कीर्तयित्वा नायकेन तदुच्छेदस्य वर्णनं तादृशस्यापि शत्रोर्जयात् नायकस्य उत्कर्षातिशयं बोधयति। नायकोत्कर्षप्रतिपादनस्यायं क्रमः **किरातार्जुनीये** दुर्योधनस्य प्रजारञ्जनादिवर्णनादनन्तरं पाण्डवकर्तृकस्य तज्जयस्योपन्यासेन स्वीकृतः। क्रमोऽयं भामहेन न समादृतः।

शत्रु के वंश, पराक्रम, शास्त्रज्ञान आदि (गुणों) का वर्णन करके (नायक द्वारा) उसका पराभव दिखाकर नायक की उत्कृष्टता प्रतिपादित करने (का यह क्रम) भी हमें अभीष्ट है।

काव्य के नायक की उत्कृष्टता प्रतिपादित करने का यह क्रम **किरातार्जुनीय** में विशेष रूप से द्रष्टव्य है जहाँ दुर्योधन के लोकरञ्जन आदि गुणों का वर्णन करके अन्ततः पाण्डवों द्वारा उसका विनाश दिखाया गया है। नायक की उत्कृष्टता प्रतिपादित करने की यह विधि भामह को मान्य नहीं है, क्योंकि उसके अनुसार यदि काव्य में प्रतिनायक की व्यापकता वाञ्छित नहीं है अथवा अन्ततः उसका अभ्युदय दिखाना अभीष्ट नहीं है तो आरम्भ में उसका ग्रहण और प्रशंसा व्यर्थ है; तु० १.२२-३ : **नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः। न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया ॥ यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते। न चाप्युदयभाक्तस्य मुधादौ ग्रहणं स्तवे ॥** दण्डी के पद्य, १.२१-२, भोज (**सरस्व०** ५.१३६-७) द्वारा इसी संदर्भ में उद्धृत किए गए हैं।

---

१. -कथनं।

अपादः पदसंतानो गद्यमाख्यायिका कथा ।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल ॥२३॥
नायकेनैव वाच्याऽन्या नायकेनेतरेण[1] वा ।
स्वगुणाविष्क्रिया दोषो नात्र[2] भूतार्थशंसिनः[3] ॥२४॥

पद्यगद्यमिश्रेषु पूर्वं पद्यं व्याख्याय संप्रति गद्यमुद्दिश्याह—**अपाद** इति । अपादः न विद्यते पादः पादव्यवस्था (छन्दःसु लक्ष्यमाणा) यस्य तादृशः पदसंतानः सुप्तिङन्तरूपः पदसमूहः गद्यं भवतीति शेषः । आख्यायिका कथा चेति तस्य गद्यस्य द्वौ प्रभेदौ प्रकारौ स्तः । तयोर्द्वयोर्मध्ये आख्यायिका किल नायकेन प्रधानपुरुषेण एव वाच्या आख्येया भवति, न तदितरेणेति भावः । किलेति स्वासंमतिसूचनार्थम् । अन्या कथा च नायकेन इतरेण तदन्येन वा केनापि वाच्या स्यात् । आख्यायिकायां नायक एव वक्ता भवति कथायां च नायको वा तदितरो वा कश्चिदित्यनयोः परंपराप्राप्तः भेदः । नन्वेवम् आख्यायिकादौ नायकेन स्वचरितकीर्तनम् आत्मविकत्थनारूपं स्यात्, तच्च न युक्तम् इति चेत्, तत्राह—अत्र आख्यायिकायां कथायां चेत्युभयत्र भूतार्थशंसिनः भूतार्थं वास्तविकमर्थं शंसति इति तादृशस्य यथार्थव्याहारिणो नायकस्य स्वगुणाविष्क्रिया आत्मगुणाविष्कृतिः, निजगुणवर्णनमिति यावत्, न दोषः न दुष्यति; नायकेन कृतं यथार्थवचनं निजगुणकीर्तनात्मकमपि सत् न दोषमावहतीति भावः । भामहस्तु कथावर्णनसंदर्भे नायकस्य स्वगुणोद्भावनप्रसङ्गमनुचितं मन्यते, आख्यायिकायां तु नायकेन स्ववृत्तं वर्ण्यमानम् अनुमोदते ।

(छन्द में लक्षित गणों अथवा मात्राओं से नियमित) पादों से रहित पद-समूह को गद्य कहते हैं। आख्यायिका और कथा उस गद्य के दो भेद (अथवा रूप) हैं। उनमें आख्यायिका नायक द्वारा ही कही जाती है और अन्य (=कथा) नायक द्वारा या किसी अन्य (पात्र) द्वारा भी कही जा सकती है। वस्तुतः इनमें यथार्थ का कथन करने वाले नायक द्वारा अपने गुणों का (प्रासङ्गिक) वर्णन दोष नहीं है।

जहाँ पद्य पाद-बद्ध रचना को कहते हैं, वहाँ गद्य पादरहित, छन्दोरहित रचना है। इसके पारंपरिक भेदों में आख्यायिका और कथा प्रमुख भेद हैं। दण्डी के अपने मत के अनुसार ये, और इसी प्रकार के अन्य, भेद निरर्थक हैं। अपने इसी दृष्टिकोण के अनुरूप उसने आख्यायिका और कथा की क्रम-बद्ध और परिपूर्ण परिभाषा नहीं दी है; केवल कतिपय भेदक तत्त्वों का, उनका खण्डन करते हुए, उल्लेख किया है। उक्त दोनों गद्य-रूपों की स्पष्ट परिभाषा

---

१. नायकादितरेण। २. नेह। ३. -शंसतः।

हमें भामह में मिलती है जो इस प्रकार है : **संस्कृतानाकुलश्रव्यशब्दार्थपदवृत्तिना। गद्येन युक्तोदात्तार्था सोच्छ्वासाऽऽख्यायिका मता॥ वृत्तमाख्यायते तस्यां नायकेन स्वचेष्टितम्। वक्त्रं चापरवक्त्रं च काले भाव्यर्थशंसि च॥ कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदङ्किता। कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता॥ न वक्त्रापरवक्त्राभ्यां युक्ता नोच्छ्वासवत्यपि। संस्कृतासंस्कृता चेष्टा कथाऽपभ्रंशभाक्तथा॥ अन्यैः स्वचरितं तस्यां नायकेन तु नोच्यते। स्वगुणाविष्कृतिं कुर्यादभिजातः कथं जनः॥** (१.२५-९)। इसके अनुसार आख्यायिका गद्यनिबद्ध रचना है; इसमें शब्द, अर्थ और समास सुबोध और श्रुतिसुखद होने चाहिएं; विषय उदात्त हो; उच्छ्वासों में इसका विभाजन हो; नायक अपना वृत्तान्त स्वयं कहे; कहीं-कहीं वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों के द्वारा भावी घटनाओं की सूचना हो; कवि के विशिष्ट अभिप्राय के सूचक कथनों से यह अङ्कित हो; और कन्याहरण, युद्ध, वियोग और नायक के अभ्युदय का इसमें वर्णन हो। दूसरी ओर, कथा ऐसी गद्यरचना है जिसमें वक्त्र, अपरवक्त्र छन्द नहीं होते एवं उच्छ्वास भी नहीं होते; जो संस्कृत या संस्कृत-भिन्न भाषा (प्राकृत या अपभ्रंश) में रचित होती है; और जिसमें कहानी नायक-भिन्न कोई अन्य पात्र कहता है क्योंकि, उसके अनुसार, अभिजात नायक द्वारा स्वगुणकीर्तन उचित नहीं है। भामह ने कथा में तो नायक द्वारा स्वगुणकथन पर आपत्ति की है, (और इस संबन्ध में स्पष्टतः दण्डी के अभिमत पर कटाक्ष किया है), परन्तु आख्यायिका में वह इस बात पर आपत्ति नहीं करता। भामह के अनन्तर रुद्रट (१६.२०-३०) ने उक्त दोनों गद्यरूपों की व्याख्या में उनके कुछ नये तत्त्व प्रस्तुत किए हैं। ये तत्त्व आख्यायिका के संबन्ध में बाण के **हर्षचरित** और कथा के संबन्ध में उसकी **कादम्बरी** में प्राप्त लक्षणों पर आधारित हैं। विश्वनाथ के **साहित्यदर्पण** (६.३३२-६) में इन गद्यरूपों की सुस्थिर और सर्वमान्य परिभाषा प्राप्त होती है।

अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात्।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदकारणम्[1] ॥२५॥

वक्तृभेदाधारितं कथाख्यायिकयोः परम्परीणं भेदं निराकरिष्यन्नाह—**अपि त्विति**। अपि तु किंच तत्रापि प्राचीनोक्तमतानुसारं नायकेनैव वाच्यायाम् आख्यायिकायामपि अन्यैः नायकेतरैः पुरुषैः उदीरणाद् वृत्तस्य वर्णनाद् अनियमः नियमाभावः, प्राचीनोक्तमतस्य भङ्ग इति यावत्, दृष्टः लक्षितो भवति। आख्या-

---

१. –लक्षणम्।

यिकानाम् अपि नायकादितरेण आख्यातानां दर्शनात् परंपराप्राप्तस्य मतस्य वैफल्यं भवतीत्याशयः। अथात्मनो मतं निर्दिशति—गद्यजातिषु अन्यः नायकभिन्नः स्वयं नायको वा वक्ता कथाख्यानकर्ता स्याद् इत्येवंरूपं भेदकारणं परस्परभेदहेतुः कीदृक् कीदृशम् ? न समीचीनमिति भावः। वक्तृभेदेनैव काव्यरूपभेदो न युक्तियुक्तः प्रतीयते इति दण्डिस्वमतम्।

और, उक्त (आख्यायिका) में भी कहानी का (नायक से भिन्न) अन्य व्यक्तियों द्वारा आख्यान होने से इस संबन्ध में नियमभङ्ग देखा जाता है। कहानी कहने वाला स्वयं नायक है अथवा उससे भिन्न कोई अन्य व्यक्ति है—यह भेद का कैसा कारण है ? (अर्थात् भेद का यह कारण उपयुक्त नहीं है।)

दण्डी के समक्ष ऐसे उदाहरण थे जहाँ परंपरा से आख्यायिका के रूप में प्रसिद्ध गद्यरचनाओं में कहानी नायकेतर व्यक्तियों द्वारा कही गई थी। बाण की आख्यायिका **हर्षचरित** में हर्ष की कहानी स्वयं हर्ष द्वारा आख्यात न होकर बाण द्वारा कही गई है। दूसरी ओर गुणाढ्य की (अनुपलब्ध) कथा, बृहत्कथा, में नरवाहनदत्त अपनी कहानी स्वयं कहता है।

वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छ्वासत्वं[1] च भेदकम्।
चिह्नमाख्यायिकायाश्चेत् प्रसङ्गेन कथास्वपि ॥२६॥
आर्यादिवत्प्रवेशः[2] किं न वक्त्रापरवक्त्रयोः।
भेदश्च दृष्टो लम्भादि[3]रुच्छ्वासो[4] वास्तु किं ततः ॥२७॥

पूर्वं वक्तृभेदकृतं कथाख्यायिकयोर्भेदं निरस्याधुना छन्दःकृतं कथानकांशव्यवच्छेदसंज्ञाविशेषकृतं च तयोर्भिन्नत्वं निराकुर्वन्नाह—**वक्त्रं** चेति। वक्त्रं चापरवक्त्रं च च्छन्दोभेदौ तौ सोच्छ्वासत्वं च उच्छ्वाससहितत्वं च चेद् आख्यायिकायाः भेदकं कथातः तद्भिन्नत्वप्रत्यायकं चिह्नं लक्षणम् आगृह्यते तर्हि तदुत्तरत्वेन कथ्यते यत् प्रसङ्गेन प्रसङ्गवशात् कथास्वपि वक्त्रापरवक्त्रयोः छन्दसोः आर्यादिवत् आर्यावृत्तस्य इव प्रवेशः समावेशः किं न भवति, भवत्येव इति दृढार्थः। यदि वक्त्रापरवक्त्रयोः समावेश आख्यायिकाया लक्षणं, तर्हि इदं लक्षणं कथायामपि लक्ष्यते, तस्यामपि तयोश्छन्दसोः प्रसङ्गेन प्रवेशादिति भावः। अथ च लम्भादिः लम्भः कथानकांशव्यवच्छेदसंज्ञाविशेषः तदादिः लम्भप्रभृतिः (आदिपदेन उल्लासादीनां ग्रहणम्) आख्यायिकाविषयः भेदः भेदकधर्मः कथायामपि दृष्टः लक्षितः भवति, कथाया अपि लम्भादिना कथानकांशव्यवच्छेदो दृश्यत इति भावः। अथवा उच्छ्वासः उच्छ्वासशब्दः एव लम्भशब्दस्थाने

१. साश्वासत्वं। २. प्रयोगः। ३. लम्बादिर्। ४. आश्वासो, अदृष्टो।

व्यवहृतः अस्तु, उच्छ्वाससंज्ञया कथानकांशव्यवच्छेदः स्यादिति भावः, किं ततः तेन किम्, न किमपीत्यर्थः। लम्भादिर्वा भेदो भवतु, उच्छ्वासादिर्वा, न तेन कश्चिद् विशेषो जायते। परिच्छेदा ह्यवश्यं संपाद्याः, ते च लम्भादिव्यपदेश्या वा स्युः, उच्छ्वासव्यपदेश्या वेति न कोऽप्यत्र व्यतिरेकः।

वक्त्र और अपरवक्त्र (छन्दों का प्रयोग) तथा उच्छ्वासयुक्त होना—यदि ये आख्यायिका के भेदक चिह्न हैं तो क्या प्रसङ्गवश कथाओं में भी, आर्या आदि छन्दों के समान, वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों का प्रयोग नहीं हो जाता? इसके अतिरिक्त, लम्भ आदि (शब्दों) द्वारा भी (कथा का) विभाजन देखा जाता है। अथवा यदि इसके लिए उच्छ्वास (शब्द) का व्यवहार किया जाए तो भी क्या (अन्तर पड़ता है)?

यहाँ वक्त्र और अपरवक्त्र छन्दों के प्रयोग को तथा उच्छ्वासों में विभाजन को आख्यायिका का लक्षण मानने के सिद्धान्त का युक्तियुक्त खण्डन किया गया है। दण्डी के अनुसार आख्यायिका के ये लक्षण कथा में भी देखे जा सकते हैं। दूसरी बात यह है कि कथानक-परिच्छेद का नाम चाहे लम्भ रखा जाए या उच्छ्वास, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। वक्त्र छन्द आठ वर्णों वाले चार चरणों का छन्द है। इसमें प्रथम अक्षर से परे नगण और सगण नहीं होते तथा चौथे अक्षर से परे यगण अवश्य होता है (**वक्त्रं नाद्यान्नसौ स्यातामब्धेर्योऽनुष्टुभि ख्यातम्**)। अपरवक्त्र में विषम पादों में दो नगण, एक रगण और लघु, गुरु तथा सम पादों में एक नगण, दो जगण और एक रगण होता है (**अयुजि ननरला गुरुः समे तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ**)। आर्या छन्द का लक्षण है : **यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या॥**

तत्कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयाङ्किता।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः॥२८॥

कथाख्यायिकयोः परस्परं भेदं निराकृत्य संप्रति स्वमतमुपसंहरति—**तत्कथेति**। तत् तस्मात् कथा आख्यायिका चेति संज्ञाद्वयाङ्किता संज्ञाद्वयेन नामभ्याम् अङ्किता कथिता अपि वस्तुतः एका अभिन्ना जातिः गद्यजातिः वर्तते। कथाख्यायिकयोर्न कश्चिद् वास्तविको भेद इत्यर्थः। अथ च शेषाः अवशिष्टाः कथाख्यायिकाव्यतिरिक्ताः आख्यानजातयः गद्यकाव्यभेदाः अत्रैव कथाऽऽख्यायिका चेति नामद्वयाङ्कितायां गद्यजात्यामेव अन्तर्भविष्यन्ति समाविष्टाः भविष्यन्ति। एवमेकैवानेकनामभाग् गद्यजातिरिति भावः।

इसलिए कथा और आख्यायिका—ये दो पृथक् नामों से अभिहित एक

ही (अभिन्न) गद्यजाति (=गद्यरूप) हैं। शेष आख्यान-भेद भी इन्हीं में अन्तर्भूत हो जाते हैं।

दण्डी के अनुसार, इस प्रकार न केवल कथा और आख्यायिका में, अपितु अन्य गद्यरूपों में भी परस्पर कोई अन्तर नहीं है। उसका यह अभिमत तर्कसंगत होते हुए भी (तु० **रत्नश्री** १.२७) उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा मान्य नहीं हुआ। इन आचार्यों ने न केवल कथा और आख्यायिका के बीच अन्तर को कायम रखा, अपितु अन्य गद्यकाव्य-भेदों की भी चर्चा की। **अग्निपुराण** के लेखक ने पाँच भेदों का उल्लेख किया है : **आख्यायिका कथा खण्डकथा परिकथा तथा। कथानिकेति मन्यन्ते गद्यकाव्यं च पञ्चधा ॥** (३३७.१२)। हेमचन्द्र ने **काव्यानुशासन** (पृ० ४०६-८) में उक्त भेदों में से प्रथम चार का एवं आख्यान, निदर्शन, प्रवह्लिका, मतल्लिका, मणिकुल्या, बृहत्कथा, सकलकथा और उपकथा का उल्लेख किया है। इनमें से अधिकांश का उल्लेख भोजदेव के **शृङ्गार०** (११, पृ० ४६१, ४६६) में भी है; द्र० वे० राघवन् : **शृङ्गारप्रकाश (एक अध्ययन)**, पृ० ६०८-२६।

कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयादयः ।
सर्गबन्धसमा एव नैते[1] वैशेषिका गुणाः ॥२९॥

कथाख्यायिकादीनाम् आख्यानजातीनामभेदं प्रतिपाद्य संप्रति आख्यायिकालक्षणत्वेन परंपराप्रसिद्धकन्याहरणादिवर्णनस्य काव्यमात्रसाधारणगुणत्वमाह—**कन्याहरणेति** । कन्याहरणम् अव्यूढायाः कन्यायाः बलाद् ग्रहणं, राक्षसोद्वाह इत्यर्थः, संग्रामः युद्धं, विप्रलम्भः विप्रलम्भशृङ्गारश्चतुर्विधः (अनेन संभोगशृङ्गारस्यापि ग्रहणं तस्य विप्रलम्भोत्तरभावत्वात्), उदयः नायकस्य अभ्युदयः सूर्यचन्द्रयोर्वा उदयः, आदिना नगरार्णवप्रभृतयः पूर्वोक्ताः वर्ण्यविषयाः गृह्यन्ते, एते आख्यायिकाधर्मत्वेन परंपराप्राप्ताः गुणाः धर्माः सर्गबन्धसमाः महाकाव्यसाधारणाः एव सन्ति; वस्तुतस्तु काव्यमात्रसाधारणा इमे गुणाः। एवमिमे गद्यकाव्यभेदभूतायां कथायामपि संभवन्त्येव एषां काव्यमात्रसाधारणत्वात्। उक्तं द्रढयति—एते पूर्वोक्ताः गुणाः वैशेषिकाः काव्यभेदविशेषधर्माः (आख्यायिकामात्रधर्मा इति गतार्थः) न सन्ति।

कन्याहरण, युद्ध, विप्रलम्भ शृङ्गार और (नायक का) अभ्युदय (अथवा सूर्य एवं चन्द्र का उदय) आदि विषय महाकाव्य के समान ही (आख्यायिका आदि में) होते हैं। वस्तुतः ये गुण (आख्यायिका जैसे) काव्यरूपविशेष से

---

१. न ते।

संबन्धित नहीं हैं।

कन्याहरण आदि का वर्णन परंपरा से आख्यायिका के साथ जोड़ा गया है। भामह (१.२७) ने उक्त परंपरा का अनुसरण करते हुए आख्यायिका को कन्याहरण, युद्ध, विप्रलम्भ शृङ्गार और नायकाभ्युदय (के वर्णन) से युक्त कहा है (**कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोदयान्विता**)। दण्डी अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के अनुसार उक्त परंपरा का खण्डन करता है। उसके मत में कन्याहरण आदि विषय महाकाव्य में भी वर्णित हो सकते हैं। महाकाव्य-निरूपण के प्रसङ्ग में उसने नगर, समुद्र आदि अनेक वर्ण्य विषयों का उल्लेख किया है (१.१६-७)। उन्हीं के समान कन्याहरण आदि विषय भी महाकाव्य में आ सकते हैं, और यदि ये पद्यप्रबन्ध रूप महाकाव्य में आ सकते हैं तो गद्यप्रबन्ध रूप कथा में क्यों नहीं आ सकते ? वस्तुतः दण्डी उक्त वर्ण्यविषयों को काव्यमात्र साधारण मानता है, चाहे उसने स्पष्ट शब्दों में ऐसा नहीं कहा है।

कविभावकृतं चिह्नमन्यत्रापि[1] न दुष्यति।
मुखमिष्टार्थसंसिद्धयै[2] किं हि न स्यात्कृतात्मनाम् ॥३०॥

आख्यायिकालक्षणत्वेन परम्पराप्रथितस्य कविभावकृतचिह्नसमावेशस्यापि काव्यमात्रसाधारणधर्मत्वं निर्दिशन्नाह—**कविभावेति**। यत्खलु आख्यायिकाधर्मत्वेन परंपरया गृहीतं **कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदङ्किता** इत्यादिना च भामहेनाङ्गीकृतम्, तत् तादृशं कविभावकृतं कवेरभिप्रायविशेषेण कृतं तेन रचितं चिह्नं, बन्धचिह्नमिति भावः, अन्यत्रापि आख्यायिकाभिन्नेषु अन्येष्वपि काव्यभेदेषु महाकाव्यादिषु कथादिषु चापि न दुष्यति न दोषमावहति। वस्तुतश्च भारविमाघादिरचितमहाकाव्येष्वेतादृशं बन्धचिह्नम् उपलभ्यते। तदेव प्रकारान्तरेण समर्थयति—इष्टार्थसंसिद्धयै अभिप्रेतार्थसंसाधनाय कृतात्मनां बुद्धिमतां किं हि वस्तु मुखम् आरम्भः उपायो वा न स्यात् न भवेत्, सर्वमपि तैः प्रयुक्तं तेषामभीष्टसंपादनोपायो भवतीत्यर्थः।

कवि द्वारा किसी विशेष अभिप्राय से (काव्य में) निबद्ध चिह्न (आख्यायिका के अतिरिक्त) अन्य काव्यभेदों में भी दोष का कारण नहीं बनता। अपने अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए, बुद्धिमान् (कवियों) द्वारा प्रयुक्त कौन-सी वस्तु, साधनरूप नहीं बन जाती ?

कवि के विशेष अभिप्राय के द्योतक विशिष्ट चिह्नों की योजना, परंपरा के अनुसार, आख्यायिका का लक्षण है। भामह ने इस परंपरा का अनुसरण

---

१. अन्यत्रापि। २. संसिद्धौ।

करते हुए आख्यायिका को **कवेरभिप्रायकृतैः कथनैः कैश्चिदङ्किता** (१.२७) कहा है। दण्डी इस परंपरा का विरोध करता है; उसके अनुसार ऐसे विशिष्ट चिह्नों की योजना अन्य काव्यरूपों में भी की जा सकती है—गद्यकाव्यरूपों में भी और पद्यकाव्यरूपों में भी। वस्तुतः संस्कृत महाकाव्यों में ऐसे विशिष्ट चिह्न प्रायः मिलते हैं; उदाहरणार्थ, **किरातार्जुनीय** के प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'लक्ष्मी' शब्द, **शिशुपालवध** के सर्गों के अन्त में 'श्री' शब्द एवं **नैषधचरित** के सर्गान्त में 'आनन्द' शब्द मिलता है। दूसरी ओर, आख्यायिका आदि गद्यभेदों के उपलब्ध उदाहरणों में ऐसे बन्धचिह्न नहीं मिलते। इस तथ्य को देखते हुए यह शङ्का की जा सकती है कि संभवतः 'कविभावकृत चिह्न' से कुछ अन्य अभिप्राय हो; डा० वे० राघवन् ने **शृङ्गारप्रकाश** के अपने अध्ययन (पृ० ६१७) में उक्त चिह्न के 'लक्ष्मी' या 'श्री' जैसा 'बन्धचिह्न' होने में संदेह किया है, यद्यपि तरुणवाचस्पति और रत्नश्रीज्ञान जैसे प्राचीन व्याख्याकारों ने उसका अर्थ 'बन्धचिह्न' ही किया है।

मिश्राणि नाटकादीनि तेषामन्यत्र विस्तरः।
गद्यपद्यमयी काचिच्चम्पूरित्यभिधीयते ॥३१॥

पद्यं गद्यं च व्याख्याय मिश्रं संक्षेपेणाह—**मिश्राणीति**। नाटकादीनि नाटकं दृश्यकाव्यं रूपकभेदः, आदिना प्रकरणादिरूपकभेदानां नाटिकाद्युपरूपकभेदानां च ग्रहणम्, तानि सर्वाणि मिश्राणि गद्यपद्योभयमिश्रत्वाद् मिश्रपदव्यपदेश्यानि सन्ति। तेषां मिश्रकाव्यानां नाटकादीनाम् अन्यत्र भरतकृतनाट्यशास्त्रादौ विस्तरः विस्तरेण निरूपणं कृतमस्ति; तद्विस्तरस्तु नास्य ग्रन्थस्य विषय इति भावः। श्रव्यकाव्यभेदोऽपि कश्चिद् मिश्रकाव्यरूपम् इति तन्निर्दिशति—गद्यपद्यमयी गद्यपद्योभयात्मिका काचिद् विशिष्टस्वरूपा कथाशरीरा मिश्रजातिः चम्पूः इति अभिधीयते कथ्यते। काचिदिति शब्देन न यापि कापि गद्यपद्यमयी रचना चम्पूपदवाच्येति सूच्यते, तेन **गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते** (साद० ६.३३७) इत्येवं परिभाषितस्य राजस्तुत्यात्मकस्य विरुदस्यात्राग्रहणम्। आख्यायिकादावपि क्वचित् पद्यसद्भावः, परं तत्र गद्यस्यैवाधिक्यम्; मिश्रत्वं तु नाम गद्यपद्ययोः प्रायेण समानुपातः। एवं नाख्यायिकादीनां मिश्रसंज्ञकत्वप्रसक्तिः, चम्पूपदाभिधानावसरो वा।

नाटक आदि (दृश्यकाव्यभेद) मिश्रकाव्य के रूप हैं। उनका विस्तृत निरूपण अन्यत्र (नाट्यशास्त्र आदि में) किया गया है। गद्यपद्यमिश्रित मिश्रकाव्य का एक विशिष्ट (कथानकबद्ध) रूप चम्पू नाम से अभिहित किया जाता है।

पद्य और गद्य के निरूपण के अनन्तर दण्डी ने यहाँ मिश्र नामक काव्यभेद की संक्षिप्त चर्चा की है। गद्य और पद्य के मिश्रित काव्यरूप का नाम मिश्र है। नाटक आदि दृश्यकाव्य मिश्र के रूप हैं। चम्पू मिश्रकाव्य का अन्य रूप है। दण्डी ने इसकी स्पष्ट परिभाषा नहीं दी है। इस काव्यरूप के उपलब्ध उदाहरणों (जो दण्डी से लगभग ढाई सौ वर्ष बाद से मिलने शुरू होते हैं) के आधार पर कहा जा सकता है कि यह कथानकबद्ध गद्यपद्यमिश्रित काव्यभेद है। यह एक ओर कथा, आख्यायिका आदि से इस रूप में भिन्न है कि इसमें गद्य और पद्य प्रायः समानुपात में आते हैं, जब कि कथा आदि में कभी-कभार ही पद्य के दर्शन होते हैं। दूसरी ओर यह गद्यपद्यमिश्रित विरुद नामक काव्यभेद से भिन्न है जिसमें किसी राजा की प्रशस्ति होती है। संस्कृत में **नलचम्पू, यशस्तिलकचम्पू** आदि चम्पूकाव्य के उपलब्ध ग्रन्थ हैं। रत्नश्रीज्ञान ने (आर्यशूर की) **जातकमाला** (चौथी शताब्दी ईस्वी) को भी चम्पू माना है।

तदेतद्[1] वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा ।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुरार्या[2]श्चतुर्विधम् ॥३२॥

शरीरभेदकृतं त्रैविध्यं काव्यस्य निरूप्याधुना भाषाभेदकृतं चातुर्विध्यं निर्दिशति—**तदेत**दिति। तत् पूर्वोक्तम् एतद् वाङ्मयं वागात्मकं काव्यशरीरम् आर्याः आचार्याः भूयः पुनरपि संस्कृतं, प्राकृतम्, अपभ्रंशः, मिश्रं (विविधभाषामयं) चेति चतुर्विधम् आहुः वर्णयन्ति।

उक्त वाङ्मय (=वागात्मक काव्य) को आचार्यों ने पुनः संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र—इन चार विधाओं में बाँटा है।

भामह (१.१६) ने भाषा की दृष्टि से काव्यशरीर के प्रथम तीन रूप ही माने हैं। भोज ने दण्डी के अनुसार चारों रूपों को मान्यता दी है।

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः[3] ।
तद्भवस्तत्समो[4] देशीत्यनेकः प्राकृतक्रमः ॥३३॥

संस्कृतप्राकृतयोः स्वरूपं सामान्येन निर्दिशन्नाह—**संस्कृत**मिति। महर्षिभिः पाणिन्यादिभिः महामुनिभिः अन्वाख्याता प्रकृतिप्रत्ययादिप्रदर्शनपुरस्सरम् अनुशिष्टा दैवी देवसंबन्धिनी देवैर्व्यवहार्या वा वाग् वाणी, भाषेत्यर्थः, संस्कृतं नाम संस्कारवत्त्वात् संस्कृतमित्यभिधीयते। प्राकृतक्रमः प्राकृतभाषाप्रकारः तद्भवः संस्कृतादुत्पन्नः तद्भवस्वरूपः, तत्समः तत्तुल्यः संस्कृताभिन्नरूपः, देशी तत्तद्देश-

---

१. तदिदं। २. आप्ताश्। ३. मनीषिभिः। ४. तद्भवं तत्समं।

प्रसिद्धः देशविशेषोद्भवो वा इति अनेकः अनेकविधः, विशेषेण त्रिप्रकार इति भावः, अस्ति।

(पाणिनि आदि) महर्षियों द्वारा अनुशासित देवभाषा को संस्कृत कहते हैं। तद्भव, तत्सम और देशी—इन भेदों से प्राकृत भाषा अनेक (=तीन) प्रकार की है।

संस्कृत वैदिक भाषा के व्यावहारिक रूप का परिष्कृत अथवा संस्कृत रूप है। वैदिक भाषा से संबन्धित होने के कारण ही संभवतः संस्कृत को देवभाषा मानने की परंपरा है। इस देवभाषा को मुख्यतः पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि ने अपने व्याकरण-ग्रन्थों द्वारा अनुशासित अथवा नियमबद्ध किया है।

प्राकृत प्रकृति अर्थात् संस्कृत से उत्पन्न भाषा का नाम है। प्राकृत से स्वाभाविक अथवा लौकिक भाषा का भाव भी लिया जा सकता है। इसके तद्भव आदि भेद शब्दभण्डार के आधार पर हैं। प्राकृत के तद्भव (अर्थात् संस्कृत-मूलक) शब्दों के कुछ उदाहरण ये हैं : कइ<कवि, कपण<कृपण, कसि< कृषि, कहा<कथा, तिण<तृण, रुक्ख<वृक्ष। कुछ तत्सम शब्द इस प्रकार हैं: कमल, कला, गङ्गा, गिरि, वाणी। देशी अथवा देश्य शब्दों के कुछ उदाहरण हैं छइल्ल (=विदग्ध), कन्दोट्ट (=नील कमल), टेंटाकराला (=व्यर्थ प्रलाप करने वाली), चंग (=सुन्दर), तरट्टी (=युवती) आदि। प्रयोग के अनुपात की दृष्टि से तद्भव शब्दों का पहला स्थान है; तत्सम और देशी शब्द अपेक्षाकृत बहुत कम संख्या में हैं।

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ॥३४॥

देशभेदाद् भिन्नेषु प्राकृतेषु माहाराष्ट्र्याः सर्वोत्कृष्टत्वमाह—**महाराष्ट्रेति**। महाराष्ट्रं जनपदविशेषः तद् आश्रयः अधिष्ठानं प्रयोगक्षेत्रं यस्याः तां माहाराष्ट्रीं भाषां प्रकृष्टं उत्कृष्टतमं प्राकृतं विदुः जानन्ति भाषाविदः इति शेषः। कीदृशीं तामित्याह—यन्मयं यस्यां भाषायां निबद्धं सेतुबन्धादि काव्यजातं सूक्तिरत्नानां सूक्तिरूपाणां रत्नानां, रत्नकल्पानां सुभाषितानामिति भावः, सागरः समुद्रः, निधि-राश्रयो वा, वर्तते।

महाराष्ट्र में प्रयुक्त (माहाराष्ट्री) भाषा को सर्वश्रेष्ठ प्राकृत मानते हैं; इस भाषा में रचित सेतुबन्ध आदि काव्य सुभाषितरूप रत्नों के (आश्रयभूत) समुद्र हैं।

प्रादेशिक आधार पर प्राकृत के विभिन्न रूपों का उल्लेख करते हुए दण्डी ने यहाँ माहाराष्ट्री की विशिष्ट चर्चा की है। उसके अनुसार यह रूप

प्राकृत के सभी रूपों में श्रेष्ठ है।

प्राकृत के वैयाकरणों ने भी इसी प्राकृत रूप को प्रधान प्राकृतभेद माना है। इस प्राकृत की सर्वाधिक लोकप्रियता इस बात से भी सिद्ध है कि प्राकृत-काव्यों और संस्कृत-नाटकों दोनों में पद्यरचना में प्रायः सर्वत्र इसी प्राकृत का प्रयोग प्राप्त होता है। **सेतुबन्ध**, जिसका प्राकृत नाम **रावणवहो** या **दहमुहवहो** है, वाकाटकनरेश प्रवरसेन द्वितीय (४१०-४० ई०) की रचना है। इस काव्य का उल्लेख दण्डी ने **अवन्तिसुन्दरीकथा** (पृ० २०) में भी किया है। इस प्राकृत में निबद्ध अन्य प्रमुख रचनाएँ हैं हाल सातवाहन (चौथी शताब्दी ई०) की **गाहासत्तसई** और वाक्पतिराज (लगभग ७२५ ई०) की **गउडवहो**।

शौरसेनी[1] च गौडी च लाटी[2] चान्या च तादृशी।
याति प्राकृतमित्येवं[3] व्यवहारेषु संनिधिम्[4] ॥३५॥

माहाराष्ट्रीं सविशेषमुल्लिख्याधुनाऽन्यान् प्राकृतभेदानाह—**शौरसेनी**ति। शौरसेनी शूरसेनो मथुराकेन्द्रको जनपदस्तदाश्रया भाषा, गौडी गौडदेशः पौरस्त्यो जनपदस्तत्रत्या भाषा, लाटी लाटः दक्षिणगुर्जरदेशस्तदधिष्ठाना भाषा, तादृशी तत्सदृशी चान्या प्राकृतभाषा, मागध्यर्धमागधीपैशाच्यादिका इति भावः, प्राकृतम् इत्येवं व्यवहारेषु काव्यशास्त्रादिव्यवहारेषु संनिधिं प्रयोगं याति, प्राकृतेति-नाम्ना व्यवह्रियते इत्यर्थः।

शौरसेनी, गौडी, लाटी तथा इन्हीं के समान अन्य भाषा-रूप 'प्राकृत' इस नाम से व्यवहृत होते हैं।

प्राकृत के व्याकरण-ग्रन्थों में प्रायः इन प्राकृतों का उल्लेख किया गया है: माहाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, पैशाची और चूलिकापैशाची। गौडी और लाटी का उल्लेख इनमें नहीं मिलता। शौरसेनी मथुरा के आसपास शूरसेन प्रदेश में बोली जाने वाली तथा मागधी मगध जनपद (वर्तमान बिहार का मध्य-पश्चिमी भाग) की प्राकृत का नाम है। जैन धर्मग्रन्थों में प्रयुक्त प्राकृत अर्धमागधी है। पैशाची, जिसका उल्लेख दण्डी ने आगे (१.३८) भूतभाषा के रूप में किया है, अवन्ति, पारियात्र, दशपुर एवं अन्य प्रदेशों में बसने वाली निम्नजातियों (जैसे किरात, शबर, भिल्ल आदि) की भाषा थी। चूलिकापैशाची संभवतः इसी का एक भेद थी। दण्डी द्वारा उल्लिखित गौडी गौड (संयुक्त बंगाल का मध्योत्तर भाग) देश की एवं लाटी लाट (गुजरात का दक्षिणी भाग) देश की प्राकृत थी।

---

१. सौर-। २. लाटी च गौडी। ३. इत्येव। ४. संनिधिः।

आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः ।
शास्त्रेषु[1] संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम्[2] ॥३६॥

संप्रति प्रसङ्गप्राप्तमपभ्रंशं लक्षयति—**आभीरेति** । काव्येषु गद्यपद्यमिश्रात्मकेषु काव्यप्रबन्धेषु (प्रयुक्ताः) आभीरादिगिरः आभीराः म्लेच्छजातिविशेषाः, आदिना यवनशकतुरुष्काणां ग्रहणं, तेषां गिरः उपभाषाः अपभ्रंश इति स्मृताः अपभ्रंशनाम्ना व्यपदिश्यन्ते । परं शास्त्रेषु काव्येतरव्याकरणादिशास्त्रग्रन्थेषु प्रसङ्गेन प्रयुक्तं संस्कृताद् अन्यद् भाषारूपम् अपभ्रंशतया अपभ्रंशनाम्ना उदितं कथितम्, प्राकृतभेदेष्वपि तत्र प्रयुक्तेषु अपभ्रंशपदव्यवहारो भवतीत्यर्थः ।

काव्य(-ग्रन्थों) में (प्रयुक्त) आभीर आदि (म्लेच्छ जातियों) की बोलियों को अपभ्रंश कहा जाता है, (परन्तु) शास्त्र-ग्रन्थों में (प्रसङ्गवश प्रयुक्त) संस्कृत-भिन्न सभी भाषाएँ अपभ्रंश कही जाती हैं ।

दण्डी के अनुसार अपभ्रंश भाषाविशेष का नाम नहीं है; यह एक ऐसा नाम है जो विभिन्न संदर्भ में विभिन्न अर्थ रखता है । काव्य या नाटक ग्रन्थों में, जहाँ संस्कृत और प्राकृत दोनों का साथ-साथ प्रयोग मिलता है, प्रसङ्गवश आभीर, यवन, शक, तुरुष्क आदि म्लेच्छ जातियों द्वारा प्रयुक्त बोली अपभ्रंश नाम से अभिहित होती है । इस प्रकार यह देशभाषा न होकर जातिभाषा है । व्याकरण आदि शास्त्रों के ग्रन्थों में प्रयुक्त संस्कृतेतर भाषाएँ, जिनमें प्राकृत भी शामिल है, अपभ्रंश कहलाती हैं । दण्डी के कथन का यह अभिप्राय भी ग्रहण किया जा सकता है कि शास्त्रग्रन्थ कहीं भी प्रयुक्त संस्कृतेतर भाषाओं को अपभ्रंश (=विकृत भाषा) कहते हैं । इस संबन्ध में पतञ्जलि (**महाभाष्य**, १, पृ० १६) का यह कथन द्रष्टव्य है : **लघीयाञ्छब्दोपदेशः । गरीयानपशब्दोपदेशः । एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः ।** अपभ्रंश से आज जो अभिप्राय लिया जाता है वह हमें दण्डी में नहीं मिलता, यद्यपि उसके समय तक अपभ्रंश भाषा का जन्म हो चुका था—ऐसा माना जाता है (तु० **विक्रमोर्वशीय**, ४, के अपभ्रंश गीत) ।

संस्कृतं सर्गबन्धादि प्राकृतं स्कन्धकादिकम्[3] ।
ओसरादि[4]रपभ्रंशो नाटकादि तु मिश्रकम् ॥३७॥

भाषाभेदानभिधायाधुना भाषाविशेषेषु प्रचलितकाव्यप्रबन्धरूपाणि संक्षिप्य निर्दिशति—**संस्कृतमिति** । सर्गबन्धः पूर्वोक्तं महाकाव्यं तदादि संघाताख्यायिकादि

---

१. शास्त्रे तु । २. अपभ्रंश इतीरिताः । ३. स्कन्धकादि यत् । ४. आसारादिर् ।

काव्यजातं संस्कृतं संस्कृतेन निबद्धं निबन्धनीयं वा भवति । स्कन्धकादिकं स्कन्धकं छन्दोविशेषः, आदिना गलितकादीनां ग्रहणम्, तद्विरचितं काव्यं स्कन्धकं, तच्च प्राकृतं प्राकृतेन निबद्धं निबन्धनीयं वा भवति । ओसरोऽपच्छन्दोभेदस्तदादिनोपनिबद्धं काव्यमपभ्रंशः । नाटकादि पूर्वोक्तं नाटकप्रकरणादिकं तु मिश्रकं संस्कृत-प्राकृतादिमिश्रं नानाभाषामयं भवति ।

सर्गबन्ध (महाकाव्य) आदि संस्कृत में, स्कन्धक आदि प्राकृत में, ओसर आदि अपभ्रंश में एवं नाटक आदि मिश्र भाषा में निबद्ध होते हैं ।

महाकाव्य के लिए संस्कृत के प्रयोग का विधान **अग्निपुराण** (३३७.२४) में भी मिलता है; तु० : **सर्गबन्धो महाकाव्यमारब्धं संस्कृतेन यत्** । खण्ड-काव्य, संघात, आख्यायिका आदि काव्य-रूप भी संस्कृत में निबद्ध होते हैं । स्कन्धक (छन्द विशेष) में निबद्ध रचना स्कन्धक है; यह प्राकृत में लिखी जाती है । **रत्नश्री** के अनुसार **सेतुबन्ध** स्कन्धक है (द्र० **साद०** ६.३२६ भी) । तरुणवाचस्पति आर्यागीति, उपगीति आदि में निबद्ध काव्य को स्कन्धक मानता है । ओसर (**पाठभेद** : आसार) भी इस नाम के छन्द में निबद्ध रचना है; यह अपभ्रंश में लिखी जाती है । **हृदयंगमा** के अनुसार अपभ्रंश में रचित काव्यप्रबन्ध के परिच्छेद (और लक्षणया ओसरबद्ध रचना) को ओसर कहते हैं । रत्नश्रीज्ञान ने ओसर अथवा अपभ्रंश काव्य के उदाहरण के रूप में **वलय-करम्बक** का उल्लेख किया है । नाटक में संस्कृत के साथ-साथ पात्रभेद से विभिन्न प्राकृतों के प्रयोग का विधान है; तु० **साद०** ६.१५८-६६ ।

कथा हि[1] सर्वभाषाभिः संस्कृतेन च बध्यते[2] ।
भूतभाषामयीं प्राहु[3]रद्भुतार्थां बृहत्कथाम् ॥३८॥

कथासंबन्धिनीं भाषाव्यवस्थां तद्विशेषात् पृथगाह—**कथा हीति** । कथा पूर्वोक्तः गद्यकाव्यविशेषः हि सर्वभाषाभिः प्राकृतापभ्रंशादिभिः संस्कृतेन च समुच्चयविकल्पाभ्यां यथासंभवं बध्यते निबध्यते, विरच्यते इति भावः । संस्कृतस्य **सर्वभाषाभिः** इत्यनेन गतार्थस्यापि पृथग् ग्रहणं संस्कृतप्राधान्यप्रतिपादनार्थम्, तेन कथा संस्कृतमयी प्राकृतादिमयी चेति द्विविधा । संस्कृतनिबद्धाः **कादम्बर्यादयः** कथाः प्रसिद्धा एवेति तदितरभाषामयीं कथामुदाहरन्नाह—अद्भुतार्थां विस्मयावह-वस्तुघटितां **बृहत्कथां** तदाख्यां गुणाढ्यरचितां कथां भूतभाषामयीं पैशाचीभाषा-निबद्धां प्राहुः कथयन्ति तद्विदः इति शेषः ।

कथा संस्कृत तथा (संस्कृत-भिन्न) सभी भाषाओं में निबद्ध की जाती

---

१. कथापि, कथादिः, कथा तु । २. पठ्यते । ३. त्वाहुर् ।

है। अद्भुत घटनाओं से युक्त बृहत्कथा **(नामक कथा) को (विद्वान्) पैशाची (प्राकृत) में रचित मानते हैं।**

कथा के संबन्ध में भाषा की यह स्वतन्त्रता भामह में भी प्राप्त होती है; **तु० काव्य० १.२८ : संस्कृतासंस्कृता चेष्टा कथापभ्रंशभाक्तथा ।** संस्कृत में निबद्ध प्रमुख प्राचीन कथाएं हैं सुबन्धु की **वासवदत्ता** और बाण की **कादम्बरी**। दण्डी की गद्यकृतियाँ, **दशकुमारचरित** और **अवन्तिसुन्दरीकथा**, कथा और आख्यायिका की पारंपरिक सीमाओं का अनुपालन नहीं करतीं, और यह बात प्रस्तुत ग्रन्थ (१.२८) में अभिव्यक्त उसके मत के अनुकूल है। गुणाढ्य की **बृहत्कथा** का उल्लेख दण्डी ने **अवन्तिसुन्दरीकथा** (पृ० १, २०) में भी किया है। पैशाची में रचित उक्त रचना आज अपने मूल रूप में अनुपलब्ध है। उसके तीन संस्कृत रूपान्तर आज प्राप्त होते हैं; वे हैं बुधस्वामी का **बृहत्कथा-श्लोकसंग्रह** (८वीं या ९वीं शती ई०), क्षेमेन्द्र की **बृहत्कथामञ्जरी** (११वीं शती ई०) और सोमदेव का **कथासरित्सागर** (१०३७ ई०)। रत्नश्रीज्ञान ने **रत्नप्रभा** नामक एक अन्य रचना को भी पैशाची में रचित कथा के रूप में उल्लिखित किया है।

लास्यच्छलित[1]शल्यादि[2] प्रेक्षार्थ[3]मितरत्पुनः ।
श्रव्य[4]मेवेति सैषापि[5] द्वयी गतिरुदाहृता ॥३९॥

बन्धभेदात् काव्यस्य त्रिविधत्वं, भाषाभेदाच्च तस्य चतुर्विधत्वं निरूप्य संप्रति विनियोगभेदात्तस्य द्विविधत्वमाह—**लास्येति**। लास्यं शृङ्गाररसप्रधानं स्त्रीनृत्यं, छलितं पुरुषनर्तनं, शल्या मस्तके करविन्यासपूर्वकं नृत्यम्, आदिपदेन ताण्डवहल्लीसकरासकानां परिग्रहः, तदेवं लास्यादि प्रेक्षार्थम् प्रेक्षा दर्शनमेवार्थः प्रधानं प्रयोजनमस्येति तद्, दृश्यमित्यर्थः। इतरत् पुनः लास्यादिदृश्यकाव्याद् भिन्नं तावत् काव्यं पूर्वोक्तं महाकाव्यादिकं श्रव्यमेव श्रवणमात्रविषयत्वात्। इत्येवं सा एषाऽपि काव्यस्य द्वयी गतिः द्विविधा व्यवस्था विनियोगकृता उदाहृता कथिता प्राचीनैरिति शेषः। विनियोगभेदात्काव्यं दृश्यं श्रव्यं चेति द्विविधं मतमित्यर्थः।

लास्य, छलित, शल्या आदि दृश्यकाव्य के रूप हैं, और इनसे भिन्न (महाकाव्य आदि) श्रव्यकाव्य हैं। इस प्रकार (विनियोग-प्रकार से) काव्य के दो प्रभेदों की यह व्यवस्था भी (प्राचीन आचार्यों द्वारा) की गई है।

दृश्यत्व और श्रव्यत्व के आधार पर काव्य के दो भेद परंपराप्राप्त हैं।

---

१. –च्छलिक–। २. शम्यादि, शम्पादि, साम्यादि। ३. प्रेक्ष्यार्थम्। ४. श्राव्यम्। ५. सैवैषा।

भामह (१.२४) ने दृश्यकाव्य को अभिनेयार्थ कहा है, और इसमें नाटक, द्विपदी, शम्या, रासक, स्कन्धक आदि का समावेश किया है। दण्डी ने अपने प्रेक्षार्थ में नाटक का उल्लेख नहीं किया है; संभवतः नाटक को वह प्रेक्षार्थ और श्रव्य दोनों मानता है।

भोजदेव (**सरस्व०** २.१४३) ने प्रेक्षार्थ (अथवा नृत्य) के छः रूप माने हैं : लास्य, ताण्डव, छलित, शल्या, हल्लीसक और रास। लास्य शृङ्गाररसात्मक स्त्रीनृत्य है; इसकी परिभाषा है : **कोमलं मधुरं लास्यं शृङ्गाररससंयुतम्। गौरीतोषकरं चापि स्त्रीनृत्यं तु तदुच्यते॥** छलित शृङ्गार या वीररस प्रधान पुरुष नृत्य है; तु० **पुंनृत्यं छलितं विदुः**। यह भी संभव है कि यह **मालविकाग्निमित्र** (१.३-गद्य) के छलिक से अभिन्न हो; छलिक शृङ्गाररसप्रधान स्त्रीनृत्य है। शल्या माथे पर हाथ रखकर किए जाने वाले नृत्य का नाम है; तु० **भाले हस्तं समावेश्य नृत्यं शल्येति कीर्तितम्**। **शृङ्गार०** (१०, पृ० ३८२) के अनुसार यह किंनर-नृत्य है। यह भामह (१.२४) और हेमचन्द्र (**काअनु०**, अ० ८) द्वारा उल्लिखित शम्या से तुलनीय है। **आदि** शब्द से स्पष्टतः ताण्डव (रौद्र या वीररस प्रधान पुरुषनृत्य), हल्लीसक (एक पुरुष के साथ अनेक स्त्रियों का मण्डलनृत्य) और रासक (विशिष्ट तालबन्ध से युक्त हल्लीसक नृत्य) का ग्रहण होगा। लास्य, हल्लीसक और रासक का उल्लेख दण्डी की **अवन्तिसुन्दरीकथा** (पृ० १६२) में हुआ है।

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ॥४०॥

पूर्वं बन्धभेदेन काव्यशरीरस्य त्रिविधत्वं, भाषाभेदेन चतुर्विधत्वं, विनियोगभेदेन च द्विप्रकारत्वं निरूप्याधुना मार्गभेदेन पुनस्तस्य द्विविधत्वं निर्दिदिक्षुस्तदुपक्रमं रचयन्नाह—**अस्त्यनेक** इति। परस्परम् अन्योन्यं सूक्ष्मभेदः स्वल्प एव भेदोऽन्तरं यस्य स तादृशः गिरां वाचां, काव्यानामिति भावः, मार्गः पन्थाः रचनाप्रकारः अनेकः अनेकरूपः अस्ति। काव्यरचनाप्रकारा विविधाः सन्तीत्याशयः। ते च विविधाः प्रकारा न लक्षयितुं पार्यन्ते परस्परं सूक्ष्मभेदत्वाद् इति तेषु प्रस्फुटान्तरौ प्रस्फुटं स्पष्टं लक्षयितुं शक्यम् अन्तरं भेदः ययोस्तौ वैदर्भगौडीयौ तदाख्यौ मार्गप्रकारौ मार्गौ वा वर्ण्येते इह निरूप्येते। विदर्भः महाराष्ट्रभागः, अत्र तु दाक्षिणात्यप्रदेशः, एकदेशेन समुदायोपलक्षणत्वात्, तत्रत्योऽयं वैदर्भः मार्गः; गौडः पौरस्त्यजनपदविशेषः (सामान्येन शब्दोऽयं पौरस्त्यप्रदेशान् बोधयति) तत्र प्रसिद्धः गौडीयः मार्गः।

काव्य के परस्पर सूक्ष्म अन्तर वाले अनेक मार्ग हैं (जिनका वर्णन,

उनमें अस्फुट भेद होने के कारण, संभव नहीं; इसलिए) उनमें से स्पष्ट अन्तर वाले वैदर्भ और गौडीय मार्गों का वर्णन यहाँ किया जाता है।

इससे पूर्व आचार्य ने काव्यशरीर का निरूपण किया; उसने (गद्य आदि) बन्ध के आधार पर काव्य के तीन रूपों, भाषा के आधार पर चार प्रकारों और रसग्रहण के माध्यम के आधार पर उसके दो भेदों की चर्चा की। प्रस्तुत श्लोक में वह रचनाप्रकार के आधार पर उक्त काव्यशरीर के अनन्त भेदों की प्रस्तावना करता है। इस ओर वह पहले भी **वाचां विचित्रमार्गाणां** (१.९) कहकर संकेत कर चुका है। स्वभावतः इन भेदों में परस्पर सूक्ष्म अन्तर है जिसका वर्णन संभव नहीं है। इस तथ्य को आचार्य ने आगे, १.१०१ में, इन शब्दों में स्वीकार किया है : **तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः।** फिर भी मोटे तौर पर स्पष्ट अन्तर वाले मार्गों को लक्षित किया जा सकता है; ऐसे दो मार्ग हैं विदर्भ (महाराष्ट्र का एक भाग अथवा साधारणतः दक्षिणप्रदेश) में प्रचलित वैदर्भ और गौड देश (साधारणतः पौरस्त्य प्रदेश) में प्रचलित गौडीय मार्ग। यहाँ यह अवधेय है कि दण्डी ने मार्ग की परिभाषा नहीं दी है, यद्यपि उसकी काव्य-परिभाषा से एवं मार्गनिरूपण से मार्गसंबन्धी उसकी धारणा स्पष्ट हो जाती है। उसके अनुसार, इष्ट अर्थ से संवलित पदावली काव्य है; इस प्रकार उसके मत में पदावली की इष्टता (=काव्य के रूप में स्वीकृति) के लिए अर्थ की इष्टता आवश्यक है, और फलतः काव्य में पदावली (शब्द) और अर्थ की समुचित योजना अभीष्ट है। वस्तुतः शब्द और अर्थ की उचित योजना दण्डी के अनुसार मार्ग है। मार्ग की परिभाषा हमें सर्वप्रथम वामन (१.२.७) में प्राप्त होती है जिसने उसे रीति के रूप में प्रस्तुत किया और काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित किया। वामन ने विशिष्ट पदरचना को रीति कहा है **(विशिष्टा पदरचना रीतिः)**। पदरचना की विशिष्टता, उसके अनुसार, गुणों द्वारा संपाद्य है (तु० : **विशेषो गुणात्मा**—१.२.८)। दण्डी की शब्दार्थयोजना का आधार भी गुण हैं जिनकी व्याख्या आगे के श्लोकों में की गई है।

मार्ग के उक्त विभाजन का यह अभिप्राय नहीं है कि पूर्वप्रदेश के काव्यों में वैदर्भ की अथवा दक्षिणप्रदेश की काव्यरचनाओं में गौडीय मार्ग की स्थिति संभव नहीं। रत्नश्रीज्ञान ने इस संबन्ध में कहा है कि जिस प्रकार चन्दन मलयेतर प्रदेश में दृष्टिगोचर होता हुआ भी 'मलयज' है, उसी प्रकार वैदर्भ और गौडीय मार्ग भी विदर्भेतर और गौडेतर प्रदेशों में लक्षित होते हुए भी विदर्भ-सहज और गौड-सहज होने के कारण वैदर्भ और गौडीय ही रहेंगे। उक्त व्याख्याकार से काफी पहले वामन इस संबन्ध में यह कहकर स्पष्टीकरण दे चुका था कि

देशविशेष काव्यरीति के धर्मों के नियामक नहीं होते, फिर भी वहाँ के कवियों द्वारा सामान्यतः उपात्त होने के कारण इन रीतियों को वैदर्भी आदि नाम दिए गए हैं; तु० : **किं पुनर्देशवशाद् द्रव्यवद्गुणोत्पत्तिः काव्यानां येनायं देशविशेषव्यपदेशः? नैवं, यदाह—विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या।** (**काव्रसू०** १.२.६-१०, **वृत्ति**)। उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों में कुन्तक और रसध्वनिवादी आचार्यों को छोड़कर शेष ने प्रायः रीतियों के प्रादेशिक नामकरण को, सर्वतोभावेन उसकी सार्थकता न मानते हुए भी, ग्रहण किया।

मार्ग-विभाजन का सर्वथा विरोध करने वाले आचार्यों में भामह प्रमुख है। उसने दण्डी के मार्ग-विभाजन का इन शब्दों में विरोध किया है : **वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे। तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम्॥ गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्। गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्॥** (१.३१-२)। वामन ने दण्डी के दो मार्गों के स्थान पर तीन रीतियाँ मानीं : वैदर्भी, गौडी और (पाञ्चाल अथवा उदीच्य प्रदेश की) पाञ्चाली; द्र० **काव्रसू०** १.२.६-२२। रुद्रट (२.४ और आगे) ने इनमें लाटीया को जोड़कर चार रीतियों का प्रतिपादन किया। ऐसा उसने संभवतः पश्चिम प्रदेश को भी प्रतिनिधित्व देने के लिए किया। उत्तरवर्ती आचार्यों में विश्वनाथ (**साद०** ६.२-५) ने इन चार रीतियों को मान्यता दी। भोज (**सरस्व०** २.२८; **शृङ्गार०** १०, पृ० ३७३) ने आवन्तिका और मागधी के साथ छः रीतियाँ मानीं। फिर भी उत्तरवर्ती युग में वामन का तीन रीतियों वाला सिद्धान्त प्रायः अधिक मान्य हुआ। कुन्तक (**वक्रोक्ति०** १.२४, **वृत्ति**, और आगे) ने कविस्वभाव के आधार पर सुकुमार, विचित्र और मध्यम, ये तीन मार्ग प्रतिपादित किए जो आंशिक रूप में क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीति से तुलनीय हैं। कुछ अन्य काव्यशास्त्रियों ने उक्त मार्गों को कुछ परिवर्तन के साथ तीन वृत्तियों—उपनागरिका, परुषा और कोमला—के रूप में स्वीकार किया; द्र० **ध्वन्या०** ३.४७ **वृत्ति**; **काप्र०** ६.८०-१ **वृत्ति**।

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः॥४१॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते[1] गौडवर्त्मनि॥४२॥

उक्तमार्गद्वयविभागार्थान् गुणान् तेषां च मार्गद्वये विशिष्टां स्थितिं निर्दि-

१. लक्ष्यते।

दित्युराह—श्लेष इति। श्लेषादयः वक्ष्यमाणस्वरूपाः दश गुणाः काव्यशोभाधायकाः धर्मविशेषाः वैदर्भमार्गस्य प्राणाः जीवितभूताः स्मृताः कथिताः। एतेन श्लेषादिगुणवत्त्वं वैदर्भत्वमिति फलितम्। अथ च एषां गुणानां विपर्ययः विपक्षः अन्यथात्वं वा गौडवर्त्मनि गौडीयमार्गे प्रायः बाहुल्येन दृश्यते अवलोक्यते; **प्रायः** इति पदेन विपर्ययः क्वचिन्नापि दृश्यते इति गम्यते।

श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारत्व, ओज, कान्ति और समाधि—ये दस गुण वैदर्भ मार्ग के प्राण कहे गए हैं। इन (गुणों) का विपर्यय (=वैपरीत्य अथवा अन्यथाभाव) गौडीय मार्ग में प्रायः देखा जाता है।

श्लेष आदि दस गुण दण्डी ने परंपरा से ग्रहण किए हैं। भरत के **नाट्यशास्त्र** (१७.९५-१०५) में इन दस गुणों का सर्वप्रथम वर्णन मिलता है। दण्डि-कृत इनका निरूपण साधारणतः भरत की व्याख्या से मेल खाता हुआ भी उससे भिन्न है। गुण के संबन्ध में दोनों के दृष्टिकोण में भी अन्तर है। यद्यपि दोनों ने गुण की परिभाषा नहीं की, तथापि उनके गुण-निरूपण से गुण-संबन्धी उनकी धारणा प्रकट हो जाती है। भरत (१७.९४) ने गुणों को दोषों का अभावात्मक रूप कहा है, परन्तु दण्डी ने उन्हें इस रूप में ग्रहण नहीं किया है; उसके गुण भावात्मक धर्म हैं। गुणसंबन्धी उसकी संकल्पना उसकी अलंकार-परिभाषा में देखी जा सकती है, क्योंकि गुण, उसके अनुसार, अलंकार के व्यापक क्षेत्र में समाविष्ट हो जाते हैं (तु० २.३)। अलंकार, उसके मत में, काव्यशोभा के संपादक धर्म हैं (तु० २.१); गुण भी, इस प्रकार, काव्यसौन्दर्य के आधायक धर्म हुए। वामन (३.१.१) ने गुणों को इसी रूप में ग्रहण किया है (**काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः**), परन्तु उसने अलंकारों को इनसे भिन्न माना है और उन्हें काव्यशोभा की वृद्धि करने वाले धर्म कहा है : **तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः** (३.१.२)। इस प्रकार गुण उसके मत में काव्यसौन्दर्य के उत्पादक धर्म हुए और अलंकार उसके संवर्धक धर्म। रसध्वनिवादी आचार्यों ने गुणों का संबन्ध काव्यात्मभूत रस के साथ जोड़ा और इस प्रकार उन्हें काव्यशरीर के आभूषणरूप अलंकारों से पृथक् और अधिक महनीय स्थान दिया; फिर भी उनके गुण-विवेचन से यह स्पष्ट है कि वे गुण का संबन्ध काव्यशरीरभूत शब्द और अर्थ से नहीं तोड़ सके।

गुणों की संख्या के संबन्ध में उत्तरवर्ती युग में दो परस्पर-विरोधी प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं। जहाँ एक ओर वामन ने उनकी संख्या, उन्हें शब्दगुण और अर्थगुण के रूप में विभक्त करके, वस्तुतः बीस कर दी, **अग्निपुराण** के लेखक ने अठारह गुणों की कल्पना की और भोज ने बहत्तर गुणों का प्रपञ्च

प्रस्तुत किया, वहाँ दूसरी ओर भामह और संभवतः उससे प्रेरित होकर ध्वनिवादी आचार्यों एवं सामान्यतः अन्य काव्यशास्त्रियों ने उनकी संख्या दस से घटाकर तीन कर दी; ये तीन गुण हैं माधुर्य, ओज और प्रसाद।

मार्ग के साथ गुणों का संबन्ध, जिसे सर्वप्रथम दण्डी ने स्थापित किया और वामन ने सुस्थिरता प्रदान की, किसी न किसी रूप में अन्त तक कायम रहा। दण्डी के अनुसार पूर्वोक्त दस गुण वैदर्भ मार्ग के जीवितभूत धर्म हैं, उसके मूल तत्त्व हैं। इस अभिमत में वैदर्भ मार्ग के प्रति उसका विशेष आग्रह स्पष्ट है; उसका यह आग्रह उसकी **अवन्तिसुन्दरीकथा** में भी प्रकट हुआ है; द्र० : **लिप्ता मधुद्रवेणासन् यस्य निर्विवशा गिरः। तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्॥** (प्रस्तावना-श्लोक १५)।

गौडीय मार्ग के संदर्भ में उक्त दस गुणों की स्थिति चर्चा का विषय रही है। दण्डी इस विषय में अधिक स्पष्ट नहीं है। उसने इस संबन्ध में यही कहा है कि इन गुणों का विपर्यय गौडीय मार्ग में बहुलता से पाया जाता है। उसके कहने का अभिप्राय संभवतः यह है कि इन गुणों का **परिवर्तित रूप** उक्त मार्ग में **बाहुल्येन** पाया जाता है अर्थात् कभी-कभी इनका परिवर्तित रूप इसमें नहीं भी आता। कुछ व्याख्याकार (जैसे तरुणवाचस्पति और रत्नश्रीज्ञान) 'विपर्यय' को 'वैपरीत्य' या 'विपक्ष' मानकर और **प्रायः** को उसके साथ जोड़कर यह अर्थ करते हैं कि उक्त दस गुणों का 'प्रायः विपर्यय' गौड मार्ग में संलक्षित होता है अर्थात् कहीं-कहीं उनका अविपर्यय या अविपरीत (=शुद्ध) रूप भी इस मार्ग में आता है। वस्तुतः कुछ गुणों (जैसे माधुर्य, अर्थव्यक्ति, उदारत्व, ओज और समाधि) का अपने अविपरीत (शुद्ध) रूप में इस मार्ग में आना दण्डी की इस संबन्ध में अपनी स्वीकारोक्ति से ही स्पष्ट है (द्र० १.६७, ७५, ७६, ८०, १००)। यहाँ यह भी अवधेय है कि **प्रायः** क्रियाविशेषण है, विशेषण नहीं; अतः उसका संबन्ध **विपर्ययः** से नहीं, **दृश्यते** से जोड़ना समीचीन है। रङ्गाचार्य शास्त्री ने विपर्यय का अर्थ 'कहीं अत्यन्ताभाव-रूप और कहीं अंशतः संबन्ध-रूप व्यत्यास (=वैपरीत्य)' किया है। **हृदयंगमा** के अनुसार इसका अर्थ 'अन्यथात्व' (=परिवर्तित रूप) है, जो अधिक उपयुक्त है। 'परिवर्तित रूप' शुद्ध रूप से 'भिन्न' तो होता है, परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह उसके ठीक 'विपरीत' हो। दूसरी ओर, इस 'परिवर्तित' रूप में 'विपरीत' रूप का भी ग्रहण हो जाता है, क्योंकि 'विपरीत' रूप भी 'परिवर्तित' रूप तो है ही।

गुण का यह 'विपर्यय' अथवा 'परिवर्तित रूप' दोष नहीं है, क्योंकि यदि हम दस गुणों के विपर्यय को दोष मानने लगें तो गौड मार्ग को दोषपूर्ण मार्ग, अतश्च काव्य-कोटि से बाह्य, मानना होगा। वास्तव में ऐसी बात नहीं है। गुणों

के 'परिवर्तित रूप' चाहे उनके 'शुद्ध रूप' के समान सुन्दर न हों, फिर भी वे असुन्दर, अतश्च अग्राह्य, नहीं हैं। गुणों के 'परिवर्तित रूपों' के दण्डि-प्रदत्त उदाहरण असुन्दर या दोष-पूर्ण नहीं हैं, यद्यपि उनमें उतना सौन्दर्य नहीं है जितना गुणों के 'शुद्ध रूपों' के निदर्शनों में है। गुणों के 'परिवर्तित रूप' इस प्रकार दण्डी के मत में गुण ही हैं और काव्य के रूप में ग्राह्य हैं। यही कारण है कि उसने प्रसाद, कान्ति और सुकुमारता के विपर्यय के रूप में क्रमशः क्लिष्टता, अस्वाभाविकता और श्रुतिकटुता (जो स्पष्टतः दोष हैं) का ग्रहण न करके व्युत्पन्नता, अत्युक्ति और दीप्ति का ग्रहण किया है जो निश्चय ही काव्य-कोटि में आते हैं। विपर्यय के इन रूपों से हृदयंगमा के 'अन्यथात्व' अर्थ को समर्थन प्राप्त होता है।

श्लिष्टमस्पृष्ट[1]शैथिल्यमल्पप्राणाक्षरोत्तरम्।
शिथिलं मालतीमाला लोलालिकलिला यथा ॥४३॥

तत्रोद्दिष्टेषु दशसु गुणेषु प्रथमं श्लेषमाह—**श्लिष्टमिति**। अल्पप्राणाक्षरोत्तरम् अल्पप्राणाः वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमाः वर्णाः यरलवाश्च ते उत्तराः प्रधानाः प्रचुरा वा यत्र तादृशम्, अतश्च अस्पृष्टशैथिल्यम् न स्पृष्टं शैथिल्यं शिथिलता येन तत्तादृशं वाक्यं श्लिष्टं श्लेषगुणोपेतं भवति। अनेनाल्पप्राणवर्णबहुलः, अर्थाद् अन्तरान्तरा महाप्राणवर्णयुतः, बन्धोऽशिथिल इति, अल्पप्राणवर्णैरेव केवलैर्ग्रथितो बन्धः शिथिल इति च, आचार्येण स्पष्टमनुक्तमपि सिद्धं भवति। तत्र शिथिलमुदाहरति—**मालतीमाला लोलालिकलिला**। मालतीमाला जातिकुसुममाला लोलैः चञ्चलैः अलिभिः भ्रमरैः कलिला व्याप्ता इति। इदं हि वाक्यमल्पप्राणैरेवाक्षरैर्ग्रथितत्वाच्छिथिलम्। केचन 'अस्पृष्टशैथिल्यं वाक्यं श्लिष्टम्, अल्पप्राणाक्षरोत्तरं च वाक्यं शिथिलं, यथा मालतीमालेत्यादि' इत्यन्वयं कुर्वन्ति, तत्तु न युक्तं, तेन वैदर्भैरभीष्टे मालतीदामेत्यादावपि शिथिलत्वदोषप्रसङ्गः स्यादिति।

अल्पप्राण वर्णों की प्रचुरता से युक्त (अतश्च) शिथिलता के दोष से रहित रचना श्लेषगुणयुक्त होती है। शिथिल रचनाबन्ध का उदाहरण है: मालतीमाला लोलालिकलिला 'मालती के फूलों की माला चञ्चल भौंरों से व्याप्त है।'

(कवर्ग आदि) वर्गों के पहले, तीसरे और पाँचवें वर्ण तथा य, र, ल और व अल्पप्राण अक्षर हैं। यद्यपि ह्रस्व स्वर भी अल्पप्राण होते हैं, तथापि

---

१. मस्पष्ट- (तु० रस० १, पृ० २२८)।

उनका ग्रहण यहाँ अभीष्ट नहीं है। दण्डी ने इस श्लोक में निम्नलिखित बातें प्रस्तुत की हैं : (१) शिथिलता से रहित रचना श्लेषगुणयुक्त होती है। (२) अल्पप्राण वर्णों की प्रचुरता से युक्त अर्थात् बीच-बीच में महाप्राण वर्णों से ग्रथित रचना अशिथिल अथवा दृढ़ बन्ध वाली होती है; जैसे – **मालतीदाम लङ्घितं भ्रमरैः** (१.४४); यह श्लेषगुण का उदाहरण है। (३) केवल अल्पप्राण वर्णों से ग्रथित रचना शिथिल बन्ध वाली होती है; जैसे – **मालतीमाला लोलालिकलिला** (यहाँ सभी अल्पप्राण वर्ण हैं)। भोज (सरस्व० १, उदा० ४१) ने इसका इस प्रकार विस्तार किया है : **आलीयं मालतीमाला लोलालिकलिला मनः। निर्मूलयति मे मूलात्तमालमलिने वने॥**

कुछ व्याख्याकार अल्पप्राण वर्णों की प्रचुरता वाली रचना को शिथिल मानकर **मालतीमाला** आदि को उसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं (तु० रत्नश्रीज्ञान, शंकरराम शास्त्री)। परन्तु यह व्याख्या ठीक नहीं, क्योंकि इसके अनुसार **मालतीदाम** आदि (१.४४) को भी शिथिल बन्ध स्वीकार करना होगा। वस्तुतः **मालतीदाम** आदि अल्पप्राणवर्णप्रचुर रचना है और **मालतीमाला** आदि केवल अल्पप्राण वर्णों वाली रचना है। इस संबन्ध में जीवानन्द विद्यासागर द्वारा उद्धृत क्रमदीश्वर का यह कथन द्रष्टव्य है : **अल्पप्राणेषु वर्णेषु विन्यासोऽप्यन्तरान्तरा। महाप्राणस्य च श्लेषो यथाऽयं भ्रमरध्वनिः॥**

जीवानन्द विद्यासागर ने दण्डी के श्लोक की निम्नलिखित अन्य व्याख्या भी प्रस्तुत की है : 'अल्पप्राणवर्णबहुल रचना शिथिल होती हुई भी (विन्यास-कौशल से) शिथिल न प्रतीत होने के कारण श्लेषगुणयुक्त होती है; जैसे— **मालतीमाला** आदि।' यह व्याख्या भी युक्तियुक्त नहीं है।

वामन (३.१.११; २.४) के मत में श्लेष शब्दगुण के रूप में अनेक पदों को एकवत् आभासित कराने वाली कोमलता है और अर्थगुण के रूप में अनेक भावों की संघटना का नाम है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने प्रायः वामन के शब्दगुण श्लेष के स्वरूप को श्लेष की परिभाषा के रूप में ग्रहण किया; तु० : **बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासमानात्मा यः श्लेषः** (काप्र० ८.७२ वृत्ति)।

अनुप्रासधिया गौडैस्तदिष्टं बन्धगौरवात्।
वैदर्भैर्मालतीदाम लङ्घितं भ्रमरैरिति ॥४४॥

अशैथिल्यरूपस्य श्लेषस्य तद्विपर्ययभूतस्य च शिथिलत्वस्य स्थितिं द्वयोर्मार्गयोः प्रदर्शयन्नाह—**अनुप्रासेति**। तत् पूर्वोक्तं शिथिलं, शिथिलत्वमित्यर्थः, गौडैः अनुप्रासस्य माधुर्यसंगृहीतस्य शब्दालंकारस्य धिया बुद्ध्या, सत्यपि बन्धशैथिल्ये अनुप्रासानुरागेण, बन्धगौरवात् रचनाबन्धस्य गाढत्वहेतोः इष्टम्

अभीष्टं भवति । **मालतीमालेत्यादिरूपः** शिथिलोऽपि बन्धः अनुप्रासाग्रहेण रचनागाढत्वादराच्च गौडैः स्वीक्रियते इत्यर्थः । परम् अन्यतः वैदर्भैस्तु **मालतीदाम लङ्घितं भ्रमरैः** (=मालतीमाला भ्रमरैः व्याप्ता) इत्येवंरूपोऽल्पप्राणाक्षरप्रायः **घभेतिमहाप्राणाक्षरद्वययुतः** अतश्च शैथिल्यरहितः श्लेषबन्ध आद्दतः स्यात् । यद्यपि शिथिलत्वं मार्गद्वयस्याप्यनभीष्टं, तथाप्यनुप्रासजनितबन्धगाढत्वाद् हेतोः गौडैस्तत्सह्यते, वैदर्भैस्तु तत्सर्वथाऽप्यग्राह्यम् इति श्लोकार्थः ।

उक्त (प्रकार की शिथिल वाक्यरचना) को गौडमार्ग के अनुयायी अनुप्रास के आग्रह से बन्धगौरव (=रचनाशैली की प्रगाढ़ता) के कारण स्वीकार कर लेते हैं। (परंतु) वैदर्भमार्ग के समर्थक मालतीदाम लङ्घितं भ्रमरैः **'मालती के फूलों की माला भ्रमरों से परिव्याप्त हैं' इस प्रकार की (अशिथिल अतश्च श्लेषगुणयुक्त) रचना को ही स्वीकार करते हैं।**

केवल अल्पप्राण वर्णों वाली शिथिल रचना यद्यपि दोनों मार्गों में वाञ्छनीय नहीं, तथापि यदि ऐसी रचना में अनुप्रास के प्रयोग के फलस्वरूप गाढबन्धता आ जाए तो वह गौडमार्ग में सह्य, अतश्च स्वीकरणीय, हो जाती है, परन्तु वैदर्भ मार्ग ऐसी शिथिल रचना को किसी भी स्थिति में स्वीकार नहीं करता। वह **मालतीमाला लोलालिकलिला** के स्थान पर (यद्यपि यहाँ अनुप्रासजन्य बन्धगौरव है) **मालतीदाम लङ्घितं भ्रमरैः** इस वाक्य को ही स्वीकार करेगा, क्योंकि इस वाक्य में प्रचुर रूप में प्रयुक्त अल्पप्राण वर्णों के साथ-साथ **घ** और **भ** इन महाप्राण वर्णों के प्रयोग से दृढबन्धता अथवा श्लेषगुण आ गया है। भोज (**सरस्व० १.१२६**) ने शिथिल(त्व) को गौडमार्ग-संमत गुण के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा है : **श्लिष्टमस्पृष्टशैथिल्यं शिथिलं तद्विपर्ययः। गौडीयैरिष्यते तत्तु बन्धप्राशस्त्यगौरवात् ॥**

प्रसादवत्प्रसिद्धार्थमिन्दोरिन्दीवरद्युति ।
लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः ॥४५॥

द्वितीयं गुणं प्रसादमाह—**प्रसादवदिति**। प्रसिद्धार्थं प्रसिद्धः सुगमः प्रतीतिसुभगः अर्थः यस्य तत् तादृशं वचनं प्रसादवत् प्रसादगुणोपेतं भवति। तत्रोदाहरणमाह—**इन्दोरित्यादि**। इन्दोः चन्द्रमसः इन्दीवरद्युति नीलकमलशोभं लक्ष्म चिह्नं लक्ष्मीं शोभां तनोति विस्तारयति, नीलोत्पलाभेन चिह्नेन चन्द्रः शोभते इत्यर्थः। इति उक्तरूपं वचः प्रतीतिसुभगं झटित्यर्थावगमेन सुन्दरं भवति, तस्माच्च हेतोः प्रसादगुणसमन्वितं जायते इत्याशयः।

प्रसिद्ध अर्थ वाली वाक्यरचना प्रसादगुण-युक्त **होती है**। इन्दोरिन्दीवरद्युति लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति **'चन्द्रमा का नीलोत्पल की-सी छवि वाला यह चिह्न**

उसकी शोभा को बढ़ाता है'—यह वाक्य सुबोध होने के कारण सुन्दर (अतश्च प्रसादगुणयुक्त) है।

प्रसादगुण की उक्त परिभाषा भरत-कृत परिभाषा (१७.९७) के निकट है। भामह (२.३) ने भी अर्थ की सुबोधता को प्रसादगुण माना है। वामन (३.१.६; २.३) के अनुसार शब्दगुण के रूप में प्रसाद बन्धशैथिल्य का नाम है जो ओज गुण से समन्वित होने के कारण ग्राह्य होता है; अर्थगुण के रूप में यह अनपेक्षित शब्दों के परिहार से उत्पन्न अर्थ की विमलता अथवा सुबोधता है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने चित्त में तत्क्षण व्याप्त हो जाने वाले अर्थ से समन्वित रचना को प्रसाद कहा है; तु० **शुष्केन्धनादिवत् स्वच्छजलवत्सहसैव यः॥ व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।** (काप्र० ८.७०-१)।

इन्दोः'''इत्यादि वैदर्भ-संमत उदाहरण कालिदास के **अभिज्ञानशाकुन्तल** के **मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति** (१.२०) से तुलनीय है। दण्डी द्वारा प्रदत्त उदाहरण उसके अपने होते हुए भी साहित्य में प्राप्त प्रयोगों पर आधारित हैं; **प्रयोगानुपलक्ष्य च** (१.२) कहकर स्वयं उसने इस तथ्य की ओर संकेत किया है।

व्युत्पन्नमिति गौडीयैर्नातिरूढमपीष्यते[1]।
यथाऽनत्यर्जुना[2]ब्जन्मसदृक्षाङ्को वलक्षगुः[3]॥४६॥

प्रसादविपर्ययस्य गौडाभीष्टत्वमाह—**व्युत्पन्नमिति**। गौडीयैः गौडमार्गानुयायिभिः नातिरूढम् अनतिप्रसिद्धं निहतार्थतादोषदुष्टम् अपि व्युत्पन्नं व्युत्पत्तियुक्तं योगार्थघटितम् इति हेतोः इष्यते काव्यत्वेन उपादीयते। तत्प्रसादविपर्ययभूतम् अनतिरूढमुदाहरति—**अनत्यर्जुनेत्यादिना**। अनत्यर्जुनं नातिधवलम् अर्थात् नीलं यद् अब्जन्म (अद्भ्यो जन्म यस्य तत्) कमलं तेन सदृक्षः अङ्कः चिह्नं कलङ्कः यस्य स तादृशः वलक्षगुः वलक्षाः धवलाः गावः किरणाः यस्य स श्वेतकिरणः चन्द्रमाः भातीति शेषः। अत्र **अर्जुन**शब्दः कार्तवीर्ये तृतीयपाण्डवे च प्रसिद्धः, धवले तु निहतार्थः, **अनत्यर्जुन**शब्दो नीलार्थेऽप्रसिद्धः, **अब्जन्म**शब्दो योगार्थघटितोऽपि कमलार्थेऽप्रसिद्धः, **वलक्षगु**शब्दश्चापि चन्द्रार्थेऽनतिरूढः। एवमप्रसिद्धार्था अपीमे शब्दा योगार्थघटिता इति गौडीयैः काव्यत्वेन स्वीक्रियन्ते।

गौड मार्ग के अनुयायी अप्रसिद्धार्थक शब्दों के प्रयोग को भी व्युत्पत्ति-दृष्टया संगत मानकर स्वीकार्य समझते हैं। ऐसे प्रयोग का उदाहरण है:

---

१. इतीष्यते। २. यथाऽनभ्यर्जुना-। ३. बलक्षगुः।

अनत्यर्जुनाब्जन्मसदृक्षाङ्को वलक्षगुः '**अनतिश्वेत (=नीले) जलजात (=कमल) के समान चिह्न (=कलङ्कचिह्न) से युक्त शुभ्ररश्मि (=चन्द्रमा)' (शोभायमान हो रहा है)।**

पिछले श्लोक में उदाहृत **इन्दोरिन्दीवरद्युति** आदि के भाव को गौडमार्ग में **अनत्यर्जुन** आदि के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। इस (**अनत्यर्जुन**···) उदाहरण में धवल के लिए **अर्जुन,** नीले के लिए **अनत्यर्जुन,** कमल के लिए **अब्जन्म** (=जल से उत्पन्न) और चन्द्रमा के लिए **वलक्षगु** (=शुभ्र किरणों वाला) शब्दों का प्रयोग अप्रसिद्धार्थता अथवा निहतार्थता दोष से युक्त है, तथापि ये प्रयोग व्युत्पत्तिदृष्ट्या संगत होने के कारण गौडमार्ग में स्वीकार्य हैं। रत्नश्रीज्ञान ने व्युत्पन्न का अर्थ 'अपूर्व कल्पना से संस्कृत अथवा विशिष्ट' किया है; तु० **हृदयंगमा** भी। भोज (**सरस्व० १.३४**) ने प्रसाद के इस विपर्यय को अप्रसन्न के रूप में ग्रहण किया है और इसे **अनत्यर्जुन** आदि (१, **उदा०** ४४) से ही उदाहृत किया है।

समं बन्धेष्वविषमं ते मृदुस्फुटमध्यमाः।
बन्धा[1] मृदुस्फुटोन्मिश्रवर्णविन्यासयोनयः ॥ ४७ ॥

तृतीयं गुणं समतामाह—**सममिति**। बन्धेषु रचनासु विषये अविषमं बन्धवैषम्यरहितं वचः समं चतुर्णामपि पादानां सजातीयबन्धत्वात् समता**गुणोपेतं** भवति। ते च बन्धाः मृदुः कोमलः, स्फुटः तीव्रः, मध्यमः उभयात्मकः चेति त्रयः; इमे च बन्धाः मृदुस्फुटोन्मिश्राणां क्रमोद्दिष्टानां वर्णानां विन्यासः प्रयोगः स योनिः प्रभवः येषां ते तादृशाः सन्ति। मृदुवर्णविन्यासप्रभवो मृदुर्बन्धः, विकटवर्णविन्यासजातः स्फुटो बन्धः, उन्मिश्रवर्णप्रयोगजन्मा च मध्यमो बन्ध इति बन्धत्रयम्। ऋलृरहिताः स्वराः वर्गादिमान्तिमा अन्तस्थाश्च व्यञ्जनवर्णा मृदवः, शिष्टाश्च संयुक्ताश्च वर्णाः स्फुटाः।

रचनाबन्ध के अवैषम्य (=रचना अथवा पद्य के सभी भागों में समान बन्ध के प्रयोग) को समता कहते हैं। ये रचनाबन्ध तीन प्रकार के हैं: मृदु, (=कोमल), स्फुट (=कठोर या विकट) और मध्यम (=मृदुस्फुट-युक्त), जो क्रमशः कोमल, कठोर और मिश्रित वर्णों के प्रयोग से उत्पन्न होते हैं।

दण्डी के मत में ऋ और लृ को छोड़कर शेष दस स्वर, वर्गों के प्रथम और अन्तिम अक्षर एवं अन्तस्थ (य, र, ल, व)—ये चौबीस वर्ण कोमल हैं (तु० **अवन्तिसुन्दरीकथासार, ७.१४**) और शेष वर्ण कठोर हैं। इस श्लोक में

---

१. बन्धे।

आचार्य का अभिप्राय किसी वन्धविशेष को उत्कृष्ट अथवा वैदर्भग्राह्य और किसी को निकृष्ट या गौडस्वीकार्य बताना नहीं है । अतः **हृदयंगमा** का यह मत उपयुक्त नहीं कि इनमें प्रथम दो बन्ध गौडमार्ग में अपनाए जाते हैं एवं अन्तिम वैदर्भ मार्ग में। रत्नश्रीज्ञान ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि तीनों बन्ध, यदि वे अवसर के अनुकूल प्रयुक्त हैं तो, सौन्दर्यावह होते हैं। उसके अनुसार मृदुबन्ध सर्वत्र शिथिल और स्फुटबन्ध सर्वत्र कठोर अथवा कृच्छ्रोद्य नहीं होता एवं दाक्षिणात्य महाकवियों के **रघुवंश, जातकमाला** आदि काव्यों में इन बन्धों का सफल प्रयोग प्राप्त होता है। स्वयं दण्डी की रचना में इनका समुचित विन्यास है (तु० **रत्नश्री** १.५०)। वस्तुतः आचार्य दण्डी एक ही रचना या पद्य के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न बन्धों के प्रयोग को अनुचित मानता है एवं उसे बन्धवैषम्य कहता है। अगले पद्यों में क्रमशः इन बन्धों के एवं बन्धवैषम्य के उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं।

वामन (३.१.१२; २.५) ने शब्दगुण के रूप में इसे काव्यबन्ध की अभिन्नता और अर्थगुण के रूप में वर्ण्यवस्तु के उचित क्रम की रक्षा माना है।

कोकिलालापवाचालो मामेति[1] मलयानिलः ।
उच्छल[2]च्छीकराच्छाच्छनिर्झराम्भःकणोक्षितः ॥४८॥

मृदुस्फुटमध्यमेषु मृदुस्फुटयोर्बन्धयोरुदाहरणमाह—**कोकिलेति** । तत्र **कोकिलालापेत्यादि** पादद्वयं मृदुबन्धोदाहरणम् **उच्छलदित्यादि** च स्फुटबन्ध-निदर्शनम्। अथ पद्यार्थः—कोकिलानाम् आलापेन मधुरध्वनिना वाचालः मुखरः अथ च उच्छलन्तः उद्गच्छन्तः ये शीकराः जलकणाः तैः अच्छाच्छम् अति-स्वच्छं यत् निर्झराम्भः निर्झरजलं तस्य कणैः बिन्दुभिः उक्षितः संसिक्तः, सुशीतल इत्यर्थः, मलयानिलः मलयमारुतः माम् एति माम् उपगच्छति, मामु-पैतीति यावत्।

(मृदुबन्ध का उदाहरण :) कोकिलालापवाचालो मामेति मलयानिलः **'कोयल की कुहू-कुहू की ध्वनि से मुखरित मलयमारुत मेरी ओर आ रहा है'।** **(स्फुटबन्ध का उदाहरण :)** उच्छलच्छीकराच्छाच्छ निर्झराम्भः कणोक्षितः **'ऊपर उछलते जलकणों से निर्मल झरने की सलिलबिन्दुओं से संसिक्त (मलयानिल मेरी ओर आ रहा है)'।**

आचार्य ने यहाँ उक्त बन्धों के पादद्वयगत उदाहरण दिए हैं; वस्तुतः

---

१. मामैति। २. उच्चरच्-, प्रोच्चलच्-।

यहाँ श्लोकगत अथवा काव्यैकदेशगत उदाहरण अभीष्ट हैं। यह अवधेय है कि भोज (सरस्व० १, उदा० ४२) ने इस पद्य को बन्धवैषम्य के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। श्लोक अथवा काव्यैकदेश में एक ही बन्ध (चाहे वह तीनों में से कोई हो) का प्रयोग दण्डी की दृष्टि में समता गुण है।

चन्दनप्रणयो[1]द्गन्धिर्मन्दो मलयमारुतः।
स्पर्धते रुद्धमद्धैर्यो वररामाननानिलैः[2] ॥४६॥

संप्रति मध्यमबन्धं वन्धवैषम्यं चोदाहरति—**चन्दनेति**। **चन्दनेत्यादि** पादद्वयं मध्यमबन्धोदाहरणं, **स्पर्धते** इत्यादिकं च बन्धवैषम्यनिदर्शनम्। अथ श्लोकार्थः—चन्दनप्रणयोद्गन्धिः चन्दनेन यः प्रणयः संसर्गः तेन उद्गन्धिः उद्गतगन्धः सुगन्धिर्वा मन्दः मृदुलः, तथा च रुद्धमद्धैर्यः रुद्धं निराकृतं मम धैर्यं धीरत्वं येन तादृशः मलयमारुतः मलयवातः वररामाननानिलैः वररामाणाम् उत्तमाङ्गनानाम् आननानां मुखानाम् अनिलैः मारुतैः स्पर्धते स्पर्धां करोति, सादृश्यं भजते इत्यर्थः। अत्रोत्तरार्धे **स्पर्धते रुद्धमद्धैर्यः** इति स्फुटः, **वररामाननानिलैः** इति च मृदुर्बन्धः। द्वयोरनयोरेकत्र प्रयोगाद् अत्र बन्धवैषम्यम्।

(मध्यम बन्ध का उदाहरण :) चन्दनप्रणयोद्गन्धिर्मन्दो मलयमारुतः **'चन्दन के संसर्ग से सुरभित यह मन्द मलयसमीर,—'।** **(बन्धवैषम्य का उदाहरण :)** स्पर्धते रुद्धमद्धैर्यो वररामाननानिलैः **'जो मेरे धैर्य को नष्ट कर रहा है अर्थात् मुझे अधीर बना रहा है, सुन्दर स्त्रियों के मुख-निश्वास से होड़ कर रहा है।'**

यहाँ पद्य के पूर्वार्ध में **च, न, प** आदि मृदु एवं **द, ग** आदि स्फुट वर्णों का मिश्रण होने से मध्यम बन्ध है। उत्तरार्ध का पहला अंश स्फुट बन्ध का और दूसरा अंश मृदु बन्ध का रूप प्रस्तुत करता है। श्लोक या काव्यैकदेश में कहीं मृदु और कहीं सहसा स्फुट बन्ध का प्रयोग बन्धवैषम्य का कारण बनता है, जैसा कि हम इस उदाहरण में देखते हैं। इस उदाहरण में **स्पर्धते** सादृश्यसूचक प्रयोग है (तु० २.६१)।

इत्यनालोच्य वैषम्यमर्थालंकारडम्बरम्[3]।
अपेक्षमाणा[4] ववृते[5] पौरस्त्या काव्यपद्धतिः ॥५०॥

स्पर्धते इत्युपर्युक्ते वाक्यप्रकारे बन्धवैषम्यमुपेत्य तद्वाक्यं स्वीकुर्वतो गौडमार्गस्य दृष्टिं प्रस्तौति—**इत्यनालोच्येति**। इति एवंप्रकारके बन्धे वैषम्यं बन्ध-

---

१. प्रसवो-। २. -मुखा-। ३. -डम्बरो। ४. अवेक्षमाणा, अवेक्ष्य-। ५. ववृधे।

विषमताम् अनालोच्य अदृष्ट्वा अविचार्य वा अर्थानां काव्यार्थानाम् अलंकाराणां यमकानुप्रासादीनां च डम्बरम् उत्कर्षम् अपेक्षमाणा आद्रियमाणा पौरस्त्या गौडीया काव्यपद्धतिः काव्यरचनासरणिः ववृते प्रावर्तत । बन्धवैषम्यमस्वीकुर्वन्नपि गौड-मार्गः अर्थालंकारयोरुत्कर्षं प्रति आदरविशेषात्तदङ्गीकरोतीति भावः ।

उक्त प्रकार के बन्धवैषम्य की चिन्ता न करके अर्थ (=वर्ण्य वस्तु) और अलंकार के उत्कर्ष का विशेष आदर करती हुई पौरस्त्य (=गौड) काव्यपद्धति प्रवृत्त हुई है।

गौड मार्ग बन्धवैषम्य को आदर्श के रूप में ग्रहण नहीं करता, परन्तु अर्थ और अलंकार (मुख्यतः अनुप्रास, यमक आदि शब्दालंकार) के आडम्बर के प्रति अपने विशेष आग्रह के कारण, यदि इनके आने से या इनके साथ-साथ बन्धवैषम्य उपस्थित हो जाए तो, यह उसकी चिन्ता नहीं करता, और उससे युक्त काव्य को भी सत्काव्य के रूप में ग्रहण करता है। भोज (**सरस्व०** १.१२७) ने दण्डी के अर्थालंकारडम्बर को अर्थालंकार और शब्दाडम्बर के अर्थ में लिया है। उसने **चन्दनप्रणयोद्गन्धिः** इस समस्त श्लोक को वैषम्य का उदाहरण माना है और गौड मार्ग में समादृत होने से इसके गुणत्व का कथन किया है। अक्षरडम्बर को बाण ने भी गौड मार्ग का प्रमुख लक्षण कहा है; तु० **हर्षचरित**, भूमिका-श्लोक ७। जीवानन्द विद्यासागर ने **अर्थालंकार-डम्बरम् अपेक्षमाणा** का अर्थ इस प्रकार किया है: 'काव्यार्थ और अलंकारों के उत्कर्ष का अनुसरण करती हुई अर्थात् अर्थ और अलंकार के अनुसार कभी मृदु, कभी विकट और कभी मध्यम बन्ध का प्रयोग करती हुई'। इस व्याख्या के अनुसार गौड मार्ग अर्थ और अलंकार के अनुसार विविध बन्धों के एकत्र प्रयोग अथवा बन्धवैषम्य को ग्रहणीय मानता है।

मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः[1]।
येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रताः ॥५१॥

अथ चतुर्थं गुणं माधुर्यमाह—**मधुरमिति**। रसवत् सरसं वाक्यं मधुरं माधुर्यगुणोपेतं भवति। वाचि शब्दे वस्तुनि अर्थे चापि रसस्य माधुर्यावहस्य रसस्य, श्रुतिसुभगतायाः इति भावः, स्थितिः अवस्थानं जायते, येन खलु रसेन धीमन्तः बुद्धिमन्तः, सहृदया इति यावत्, मधुना पुष्परसेन मधुव्रताः भ्रमराः इव माद्यन्ति मत्ताः भवन्ति आनन्दन्तीत्यर्थः। रसशब्देनात्र न शृङ्गारादिरसानां ग्रहणं, स्वयं दण्डिना द्वितीयपरिच्छेदे तेषां पृथक्त्वेन उपादानाद्वर्णनाच्च।

---

१. रसः स्थितः।

रस-युक्त वाक्य माधुर्य गुण से समन्वित होता है। इस रस की स्थिति शब्द और अर्थ दोनों में होती है। सहृदय व्यक्ति इससे इसी प्रकार आह्लादित होते हैं जैसे फूलों के रस से भौंरे आनन्दित हो उठते हैं।

यहाँ माधुर्य गुण को शब्द और अर्थ के आधार पर दो भागों—शब्द-माधुर्य और अर्थमाधुर्य—में बाँटा गया है। इनके स्वरूप की सोदाहरण व्याख्या अगले पद्यों में है। माधुर्य की उक्त परिभाषा में उल्लिखित रस शब्द शृङ्गार आदि रसों का बोधक नहीं है। स्वयं दण्डी ने इस माधुर्यावह रस को शृङ्गारादि रसों से पृथक् मानकर उल्लिखित किया है; रसवत् अलंकार के अन्तर्गत व्याख्यात शृङ्गार आदि आठ रसों के वर्णन के उपक्रम (२.२६२) में उसने प्रस्तुत 'रस' को 'वाक्य में अग्राम्यता का हेतुभूत रस' कहा है। रत्न-श्रीज्ञान ने १.५२ की व्याख्या में इस रस का अर्थ 'श्रुतिसुभगता' किया है। डा० सुशील कुमार दे (**सर आशुतोष मुकर्जी सिल्वर जुबली वाल्यूम, ओरिएंटेलिआ**, खण्ड ३, पृ० २१२ और आगे) ने भी दोनों 'रसों' को पृथक् माना है।

भामह (२.३) ने श्रुतिसुभगता और समासों के विरल प्रयोग को माधुर्य माना है। वामन (३.१.२१;२.१०) ने शब्दगुण के रूप में इसे लम्बे समासों के अप्रयोग के फलस्वरूप आने वाली पृथक्पदता (=विभिन्न पदों की स्पष्टता) एवं अर्थगुण के रूप में उक्तिवैचित्र्य कहा है। भोज (**सरस्व०** १.३९-४०) ने अनिर्व्यूढ नामक दोष की व्याख्या के प्रसङ्ग में दण्डी की प्रस्तुत कारिका तथा अगली कारिका को उद्धृत किया है। उत्तरवर्ती रसध्वनिवादी आचार्यों ने चित्त को द्रवित कर देने वाले ह्लाद को माधुर्य माना है; तु० **काप्र०** ८.६८ : **आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्** ।; **साद०** ८.२ : **चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते** ।

यया कयापि[1] श्रुत्या यत्समानमनुभूयते।
तद्रूपा हि[2] पदासत्तिः[3] सानुप्रासा रसावहा ॥५२॥

माधुर्यकारणं रसावहत्वं लक्षयन्नाह—**ययेति**। यया कयापि कण्ठ्यया तालव्ययाऽन्यया वा श्रुत्या उच्चारणेन यत् समानं पूर्वश्रुतिसदृशम् अनुभूयते प्रतीयते तद्रूपा तादृशानुभूतिस्वरूपा अतश्च सानुप्रासा अनुप्रासोपेता, श्रुत्यनुप्रास-समन्वितेति भावः, पदासत्तिः पदानां सामीप्येन स्थितिः रसावहा रसं श्रुतिसुभगता-मावहति आतनोति इति तादृशी भवतीति शेषः। श्लोकेनानेन वाग्रसः

१. कयाचिच्छ्रुत्या। २. तद्रूपादि-। ३. -सक्तिः।

प्रतिपादितः, वस्तुरसस्तु पश्चाद् वक्ष्यते ।

जिस किसी भी श्रुति (=उच्चारण) से जो (पूर्वश्रुति के) समान श्रुति की अनुभूति होती है, उससे समन्वित अनुप्रासयुक्त पदासत्ति (=पदों की निकट स्थिति) को रस अथवा श्रुतिसुभगता का पोषक माना जाता है।

यहाँ उल्लिखित अनुप्रास श्रुत्यनुप्रास (=समान उच्चारण-स्थान वाले वर्णों का सादृश्य) का बोधक है। हेमचन्द्र (**काअनु०, पृ० २३७**) के अनुसार वाग्रस के अन्तर्गत श्रुत्यनुप्रास और वर्णानुप्रास दोनों आ जाते हैं। इनमें पहला वैदर्भ-अभिमत है और दूसरा गौड-अभिमत; तु० पी. सी. लहीरी : **कन्सेप्ट आफ़ रीति एंड गुण, पृ० ६६-७०।** वस्तुरस का निरूपण दण्डी ने आगे (१.६२) किया है।

एष राजा यदा लक्ष्मीं[1] प्राप्तवान् ब्राह्मणप्रियः ।
तदा[2]प्रभृति धर्मस्य लोकेऽस्मिन्नुत्सवो[3]ऽभवत् ॥५३॥

श्रुत्यनुप्रासोपेतां पदासत्तिमुदाहरति—**एष** इति। अत्रोदाहरणे **ष-र, ज-य-**प्रभृतिभिः समानोच्चारणस्थानैर्वर्णैरुपेतानां पदानामासत्तिर्वर्तते । ईदृशी हि पदासत्तिर्वैदर्भैराद्रियते न तु गौडैरिति उत्तरेण श्लोकेन वक्ष्यति । अथ श्लोकार्थः—एष ब्राह्मणप्रियः ब्राह्मणाः प्रिया यस्येति तादृशः राजा नृपः यदा लक्ष्मीं राजश्रियं प्राप्तवान् शासनाधिकारमधिगतवान् तदाप्रभृति ततः कालाद् आरभ्य अस्मिन् लोके जगति धर्मस्य उत्सवः उत्कर्षः अभवत् ।

(समानश्रुतिरूप पदासत्ति का उदाहरण है :) एष राजा... **इत्यादि, अर्थात् ब्राह्मणों के प्रेमी इस राजा ने जब से राजलक्ष्मी प्राप्त की है, तब से इस संसार (=राज्य) में धर्म की अभिवृद्धि हुई है।**

उक्त उदाहरण में **ष-र ज-य, द-ल, म-प, त-व-न, ब-म, म-ण, इ-य, त-द, प-भ, त-ध, न-त-स-व** और **भ-व**—इन समान उच्चारणस्थान वाले वर्णों से युक्त पदों की आसत्ति (=निकट स्थिति) है। इसे ही उत्तरवर्ती आचार्यों ने श्रुत्यनुप्रास माना है (तु० **साद० १०.५**)। **काव्यादर्श** के बौद्ध व्याख्याकार रत्नश्रीज्ञान ने इस का निम्नलिखित अतिरिक्त उदाहरण दिया है : **नमः संपन्नकृत्याय बुद्धाय जगदर्थिने। कन्दर्पविभ्रमच्छेदवेधसे क्लेशविद्विषे ॥**

इतीदं नादृतं गौडैरनुप्रासस्तु तत्प्रियः ।
अनुप्रासादपि प्रायो वैदर्भैरिदमिष्यते[4] ॥५४॥

पूर्वदर्शितस्य प्रकारस्य गौडानादृतत्वं वैदर्भेप्सितत्वं चाह—**इतीदमिति।**

---

१. राज्यं। २. ततः। ३. उद्भवो। ४. ईप्सितम्, आदृतम्।

इति इदं पूर्वोक्तप्रकारं श्रुत्यनुप्रासोपेतं वचः, अर्थात् ईदृक्स्वरूपं शब्दमाधुर्यं, गौडैः न आदृतं न स्वीकृतम्, माधुर्यगुणोपेतं न मतमित्यर्थः। अस्य स्थाने तु अनुप्रासः वर्णावृत्तिरूपो वर्णानुप्रासः तत्प्रियः तेषां गौडानां प्रीतिकरः स्यात्। परमिदम् उदाहृतस्वरूपं श्रुत्यनुप्रासस्वरूपं शब्दमाधुर्यं वैदर्भैः प्रायः अनुप्रासाद् वर्णानुप्रासाद् अपि अधिकम् इष्यते अभीष्टत्वेन गृह्यते। इत्थं च वैदर्भा उभयं स्वीकुर्वन्तोऽपि श्रुत्यनुप्रासमधिकमाद्रियन्ते, गौडाश्च वर्णानुप्रासं केवलमिच्छन्तीति फलितम्।

इस प्रकार (शब्द माधुर्य का) यह रूप गौड मार्ग के समर्थकों द्वारा समादृत नहीं है; उन्हें तो अनुप्रास (=वर्णानुप्रास) प्रिय है। दूसरी ओर, यह (प्रस्तुत माधुर्य) वैदर्भ मार्ग के अनुयायियों को अनुप्रास (=वर्णानुप्रास) से भी अधिक प्रिय अथवा अभीष्ट है।

वैदर्भ मार्ग शब्द माधुर्य के दोनों पक्षों—श्रुत्यनुप्रास और वर्णानुप्रास—को स्वीकार करता है, यद्यपि इनमें से प्रथम को वह अधिमान देता है। गौड मार्ग केवल वर्णानुप्रास में ही शब्दमाधुर्य की स्थिति मानता है।

वर्णावृत्तिरनुप्रासः पादेषु च पदेषु च ।
पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता[1] ॥५५॥

गौडानां विशेषेण प्रियमनुप्रासं लक्षयन्नाह—**वर्णावृत्तिरिति**। पादेषु श्लोकचरणेषु पदेषु सुप्तिङन्तेषु च शब्देषु वर्णानाम् आवृत्तिः पुनरावर्तनम् अनुप्रासः, यदि पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी पूर्वम् उच्चारितस्य वर्णस्य यः अनुभवः श्रोत्रेण ग्रहणं तज्जनितः यः संस्कारः भावनाविशेषः तं बोधयति उद्बोधयतीति तादृशी अदूरता निकटस्थितिः स्यात्तर्हि इति शेषः। पूर्वानुभूतिसंस्कारबोधिकायाम् आसत्त्यां सत्यां वर्णानामावृत्तिरनुप्रासः कथ्यते, स च द्विविधो भवति पादगतः पदगतश्चेति भावः। अदूरता (=अव्यवधानेन किंचिद्व्यवधानेन वा अवस्थितिः) एव पूर्वानुभूतिजनितं वर्णसादृश्यसंस्कारं बोधयितुं क्षमेति तत्स्थितावेव अनुप्रासस्थितिः। वर्णशब्देनात्र व्यञ्जनानामेव ग्रहणं स्यात् केवलस्वराणामावृत्तौ चमत्काराभावात्।

पहले सुने गए वर्ण के संस्कार को जगाने वाली (वर्णों की) परस्पर निकट-स्थिति होने पर, (श्लोक के) चरणों में अथवा पदों में होने वाली वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास कहते हैं।

अनुप्रास का उक्त रूप उत्तरवर्ती आचार्यों के छेकानुप्रास और वृत्त्यनु-

---

१. –बोधनी यद्यदूरगा।

प्रास से मेल खाता है। विश्वनाथ (साद० १०.३-४) के अनुसार इनकी परिभाषा इस प्रकार है : **छेको व्यञ्जनसंघस्य सकृत्साम्यमनेकधा ॥ अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा । एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥**

चन्द्रे शरन्निशोत्तंसे कुन्दस्तबकसंनिभे[1] ।
इन्द्रनीलनिभं लक्ष्म संदधात्यलिनः[2] श्रियम् ॥५६॥

तत्र पादगतमनुप्रासमुदाहरति—चन्द्र इति। शरन्निशोत्तंसे शारदरात्र्याः शिरोभूषणरूपे कुन्दस्तवकसंनिभे कुन्दाख्यपुष्पगुच्छसदृशे चन्द्रे चन्द्रमसि इन्द्रनीलनिभम् इन्द्रनीलमणिसदृशं (श्यामलं) लक्ष्म चिह्नं, कलङ्क इति यावत्, अलिनः भ्रमरस्य श्रियं शोभां संदधाति धारयति, तद्वद् भासते इत्यर्थः। अत्र चतुर्ष्वपि पादेषु **चन्द्र-कुन्द-इन्द्र-सन्देत्यत्र** नदयोरावृत्तिरिति पादगतोऽनुप्रासः।

(पादगत अनुप्रास का उदाहरण है : चन्द्रे शरन्निशोत्तंसे **इत्यादि, अर्थात् शरद् ऋतु की रात्रि के शिरोभूषणरूप एवं कुन्द के फूलों के गुच्छे के समान (उजले) चन्द्रमण्डल में नीलम के सदृश (नीलवर्ण) यह चिह्न (=कलङ्क) भौंरे की शोभा को धारण किए हुए है (=भौंरे के समान प्रतीत हो रहा है)।**

प्रस्तुत उदाहरण में सभी पादों में **चन्द्र, कुन्द, इन्द्र** और **सन्द** इन शब्दों में **न** और **द** की आवृत्ति है।

चारु चान्द्रमसं भीरु बिम्बं पश्यैतदम्बरे[3] ।
मन्मनो मन्मथाक्रान्तं निर्दयं हन्तु[4]मुद्यतम् ॥५७॥

अथ पदगतमनुप्रासमुदाहरति—**चार्विति**। हे भीरु भयशीले (प्रिये), मन्मथाक्रान्तं कामार्तं मन्मनः मदीयं चित्तं (कर्म) निर्दयं निष्ठुरं यथा स्यात्तथा हन्तुम् उद्यतम् एतद् अम्बरे नभसि दृश्यमानं चारु सुरूपं चान्द्रमसं बिम्बं चन्द्रमण्डलं पश्य अवलोकय। चन्द्रोऽयं चारुदर्शनोऽपि कामातुरे मम चेतसि निर्दयं प्रहर्तुमुद्यत इति नायकस्य प्रियां प्रत्युक्तिरियम्। अत्र **चा** इत्यादीनां **चारु-चान्द्रमसमित्यादिष्वावृत्तिर्वर्तते** इत्ययं पदगतोऽनुप्रासः।

(पदगत अनुप्रास का उदाहरण है :) चारु चन्द्रमसं **इत्यादि, अर्थात् हे भयभीत (प्रिये), कामदेव से पीड़ित मेरे चित्त पर निर्दयतापूर्वक प्रहार करने को उद्यत, आकाश में (स्थित), इस सुन्दर चन्द्रमण्डल को देखो।**

प्रस्तुत उदाहरण में एक वर्ण या वर्णसंघ की दो पदों में आवृत्ति हुई

---

१. -विभ्रमे। २. अनिलः। ३. पश्येदम्। ४. कर्तुम्।

है : **चा** की **चारु** और **चान्द्रमसं** में, **रु** की **चारु** और **भीरु** में, **म्ब** की **बिम्बं** और **अम्बरे** में और **मन्म** की **मन्मनो** और **मन्मथा**– में। अतः यहाँ पदगत अनुप्रास है। जहाँ पिछला उदाहरण चन्द्रमा की प्रशंसा के रूप में है और संभोग-शृङ्गार का पोषक है, वहाँ प्रस्तुत उदाहरण चन्द्र के प्रति उपालम्भ के रूप में है और विप्रलम्भ-शृङ्गार का पोषक है।

इत्यनुप्रासमिच्छन्ति नातिदूरान्तरश्रुतिम्[1]।
न तु रामामुखाम्भोजसदृश[2]श्चन्द्रमा इति ॥५८॥

पूर्वानुभवसंस्कारबोधिनी यद्यदूरता इति यदुक्तं तदेव पोषयति—**इत्यनुप्रासमिति**। इति एवंरूपम् अनन्तरोक्तप्रकारं नातिदूरान्तरश्रुतिम् अनतिविप्रकृष्टव्यवधानश्रवणं, निकटवर्तिसदृशश्रुतिमित्यर्थः, अनुप्रासम् इच्छन्ति कवयः गौडा वैदर्भाश्चेति शेषः। न तु ते दूरान्तरश्रुतिमनुप्रासमीहन्ते। तादृशमनुप्रासमुदाहरति **रामेत्यादिना**। अयमर्थः—चन्द्रमाः रामायाः रमण्याः मुखाम्भोजेन वदनकमलेन सदृशः तुल्यः वर्तते। अत्र **मा** इत्यस्य **रामा-चन्द्रमा** इत्यनयोः दूरस्थितयोः पदयोरावृत्तिर्वर्तते, तेन पूर्वश्रुतमाशब्दसंस्कारो दूरान्तरश्रुतेन **माशब्देन** नोद्बोध्यते, इत्येतादृशोऽनुप्रासो नेष्यते कविभिः।

उक्त प्रकार के अनुप्रास को, जिसमें कि सदृश श्रुति (दूर-स्थित न होकर) समीपवर्ती है, कवि लोग स्पृहणीय मानते हैं। रामामुखाम्भोजसदृशश्चन्द्रमाः **'चांद सुन्दरी के मुखकमल के समान है।' इस प्रकार के (दूर-स्थित समान श्रुति वाले) अनुप्रास को वे पसन्द नहीं करते।**

इस उदाहरण (रामा आदि) में दूर-स्थित **रामा** और **चन्द्रमाः** में **मा** की आवृत्ति है। अनुप्रास का यह रूप गौड और वैदर्भ दोनों मार्गों में अग्राह्य है।

स्मरः खरः खलः कान्तः कायः कोपश्च नः कृशः।
च्युतो मानोऽधिको रागो[3] मोहो जातोऽसवो गताः ॥५९॥
इत्यादि बन्धपारुष्यं शैथिल्यं च नियच्छति[4]।
अतो नैवमनुप्रासं दाक्षिणात्याः प्रयुञ्जते ॥६०॥

संप्रति वैदर्भानभिमतम्, अर्थापत्त्या गौडैरनुप्राससद्भावाद् इष्टं, सदोषमनुप्रासमुदाहरन्नाह—**स्मर** इति। स्मरः कामः खरः अतितीक्ष्णः वर्तते, कान्तः

१. –स्थितिम्। २. –सदृक्षश्। ३. रोगो। ४. निगच्छति।

प्रियः खलः प्रतिकूलवर्ती अस्ति, अथ च नः अस्माकं कायः शरीरं कोपः प्रियविषयः प्रणयकोपः च कृशः क्षीणः, शरीरं विरहाद् दुर्बलं जातं कोपश्च निवृत्त इत्यर्थः। अथ मानः गौरवं च्युतः विनष्टः, रागः प्रियसमागमाभिलाषः अधिकः प्रबलोऽस्ति ततश्च मोहः मूर्च्छा जातः प्रवृत्तः रागपक्षत्वात्, अन्ततश्च असवः प्राणाः गताः प्रायेणेति भावः। प्रतिकूलवर्तिनं नायकं प्रति गलितमानाया नायिकाया निराशोक्तिरियम्। उदाहरणमिदमुद्दिश्याह—इत्यादि एवमादि अनुप्रासोपेतं काव्यं (कर्तृ) वक्ष्यमाणसौकुमार्यविपर्ययं बन्धपारुष्यं पूर्वोक्तश्लेषविपक्षं च शैथिल्यं नियच्छति ज्ञापयति स्वीकरोति वा। अतः अस्मात् कारणाद् एवम् ईदृशं दोषदुष्टम् अनुप्रासं दाक्षिणात्याः वैदर्भमार्गानुयायिनः न प्रयुञ्जते न व्यवहरन्ति। गौडास्तु अनुप्रासमात्रलोभाद् ईदृशमनुप्रासं स्वीकुर्वन्ति इत्यर्थादापद्यते।

स्मरः खरः इत्यादि **(अर्थात् कामदेव तीव्र है और प्रिय प्रतिकूल है; मेरी काया क्षीण हो गई है, प्रणयकोप समाप्त हो चुका है और मान गल चुका है। प्रियमिलन की इच्छा प्रबल है, मूर्च्छा जाग रही है और प्राण निकल-से रहे हैं।) यह उदाहरण बन्धपारुष्य और शिथिलता का ज्ञापक है। इसलिए इस प्रकार के (दोषपूर्ण) अनुप्रास का प्रयोग वैदर्भ मार्ग के अनुयायी नहीं करते।**

बन्धपारुष्य अगले गुण सुकुमारता (१.६६-७२) का विपर्यय है। कठोर वर्णों (**ऋ, लृ** स्वर, वर्ग के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अक्षर, **श, ष, स, ह,** विसर्ग, अनुस्वार और संयुक्त वर्ण) का बहुल प्रयोग बन्धपारुष्य का कारण है। प्रस्तुत उदाहरण में **ऋ, ख, ग, ज, ध, स, श, ह,** विसर्ग और संयुक्त वर्णों (**न्त, श्च, च्यु**) का प्रचुर प्रयोग है। शैथिल्य श्लेष गुण (१.४३-४) का विपर्यय है। यह शैथिल्य १.६६ में उल्लिखित, केवल कोमल वर्णों के प्रयोग से उत्पन्न, बन्धशैथिल्य से भिन्न है। यहाँ इससे अभिप्राय विभिन्न पदों की परस्पर अश्लिष्टता है। वैदर्भ मार्ग उक्त दोषों से युक्त अनुप्रास को स्वीकार नहीं करता, परन्तु गौड मार्ग अनुप्रास के प्रति अपने विशेष आग्रह के कारण ऐसे अनुप्रास को भी ग्राह्य मानता है। उक्त उदाहरण में **र, ख, क** और **त** की आवृत्ति है। प्रथम दो चरणों में विसर्ग की और अन्तिम दो चरणों में **ओ** की आवृत्ति भी है। अतः यहाँ अनुप्रास है। भोज (**सरस्व० १, उदा० ४७**) ने **स्मरः** आदि पद्य को ओज के विपर्यय असमस्त के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। इसी संदर्भ में उसने **इत्यादि**···आदि कारिका को भी उद्धृत किया है (तु० १.३७)।

आवृत्ति[1] वर्णसंघातगोचरां[2] यमकं विदुः ।
तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद् विधास्यते ॥६१॥

माधुर्यावहम् अनुप्रासं व्याख्यायाधुना तत्सजातीयं यमकं निर्दिशन्नाह—**आवृत्ति**मिति। वर्णसंघातः वर्णसमूहः एव गोचरः विषयः यस्याः तां तथाभूताम् आवृत्तिं पुनरावर्तनं यमकं तदाख्यम् अलंकारं विदुः सहृदया इति शेषः । वर्णसमूहः पदम्, तदावृत्तिश्च यमकमिति निष्कृष्टार्थः, तदाह तृतीयपरिच्छेदारम्भे **व्यावृत्तिर्वर्णसंहतेः यमकम्** इति । एवं वर्णावृत्तिरनुप्रासः पदावृत्तिश्च यमकमित्यनयोर्विशेषः। तद् यमकं तु एकान्तमधुरं साकल्येन सर्वावस्थासु वा माधुर्यवत् नास्ति, अतः अस्मात् कारणात् तत् पश्चाद् अनन्तरं शब्दालंकार-प्रस्तावप्रसङ्गे विधास्यते व्याख्यास्यते। यमकमपि अनुप्रासवद् माधुर्यावहं भवति, परं न सर्वदा साकल्येन च, प्रायशस्तस्य दुर्बोधार्थतया प्रसादराहित्यात्।

वर्ण-समूह अर्थात् पद से संबन्धित आवृत्ति को यमक (अलंकार) कहते हैं। यह (अलंकार) सर्वदा (=सब स्थितियों में) मधुर नहीं होता, अतः इसकी व्याख्या बाद में की जाएगी।

यमक अनुप्रासजातीय अलंकार है और अनुप्रास के समान ही माधुर्यावह है, परन्तु पद की आवृत्ति में प्रायः अर्थप्रतीति की कठिनाई के कारण यह सर्वदा अथवा सभी अवस्थाओं में माधुर्यगुण का आधान नहीं करता। रत्नश्रीज्ञान के अनुसार काव्य-माधुर्य के लिए प्रसाद गुण की भी अनिवार्यता होती है; इस गुण के अभाव में माधुर्य अस्तित्व में नहीं आता। यमक के प्रयोग में इस के अभाव की स्थिति पैदा हो जाती है, अतः यह अलंकार 'एकान्तमधुर' नहीं है एवं इस कारण आचार्य ने इसका विवेचन गुणों और अर्थालंकारों के बाद शब्दालंकारों और विशेषतः दुष्कर काव्य के प्रसङ्ग में (तीसरे परिच्छेद में) किया है।

कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिञ्चति[3] ।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं[4] भारं वहति भूयसा ॥६२॥

शब्दगतं रसं (वाग्रसं) निर्वर्ण्य संप्रति अर्थगतं रसं (वस्तुरसं) विवृणोति—**काम**मिति। कामं यद्यपि सर्वः अपि शब्दगतः अर्थगतश्चालंकारः अर्थे विषयवस्तुनि रसं माधुर्यं निषिञ्चति पुष्णाति उद्बोधयति वा, तथापि वक्ष्यमाणा अग्राम्यता एव एनं भारं रसनिषेकलक्षणं भूयसा प्राधान्येन बाहुल्येन वा वहति धत्ते, न तु अलंकारादिकः इत्यर्थः। वस्तुरसः प्राधान्येनाग्राम्यतात्मक इति

---

१. आवृत्तिमेव संघात–। २. –गोचरं। ३. निषिञ्चतु। ४. –वैवं, –वैतं।

निष्कृष्टार्थः ।

यद्यपि सभी अलंकार अर्थ (=विषयवस्तु) में रस (=माधुर्य) का सिञ्चन करते हैं, तथापि अग्राम्यता ही प्रधान रूप से इस (रस-सिञ्चन रूप) भार को धारण करती है ।

'सभी अलंकार' से अभिप्राय 'सभी गुण, अर्थालंकार और शब्दालंकार' है । रत्नश्रीज्ञान के अनुसार यहाँ केवल अर्थालंकार ही अभिप्रेत हैं । दण्डी ने इस पद्य में अर्थमाधुर्य की अभावात्मक व्याख्या की है । अग्राम्यता अपने-आप में कोई भावात्मक तत्त्व नहीं है; यह ग्राम्यता के अभाव का नाम है । ग्राम्यता का न होना मात्र माधुर्य का कारण नहीं बन सकता । तब वह कौन-सा तत्त्व है जो अर्थमाधुर्य का आधान करता है ? दण्डी इस संबन्ध में मौन है । संभवतः उसका अभिमत यह है कि विषयवस्तु का कोई भी रूप हो, वह मधुर होता है, यदि उसमें अलंकारों का समुचित विन्यास हो और ग्राम्यता न हो । ग्राम्यता के अभाव के प्रति दण्डी का यह विशेष आग्रह आनन्दवर्धन (ध्वन्या० ३.१४ वृत्ति) के इस कथन से तुलनीय है : **अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम् ।** ग्राम्यता भी अनौचित्य का ही एक रूप है ।

कन्ये कामयमानं मां न त्वं[1] कामयसे कथम् ।
इति ग्राम्योऽयमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते[2] ॥६३॥

ग्राम्यमर्थं निर्दिशन्नाह—**कन्य** इति । हे कन्ये वाले, कामयमानं त्वां प्रति कामभावेन वर्तमानं मां त्वं कथं न कामयसे नाभिलषसि ? इति एवंविधः अयं ग्राम्यः अर्थात्मा वस्तुरूपं वैरस्याय रसव्याघाताय प्रकल्पते प्रभवति । कामः खलु कामिनां सुरतेच्छारूपः व्यङ्ग्य एव चमत्करोति, न तु स्वशब्देनाभिहितः, स्वशब्दाभिहितस्तु स लज्जाकरत्वाद् वैरस्यमावहतीति भावः ।

'हे बाले, तुम्हारे प्रति कामभाव से युक्त मुझे तुम क्यों नहीं चाहतीं ?' —इस प्रकार का ग्राम्य अर्थ विरसता उत्पन्न करने वाला होता है ।

कामभाव सुरत की इच्छा का बोधक है; इसकी अभिव्यक्ति व्यङ्ग्य रूप में ही होनी चाहिए । वाच्य रूप में अभिव्यक्त यह अर्थ लज्जाजनक होने से ग्राम्यकोटि में आ जाता है । प्रिया को कन्या शब्द से, जिसका अर्थ पुत्री भी है, संबोधित करना भी ग्राम्यत्व है । उक्त भाव को अग्राम्य रूप में किस प्रकार अभिव्यक्त किया जा सकता है, यह अगले श्लोक में दिखाया गया है ।

---

१. त्वं न । २. वैरस्यायैव कल्पते, कल्प्यते ।

कामं कन्दर्पचाण्डालो[1] मयि वामाक्षि निष्ठुरः[2] ।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्टचेत्यग्राम्योऽर्थो रसावहः ॥६४॥

अग्राम्यमर्थमुदाहरन्नाह—**काम**मिति । अयि वामाक्षि सुलोचने, कामं यद्यपि कन्दर्पचाण्डालः कन्दर्पश्चासौ चाण्डालः क्रूरप्रहारी कामः मयि मां प्रति निष्ठुरः निर्दयः वर्तते, तदपि दिष्ट्या भाग्येन स त्वयि निर्मत्सरः निर्वैरः अपगतरोषो वास्ति । इत्ययम् एवंरूपः अग्राम्यः ग्राम्यत्वदोषरहितः अर्थः रसावहः माधुर्यावहः भवति । पूर्वश्लोकगत एवार्थोऽत्र व्यङ्ग्यरूपेण नागरजनोचितेन च संबोधनेन कथित इति ग्राम्यतादोषरहितोऽयमर्थः सारस्याय कल्पते ।

'हे वामलोचने, यद्यपि क्रूर कामदेव मेरे प्रति निष्ठुर है, तथापि सौभाग्य से वह तुम्हारे अनुकूल है'—इस प्रकार (अभिव्यक्त) यह अग्राम्य अर्थ रस (अथवा माधुर्य) का कारण है ।

यहाँ नायक अपने प्रेम की उत्कटता एवं नायिका की अपने प्रति उदासीनता का संकेत दे रहा है; यह संकेत अग्राम्य अथवा सभ्य ढंग से दिया गया है, अतः यहाँ वस्तुपक्ष रसावह है (तु० **सरस्व०** १, **उदा०** १७३)। यद्यपि दण्डी यहाँ अग्राम्य अभिव्यक्ति पर विशेष बल देता है, तथापि स्वयं उसकी अपनी कृतियों में अनेकत्र ग्राम्यता-दोष है । विशेष रूप से तु० **दशकुमारचरित**, पृ० ६६ : **त्वामयमाबद्धाञ्जलि दासजनस्तमिममर्थमर्थयते । स्वपिहि मया सह सुरतव्यतिकरखिन्नैवमेव त्वम्** ॥

शब्देऽपि ग्राम्यतास्त्येव सा सभ्येतरकीर्तनात्[3] ।
यथा यकारादिपदं रत्युत्सवनिरूपणे ॥६५॥

अर्थगतां ग्राम्यतामुक्त्वा संप्रति शब्दगतां निर्दिशति—**शब्देऽपी**ति । सभ्येतरस्य असभ्यस्य शब्दस्य कीर्तनाद् उच्चारणात् सा पूर्वोक्ता ग्राम्यता नाम दोषः शब्देऽपि अस्त्येव, यथा खलु रत्युत्सवस्य सुरतोत्सवस्य निरूपणे वर्णने, रतिक्रीडावर्णनप्रसङ्गे इति यावत्, यकारादिपदं √यभ् (मैथुने) धातोर्निष्पन्नं **याभ-यभना**दिकं पदजातं ग्राम्यतादोषदुष्टं भवति । पदविशेषनिष्ठोऽयं ग्राम्यतादोषः माधुर्यगुणप्रतिबन्धी वर्तते ।

असभ्य (=अश्लील) शब्द के कथन से (उत्पन्न) यह ग्राम्यता शब्द में भी होती ही है; जैसे रतिक्रीडा के वर्णन-प्रसङ्ग में (प्रयुक्त) यकार से आरम्भ होने वाले (याभ, यभन आदि) पद (अश्लील होते हैं) ।

दण्डी ने अपने समय के इन अश्लील शब्दों का नामतः उल्लेख नहीं

---

१. –चण्डालो । २. निर्दयः । ३. –कीर्तनम् ।

किया। रत्नश्रीज्ञान भी **सुसिद्धं खल्वेतदशिष्टवचनम्** कहकर आगे बढ़ गया है। शब्दविशेष की अश्लीलता युगविशेष के लोकव्यवहार पर आधारित होती है। समान अर्थ में प्रयुक्त **सुरत, निधुवन, याभ** इन शब्दों में **याभ** अथवा **यभन** दण्डी के समय में असभ्य व्यवहार में प्रयुक्त होने से अशिष्ट रहे होंगे; अन्य शब्द सभ्य व्यवहार में प्रयुक्त होने से उसके युग में शिष्ट अथवा श्लील होंगे।

पदसंधान[1]वृत्त्या वा[2] वाक्यार्थत्वेन वा पुनः।
दुष्प्रतीतिकरं ग्राम्यं यथा या[3] भवतः प्रिया ॥६६॥

न केवलं पदविशेषनिष्ठो ग्राम्यत्वदोषः, अपितु पदसंधानवृत्तिर्वाक्यार्थ-विशेषसंकेतितश्चापीत्याह—**पदसंधानेति**। पदानां संधानस्य संधेः वृत्त्या स्थित्या अथवा पुनः वाक्यार्थत्वेन वाक्यार्थविशेषतयाऽपि दुष्प्रतीतिकरं दुष्टार्थप्रतीति-जनकम् (अशिष्टार्थबोधकरं) वाक्यं ग्राम्यं ग्राम्यतादोषदुष्टं भवति। तत्र पदसंधा-नेन असभ्यार्थप्रतीतेः उदाहरणमाह—**या भवतः प्रिया** इति। या ते प्रियेति शिष्टोऽर्थः, परं **याभवतः प्रिया** इति पदसंधानस्थितौ अत्र **याभवतः** सततमैथुना-नुरक्तस्य प्रिया सुरतप्रदानेन प्रीणयित्रीत्यशिष्टोऽर्थः प्रतीयते।

पदों को परस्पर जोड़ देने से अथवा वाक्य के अर्थविशेष के माध्यम से अशिष्ट अर्थ की प्रतीति कराने वाला (वाक्य) भी ग्राम्य होता है; यथा—या भवतः प्रिया **'जो आपकी प्रिया है'** >याभवतः प्रिया **'सतत मैथुनरत व्यक्ति की प्रिया।'**

उक्त वाक्यांश पदसंधान से प्रतीत होने वाले अशिष्ट अर्थ का उदाहरण है; वाक्यार्थविशेष से अशिष्ट अर्थ के प्रत्यायक वाक्य का उदाहरण अगले पद्य में है। भामह (१.५२) ने ग्राम्यत्व दोष के इस रूप को कल्पनादुष्ट कहा है और इसका उदाहरण दिया है: **स शौर्याभरणः** (यहाँ **याभरणः** 'मैथुनयुद्ध-रत' इस अशिष्ट अर्थ का बोधक है)। भोज (सरस्व० १, उदा० १७) ने इसे असभ्यार्थान्तर कहकर दण्डि-प्रेरित इस पद्य से उदाहृत किया है: **विद्यामभ्यस्यतो रात्रावेति या भवतः प्रिया। वनितागुह्यकेशानां कथं ते पेलबन्धनम् ॥**

खरं[3] प्रहृत्य विश्रान्तः पुरुषो वीर्यवानिति।
एवमादि न शंसन्ति मार्गयोरुभयोरपि ॥६७॥

वाक्यार्थविशेषेण प्रतिभासमानं ग्राम्यत्वमाह—**खरमिति**। खरं तन्नामकं राक्षसं प्रहृत्य हत्वा वीर्यवान् वीरः पुरुषः, राम इत्यर्थः, विश्रान्तः विश्रमं खेदं

---

१. -संघात-। २. च। ३. वा। ४. परं।

वा गतः इति शिष्टोऽर्थः, अशिष्टश्च प्रतीयमानोऽर्थः 'खरं गाढमत्यर्थं वा प्रहृत्य कामशास्त्रोक्तं शिश्नप्रहारं कृत्वा वीर्यवान् उपचितशुक्रः पुरुषः विश्रान्तः विरतः खेदं गतः' इति। एवमादि इदंप्रकारकं ग्राम्यत्वदोषदुष्टं वाक्यम् उभयोरपि मार्गयोः मार्गद्वयेऽपि न शंसन्ति नाद्रियन्ते तत्तत्समर्थका इति शेषः।

(शिष्ट अर्थ :) 'खर (नामक राक्षस) को मारकर वीर पुरुष (राम) ने विश्राम किया।' (प्रतीयमान अशिष्ट अर्थ :) 'रतिक्रीडा में अत्यधिक लिङ्गप्रहार करके उद्रिक्तवीर्य पुरुष विरत हो गया।' इस प्रकार के (अशिष्ट अर्थ के उद्‌बोधक) प्रयोग को दोनों मार्गों के समर्थक मान्यता नहीं देते।

भामह (१.५०-१) ने इसे अर्थदुष्ट के रूप में ग्रहण किया है और इसका यह उदाहरण दिया है : **हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः। पतनं जायतेऽवश्यं कृच्छ्रेण पुनरुन्नतिः॥**

भगिनीभगवत्यादि सर्वत्रैवा[1]नुमन्यते।
विभक्तमिति माधुर्यमुच्यते सुकुमारता ॥६८॥

कतिचन शब्दा दुष्टप्रतीतिकराः सन्तोऽपि ग्राह्या एवेति तदाह—**भगिनीति।** **भगिनीभगवतीत्यादि** पदजातं योन्यादिग्राम्यार्थवाचकभगादिशब्दघटितमपि सर्वत्रैव शास्त्रे काव्ये लोकव्यवहारे चापि अनुमन्यते आद्रियते। इति एवं माधुर्यं तन्नामा गुणः विभक्तं भागद्वयनिर्देशपूर्वकं प्रपञ्चितः। संप्रति सुकुमारता नाम गुणः उच्यते वर्ण्यते।

भगिनी, भगवती **आदि शब्दों का प्रयोग सर्वत्र अनुमत है। इस प्रकार माधुर्यगुण की व्याख्या की गई। अब सुकुमारता (नामक गुण) का वर्णन किया जाता है।**

भगिनी, भगवती जैसे पद **भग** शब्द, जिसका अर्थ योनि भी है, से बने हैं, तथापि लोकसंमत होने से ये शब्द स्वीकार्य हैं (तु० **सरस्व० १.१०५ वृत्ति**)। भोज (**शृङ्गार० ६, पृ० ३४६**) के अनुसार संवीत (=दोषरहित रूप में सर्वजनव्यवहृत), गुप्त (=प्रसिद्ध अर्थ से तिरोहित अप्रसिद्ध अशिष्ट अर्थ) और लक्षित (=लक्षणा द्वारा अभिव्यक्त) प्रयोगों में ग्राम्यत्व दोष नहीं होता : **तस्य संवीतगुप्तलक्षितादौ न दोषः। संवीतस्य हि लोकेन न दोषान्वेषणं क्षमम्। शिवलिङ्गस्य संस्थाने कस्यासभ्यत्वभावना॥** भोज का 'संवीत' दण्डी के 'सर्वत्र अनुमत' का ही दूसरा रूप है। **विभक्तमिति माधुर्यम्** माधुर्य के शब्द और अर्थ के आधार पर किए गए 'विभाजन' का द्योतक है।

---

१. सर्वथैवानु-।

अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमारमिहेष्यते[1] ।
बन्धशैथिल्यदोषस्तु[2] दर्शितः सर्वकोमले[3] ॥६९॥

अथ पञ्चमं गुणं लक्षयति—**अनिष्ठुरेति** । अनिष्ठुराक्षरप्रायं सुकुमाराक्षरबहुलं वाक्यम् इह सुकुमारं सौकुमार्यगुणोपेतम् इष्यते इष्टतया मन्यते । प्रायःपदेनात्र अन्तरान्तरा कठोराण्यपि अक्षराणि प्रयोज्यानि इति व्यज्यते । तदेव परिपोषयन्नाह—सर्वकोमले केवलकोमलाक्षरबन्धे तु बन्धशैथिल्यदोषः दर्शितः पूर्वं निदर्शितः श्लेषवर्णनप्रसङ्गे । अतः खलु भूयसां कोमलानां मध्ये कतिचन परुषाण्यपि अक्षराणि निवेशनीयानीति फलितम् ।

सुकुमार वर्णों के बहुल प्रयोग से युक्त रचना सुकुमारता गुण से समन्वित होती है। (इसमें बीच-बीच में कुछ कठोर अक्षरों का प्रयोग भी वाञ्छनीय है, क्योंकि) केवल मात्र कोमल वर्णों वाले बन्ध में बन्धशैथिल्य दोष आ जाता है, जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है।

श्लेष गुण को 'अस्पृष्टशैथिल्य' कहा गया है (१.४३)। यहाँ शैथिल्य से अभिप्राय है केवल अल्पप्राण वर्णों से ग्रथित काव्यबन्ध। प्रस्तुत गुण के संदर्भ में केवल कोमल वर्णों (तु० १.४७ की व्याख्या) का प्रयोग शैथिल्य दोष है। जैसा कि प्रेमचन्द्र तर्कवागीश का मत है, अल्पप्राण अक्षर कोमल ही हों, यह अनिवार्य नहीं है। प्रस्तुत कारिका के **दर्शितः** शब्द से प्रतीत होता है कि दण्डी अल्पप्राण वर्णों को कोमल ही मानता है। ऐसी स्थिति में यह आपत्ति उठती है कि श्लेष और सुकुमारता दोनों गुण शैथिल्य-प्रतिरोधी होने के कारण अभिन्न हैं। इस आपत्ति में बल है।

दण्डी का सुकुमारता गुण समता के अन्तर्गत आने वाले मध्यम बन्ध से, जहाँ मृदु और कठोर वर्णों का योग होता है, भी तुलनीय है। सुकुमारता में सुकुमार वर्णों का आधिक्य होता है; मध्यम बन्ध के लिए ऐसी कोई शर्त नहीं है। यही दोनों में अन्तर है। वामन (३.१.२२;२.११) ने सुकुमारता को शब्द गुण के रूप में कठोरता का अभाव और अर्थगुण के रूप में अपरुष अर्थ माना है। भोज (सरस्व० १.६८) ने इस गुण के संबन्ध में दण्डी का अनुसरण किया है। मम्मट आदि उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसे अमङ्गल दोष का अभाव मात्र कहा है (तु० काप्र० ८.७२ वृत्ति) और इसे गुण के रूप में अमान्य ठहराया है।

मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः ।
कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि ॥७०॥

१. इती–, इहोच्यते। २. –दोषो हि, दोषोऽपि। ३. –कोमलैः।

सुकुमारतामुदाहरति—**मण्डलीकृत्येति** । जीमूतमालिनि मेघमालाशालिनि काले समये, वर्षासु इत्यर्थः, कलापिनः मयूराः बर्हाणि स्वकीयानि पिच्छानि मण्डलीकृत्य छत्राकारेण वितत्य मधुरगीतिभिः मधुरा मनोहरा गीतिः केकाध्वनिः येषां तैः कण्ठैः, लक्षिताः सन्तः इति शेषः, प्रनृत्यन्ति नृत्यं कुर्वन्ति । वर्षाकाले गर्जत्सु मेघेषु मण्डलितबर्हा मयूरा मधुरं गायन्तो नृत्यन्तीति भावः । अत्र भूयस्सु सुकुमारवर्णेषु कतिचित् परुषा वर्णाः संयुक्ताक्षराणि च प्रयुक्तानि वर्तन्ते इति विरलपरुषाक्षरसहितकोमलाक्षरभूयस्त्वात् सुकुमारता नाम गुणः ।

(सुकुमारता का उदाहरण है :) मण्डलीकृत्य **इत्यादि, अर्थात् मेघमाला वाले (वर्षा) काल में अपने पंखों को मण्डलाकार में फैलाकर मधुरगीत-युक्त कण्ठों से (गाते हुए) ये मयूर नाच रहे हैं ।**

प्रस्तुत उदाहरण में प्रचुर सुकुमार वर्णों के बीच-बीच में **क्ष, ग, ज, ठ, ड, ध, ब, भ, और ह**—इन कठोर वर्णों एवं **ण्ड, त्य** आदि संयुक्त अक्षरों का प्रयोग है । यह उदाहरण समता के अन्तर्गत गृहीत मध्यम बन्ध के उदाहरण **(चन्दनप्रणयोद्गन्धिर्मन्दो मलयमारुतः—१.४६)** से तुलनीय है । भोज **(सरस्व० १, उदा० ७६)** ने इस पद्य को इसी गुण के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है ।

इत्यनूर्जित एवार्थो नालंकारोऽपि तादृशः ।
सुकुमारतयैवैतदारोहति सतां मनः[1] ॥७१॥

अर्थस्य अनौर्जित्येऽनलंकृतत्वे चापि शब्दसौकुमार्यमात्रादेव काव्यस्य सहृदयहृदयंगमत्वमित्याह—**इत्यनूर्जित** इति । इति अत्र अनन्तरोदिते पद्ये अर्थः प्रतिपाद्यो विषयः अनूर्जितः अदीप्तः एवास्ति, न खलु तेजोविशिष्टः; अथ च अलंकारः अपि न तादृशः अतिशययुतः वैचित्र्यजनको वा । समासोक्तिः स्वभावोक्तिश्चात्रालंकारौ नातिमात्रं चमत्कुरुतः इत्यर्थः । तथापि एतत् पद्यं सुकुमारतया तदाख्यगुणवत्त्वाद् एव सतां सहृदयानां मनः चेतः आरोहति अधितिष्ठति, तन्मोहयतीति भावः ।

इस पद्य में अर्थ (=प्रतिपाद्य वस्तु) अनूर्जित ही है और अलंकार भी चमत्कारी नहीं है । यह सुकुमारता गुण के कारण ही सहृदयों के हृदय में स्थान बनाता है ।

ऊर्जित अर्थ से ओजःपूर्ण अथवा तेजोदीप्त वर्णन अभिप्रेत है; इस रूप में अनूर्जित अर्थ सुकुमार अर्थ का वाचक है । वस्तुतः दण्डी ने सुकुमार

---

१. मुखम् ।

वर्णों के साथ-साथ सुकुमार भावों को भी इस गुण का लक्षण माना है, यद्यपि यह बात उसने अपनी गुण-परिभाषा में स्पष्ट नहीं की है। संभवतः अर्थ का अनौर्जित्य उसकी दृष्टि में गुण न होकर दोष हो। भरत (१७.१०२) और वामन (३.२.११) ने इस गुण की व्याख्या में सुकुमार अर्थ का स्पष्ट उल्लेख किया है। उपर्युक्त उदाहरण में समासोक्ति और स्वभावोक्ति अलंकार हैं, परंतु दण्डी इन्हें चमत्कारपूर्ण नहीं मानता। जीवानन्द विद्यासागर के अनुसार इस श्लोक में अर्थ और अलंकार की अपेक्षा गुण के विशेष महत्त्व पर बल दिया गया है; उसकी दृष्टि में गुणवैचित्र्य के अभाव में अर्थ और अलंकार शोभा धारण नहीं करते।

दीप्तमित्यपरैर्भूम्ना कृच्छ्रोद्यमपि बध्यते।
न्यक्षेण क्षपितः[1] पक्षः[2] क्षत्रियाणां क्षणादिति ॥७२॥

अर्थौर्जित्यादराद् गौडैरसुकुमारबन्धोऽपि स्वीक्रियते इति तद्दर्शयति—**दीप्त**मिति। अपरैः, गौडैरित्यर्थः, कृच्छ्रोद्यमपि परुषाक्षरप्रायतया दुरुच्चार्यमपि पदजातं दीप्तम् औज्ज्वल्ययुतम् ऊर्जितं वेति मत्वा भूम्ना प्राचुर्येण वध्यते गुम्फ्यते प्रयुज्यते। और्जित्यादरेण ते कष्टोच्चार्यमपि बन्धं वितन्वत इत्यर्थः। तदुदाहरति **न्यक्षेणे**त्यादिना। न्यक्षेण परशुरामेण अथवा नेत्रहीनेन (धृतराष्ट्रेण) क्षणात् स्वल्पेनापि कालेन क्षत्रियाणां राजन्यानां पक्षः वर्गः क्षपितः विनाशितः, धृतराष्ट्रपक्षे दुर्मन्त्रणया विध्वंसित इति भावः। **न्यक्षेणे**ति कात्स्न्र्येनेत्यर्थेऽपि गृह्यते। अत्रोदाहरणेऽर्थ ऊर्जितः, शब्दबन्धश्च परुषः कष्टोच्चारणश्च वर्तते संयुक्ताक्षराणां **न्यक्षत्राणां** प्रचुरप्रयोगात्। कृच्छ्रोद्योऽप्ययं बन्धः दीप्तिमानिति कृत्वा गौडैराद्रियते, वैदर्भैस्तु सुकुमारबन्धप्रियैर्नैदृशो बन्धः स्वीक्रियते।

अन्य (=गौड) मार्ग के अनुयायी प्रायः कठिनता से उच्चार्य काव्यबन्ध का भी, उसे दीप्त मानकर, प्रयोग करते हैं। जैसे—न्यक्षेण क्षपितः पक्षः क्षत्रियाणां क्षणात् **'परशुराम ने (अथवा नेत्रहीन धृतराष्ट्र ने) थोड़े ही समय में क्षत्रिय-वर्ग का विनाश कर दिया।'**

उक्त पदरचना न्य, क्ष और त्र के प्रचुर प्रयोग से कष्टोच्चार्य हो गई है, तथापि गौडमार्ग में यह दीप्तियुक्त रचना होने के कारण स्वीकार्य है। वैदर्भमार्ग ऐसे परुष बन्ध को मान्यता नहीं देता। दीप्त शब्द उज्ज्वल (glaring, grand) अर्थ में प्रयुक्त है। रत्नश्रीज्ञान के अनुसार यह ऊर्जित का पर्याय है और इस प्रकार १.७१ में उल्लिखित अनूर्जित अर्थ का विपर्यय है। दूसरी

---

१. क्षयितः। २. पक्षः क्षपितः।

ओर सुकुमार का विपर्यय परुष या कृच्छ्रोद्य है जिसे भोज (**सरस्व० १.८**) ने कष्ट शब्द से गृहीत किया है। अन्यत्र (**वही १.१२८ वृत्ति**) उसने कहा है :
कठोरमपि बध्नन्ति दीप्तमित्यपरे पुनः। तेषां मतेन तस्यापि दूषणं नैव विद्यते॥
यथा—न्यक्षेण पक्षः क्षपितः क्षत्रियाणां क्षणादयम्।

अर्थव्यक्तिरनेयत्वमर्थस्य हरिणोद्धृता।
भूः खुरक्षुण्णनागासृग्लोहितादुदधेरिति ॥७३॥

अथ षष्ठं गुणमर्थव्यक्तिं व्याचष्टे—**अर्थव्यक्तिरिति**। अर्थस्य प्रतिपाद्यस्य वस्तुनः अनेयत्वम् अनध्याहार्यत्वम् अध्याहारकल्पनां विनैव सम्यगभिव्यक्तिः (प्रयुक्तैः पदैरेव साकल्येनार्थाभिव्यक्तिरित्यर्थः) अर्थव्यक्तिः तदाख्यः गुणः। तमुदाहरति **हरिणे**त्यादिना। हरिणा वराहरूपिणा विष्णुना खुरक्षुण्णनागासृग्लोहिताद् खुरैः शफैः क्षुण्णानां दलितानां नागानां रसातलवासिनां सर्पाणाम् असृजा रुधिरेण लोहिताद् रक्तीभूताद् उदधेः समुद्राद् भूः (प्रलयकाले समुद्रान्तर्निमज्जिता) पृथिवी उद्धृता ऊर्ध्वं नीता। अत्र उदधिलौहित्यहेतुः वराहखुरचूर्णितसर्पशोणितसंपर्कः शब्दोपात्त इति न तस्य नेयत्वम् (=अध्याहार्यत्वम्), नेयत्वदोषराहित्याच्चार्थस्यात्रार्थव्यक्तिर्नाम गुणः।

अर्थ की अनेयता अर्थव्यक्ति है। यथा—'(वराहरूपधारी) विष्णु ने अपने खुरों से कुचले गये साँपों के रक्त से रञ्जित समुद्र में से पृथ्वी को बाहर निकाला।'

अर्थ को समस्त रूप से अभिव्यक्त न करना, अर्थात् उसे इस प्रकार व्यक्त करना कि उसका कुछ अंश अध्याहार्य हो, नेयता दोष कहलाता है। इस दोष के अभाव को अर्थात् अर्थ की अनेयता को अर्थव्यक्ति गुण कहते हैं। नेयता का निदर्शन अगले पद्य में है जो प्रस्तुत उदाहरण (**हरिणोद्धृता आदि**) का प्रत्युदाहरण है। अर्थव्यक्ति की दण्डि-कृत परिभाषा नकारात्मक है। वस्तुस्वरूप को स्पष्ट करने में नकारात्मक परिभाषा कभी-कभी अधिक सफल होती है। अर्थव्यक्ति का प्रसादगुण से निकट संबन्ध है; दोनों गुण प्रतीतिसुभगत्व को जन्म देते हैं, यद्यपि इसके लिए दोनों दो विभिन्न साधन अपनाते हैं। जहाँ प्रसाद प्रसिद्धार्थक शब्दों के प्रयोग द्वारा प्रतीतिसुभगता को जन्म देता है, वहाँ अर्थव्यक्ति अर्थ की संपूर्ण अभिव्यक्ति के माध्यम से यह कार्य करती है। भोज (**सरस्व० १.६९**) ने अर्थ की साकल्येन अभिव्यक्ति को संपूर्णवाक्यत्व कहा है और इसे ही अर्थव्यक्ति माना है : **यत्र संपूर्णवाक्यत्वमर्थव्यक्तिं वदन्ति ताम्।** यह इस गुण की भावात्मक परिभाषा है।

महो महावराहेण लोहितादुद्धृतोदधेः ।
इतीयत्येव निर्दिष्टे नेयत्वमुरगासृजः ॥७४॥

नेयत्वमर्थस्य विशदयति—**महीति** । महावराहेण महावराहरूपभृता विष्णुना लोहिताद् रक्तवर्णाद् उदधेः समुद्राद् मही पृथिवी उद्धृता उपरि नीता इति इयत्येव एतावत्येव निर्दिष्टे वर्णिते उरगासृजः (समुद्रलौहित्यहेतोः) सर्पशोणितस्य नेयत्वम् अध्याहार्यत्वं शब्देन न्यायाद्वा तदनुपादानाद् (तु० रत्नश्री) भवतीति शेषः । यदि समुद्रस्य रक्तवर्णत्वमेव निर्दिश्यते तत्कारणं च नागशोणितसंपर्करूपं न शब्देनाभिधीयते न वा तद् न्यायोपात्तमस्ति, तर्हि उदधेः नागशोणितसंपर्कोऽध्याहार्यो नेयो वा भवति, तस्य चैवंविधं नेयत्वं दोषरूपं जायते ।

'महावराह (विष्णु) ने रक्त-रञ्जित समुद्र में से पृथ्वी को बाहर निकाला'—यदि इतना ही कहा जाए तो (समुद्र को रक्तवर्ण बनाने वाले) सर्पों के रक्त का हमें अध्याहार (= उन्नयन) करना पड़ेगा (जो दोष है) ।

समुद्र के रक्तवर्णत्व का कारण स्पष्ट अभिहित होना चाहिए; तभी अर्थ की अनेयता, दूसरे शब्दों में, अर्थव्यक्ति होगी । रक्तवर्णत्व का कारण शब्द द्वारा अभिहित भी हो सकता है और न्यायोपात्त भी । पिछले पद्य (१.७३) में यह शब्दोपात्त है । न्यायोपात्त कारण का उदाहरण रत्नश्रीज्ञान ने इस प्रकार दिया है : **उज्जहार खुरक्षुण्णमहोरगकुलाकुलात् । महावराहः पृथिवीमरुणादर्णवात् क्षणम् ॥** यहाँ साँपों का रुधिर शब्दोपात्त न होते हुए भी उनके वराह-खुर से चूर्णित होने के वर्णन से न्यायोपात्त है । भोज (**सरस्व० १, उदा० ४५**) ने दण्डी के प्रस्तुत पद्य को नेयार्थ दोष के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है ।

नेदृशं बहु मन्यन्ते मार्गयोरुभयोरपि ।
न हि प्रतीतिः सुभगा[1] शब्दन्यायविलङ्घिनी ॥७५॥

नेयत्वस्य मार्गद्वयानादृतत्वमाह—**नेदृशमिति** । ईदृशम् अनन्तरोक्तप्रकारं नेयत्वम् उभयोः द्वयोः वैदर्भगौडीययोः मार्गयोः अपि न बहु मन्यन्ते आद्रियन्ते । तत्र कारणमाह—शब्दन्यायविलङ्घिनी शब्दः शब्देन ग्रहणं न्यायः न्यायेनोपादानं तद्विलङ्घिनी तद्व्यतिक्रमकारिणी अथवा शब्दन्यायः शाब्दबोधनियमः तद्विलङ्घिनी प्रतीतिः अर्थावगमः न सुभगा न सुगमा साध्वी वा भवतीति शेषः । शब्दार्थबोधसामान्यप्रक्रियाप्रातिकूल्येन प्रतीतिसुभगत्वम् (=अर्थस्य सुखावबोध्यत्वं) हीयत इत्यर्थः ।

इस प्रकार की (नेयता-दोष से युक्त) रचना को दोनों मार्ग मान्यता नहीं देते, क्योंकि शब्द और न्याय (अथवा शब्द न्याय) का अतिक्रमण करने से

---

१. सुलभा ।

अर्थप्रतीति सुगम नहीं होती।

शब्दसामर्थ्य और न्यायसामर्थ्य का उल्लङ्घन करने वाली अर्थात् इनका यथोचित पालन न करने वाली अर्थप्रतीति (किसी की तद्विवक्षा मात्र से) सुलभ नहीं होती। जो अर्थ शब्दोपात्त या न्यायोपात्त (तु० पिछले पद्य की व्याख्या) नहीं होता वह अन्तस्तत्त्व मात्र से (= मन में विवक्षित होने मात्र से) प्रतीत नहीं हो जाता (तु० **रत्नश्री**)। अन्य व्याख्याकारों ने शब्द-न्याय को षष्ठी तत्पुरुष मानकर इसे शब्द की अर्थाभिव्यक्ति-शक्ति (=शब्दवृत्ति) कहा है। **हृदयंगमा** ने इसकी इस प्रकार व्याख्या की है: **यावदर्थोऽभिमतस्तावच्छब्देन भवितव्यम्, शब्दस्यापि यावदर्थप्रतिपादनशक्तिस्तावदर्थेन भवितव्यमिति शब्दशास्त्रन्यायः**। शब्दन्याय का उल्लेख भामह (१.३८) में भी है; उसके अनुसार शब्दन्याय से अनुपारूढ़ अर्थ नेयार्थ होता है : **नेयार्थं नीयते युक्तो यस्यार्थः कृतिभिर्बलात्। शब्दन्यायानुपारूढः कथंचित्स्वाभिसंधिना॥**

उत्कर्षवान् गुणः कश्चिद् यस्मिन्नुक्ते[1] प्रतीयते।
तदुदाराह्वयं तेन सनाथा सर्वपद्धतिः[2] ॥७६॥

अथ सप्तमं गुणमाह—**उत्कर्षवान्**िति। यस्मिन् वाक्ये उक्ते कथिते कश्चिद् उत्कर्षवान् वर्ण्यवस्तुमहनीयतासूचकः गुणः धर्मविशेषः प्रतीयते बुध्यते व्यज्यते वा तद् वाक्यम् उदाराह्वयम् उदारतागुणोपेतं भवति। प्रयुक्तं यद्वाक्यं वर्णनीयस्य वस्तुनः त्यागादिलक्षणस्य गौरवातिशयम् अवगमयति तदुदारम् अभिधीयते। तेन अनेन औदार्यगुणेन सर्वपद्धतिः सर्वापि काव्यपद्धतिः वैदर्भगौडीयरूपा सनाथा पूर्णा अस्ति उत्कर्षवती वा जायते।

जिस वाक्य का कथन करने से किसी गौरवपूर्ण गुण (जैसे त्याग आदि) की प्रतीति (=अभिव्यक्ति) होती है, उसे उदारता गुण से समन्वित रचना कहते हैं। सभी काव्यपद्धति इस गुण से गौरवान्वित बनती है।

जैसा कि लक्षण और उदाहरण (१.७७) से स्पष्ट है, इस गुण का संबन्ध किसी अभिव्यक्तिप्रकार से न होकर वर्ण्यवस्तु की महनीयता से है। इसके अनुसार, किसी उदात्त मानवीय गुण का गौरवपूर्ण कथन इस गुण की सीमा में आता है। वामन (३.१.२३;२.१२) ने शब्दगुण के रूप में इसे काव्यबन्ध की विकटता (=लीलायमानत्व) और अर्थगुण के रूप में अग्राम्यत्व कहा है। स्पष्ट है कि वामन का अर्थगुण दण्डी का अर्थमाधुर्य है। दूसरी ओर, उसका शब्दगुण भोज (शृङ्गार० ६, पृ० ३४२) में विकटाक्षरबन्धत्व के रूप में आया

---

१. उक्ते यस्मिन्। २. काव्यपद्धतिः।

है। भोज (सरस्व० १.४३) ने दण्डी की प्रस्तुत कारिका को अनलंकार नामक अरीतिमत् दोष की व्याख्या के प्रसङ्ग में उद्धृत किया है।

अर्थिनां कृपणा दृष्टिस्त्वन्मुखे पतिता सकृत्।
तदवस्था पुनर्देव नान्यस्य मुखमीक्षते ॥७७॥

उदारत्वमुदाहरति—**अर्थिनामिति**। हे देव, अर्थिनां याचकानां कृपणा दीना दृष्टिः त्वन्मुखे तव वदने सकृद् एकवारं पतिता प्रवृत्ता सती पुनः तदनन्तरं तदवस्था दीनावस्था दीनदशां प्राप्ता सा अन्यस्य त्वदितरस्य कस्यापि राज्ञः मुखं न ईक्षते नावलोकयति, दानप्राप्त्यर्थमिति शेषः। त्वामेकवारं याचकत्वेनोपगम्य त्वदन्यं दातारं नोपसर्पति, त्वत्त एव पूर्णमनोरथत्वादित्यर्थः।

हे राजन्, याचकों की दीनतापूर्ण दृष्टि तुम्हारे मुख पर एक वार पड़ने के बाद, पुनः दैन्यावस्था को प्राप्त होने पर, किसी अन्य (दाता) का मुँह नहीं ताकती (क्योंकि उनकी सभी इच्छाएँ तुमसे ही पूर्ण हो जाती हैं)।

इति त्यागस्य वाक्येऽस्मिन्नुत्कर्षः साधु[1] लक्ष्यते।
अनेनैव पथान्यच्च[2] समानन्यायमूह्यताम् ॥७८॥

उक्तोदाहरणेन लक्षणं संगमयन्नाह—इतीति। इति अस्मिन् वाक्ये त्यागस्य दानस्य उत्कर्षः महिमा साधु सम्यक् स्फुटं वा लक्ष्यते प्रतीयते। अनेन एव उक्तेन पथा विधिना अन्यच्च अपरमपि समानन्यायं तुल्यनियमं तुल्यप्रकारं वा दयाऽहिंसाशौर्यादिगुणवर्णनात्मकम् उदाहरणान्तरम् ऊह्यतां विभाव्यतां सहृदयैरिति शेषः।

इस प्रकार इस वाक्य में त्याग गुण की महिमा भलीभाँति प्रकट हो जाती है। इसी विधि से समान प्रकार वाले (दया, अहिंसा, शौर्य आदि अन्य गुणों के वर्णन से संबन्धित) अन्य उदाहरण भी समझ लिए जाने चाहिएं।

श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते।
यथा लीलाम्बुजक्रीडासरोहेमाङ्गदादयः ॥७९॥

स्वमतमुदारत्वविषयं निरुच्याधुना मतान्तरमाह—**श्लाघ्यैरिति**। कैश्चिद् आचार्यैः, श्लाघ्यैः उत्कर्षवद्भिः विशेषणैः उपाधिभिः युक्तं संगतं वाक्यं पदं वा उदारम् औदार्यगुणोपेतम् इष्यते इष्टत्वेन गृह्यते। यथेति तदुदाहरति—लीलाम्बुजं लीलार्थं कमलं, क्रीडासरः क्रीडार्थं सरोवरं हेमाङ्गदं हेमनिर्मितम् अङ्गदम् इत्यादयः पदविशेषा ईदृशपदोपेताश्च वाक्यविशेषा औदार्यगुणयुता वर्तन्ते।

---

१. खलु। २. अन्यत्र।

कुछ (आचार्यों) के अनुसार (विशेष्य का) उत्कर्ष सूचित करने वाले विशेषणों से युक्त (पद या वाक्य) उदारत्व गुण से संपन्न रचना है; जैसे— लीलाम्बुज **'खेलने के लिए हाथ में धारण किया गया कमल'**, क्रीडासर **'केलि-सरोवर'**, हेमाङ्गद **'सुवर्ण निर्मित बाजूबन्द' आदि (पद अथवा ऐसे पदों से बने वाक्य)।**

लीलाम्बुज में लीला शब्द से कमल के रंग, आकार और सुगन्ध की उत्कृष्टता सूचित होती है। **सरः** के स्थान पर **क्रीडासरः** कहने से सरोवर की कमल, भौंरे, घाट, विहारार्थ नौकाओं आदि से संपन्नता प्रकट होती है। **अङ्गद** के वदले **हेमाङ्गद** 'सुवर्ण-निर्मित अङ्गद' कहने से उक्त आभूषण की कान्ति और बहुमूल्यता सूचित होती है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण हो सकते हैं **मणिसोपान, मणिमेखला, आदर्शभित्ति** आदि। तरुणवाचस्पति ने श्लाघ्य का अर्थ **वैशिष्ट्यप्रतीतिकृत्** (=किसी वस्तु की विशिष्टता का प्रत्यायक) किया है। परन्तु इस पद को उक्त संकुचित अर्थ देना अपेक्षित नहीं है। भोज **(सरस्व० १.७०; शृङ्गार० ६, पृ० ३४१)** ने इसे उदात्तत्व के नाम से पृथक् गुण माना है। अन्यत्र **(सरस्व० १.४२)** उसने दण्डी की प्रस्तुत कारिका को कुछ परिवर्तन के साथ उद्धृत किया है। **अग्निपुराण** (३४६.६) के अनुसार उदारत्व गुण उत्तानपदता है, जो भोज (शृङ्गार०, पृ० ३४२) के विकटाक्षर-बन्धत्व से तुलनीय है।

ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम् ।
पद्येऽप्यदाक्षिणात्यानामिदमेकं परायणम् ॥८०॥

अथाष्टमम् ओजोगुणमाह—**ओज** इति। समासभूयस्त्वं समासस्य बाहुल्यम् ओजः तन्नामा गुणः भवति। समासस्य बहुलः प्रयोग ओजोलक्षणमित्यर्थः। एतत् समासभूयस्त्वं गद्यस्य जीवितं प्राणभूतं वर्तते। गद्ये समासबाहुल्यं विशेषेणाभीष्टमित्यर्थः। अदाक्षिणात्यानां पौरस्त्यानां, गौडानामिति यावत्, पद्येऽपि छन्दोवद्धरचनायामपि इदं समासभूयस्त्वम् एकम् अद्वितीयं परायणं परमा गतिः शरणं वा, वैदर्भाणां तु न तथेति गतार्थः। वैदर्भाः खलु गद्यरचनायामेवास्य स्थितिमाद्रियन्ते, गौडास्तु गद्ये पद्ये चेत्युभयत्र समासप्राचुर्यमीहन्ते।

समासों का प्रचुर प्रयोग ओज गुण है; यह गद्यरचना का प्राण है। पौरस्त्य (गौड) मार्ग के अनुयायी पद्यरचना में भी इसका अतिमात्र आश्रय लेते हैं।

यहाँ स्पष्ट है कि वैदर्भ मार्ग पद्यरचना में समासों के 'भूयस्त्व' को अभीष्ट नहीं मानता; यह वात आगे भी (८३-४) स्पष्ट की गई है। 'भूयस्त्व'

का अर्थ प्रचुरता अथवा बहुलता है, दीर्घता नहीं (जैसा कि कुछ व्याख्याकारों ने किया है)। दीर्घता के अर्थ में दण्डी ने गुरुत्व शब्द का प्रयोग किया है (तु० १.८१)। फिर भी ओज गुण के साथ समासदीर्घता का संवन्ध भामह के समय (आठवीं शती का द्वितीय चरण) से स्थापित है; तु० २.२ : **केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि।** यह अवधेय है कि स्वयं दण्डी का (गौड-संमत) समास-भूयस्त्व का उदाहरण (१.८२) समास-प्राचुर्य के साथ-साथ समास-दैर्घ्य का भी निदर्शन है।

वामन (३.१.५; २.२) के अनुसार, ओज शब्दगुण के रूप में गाढ-बन्धत्व है और अर्थगुण के रूप में अर्थ की प्रौढि है। इस अर्थ-प्रौढि के पाँच रूप हैं : पद के अर्थ में वाक्य का प्रयोग, वाक्य के अर्थ में पद का उपयोग, एवं वाक्यार्थ का व्यास, समास और साभिप्रायत्व; तु० : **पदार्थे वाक्यवचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा। प्रौढिर्व्याससमासौ च साभिप्रायत्वमस्य च॥** (वामन ३.२.२ **वृत्ति**)। यहाँ यह अवधेय है कि **मालतीमाधव** (१.७) की अपनी टीका में जगद्धर ने इस कारिका (**पदार्थे**···) को दण्डी के नाम से उद्धृत किया है। वामन का गाढवन्धत्व दण्डी के श्लेष गुण से तुलनीय है। भोज (**सरस्व०** १.७१) और **अग्निपुराण** (३४६.१०) के लेखक की ओज-संवन्धी धारणा दण्डी पर आधारित है। मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्य चित्त के विस्तार रूप दीप्तत्व को ओज गुण मानते हैं; इसमें पदरचना समासवहुल और औद्धत्यपूर्ण होती है; तु० **साद०** ८.४, ७ : **ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते॥···तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी।** परंपराप्राप्त श्लेष, समाधि, उदारता और प्रसाद गुण ओज में अन्तर्भुक्त होते हैं (तु० **वही** ८.६-१०)।

तद् गुरूणां लघूनां च बाहुल्याल्पत्वमिश्रणैः।
उच्चावचप्रकारं सद्[1] दृश्य[2]माख्यायिकादिषु॥८१॥

समासभूयस्त्वरूपस्य ओजसो विविधत्वमाह—**तदिति**। तत्समासभूयस्त्व-स्वरूपम् ओजः गुरूणां दीर्घाणां लघूनां ह्रस्वाकाराणां च समस्तपदानां बाहुल्याल्पत्वमिश्रणैः प्राचुर्येण विरलतया मध्यमस्थित्या च उच्चावचप्रकारं विविधरूपं सद् आख्यायिकादिषु गद्यकाव्यभेदेषु दृश्यं द्रष्टव्यम्। एवं च षट्प्रकारम् ओजो जायते। व्याख्यान्तरानुसारं गुरूणां महाप्राणाक्षराणां लघूनाम् अल्पप्राणा-क्षराणां च बाहुल्यादिभिरोजो भवति।

---

१. –प्रकारेण, प्रकारं तद्। २. दृष्टम्।

वह समासभूयस्त्व (= ओज) लम्बे और छोटे समासों (= समस्तपदों) की प्रचुरता, विरलता और मध्यम स्थिति के फलस्वरूप अनेक प्रकार का है; ये अनेक प्रकार आख्यायिका आदि (गद्यकाव्य के भेदों) में देखे जाते हैं।

उक्त योजना के अनुसार ओज के ये छः प्रकार होंगे : लम्बे समासों की प्रचुरता, लम्बे समासों की विरलता, लम्बे समासों की साधारण स्थिति, छोटे समासों की प्रचुरता, छोटे समासों की विरलता, और छोटे समासों की साधारण स्थिति (तु० भोज : सरस्व० २.२३)। इनमें प्रथम तीन रूप वामन (१.३.२४-५ वृत्ति) के उत्कलिकाप्राय गद्य और अन्तिम तीन रूप चूर्ण गद्य से तुलनीय हैं। तरुणवाचस्पति, जीवानन्द विद्यासागर, नृसिंहदेव शास्त्री आदि व्याख्याकार गुरु और लघु से क्रमशः महाप्राण और अल्पप्राण वर्णों का ग्रहण करते हैं। रत्नश्रीज्ञान के अनुसार ये दीर्घ और ह्रस्व अक्षर हैं। परन्तु वास्तव में यहाँ वर्णों अथवा अक्षरों का कोई प्रसङ्ग नहीं है, अतः गुरु और लघु शब्दों को समास के विशेषण के रूप में ही समझना उचित होगा।

अस्तमस्तकपर्यस्तसमस्तार्कांशुसंस्तरा ।
पीनस्तनस्थिताताम्रवस्त्रेवाभाति[1] वारुणी ॥८२॥
इति पद्येऽपि पौरस्त्या बध्नन्त्योजस्विनीर्गिरः ।

गौडमार्गानुसारि ओजोरूपं निदर्शयति—अस्तेति। अस्तमस्तके अस्ताचलशिखरे पर्यस्ताः परितः पतिताः ये समस्ताः निरवशेषाः अर्कांशवः (रक्तवर्णाः) सूर्यकिरणाः तैः संस्तरः आच्छादनं यस्याः तादृशी वारुणी वरुणाधिष्ठिता दिक्, पश्चिमदिगित्यर्थः, पीनस्तने उरुपयोधरे स्थितम् आताम्रम् ईषल्लोहितं वस्त्रं वासः यस्याः तथाभूता नायिका इव आभाति विराजते। सूर्यास्तवर्णनमिदम्। अत्र दीर्घसमासबाहुल्यरूपमोजो गुणः। इति एवं पद्येऽपि पद्यरचनायामपि पौरस्त्याः गौडाः कवयः ओजस्विनीः ओजोगुणयुताः गिरः वाचः बध्नन्ति प्रयुञ्जते।

गौडाभिमत ओज का उदाहरण है : अस्तमस्तक...इत्यादि, अर्थात् अस्ताचल के शिखर पर बिखरी सूर्य की समस्त किरणों से ढँकी यह पश्चिम दिशा उस नायिका के समान शोभित है जिसके विशाल उरोजभाग पर कुछ-कुछ लाल रंग का दुपट्टा रखा हुआ है।—इस प्रकार पद्य में भी गौड मार्ग के अनुयायी ओजस्विनी काव्यरचना करते हैं।

---

१. –आताम्रकम्रवस्त्रेव।

वैदर्भ मार्ग में ऐसी ओजःपूर्ण रचना केवल गद्यबन्ध में ही अभीष्ट है। पद्य में इस मार्ग के अनुयायी समासभूयस्त्व का परिहार करते हैं।

अन्ये त्वनाकुलं[1] हृद्यमिच्छन्त्योजो गिरां यथा ॥८३॥
पयोधरतटोत्सङ्गलग्नसंध्यातपांशुका ।
कस्य कामातुरं चेतो वारुणी न करिष्यति ॥८४॥

वैदर्भाभिमतम् ओजोरूपमुपन्यस्यति—**अन्य** इति। अन्ये वैदर्भास्तु गिरां वाचाम् अनाकुलम् अगहनं, दीर्घसमासरहितमित्यर्थः, अतश्च हृद्यं मनोहरम् ओजः ओजोगुणम् इच्छन्ति। **यथेति** तदुदाहर्तुमुपक्रमते **पयोधरे**त्यादिना चोदाहरति। पयोधरतटस्य मेघैकदेशस्य उत्सङ्गे मध्यभागे लग्नः स्थितः यः संध्यातपः सायं-कालिकसूर्यातपः स एव अंशुकं रक्तवस्त्रं यस्याः तादृशी वारुणी पश्चिमा दिक् कस्य चेतः हृदयं कामातुरं मदनविह्वलं न करिष्यति, करिष्यत्येवेत्यर्थः। अत्र श्लेषेण स्तनैकदेशधृतरक्तांशुका रक्तवर्णा वारुणीवोन्मादयित्री सर्वस्यापि चित्तं मन्मथाक्रान्तं विदधती नायिका गम्यते। अत्र पूर्वार्धे समासो दीर्घोऽप्यनाकुलत्वाद् हृदयंगमो वर्तते। ईदृशश्चौजोबन्धो वैदर्भानुमतः।

अन्य (वैदर्भ मार्ग के अनुयायी) काव्य में अनाकुल (= उलझन-रहित, स्पष्ट) और अत एव मनोहर ओजगुण को अभीष्ट मानते हैं; जैसे—पयोधर ...इत्यादि, अर्थात् मेघखण्ड के मध्यभाग में स्थित संध्यातप-रूपी लाल दुपट्टा धारण किए हुए यह पश्चिमदिशा-रूपी सुन्दरी किसके चित्त को कामातुर नहीं बना देगी ?

यहाँ श्लेष अलंकार द्वारा ऐसी नायिका की प्रतीति होती है जिसके उरोजों के एक भाग में लाल दुपट्टा अटका हुआ है। वारुणी से लाल रंग की मादक मदिरा की प्रतीति भी श्लेष द्वारा संभव है। वैदर्भ-अभिमत उक्त रचना का भाव प्रायः वही है जो गौड-अभीष्ट ओज के उदाहरण के रूप में प्रदत्त पद्य (१.८२) का है।

कान्तं सर्वजगत्कान्तं लौकिकार्थानतिक्रमात्[2] ।
तच्च वार्ताभिधानेषु वर्णनास्वपि दृश्यते[3] ॥८५॥

संप्रति नवमं गुणं कान्तिं विभजन्नाह—**कान्तमिति**। लौकिकस्य लोकप्रसिद्धस्य अर्थस्य अनतिक्रमात् अनुल्लङ्घनात्, तदनुवर्तनादित्यर्थः, काव्यं सर्वजगत्कान्तम् अखिललोकमनोहरम् (उभयमार्गस्वीकृतं) कान्तं कान्तिगुणोपेतं

---

१. अन्येऽप्यनाकुलं। २. -गतिक्रमात्। ३. विद्यते।

भवति। लोकप्रसिद्धवस्तुवर्णनहेतुकं लोकमनोहारित्वं कान्तिगुण इति फलितार्थः। लोकव्यवहारानुकूलं वचो हृद्यं भवति, तद्विपरीतं त्वत्युक्तिपूर्णमहृद्यत्वं भजत इत्युदाहरणप्रत्युदाहरणैः स्फुटीभविष्यति। तस्य कान्तिगुणस्य विनियोगविषयमाह—तच्च कान्तं काव्यं वार्ताभिधानेषु प्रियालापोक्तिषु अपि च वर्णनासु वस्तुगुणकथनेषु प्रशंसावाक्येषु वा दृश्यते लक्ष्यते।

लोकप्रसिद्ध वस्तु के अनतिक्रमण (= अनुपालन) के फलस्वरूप सभी लोगों को प्रिय लगने वाली उक्ति कान्ति गुण से समन्वित होती है। ऐसी उक्ति वार्तालापों में एवं वस्तुगुणवर्णन के (प्रशंसात्मक) प्रसङ्गों में दीख पड़ती है।

कान्ति गुण की उक्त परिभाषा बहुत अधिक स्पष्ट नहीं है। यहाँ दण्डी का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि भाव और भाषा के प्रयोग के संबन्ध में लोकव्यवहार का अनुवर्तन करते हुए अतिशयकथन (तु० १.८८) करने के फलस्वरूप उत्पन्न लोकमनोहारिता का गुण कान्ति है। इसके विपरीत लोकसीमा का अतिक्रमण करने वाला अतिशयकथन अत्युक्तिपूर्ण होने से सहृदयहृदयावर्जक नहीं होता, यद्यपि ऐसी उक्ति भी मण्डलीविशेष में (उदाहरणतः गौडमार्ग में) विदग्ध-प्रिय हो जाती है (तु० १.८९)। भोज (**सरस्व० १.१४३**) ने इस कारिका को कुछ परिवर्तन के साथ उद्धृत किया है।

वामन (३.१.२५;२.१४) के अनुसार, कान्ति शब्दगुण के रूप में पदरचना की उज्ज्वलता और अर्थगुण के रूप में रस की दीप्ति है। दण्डी का कान्ति गुण अतिशयोक्ति अलंकार से तुलनीय है, यद्यपि उक्त अलंकार में कान्ति गुण के समान लोकसीमा का अनुवर्तन न होकर उसका अतिक्रमण होता है (तु० २.२१४)। दूसरी ओर, कान्ति का विपर्यय अत्युक्ति उत्तरवर्ती आचार्यों के अत्युक्ति अलंकार से तुलनीय है (तु० **कुवलया०** १६३)।

गृहाणि नाम तान्येव तपोराशिर्भवादृशः।
संभावयति यान्येवं[1] पावनैः पादपांसुभिः[2] ॥८६॥

वार्ताभिधानविषयां कान्तिमुदाहरति—**गृहाणीति**। तानि एव गृहाणि नाम ननु गृहशब्दवाच्यानि, प्रशंसनीयानीत्यर्थः, यानि भवादृशः तपोराशिः तपोधनः पावनैः पवित्रतासंपादकैः पादपांसुभिः चरणधूलिभिः एवम् इत्थम् आगमनेन संभावयति सभाजयति। अत्र तपस्विजनचरणधूलिसंपर्केण गृहाणां धन्यत्ववर्णनात्मकम् अतिशयकथनं लोकव्यवहारानुरूपवार्ताङ्गभूतमिति वार्तालापविषया कान्तिः।

---

१. यान्येव। २. –पांशुभिः।

वास्तव में घर वही (धन्य) हैं जिन्हें आप जैसे तपस्वी महात्मा इस प्रकार अपनी पावन चरणधूलि से संमानित करते हैं।

महात्माओं के चरणरज से गृहों के धन्य हो जाने का वर्णन, वार्तालाप-प्रसङ्गों में, लोकव्यवहार के अनुकूल है, अतः यह वार्ताविषयक कान्ति गुण का उदाहरण है (तु० सरस्व० १, उदा० १८६)। यह पद्य हेमचन्द्र के **काव्यानुशासन** (पृ० ८३) में मुनिविषयक रति के उदाहरण के रूप में उद्धृत है।

अनयोरनवद्याङ्गि स्तनयोर्जृम्भमाणयोः।
अवकाशो न पर्याप्तस्तव बाहुलतान्तरे[1] ॥८७॥

वर्णनाविषयां कान्तिमुदाहरति—**अनयोरिति**। अयि अनवद्याङ्गि सुन्दरि, तव बाहुलतान्तरे कोमलभुजद्वयस्य मध्यभागे (वक्षोदेशे) अनयोः जृम्भमाणयोः प्रतिक्षणं वर्धमानयोः वृद्धिं गच्छतोः तव स्तनयोः कुचयोः अवकाशः अवस्थितये स्थानं पर्याप्तः परिपूर्णः न विद्यते। तव वक्षःप्रदेशे विशालयोरनयोः स्तनयोरवस्थानाय पर्याप्तं स्थानं नास्तीत्यर्थः। स्तनयोरतिपीनत्ववर्णनात्मकमतिशयाख्यानमेवंविधं लोकसिद्धमित्यत्र वस्तुगुणवर्णनात्मकः कान्तिगुणः।

हे अनिन्द्यसुन्दरी, तुम्हारी कोमल बाहों के बीच (वक्षःप्रदेश में) तुम्हारे (प्रतिपल) बढ़ रहे इन उरोजों के लिए स्थान पर्याप्त नहीं है।

उरोजों की विशालता का ऐसा वर्णन लोकसिद्ध होने से वस्तुगुणवर्णनात्मक कान्ति गुण का उदाहरण है (तु० सरस्व० १, उदा० १८७)। अप्पय दीक्षित (कुवलया० ४०) ने इस पद्य को असंबन्धातिशयोक्ति के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है (तु० वही १६३ भी)।

इति संभाव्यमेवैतद् विशेषाख्यानसंस्कृतम्।
कान्तं भवति सर्वस्य लोकयात्रानुवर्तिनः ॥ ८८॥[2]

उक्तयोः पद्ययोः कान्तिं संघटयति—**इतीति**। इति विशेषाख्यानसंस्कृतं विशेषस्य अतिशयस्य आख्यानेन कथनेन उद्भावनेन वा संस्कृतं शोभितम् एतत् पूर्वोक्तश्लोकद्वयं संभाव्यम् एव लोकव्यवहारानुसारेण प्रयुक्तत्वात् संभाव्यतागुणोपेतमेव वर्तते। अतश्चैतत् लोकयात्रानुवर्तिनः लौकिकार्थानुसारिणः सर्वस्य सहृदयस्य जनस्य कान्तं मनोहरं भवति।

इस प्रकार अतिशयकथन से समन्वित पूर्वोक्त पद्य संभाव्यता के गुण

---

१. -लतान्तरम्। २. पद्यमिदं क्वचिद् अल्पं निर्मितम् (१.६१) इत्येतत्पद्यानन्तरं दृश्यते।

से युक्त ही हैं, और इसलिए ये (इस प्रकार के वर्णन) लोक-व्यवहार (की सीमा) का अनुसरण करने वाले सभी (सहृदय जनों) के लिए कान्त (=कान्ति-गुणयुक्त अथवा प्रिय) होते हैं।

उक्त उदाहरणों (१.८६-७) में महात्माओं की चरणधूलि से गृह की धन्यता का और सुन्दरी के उरोजों के विजृम्भण का तद्विध वर्णन विशेष-(=अतिशय) का आख्यान (=कथन) है; अतिशयकथन होते हुए भी यह लोक व्यवहारसिद्ध होने से कान्तिगुणयुक्त है (तु० रत्नश्री)।

लोकातीत इवात्यर्थमध्यारोप्य विवक्षितः।
योऽर्थस्तेनातितुष्यन्ति विदग्धा नेतरे जनाः[1] ॥८९॥

गौडाभिमतां कान्तिमुपन्यस्यन्नाह—**लोकातीत** इति। यः अर्थः लोकातीतः लोकप्रसिद्धिं लौकिकव्यवहारं वा अतिक्रान्तः इव अत्यर्थम् अतिमात्रम् अतिशयेन अध्यारोप्य परिकल्प्य विवक्षितः वक्तुमिष्टः, अतिमात्रातिशयकथनेन लोकातिक्रान्त इति भावः, तेन तादृशेन अर्थेन विदग्धाः चतुराः सहृदयंमन्याः, गौडीयाः इति यावत् (सोल्लुण्ठनोक्तिरियम्), अतितुष्यन्ति अतिमात्रम् अनुरज्यन्ते, तेषां प्रौढात्युक्तिप्रियत्वात्, इतरे जनाः वैदर्भास्तु न तेन आनन्दमधिगच्छन्ति।

जो अर्थ (=प्रतिपाद्य वस्तु) लोकव्यवहार का अतिक्रमण करने वाला तथा अत्यधिक कल्पना-पूर्ण होता है, उससे चतुर जनों (=गौडों) की ही तुष्टि होती है, दूसरे लोगों (=वैदर्भों) की नहीं।

अतिशय-कल्पना (=अध्यारोपण) दोनों मार्गों में अभीष्ट है, परन्तु जहाँ वैदर्भ मार्ग में यह लोकसीमानुसारिणी होती है, वहाँ गौड मार्ग में लोकव्यवहार का अतिक्रमण करने वाली होती है। भोज (सरस्व० १.१४२) ने इस कारिका को कुछ परिवर्तन के साथ उद्धृत किया है। वार्तालाप और गुणवर्णन से संबन्धित इसके गौड-संमत उदाहरण अगले पद्यों में हैं।

देवधिष्ण्यमिवाराध्यमद्यप्रभृति नो गृहम्।
युष्मत्पादरजःपातधौतनिःशेषकल्मषम्[2] ॥९०॥

वार्ताभिधाने गौडाभिमतां कान्तिं निदर्शयति—**देवधिष्ण्य**मिति। कमपि तपोधनं प्रति स्वागतोक्तिरियम्। युष्मत्पादयोः भवच्चरणयोः रजसां पांसूनां पातेन संसर्गेण धौतं क्षालितं निःशेषम् अखिलं कल्मषं मालिन्यं पापं वा यस्मिन्

---

१. यथा। २. -किल्बिषम्।

तत्तादृशं नः अस्माकं गृहम् अद्यप्रभृति अद्यारभ्य देवधिष्ण्यमिव देवमन्दिरमिव आराध्यं पूजायोग्यं संजातम् । पूर्वोदाहृते गृहाणीत्यादौ पद्ये धृतोऽर्थोऽत्र महात्मनश्चरणरजःस्पर्शेन गृहस्य देवमन्दिरस्येवाराध्यत्वं वर्णयता कविनाऽत्यर्थ-मध्यारोपितः; लोकातिक्रान्तोऽत्युक्तिरूपश्चायमर्थो गौडाभिमतो वर्तते ।

आपके चरणरज के पड़ने से जिसकी सारी मलिनता धुल चुकी है, ऐसा हमारा घर आज से देवमन्दिर के समान पूजनीय बन गया है ।

यह वार्तालाप-विषयक कान्ति का उदाहरण है (तु० **सरस्व० १, उदा०१८४**) । यहाँ अतिशय-कथन लोकसीमा का अतिक्रमण करने वाला है, क्योंकि किसी महात्मा की चरणधूलि के पड़ने से घर की पवित्रता का वर्णन तो लोकव्यवहारसिद्ध है, परन्तु देवमन्दिर के समान उसके आराध्य (अथवा पूजास्थान) बन जाने का कथन सामान्य लोकव्यवहार के प्रतिकूल है । ऐसा अत्युक्तिपूर्ण वर्णन गौडमार्ग में ही स्वीकृत होता है; वैदर्भमार्ग में इस वस्तु का कथन पूर्वोक्त प्रकार (तु० १.८६) से ही होगा ।

अल्पं निर्मितमाकाशमनालोच्यैव वेधसा ।
इदमेवंविधं[1] भावि भवत्याः स्तनजृम्भणम् ॥९१॥

वर्णनायां गौडाभिमतां कान्तिमुदाहरति—अल्पमिति । नायिकां प्रत्युक्ति-रियम् । इदम् एवंविधम् ईदृशं भवत्याः तव भावि भविष्यत् स्तनजृम्भणं स्तनयोर्वृद्धिम् अनालोच्य मनसाऽविभाव्य एव वेधसा प्रजापतिना आकाशम् इदं व्योम अल्पं स्वल्पं, भवदीयस्तनविस्ताराय अपर्याप्तमित्यर्थः, निर्मितं रचितम् । पूर्वमुदाहृते **अनयो**रित्यादिश्लोके वर्णितोऽर्थोऽत्र विशालमाकाशमपि नायिकाकुच-विस्तारायापर्याप्तं वर्णयताऽत्युक्तिपक्षपातिना कविना भृशमध्यारोपितः; लोक-व्यवहारातिवर्ती चायमर्थो विदग्धंमन्यानेवानुरञ्जयति नेतरान् ।

तुम्हारे इस प्रकार होने वाले स्तन-विस्तार की कल्पना न करके ही विधाता ने आकाश को इतना छोटा बनाया है ।

यह वर्णनाविषयक कान्ति का उदाहरण है (तु० **सरस्व० १, उदा० १८५**) । यहाँ अतिशय-कथन लोकव्यवहार की सीमा का अतिक्रमण करने वाला है, क्योंकि स्तन-विस्तार के लिए नायिका के वक्षःप्रदेश को अपर्याप्त कहना तो व्यवहारसिद्ध है, जैसा कि हम पूर्वोक्त उदाहरण (१.८७) में देख चुके हैं, परन्तु असीम आकाश को ही छोटा कहना लोकव्यवहार के सर्वथा प्रतिकूल है । ऐसा अत्युक्तिपूर्ण कथन गौड मार्ग में ही मान्य है, वैदर्भ में नहीं । अप्पय दीक्षित

---

१. इदमीदृग्विधं ।

(कुवलया० १६३) ने इस पद्य को अत्युक्ति अलंकार के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

इदमत्युक्ति[1]रित्युक्तमेतद् गौडोपलालितम्।
प्रस्थानं प्राक्प्रणीतं तु सारमन्यस्य वर्त्मनः ॥९२॥

पूर्वोक्तमुपसंहरन्नाह—इदमिति। इदम् ईदृशम् अनन्तरोक्तं वर्णनम् अत्युक्तिः इति उक्तं कथितं, तद्विद्भिरिति शेषः। एतच्च गौडोपलालितं गौडैरत्यन्तमिष्टं वर्तते। प्राक्प्रणीतं पूर्वं निर्दिष्टं (१.८६-८) तु तावत् प्रस्थानं प्रकारः अन्यस्य गौडीयेतरस्य वर्त्मनः वैदर्भस्य मार्गस्य सारं प्राणभूतम् अभीष्टं वा अस्ति।

यह (=इस प्रकार का वर्णन) अत्युक्ति के नाम से अभिहित किया जाता है; गौड मार्ग के अनुयायी ऐसे वर्णन को बहुत अधिक पसंद करते हैं। दूसरी ओर, इससे पहले निर्दिष्ट (कान्ति गुण का) प्रकार (तु० १.८६-८) अन्य (वैदर्भ) मार्ग का सार (=प्राणभूत तत्त्व) है।

भोज (सरस्व० १.१४४) की यह कारिका इससे तुलनीय है: **लौकिकार्थमतिक्रम्य प्रस्थानं यत्प्रवर्तते। तदत्युक्तिरिति प्रोक्तं गौडानां मनसो मुदे॥**

अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना।
सम्यगाधीयते यत्र[2] स समाधिः स्मृतो[3] यथा ॥९३॥

अथान्तिमं दशमं गुणमुपन्यस्यति—**अन्यधर्म** इति। लोकसीमानुरोधिना लोकस्थितिम् अनुसरता कविजनेन यस्मिन् काव्यबन्धे अन्यधर्मः अन्यस्य वस्तुनः गुणः ततः अन्यत्र तस्माद् मुख्यादन्यस्मिन् गौणविषये सम्यक् साधु आधीयते आरोप्यते स काव्यबन्धः समाधिः लक्षणया तदाख्यगुणोपेतः स्मृतः कथितः। **यथेति** तदुदाहरणोपक्रमार्थम्।

जिस काव्य में लोकव्यवहार की सीमा का अनुपालन करते हुए किसी वस्तु का धर्म (=गुण) उससे भिन्न (गौण) वस्तु में भलीभाँति आरोपित किया जाता है, वह काव्य समाधि गुण (युक्त) होता है।

यह समाधि गुण रूपक अलंकार से अंशतः तुलनीय है। वस्तुतः यह रूपकयोजना का एक प्रकार है। समासोक्ति अलंकार की प्रेरणा का स्रोत भी यही गुण है (तु० वे. राघवन्: **सम् कन्सेप्ट्स आफ़ दि अलंकारशास्त्र,** पृ० ८१)।

वामन (३.१.१३; २.६) के अनुसार शब्दगुण के रूप में यह शब्दयोजना का क्रमिक आरोह-अवरोह है और अर्थगुण के रूप में अर्थ की दृष्टि

---

१. अत्युक्तिरियम्। २. यत्तु। ३. समाधिर्मतो।

(=सारगर्भता) है। दण्डी की समाधिकल्पना वामन (४.३.८) में वक्रोक्ति अलंकार के रूप में आई है। भोज (सरस्व० १.७२) और अग्निपुराण (३४५.१३) का लेखक इस गुण की व्याख्या में दण्डी का अनुसरण करते हैं।

कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च।
इति नेत्रक्रियाध्यासाल्लब्धा तद्वाचिनी श्रुतिः ॥९४॥

समाधिमुदाहरति—**कुमुदानीति**। प्रभातवर्णनमिदम्। कुमुदानि कैरवपुष्पाणि निमीलन्ति निमिषन्ति संकुचन्ति, कमलानि पद्मानि च उन्मिषन्ति उन्मेषं गच्छन्ति विकसन्ति। इति अत्रोदाहरणे नेत्रक्रियायाः निमीलनोन्मीलनरूपस्य नयनव्यापारस्य अध्यासात् कुमुदेषु कमलेषु च आरोपात् तद्वाचिनी नेत्रक्रियावाचिनी, संकोचार्थे निमीलनवाचिनी विकासार्थे च उन्मीलनवाचिनी, श्रुतिः कविश्रुतिः (कविसिद्धः व्यवहारः) लब्धा प्राप्ता। संकोचस्य निमीलनपदवाच्यता विकासस्य चोन्मीलनपदवाच्यता कविव्यवहारसिद्धेत्यर्थः।

'कुमुद मुंद रहे हैं (=बन्द हो रहे हैं) और कमल उन्मीलित हो (=खिल) रहे हैं।' यहाँ (कुमुदों और कमलों में) नेत्र की क्रिया (=निमीलन और उन्मीलन) का आरोप होने के कारण उस (नेत्र क्रिया) का (=बन्द होने के अर्थ में 'निमीलन' और खिलने के अर्थ में 'उन्मीलन' का) व्यवहार हुआ है।

'निमीलन' और 'उन्मीलन' का प्रयोग यहाँ लाक्षणिक अर्थ में है; इस रूप में समाधि गुण लक्षणा वृत्ति के अत्यधिक निकट है। यही कारण है कि **अग्निपुराण** (३४५.७-१८) में इसका निरूपण लक्षणा के प्रसंग में किया गया है।

निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम्[1]।
अतिसुन्दरमन्यत्र[2] ग्राम्यकक्षां[3] विगाहते[4] ॥९५॥

ग्राम्यशब्दा अपि समाध्याश्रयेण सौन्दर्यं भजन्ते इति विशदयति—**निष्ठ्यूतेति**। **निष्ठ्यूतम्, उद्गीर्णं, वान्तम्** इत्यादि (ग्राम्यं) पदजातं गौणवृत्तिव्यपाश्रयं लक्षणावृत्त्याश्रयं, मुख्यार्थयुक्ते तत्सदृशे वा लाक्षणिकेऽर्थे प्रयुक्तमित्यर्थः, अतिसुन्दरम् अत्यन्तमनोहरं जायते। अन्यत्र गौणवृत्तेरन्यत्र तदभावे वा, मुख्येऽर्थे प्रयुक्तमिति यावत्, तादृशं निष्ठ्यूतादिकं पदजातं ग्राम्यकक्षाम् असभ्यपदवीं विगाहते प्रतिपद्यते।

निष्ठ्यूत **'थूका गया'**, उद्गीर्ण **'उगला गया'**, **और** वान्त **'वमन किया गया' आदि शब्द लक्षणा वृत्ति के आश्रय से (=लाक्षणिक अर्थ में प्रयुक्त किए**

१. -व्यपाश्रयात्। २. अन्यत्तु। ३. -कक्ष्यां। ४. वगाहते।

जाने पर) अत्यन्त हृदयहारी होते हैं। अन्यत्र (=मुख्य अर्थ में प्रयुक्त किए जाने पर) ये अथवा ऐसे शब्द ग्राम्य (शब्दों की) श्रेणी में आते हैं।

ग्राम्य शब्द समाधि गुण के आश्रय से न केवल अपनी ग्राम्यता छोड़ देते हैं, अपितु हृदयहारी बन जाते हैं। ऐसे कुछ शब्द यहाँ उल्लिखित हैं और अगले पद्य में उदाहृत हैं। समाधि गुण यहाँ लक्षणा-व्यापार (=गौणवृत्ति) से अभिन्न है; स्वयं दण्डी ने इस तथ्य को यहाँ स्वीकार किया है। भोज (**सरस्व० १.१०५ वृत्ति**) ने प्रस्तुत कारिका को घृणावान् अर्थ के गुणत्व के प्रसङ्ग में उद्धृत किया है।

पद्मान्यर्कांशुनिष्ठ्यूताः पीत्वा पावकविप्रुषः।
भूयो वमन्तीव मुखैरुद्गीर्णारुणरेणुभिः ॥९६॥
इति हृद्यमहृद्यं तु निष्ठीवति वधूरिति।

गौणवृत्तिव्यपाश्रयाणां **निष्ठ्यूता**दिपदानां हृद्यत्वमुदाहरति—**पद्मानीति**। पद्मानि कमलानि (कर्तृ) अर्कांशुनिष्ठ्यूताः सूर्यकिरणनिरस्ताः पावकविप्रुषः तेजः-कणिकाः (कर्म) पीत्वा निपीय उद्गीर्णारुणरेणुभिः उद्गीर्णाः निर्मुक्ताः अरुणाः लोहिताः रेणवः परागाः यैः तादृशैः मुखैः वदनैः भूयः अत्यर्थं वमन्ति इव, तास्तेजःकणिका इति शेषः। सूर्योदये विकासभाञ्जि पद्मानि रवितेजःकणान् पिबन्तीव लक्ष्यन्ते, रक्तान् परागान् विकिरन्ति च तानि पीतान् तेजःकणान् वमन्तीव प्रतीयन्ते—इत्यत्रोत्प्रेक्षया प्रभातवर्णनाङ्गभूतकमलवर्णनं कृतम्। इति एतादृशं कथनं हृद्यं सहृदयहृदयंगमं भवति, गौणवृत्त्याश्रयत्वाद् इति भावः। **वधूः निष्ठीवति** इत्येतादृशं कथनं तु अहृद्यम् अमनोज्ञं भवति, ग्राम्यत्वदोषदुष्टत्वात्। अत्र हि **निष्ठीवति**पदं मुख्यार्थे प्रयुक्तं सत् सहृदयानाम् अप्रियम्।

'सूर्य की किरणों से निष्ठ्यूत (=फेंके गए) तेजःकणों को पीकर ये कमल अब उन कणों को अरुण पराग उगलने वाले अपने मुखों से अधिक मात्रा में मानो बाहर निकाल (=बिखेर) रहे हैं।' इस प्रकार का कथन मनोहारी होता है, परन्तु 'बहू थूक रही है' इस प्रकार का वाक्य अशोभन (=ग्राम्य अथवा अशिष्ट) होता है।

पहले प्रकार के कथन की मनोहारिता का कारण लक्षणा वृत्ति है जिसके अभाव में 'थूकना' आदि मूलतः अशिष्ट शब्द, अपने मुख्य अर्थ में प्रयुक्त होने पर, असुन्दर लगने लगते हैं। भोज (**सरस्व० १, उदा० २२**) ने दण्डी के **निष्ठीवति वधूः** का इस प्रकार विस्तार किया है : **मुहुरुत्कौति निष्ठीवत्यात्तगर्भा पुनर्वधूः**। अन्यत्र (**वही १, उदा० १४७**) उसने **पद्मानि** आदि को घृणावान् अर्थ के गुणत्व के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

युगपन्नैकधर्माणामध्यासश्च स्मृतो[1] यथा ॥९७॥
गुरुगर्भभरक्लान्ताः[2] स्तनन्त्यो मेघपङ्क्तयः ।
अचलाधित्यकोत्सङ्गमिमाः समधिशेरते ॥९८॥

अनेकधर्माध्यासरूपं समाधिभेदान्तरमाह—युगपदिति। नैकधर्माणाम् अनेकधर्माणां युगपत् समकालमेव अन्यत्र वस्तुनि अध्यासः समारोपः अपि स्मृतः समाधिरिति कथितः। तमुदाहरति गुर्वादिना। इमाः एताः गुरुणा गौरववता गर्भभरेण अन्तर्गतजलभारेण क्लान्ताः क्लमात् मन्दीभूताः स्तनन्त्यः शब्दायमानाः गर्जन्त्यः मेघपङ्क्तयः वारिदमालाः अचलाधित्यकायाः पर्वतोपरिभूमेः उत्सङ्गं मध्यभागं समधिशेरते आश्रयन्ति।

अनेक धर्मों के, एक साथ, (किसी अन्य वस्तु में) आरोप को भी (समाधि) कहते हैं। जैसे—'अन्तर्वर्ती जल के गुरुभार से मन्थर, गर्जनशब्द करती हुई ये मेघमालाएँ पहाड़ के शिखरभाग पर (विश्रामार्थ) टिक गई हैं।'

उत्सङ्गे शयनं[3] सख्याः स्तननं गौरवं क्लमः[4] ।
इतीमे[5] गर्भिणीधर्मा बहवोऽन्यत्र[6] दर्शिताः ॥९९॥

उक्तोदाहरणेऽनेकधर्माध्यासं दर्शयन्नाह—उत्सङ्गेति। अत्र अस्मिन्ननन्तरोक्ते पद्ये कस्याश्चित् सख्याः उत्सङ्गे क्रोडे शयनं, स्तननम् आर्तरुतं, गौरवं गर्भकृतदुर्भरत्वलक्षणा गुरुता, क्लमः तत्कृता ग्लानिः इति इमे बहवः अनेके गर्भिणीधर्माः गर्भवत्याः लक्षणविशेषाः अन्यत्र मेघपङ्क्तिषु दर्शिताः समारोप्य कथिताः, अध्यस्य वर्णिता इति यावत्। इत्येवमत्र अनेकधर्माध्यासरूपः समाधिगुणप्रकारः।

इस (पद्य) में, सखी की गोद में लेटना, आर्त शब्द करना, (गर्भ का) भार अनुभव करना और क्लान्ति (=थकावट से उत्पन्न मन्थरता)—गर्भवती स्त्री के ये अनेक धर्म (=लक्षण) दूसरे पदार्थ (मेघमाला) में (आरोपित करके) दिखाए गए हैं।

इस प्रकार यह अनेकधर्माध्यासरूप समाधिगुण है। उपर्युक्त उदाहरण में, मेघमाला में गर्भिणी के लक्षण इतनी स्पष्टता से दिखाए गए हैं कि हेमचन्द्र (काअनु०, पृ० १२१) ने इस पद्य को तिर्यग्विषयक भाववर्णन के रूप में भावाभास का उदाहरण माना है।

---

१. मतो । २. –भरा– । ३. उत्सङ्गशयनं । ४. गौरवक्लमः । ५. इहेमे, इतीह । ६. बहवोऽप्यत्र, ह्यत्र ।

तदेतत्काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः ।
कविसार्थः समग्रोऽपि तमेन[1]मनुगच्छति[2] ॥१००॥

समाधेरुभयमार्गाभीष्टत्वमाह—**तदेतदिति** । तद् एतद् अनन्तरोक्तं काव्यसर्वस्वं काव्यसारभूतं वर्तते; किं तदिति निर्भिनत्ति—समाधिः नाम यः गुणः संप्रति निदर्शितः । समग्रः सकलः अपि कविसार्थः वैदर्भीयो वा गौडीयो वा कविसमुदायः तम् एनं समाधिगुणम् अनुगच्छति समनुसरति प्रयुङ्क्ते । मार्गद्वयाभिमतोऽयं गुण इति भावः ।

समाधि नामक यह गुण काव्य का सारभूत तत्त्व है । सभी कवि-संप्रदाय (=वैदर्भ और गौड दोनों मार्ग) इस गुण का अनुसरण (=प्रयोग) करते हैं ।

काव्यसर्वस्व शब्द के संबन्ध में हृदयंगमा ने लिखा है : **काव्यसर्वस्वमिति ब्रुवता काव्यमिति सामान्योपादानात् मार्गद्वयस्यापि साधारणः समाधिरभिहितो भवति ।**

इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात् ।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकवि स्थिताः ॥१०१॥

वैदर्भगौडीयमार्गयोः प्रस्फुटान्तरत्वं प्रतिपाद्याधुना निगमयन्नाह—**इतीति** । इति एवंप्रकारेण तत्स्वरूपनिरूपणाद् द्वयोरपि मार्गयोः वैदर्भगौडीययोः स्वरूपस्य विवेचनात् मार्गद्वयम् अनन्तरोक्तं भिन्नं परस्परभिन्नत्वेन प्रतिपादितम् । परंतु प्रतिकवि कवि कवि प्रति तत्तद्देशवासिकविषु, लक्षणया तत्काव्येषु, स्थिताः प्रयुक्ताः स्वीकृताः वा तद्भेदाः उक्तमार्गद्वयस्य अवान्तराः प्रकाराः कवीनामनन्तत्वादनन्तरूपाः सन्तः वक्तुं विविच्य निरूपयितुं साकल्येन विवरीतुं वा न शक्यन्ते न पार्यन्ते ।

इस प्रकार उक्त दोनों मार्ग (=वैदर्भ और गौड), उनके अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप के निरूपण द्वारा, परस्पर भिन्न (प्रतिपादित किए गए) हैं । परन्तु उनके अपने अवान्तर भेदों का, जो प्रत्येक कवि में (पृथक्-पृथक् रूप में) स्थित हैं, (अलग-अलग) विवेचन नहीं किया जा सकता ।

वैदर्भ और गौड— इन दोनों मार्गों के निरूपण का यह अभिप्राय नहीं है कि काव्यमार्ग केवल दो ही हैं । वस्तुतः इन दो मार्गों का परस्पर अन्तर प्रस्फुट अथवा अत्यन्त स्पष्ट है, अतः इनका निरूपण संभव हो सका है । दूसरी ओर, इनके अवान्तर भेदों का, जिनमें परस्पर सूक्ष्म अन्तर है (तु० १.४० :

---

१. तमेकम् । २. उपजीवति ।

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्), कथन संभव नहीं है। अवान्तर भेदों की अनन्तता कवियों और उनकी काव्यरुचियों की अनन्तता पर आधारित है। मार्ग का कविरुचि अथवा कविस्वभाव के साथ दण्डि-निर्दिष्ट यह संबन्ध प्राचीन मार्ग-संकल्पना को आधुनिक शैली-संकल्पना के निकट ले आता है (तु० कुन्तक : **वक्रोक्ति० १.२४, वृत्ति भी**)।

इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते ॥१०२॥

उक्तमर्थं मार्गानन्तभेदकथनाशक्यत्वरूपं दृष्टान्तेन समर्थयति—**इक्ष्विति**। इक्षुः रसालः, क्षीरं दुग्धं, गुडः इक्षुविकारः तदादीनां मधुरद्रव्याणां माधुर्यस्य (सामान्यधर्मस्य) अन्तरं प्रतिद्रव्यं विशेषात्मना स्थितो भेदः महत् परिस्फुटम् इत्यनुभवसिद्धम्। तथापि तद् अन्तरं सरस्वत्या अपि वागधिष्ठात्र्या देवतया अपि आख्यातुं विभागेन वक्तुम्, अस्येदृशं माधुर्यमस्य चेदृशमिति शब्देन निर्देष्टुं, न शक्यते न पार्यते, का कथा तदुपासकानां कवीनामित्यर्थः।

ईख, दूध और गुड़ आदि के मिठास में परस्पर महान् अन्तर है, फिर भी उस अन्तर का कथन (=शब्द द्वारा पृथक्-पृथक् निर्देश) सरस्वती द्वारा भी नहीं किया जा सकता।

पूर्वोक्त बात को यहाँ दृष्टान्त द्वारा सुचारु ढंग से समझाया गया है। रत्नश्रीज्ञान ने इस श्लोक की अपनी व्याख्या में मालती, मल्लिका, चम्पक, पाटल आदि के फूलों का दृष्टान्त भी दिया है जिनकी परस्परभिन्न सुगन्ध का कथन शब्द द्वारा नहीं किया जा सकता।

दस गुणों के उक्त मार्ग-सापेक्ष विवेचन से दोनों मार्गों के पृथक्-पृथक् लक्षण सामने आते हैं। इनके अनुसार, वैदर्भ के मुख्य तत्व हैं : (१) पदयोजना में कोमलता तथा संश्लिष्टता, और उसके साथ ओज गुण का समन्वय, (२) पदयोजना की एकरूपता, (३) अर्थ की स्पष्टता, सुबोधता और परिपूर्णता, (४) पद तथा भाव की योजना में मधुरता, (५) भावों की उदात्तता और स्वाभाविकता, तथा (६) अभिव्यक्तिशैली की अलंकृतता, अथवा रूपक-योजना। गौड मार्ग के निम्नलिखित प्रमुख तत्व हैं : (१) पदयोजना में कठोरता, एवं समासों के मुक्त उपयोग से उत्पन्न ओज, (२) अनुप्रास के उदार प्रयोग से उत्पन्न मिठास, (३) वर्ण्यवस्तु में चमत्कार पैदा करने के लिए आडम्बरपूर्ण शब्दों का प्रयोग (चाहे उसके फलस्वरूप भाव में अस्पष्टता या दुर्बोधता आ जाए), और (४) उदात्त, अलंकृत तथा अत्युक्तिपूर्ण रचना-शैली।

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु[1] निर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसंपदः ॥१०३॥

मार्गद्वयात्मकस्य काव्यस्य स्वरूपं निरूप्याधुना तत्संपत्तेः कारणमाह—**नैसर्गिकीति** । नैसर्गिकी स्वभावसिद्धा सहजा, पूर्वजन्मसंस्कारोपात्तेत्यर्थः, प्रतिभा नवनवोन्मेषशालिनी काव्यविषया प्रज्ञा, बहु प्रभूतम्, अनेकशास्त्रकाव्यादिविषयमिति यावत्, निर्मलं परिशुद्धं संशयादिदोषरहितं श्रुतम् अध्ययनं तदुपार्जितं वा ज्ञानम्, अथ च अमन्दः प्रगाढः अभियोगः श्रुतस्य पुनःपुनरावृत्तिस्वरूपोऽभ्यासः—इत्येतत्त्रयं काव्यसंपदः काव्यरूपायाः संपत्तेः कारणं हेतुः । कारणमिति एकवचननिर्देशेन समस्तमेव तत् काव्यसंपत्कारणं न त्वेकैकमिति व्यज्यते ।

जन्मजात प्रतिभा, विशाल एवं परिशुद्ध अध्ययन और प्रगाढ अभ्यास—ये (समुदित रूप में) काव्य-संपत्ति के कारण होते हैं ।

प्रतिभा को दण्डी ने कवित्व भी कहा है (१.१०५); उसके अनुसार यह पूर्ववासनागुणानुबन्धी है (१.१०४) । हेमचन्द्र ने इसे नई-नई उद्भावना करने वाली प्रज्ञा माना है; तु० **काअनु० पृ० ५ : प्रतिभा नवनवोल्लेखशालिनी प्रज्ञा ।** बहु श्रुत को दण्डी ने व्युत्पत्ति भी कहा है (१.६;३.१८७); उसी शब्द को उत्तरवर्ती आचार्यों ने सामान्यतः ग्रहण किया । व्युत्पत्ति के संदर्भ में भामह (१.६), रुद्रट (१.१८), वामन (१.३.३-१०) आदि आचार्यों ने एवं दण्डी के व्याख्याकारों ने कवि द्वारा अध्येतव्य अनेक विद्याओं (जैसे—व्याकरण, छन्द, कोश, कला, स्मृति, इतिहास, तर्क, दण्डनीति आदि) की चर्चा की है । अमन्द अभियोग को दण्डी ने श्रम (१.१०५) और अभ्यास (२.३६८) भी कहा है । उत्तरवर्ती आचार्यों ने प्रायः इन्हीं तीनों (प्रतिभा, श्रुत और अभियोग) का काव्यहेतु के रूप में उल्लेख किया है; तु० **काप्र० १.३ : शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् । काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥** हेमचन्द्र (**काअनु० पृ० ५-७**) ने प्रतिभा को एकमात्र काव्यहेतु मानकर उसे व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा संस्कार्य माना है ।

न विद्यते यद्यपि पूर्ववासनागुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥१०४॥

प्रतिभाया अभावेऽपि मात्रया कवित्वसिद्धिः स्यात्तदितरद्वयाराधनेनेत्याह—**न विद्यत इति** । पूर्ववासनागुणानुबन्धि पूर्ववासना प्राक्तनजन्मसंस्कारः सैव गुणः धर्मविशेषः तं हेतुभावेन अनुबध्नाति अनुषजति इति तत् तादृशं

१. बहु च ।

पूर्वजन्मसंस्कारविशेषोत्पन्नम् अद्भुतम् अलौकिककाव्यहेतुत्वाद् आश्चर्यावहं दुर्लभं वा प्रतिभानं प्रतिभा कवित्वशक्तिः यद्यपि न विद्यते न स्यात्, तथापि श्रुतेन काव्यशास्त्रादिपरिशीलनेन यत्नेन काव्यकरणाभ्यासात्मकेन प्रयत्नविशेषेण च उपासिता सम्यगाराधिता वाक् तदधिष्ठात्री काव्यकाव्यशास्त्रादिविद्यालक्षणविशिष्टा देवी सरस्वती कमपि कंचिद् अनुग्रहं काव्यरचनासामर्थ्यप्रदानलक्षणं प्रसादं ध्रुवं निश्चितं करोति एव। एवशब्दः संदेहनिवारणार्थः। कवित्वप्रधानकारणस्य सहजप्रतिभाया अभावेऽपि व्युत्पत्त्याऽभ्यासेन च मात्रया कवित्वसिद्धिर्जायत एवेति भावः।

चाहे पूर्वजन्म के संस्कार-विशेष से उत्पन्न अद्भुत प्रतिभा (किसी व्यक्ति में) न हो, तो भी (काव्यों और शास्त्रों के) अध्ययन और (अभ्यासरूप) प्रयत्न द्वारा भलीभाँति आराधना किए जाने पर वाग्देवता (सरस्वती) कुछ-न-कुछ अनुग्रह (काव्यरचना की शक्ति प्रदान करने के रूप में) कर ही देती है।

दण्डी के उक्त कथन पर कटाक्ष करते हुए भामह (१.५) ने कहा है : **गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्। काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः॥** दूसरी ओर, रुद्रट (१.१६) ने प्रतिभा के दो रूप माने हैं : सहजा (=जन्मजात) और उत्पाद्या (=व्युत्पत्तिसाध्य)। परंतु यह दृष्टिकोण उत्तरवर्ती युग में सामान्यतः मान्य नहीं हुआ। बाद के इन आचार्यों ने प्रतिभा के अभाव में कवित्व की स्थिति प्रायः स्वीकार नहीं की; तु० ध्वन्या० ३.६ वृत्ति : **अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः। यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते॥** वास्तव में दण्डी भी प्रतिभा के अभाव में कवित्व नहीं मानता; हाँ, ऐसी स्थिति में श्रुत और यत्न का कुछ फल अवश्य स्वीकार करता है।

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादु[1]पास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः[2]।
कृशे[3] कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥१०५॥

इत्याचार्यदण्डिनः[4] कृतौ काव्यादर्शे मार्गविभागो नाम
प्रथमः परिच्छेदः।

वागुपासनामाहात्म्यवर्णनेनोपसंहरन्नाह—**तदस्ततन्द्रैरिति**। तत् तस्मात् कारणात् (वागुपासनानैष्फल्याभावात्) कीर्तिं कवियशः ईप्सुभिः इच्छुकैः जनैः अनिशं सततम् अस्ततन्द्रैः निस्तन्द्रैः आलस्यरहितैः, सतताभियोगयुक्तैः सद्भि-

---

१. क्रमाद्। २. इच्छुभिः। ३. श्रुते। ४. इति दण्डिनः, इत्यार्य-।

रित्यर्थः, सरस्वती वाग्देवता श्रमाद् अभ्यासरूपश्रमपूर्वं उपास्याकम् आराधनीया खलु। पूर्वोक्तं द्रढयति—कवित्वे कवित्वशक्तौ कृशेऽपि स्वल्पमात्रे सत्यपि कृतश्रमाः काव्यशास्त्राभ्यासेन विहितप्रयत्नाः जनाः विदग्धगोष्ठीषु सहृदयसमाजेषु, तदायोजितकाव्यशास्त्रादिगोष्ठीषु इति भावः, विहर्तुं विहारं कर्तुम् अभिज्ञतया अन्तर्भवितुम् ईशते प्रभवन्ति।

इसलिए (कवि-)यश प्राप्त करने के इच्छुक जनों को सतत अभियुक्त मन से सरस्वती की श्रमपूर्वक उपासना करनी चाहिए; (क्योंकि) कवित्व-(शक्ति) के स्वल्प मात्रा में होने पर भी परिश्रम करने वाले व्यक्ति सहृदयों की (काव्य, शास्त्र आदि की) गोष्ठियों में विहार करने में समर्थ हो जाते हैं।

यहाँ स्पष्ट है कि दण्डी ने कवित्व अथवा प्रतिभा के 'अभाव' में नहीं, अपितु 'कृशत्व' में व्युत्पत्ति और अभ्यास द्वारा कविता की स्थिति मानी है। यहाँ प्रसङ्गवश आचार्य ने कीर्तिप्राप्ति को काव्यरचना का प्रयोजन कहा है। अन्यत्र (३.१८७) उसने कीर्ति के साथ-साथ रमण (=आनन्द) का भी काव्यप्रयोजन के रूप में उल्लेख किया है (तु० भामह १.२)। उत्तरवर्ती आचार्यों ने, इनके अतिरिक्त, धनप्राप्ति, व्यवहारज्ञान, अमङ्गलनाश और कान्तासंमित उपदेश को भी काव्यप्रयोजन के रूप में परिगणित किया है; तु० काप्र० १.२ : **काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे॥**

इति धर्मेन्द्रकुमारगुप्तविरचितायां काव्यादर्श-सुदर्शनायां प्रथमः परिच्छेदः।

द्वितीयः परिच्छेदः

काव्यशोभाकरान्[1] धर्मानलंकारान् प्रचक्षते ।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन[2] वक्ष्यति ॥१॥

प्रथमे परिच्छेदे काव्यस्वरूपं काव्यगुणांश्च व्याख्यायाधुना परिच्छेदेऽस्मिन् द्वितीये काव्यालंकारान् निरूपयिष्यन्नाह—**काव्यशोभेति**। काव्यस्य पूर्वोक्तस्य इष्टार्थव्यवच्छिन्नपदावलीलक्षणस्य काव्यशरीरस्य शोभा सौन्दर्यं चमत्कारवैचित्र्यं तत्करान् तद्विधायकान् धर्मान् गुणविशेषान् अलंकारान् प्रचक्षते कथयन्ति, तद्विद इति शेषः। यथा केयूराङ्गदहारकुण्डलादयः शरीरशोभां विदधति तथैव उपमारूपकादयो वक्ष्यमाणा अलंकाराः काव्यशरीरं शोभयन्ति इत्यर्थः। ते च अलंकाराः अद्यापि संप्रत्यपि विकल्प्यन्ते विविधप्रकारेण नवनवाः उद्भाव्यन्ते, काव्यालंकारविद्भिरिति शेषः। अतश्च कः खलु तान् अलंकारान् कार्त्स्न्येन साकल्येन वक्ष्यति निरूपयिष्यति। विविधकल्पनोद्भावितानामलंकाराणामियत्तां न कोऽपि निर्धारयितुं प्रभवेदिति भावः।

काव्य-सौन्दर्य के कारणभूत धर्मों (=गुणविशेषों) को अलंकार कहते हैं। वे अलंकार अब (तक) भी विविध रूप से उद्भावित किए जा रहे हैं, (अतः) उनका पूर्णरूप से निरूपण कौन कर सकता है?

दण्डी द्वारा दी गई इस अलंकार-परिभाषा को वामन ने अपने गुण की परिभाषा के रूप में ग्रहण किया है। उसके अनुसार, काव्य-सौन्दर्य के विधायक धर्म गुण हैं और उसके अतिशायक (=समृद्धिहेतु) धर्म अलंकार हैं; तु० ३.१.१-२ : **काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः।** इस प्रकार वामन ने गुण और अलंकार का परस्पर भेद निर्दिष्ट किया है। दण्डी में यह भेद-निर्देश नहीं है। उसके मत में, संभवतः, गुण और अलंकार के बीच कोई मूलभूत अन्तर नहीं था (तु० २.३)। उत्तरवर्ती आचार्यों में मम्मट, विश्वनाथ आदि ने गुण और अलंकार के अन्तर को अधिक स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार, काव्यात्मभूत रस के उत्कर्षहेतु नित्य धर्मों को गुण और काव्यशरीरभूत शब्द और अर्थ के शोभातिशयहेतु अस्थिर धर्मों को अलंकार कहते हैं; तु० साद० ८.१ : **रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा। गुणाः...... ॥**; १०.१ : **शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः। रसादीनुपकुर्वन्तोऽलंकारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥**

---

१. काव्ये शोभा-। २. कार्त्स्नेन।

अलंकारों के विविध रूपों और भेदोपभेदों की कल्पना की प्रवृत्ति संस्कृत-काव्यशास्त्र की परंपरा में सर्वदा संलक्षित होती रही है। आनन्दवर्धन (ध्वन्या० १.१ वृत्ति) ने इस तथ्य की ओर इन शब्दों में संकेत किया है : **सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलंकारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च।**

किंतु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्[1] ।
तदेव परि[2]संस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः ॥२॥

अलंकारविकल्पनिरूपणस्य असंभवत्वेऽपि तद्विकल्पसामान्यरूपस्य प्रदर्शनं संभवमित्याह—**किंत्विति**। किंतु अलंकारविविधकल्पनावर्णनाऽसंभवत्वेऽपि विकल्पानां तद्विविधकल्पनोद्भावनानां बीजं सामान्यं मूलं पूर्वाचार्यैः चिरंतनैः काव्यलक्षणकारैः प्रदर्शितं निर्दिष्टम्। तद् अलंकारविकल्पानां सामान्यं मूलम् एव परिसंस्कर्तुं सर्वथा स्फुटीकर्तुम् अयम् एतद्ग्रन्थपरिच्छेदप्रणयनरूपः अस्मत्परिश्रमः अस्माकं प्रयासः वर्तते।

परंतु (अलंकारों की) विविध कल्पना का बीज (=सामान्य मूल) पूर्ववर्ती आचार्यों ने निर्दिष्ट किया है। उसी (बीज) का परिसंस्कार (=परिष्कार) करने के लिए यह हमारा प्रस्तुत प्रयास है।

अलंकारों के विविध रूपों की उद्भावना के मूल में निहित तत्त्वों का उद्घाटन एवं परिष्कार करना इस परिच्छेद का विषय है। कहने का अभिप्राय यह है कि सभी अलंकार-विकल्पों का समग्र रूप से कथन तो संभव नहीं, परंतु दिशा-निर्देश के रूप में पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित कतिपय अलंकार-भेदों को परिष्कृत रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास यहाँ किया जा रहा है। यही बात दण्डी ने इस परिच्छेद के अन्त में उपसंहार के रूप में कही है (२.३६८)। रत्नश्रीज्ञान ने पूर्ववर्ती आचार्यों के रूप में यहाँ मेधावी और श्यामवादी (?) का उल्लेख किया है।

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागप्यलंक्रियाः।
साधारणमलंकारजातमन्यत्[3] प्रदर्श्यते[4] ॥३॥

अथालंकारनिरूपणमुपक्रममाण आह—**काश्चिदिति**। काश्चिद् अलंक्रियाः अलंकाराः मार्गविभागार्थे रीतिविभेदप्रदर्शनार्थे प्रागपि पूर्वमपि प्रथमपरिच्छेदे उक्ताः कथिताः व्याख्याता वा। अन्यत् तदितरत् तु साधारणं सर्वसंमतम् उभयमार्गस्वीकृतम् अलंकारजातम् अलंकारसमूहः अत्र परिच्छेदे प्रदर्श्यते

१. प्रकल्पितम्। २. प्रति-। ३. अद्य। ४. प्रकाश्यते, निरूप्यते।

निरूप्यते, लक्षणोदाहरणादिना व्याख्यायते इत्यर्थः।

कुछ अलंकार मार्ग-भेद का प्रदर्शन करने के लिए पहले भी (=प्रथम परिच्छेद में) कहे गए हैं। यहाँ (उन विशिष्ट अलंकारों से) भिन्न साधारण अलंकारों का निरूपण किया जाता है।

मार्ग-विभाग के विशदीकरण के लिए निरूपित अलंकार वस्तुतः गुण हैं जिन्हें दण्डी ने मार्ग-विशेष के उपकारक के तौर पर अलंकार का 'विशिष्ट' रूप माना है। इनकी तुलना में स्वभावोक्ति, उपमा आदि अलंकार 'साधारण' अलंकार हैं। रत्नश्रीज्ञान और तरुणवाचस्पति ने **काश्चिद् अलंक्रियाः** को स्पष्टतः श्लेष, प्रसाद आदि गुण माना है। इस संबन्ध में तरुणवाचस्पति का मत उद्धरणीय है : **पूर्वं श्लेषादयो दश गुणा इत्युक्तम्। कथं तेऽलंकारा उच्यन्त इति चेत्, शोभाकरत्वं ह्यलंकारलक्षणम्। तल्लक्षणयोगात्तेऽप्यलंकाराः। शोभाहेतवो गुणाः, शोभातिशयहेतवोऽलंकारा इति कैश्चिदुक्तम्। शोभातिशयहेतुत्वस्यैव विवक्षितत्वान्नायं भेदहेतुरिति गुणा अलंकारा एवेत्याचार्याः। ततः श्लेषादयो गुणात्मकालंकाराः पूर्वं मार्गप्रभेदप्रदर्शनायोक्ताः, इदानीं तु मार्गद्वयसाधारणा अलंकारा उच्यन्ते।** वास्तव में दण्डी संधि, संध्यङ्ग, वृत्ति, वृत्त्यङ्ग, लक्षण आदि नाट्यशास्त्रीय तत्वों को भी अलंकार की व्यापक परिधि के अन्तर्गत मानता है (तु० २.३६७)। भोज (सरस्व० ५, उदा० ४५३ के अनन्तर) ने दण्डी के प्रस्तुत श्लोक को इस टिप्पणी के साथ उद्धृत किया है : **मार्गविभागकृद्गुणानामलंक्रियोपदेशेन श्लेषादीनां गुणत्वमिवालंकारत्वमपि ज्ञापयति।** इस संबन्ध में अभिनवगुप्त (अभिनवभारती, द्वितीय भाग, पृ० २९५) का यह कथन भी अवधेय है : **दण्डिनापि 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते' इति ब्रुवता गुणमध्य एव तत्र प्रसादादीनभिदधता च गुणालंकारविभागोऽप्यसंभवीति सूचितं भवति।** रुय्यक (अलंसर्व०, पृ० ८) के अनुसार, उद्भट भी गुण और अलंकार को अभिन्न मानता है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने गुण और अलंकार के अभेद के सिद्धान्त को प्रायः अस्वीकार किया है; तु० **काप्र० ८.६७ वृत्ति।**

स्वभावाख्यानमुपमा रूपकं दीपकावृती।
आक्षेपोऽर्थान्तरन्यासो व्यतिरेको विभावना ॥४॥
समासातिशयोत्प्रेक्षा हेतुः सूक्ष्मो लवः क्रमः।
प्रेयो रसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं[1] समाहितम् ॥५॥
उदात्तापह्नुतिश्लेष[2]विशेषास्तुल्ययोगिता।
विरोधाप्रस्तुतस्तोत्रे व्याजस्तुतिनिदर्शने ॥६॥

१. पर्यायान्यत् (?)। २. -श्लिष्ट-।

सहोक्तिः परिवृत्त्याशीः संसृष्टिरथ[1] भाविकम् ।
इति वाचामलंकारा दर्शिताः[2] पूर्वसूरिभिः ।।७।।

अथ पञ्चत्रिंशत्संख्याकान् लक्षणीयानलंकारान्नामग्राहं परिगणयति—**स्वभावाख्यान**मिति । स्वभावाख्यानमित्यादयः पञ्चत्रिंशत्संख्याकाः वाचां वाक्यानाम् अलंकाराः पूर्वसूरिभिः पूर्ववर्तिभिः आचार्यैः दर्शिताः प्रदर्शिताः निरूपिता इत्यर्थः । त एवालंकारा मया विक्रियन्ते परिसंस्क्रियन्ते वा, न तु नवाः विकल्प्यन्ते, तेषामानन्त्यादिति भावः । अत्र स्वभावाख्यानं स्वभावोक्तिः, दीपकावृती दीपकमावृत्तिश्च, समासः समासोक्तिः, अतिशयः अतिशयोक्तिः, लवः लेशः, क्रमः यथासंख्यम् , विशेषः विशेषोक्तिः, अप्रस्तुतस्तोत्रं चाप्रस्तुतप्रशंसा । अन्यत् स्पष्टम् ।

वाक्य के निम्नलिखित (पैंतीस) अलंकारों का निरूपण पूर्ववर्ती आचार्यों ने किया है : स्वभावोक्ति, उपमा, रूपक, दीपक, आवृत्ति, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, हेतु, सूक्ष्म, लेश (=लव), यथासंख्य (=क्रम), प्रेयः, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्त, समाहित, उदात्त, अपह्नुति, श्लेष, विशेषोक्ति, तुल्ययोगिता, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शन, सहोक्ति, परिवृत्ति, आशीः, संसृष्टि (=संकीर्ण) और भाविक ।

पूर्ववर्ती आचार्यों में यहाँ **हृदयंगमा** ने काश्यप और वररुचि का एवं **रत्नश्री** ने रामशर्मा का उल्लेख किया है ।

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती ।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा ।।८।।

अथ क्रमप्राप्तं प्रथममलंकारं स्वभावोक्तिं लक्षयन्नाह— **नानावस्थ**मिति । पदार्थानां जातिक्रियागुणद्रव्यात्मकानां वस्तूनां नानावस्थं विविधदशापन्नं रूपं स्वरूपविशेषं साक्षात् प्रत्यक्षमिव विवृण्वती प्रदर्शयन्ती सा प्रसिद्धा अलंकृतिः अलंकारः स्वभावोक्तिः जातिः च इति नामद्वयवती आद्या प्रथमा अलंकारेषु अग्रगण्या वर्तते । यथेति प्रस्तोष्यमाणोदाहरणोपक्रमः । वस्तुस्वरूपस्य साक्षाद्विवरणं चमत्कारहेतुः, साक्षाद्विवरणाभावे तु वस्तुरूपनिरूपणमात्रं नैतदलंकारविषयः, तत्र चमत्कारविरहात् । अलंकारस्यास्य महत्त्वम् उत्तरत्रापि **शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम्** इति वदताऽऽचार्येण निर्दिष्टम् ।

(जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य रूप) पदार्थों के, विभिन्न अवस्थाओं में प्रकट होने वाले, स्वरूप को साक्षात् (आँखों के सामने) प्रदर्शित कर देने वाला

---

१. संकीर्णमथ । २. –काराः स्मर्यन्ते ।

अलंकार स्वभावोक्ति है, जिसे जाति भी कहते हैं; यह (अलंकारों में) अग्रगण्य अलंकार है।

इस अलंकार का 'जाति' यह नाम सूचित करता है कि इसका संवन्ध मूलतः जाति-रूप पदार्थ के ही स्वरूप-विवरण से था। दण्डी ने यहाँ क्रिया, गुण और द्रव्य का भी ग्रहण करके इसके क्षेत्र को व्यापक कर दिया। इसे उसने अलंकारों में सर्वप्रथम स्थान दिया है; दूसरी ओर भामह (२.९३-४) इस अलंकार के प्रति उदासीन है। उत्तरवर्ती आचार्यों में कुन्तक (१.११-२) इसके अलंकारत्व से सहमत नहीं, यद्यपि इसमें वस्तुवक्रता होने की स्थिति में वह इसे अलंकार मानने को तैयार है (३.१ वृत्ति)। दण्डी ने **रूपं साक्षाद् विवृण्वती** कहकर इस अलंकार में वस्तुवक्रता अथवा वैचित्र्य की स्थिति स्वीकार की है। महिमभट्ट (**व्यक्तिविवेक** २.११३-२०) ने इसी तत्त्व के आधार पर इस अलंकार की स्वीकार्यता पर वल दिया है। वामन (३.२.१३) ने इसे अर्थव्यक्ति नामक (अर्थ-)गुण की सीमा में अन्तर्भुक्त करना चाहा है; दूसरी ओर मम्मट (८.७२ **वृत्ति**) अर्थव्यक्ति को ही स्वभावोक्ति के अन्तर्गत मानने के पक्ष में है।

तुण्डैराताम्रकुटिलैः पक्षैर्हरितकोमलैः ।
त्रिवर्णराजिभिः कण्ठैरेते मञ्जुगिरः शुकाः ॥९॥

चतुर्षु पदार्थेषु प्रथमं जातिरूपमुदाहरति—**तुण्डैरिति**। एते पुरः स्थिताः मञ्जुगिरः मधुरालापिनः शुकाः कीराः आताम्रकुटिलैः ईषद्रक्तैः वक्रैश्च तुण्डैः मुखैः, चञ्चुभिरित्यर्थः, हरितकोमलैः हरितवर्णैः मृदुभिश्च पक्षैः पक्षतिभिः, अथ च त्रिवर्णराजिभिः श्वेतकृष्णरक्तवर्णरेखायुतैः कण्ठैः उपलक्षिताः सन्तीति शेषः। अत्र आताम्रमुखत्वादिरूपः शुकजातेरसाधारणो धर्मः साक्षादिव प्रदर्शित इति जातिगता स्वभावोक्तिः।

इन मधुरभाषी सुग्गों की चोंच कुछ लाल और टेढ़ी है, इनके पर हरे और कोमल हैं तथा इनकी गर्दन तिरंगी (=श्वेत, कृष्ण और लाल) रेखाओं से युक्त है।

यहाँ शुकजाति मात्र के धर्मों, लाल और टेढ़ी चोंच आदि, का प्रत्यक्ष-सा विवरण होने से **जातिगत स्वभावोक्ति** है।

कलक्वणितगर्भेण कण्ठेनाघूर्णितेक्षणः ।
पारावतः परिभ्रम्य[1] रिरंसुश्चुम्बति प्रियाम् ॥१०॥

क्रियारूपं पदार्थमुदाहरति—**कलेति**। कलं मधुरं क्वणितम् अव्यक्तध्वनिः

---

१. –क्रम्य, –क्षिप्य, –वृत्य।

गर्भे अभ्यन्तरे यस्य तेन तादृशेन कण्ठेन उपलक्षितः पारावतः कपोतः रिरंसुः रन्तुमिच्छुः आघूर्णितेक्षणः भ्रमितनेत्रः सन् परिभ्रम्य परितः भ्रान्त्वा प्रियां कपोतीं चुम्बति। अत्र चुम्बनक्रियारूपः क्वणननयनघूर्णनाद्यवस्थाभिन्नः पदार्थः साक्षाद्विवृत इति क्रियागता स्वभावोक्तिः।

मधुर ध्वनि वाले कण्ठ से (शब्द करता हुआ) एवं अपनी आँखों को गोल घुमाता हुआ यह कबूतर रमण करने की इच्छा से अपनी प्रिया के इर्द-गिर्द घूम-घूमकर उसका चुम्बन कर रहा है।

यहाँ मधुर शब्द करना, आँखें मटकाना आदि अवस्थाओं से उपलक्षित चुम्बनक्रिया-रूप पदार्थ का प्रत्यक्ष-सा वर्णन होने से **क्रियागत स्वभावोक्ति है।**

बध्नन्नङ्गेषु रोमाञ्चं कुर्वन्मनसि निर्वृतिम्।
नेत्रे चामीलयन्नेष प्रियास्पर्शः प्रवर्तते ॥११॥

गुणरूपं पदार्थमुदाहरति—बध्नन्निति। अङ्गेषु गात्रेषु रोमाञ्चं रोमहर्षं बध्नन् जनयन्, मनसि चित्ते निर्वृतिम् आनन्दविशेषं कुर्वन् उत्पादयन्, अथ च नेत्रे चक्षुषी आमीलयन् ईषन्निमीलयन् एषः अनुभूयमानः प्रियायाः प्रणयिन्याः स्पर्शः संस्पर्शः (तन्नामकः पृथिव्यादिभूताश्रयो गुणः) प्रवर्तते प्रसरति। अत्र रोमहर्षनेत्रामीलनादिनानावस्थं स्पर्शगुणपदार्थस्य रूपं प्रत्यक्षमिव प्रदर्शितमिति गुणगता स्वभावोक्तिः।

अङ्गों में रोमाञ्च जगाता हुआ, चित्त में आनन्द का संचार करता हुआ एवं आँखों को कुछ-कुछ निमीलित करता हुआ यह प्रिया का स्पर्श प्रवृत्त हो रहा है।

यहाँ स्पर्शगुण-रूप पदार्थ की रोमाञ्च, मानसिक आनन्द और नेत्रनिमीलन आदि अवस्थाओं का जीता-जागता वर्णन होने से **गुणगत स्वभावोक्ति है।**

कण्ठे कालः[1] करस्थेन कपालेनेन्दुशेखरः।
जटाभिः स्निग्धताम्राभिराविरासीद् वृषध्वजः ॥१२॥

चतुर्थं द्रव्यरूपं पदार्थमुदाहरति—**कण्ठ** इति। कण्ठे कण्ठदेशे कालः नीलवर्णः, कालकूटलक्षण इत्यर्थः, अथवा कण्ठे कालः कालकूटं यस्य सः कण्ठेकालः (सप्तम्यलुक्), करस्थेन हस्तवर्तिना कपालेन भिक्षापात्रेण अथ च स्निग्धताम्राभिः कोमलाभिः पाटलाभिश्च जटाभिः उपलक्षितः इन्दुशेखरः चन्द्रमौलिः वृषध्वजः शिवः आविरासीत् प्रादुरभवत्। अत्र कण्ठेकालत्व-

१. कण्ठेकालः।

कपालित्वाद्यवस्थाभिन्नं शिवरूपं द्रव्यं साक्षादिव प्रदर्शितमिति द्रव्यगता स्वभावोक्तिः ।

नीलवर्ण कण्ठ वाले (अथवा कण्ठ में कालकूट धारण किए हुए), हाथ में (भिक्षापात्र के रूप में) कपाल धारण किए हुए, कोमल और पाटलवर्ण जटाओं वाले एवं सिर पर चन्द्रमा को सजाए हुए वृषध्वज (=शिव) प्रकट हो गए ।

यहां शिव-रूप द्रव्य के विभिन्न रूपों—नीलकण्ठत्व, कपालधारित्व आदि—का सजीव वर्णन होने से **द्रव्यगत स्वभावोक्ति** है ।

जातिक्रियागुणद्रव्य[1]स्वभावाख्यानमीदृशम् ।
शास्त्रेष्वस्यैव[2] साम्राज्यं काव्येष्वप्येतदीप्सितम् ।।१३।।

स्वभावोक्तिमुपसंहरन्नाह—**जातीति** । ईदृशम् उक्तप्रकारकं जातिक्रिया-गुणद्रव्याणां स्वभावाख्यानं स्वरूपनिरूपणं स्वभावोक्तिरलंकारः स्याद् । शास्त्रेषु काव्यशास्त्रग्रन्थेषु अस्य स्वभावोक्त्यलंकारस्यैव साम्राज्यम् आधिपत्यं, महिमान्वितं स्थानमित्यर्थः, अथ काव्येषु काव्यग्रन्थेषु महाकाव्यनाटकादिषु अपि एतत् स्व-भावाख्यानम् अलंकारः ईप्सितम् अभीष्टत्वेन स्वीकृतम् । काव्यशास्त्रे काव्ये चेत्युभयत्रापि अलंकारोऽयं प्राधान्यं भजत इत्यर्थः ।

इस प्रकार जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य के स्वभाव-कथन को स्वभावोक्ति कहते हैं । काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में इसी का प्राधान्य है एवं काव्यग्रन्थों में भी यह अलंकार (विशेष रूप से) अभीष्ट है ।

जाति, क्रिया, गुण और द्रव्य भेद से पदार्थ के चार रूप वैयाकरणों की चार प्रकार की शब्द-प्रवृत्ति की धारणा पर आधारित हैं; तु० **महाभाष्य**, द्वितीय आह्निक, ऋलृक् पर भाष्य : **चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिर्जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः** । काव्यशास्त्र के क्षेत्र में इनका उल्लेख, दण्डी के अतिरिक्त, भामह (६.२१), मम्मट (२.८ **वृत्ति**), विश्वनाथ (२.४) आदि ने किया है ।

डॉ० नगेन्द्र (**भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका**, पृ० १८७) ने **काव्येष्वप्ये-तदीप्सितम्** का भाव यह लिया है कि काव्यग्रन्थों में यह अलंकार वाञ्छनीय (ईप्सित) तो है, परन्तु अनिवार्य नहीं । **अपि** शब्द के विशेष बल को देखते हुए हम इस व्याख्या को ग्राह्य नहीं मान सकते ।

यथाकथंचित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते ।
उपमा नाम सा तस्याः प्रपञ्चोऽयं निदर्श्यते[3] ।।१४।।

---

१. -द्रव्यैः स्व- । २. शास्त्रे चास्यैव । ३. प्रदर्श्यते ।

क्रमप्राप्तं द्वितीयमलंकारम् उपमामाह—**यथेति**। यत्र काव्यव्यापारे यथाकथंचित् येन केनचित्प्रकारेण उद्भूतं व्यक्तम्, उपमेयोपमानयोर्भेदस्य परिस्फुटत्वात् स्फुटम्, सादृश्यं पदार्थयोः कयोश्चित्साम्यं प्रतीयते शब्दाद् अर्थाद्वा गम्यते सा अलंकृतिः उपमा नाम भवति। तस्याः उपमायाः अयं प्रपञ्चः विस्तरः निदर्श्यते भेदोपभेदप्रदर्शनेन प्रकाश्यते।

जहाँ (काव्य में) किसी भी प्रकार से, अभिव्यक्त रूप में, दो पदार्थों के बीच सादृश्य की प्रतीति हो, वहाँ उपमा अलंकार होता है। इस उपमा का यहाँ विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है।

उपमा के अपने लक्षण में दण्डी ने उपमेय, उपमान, तुल्यधर्म (= साधारणधर्म) और व्यञ्जक अथवा वाचक पद—इनका उल्लेख या संकेत नहीं किया है, यद्यपि वह इनसे एवं इनके महत्त्व से परिचित था (तु० २.२२७, २२८,२३०,२३१,२३४)। उपमा का अलंकार के रूप में सर्वप्रथम उल्लेख भरत (**नाट्यशास्त्र** १७.४४-५) ने किया है। उत्तरवर्ती आचार्यों में इस अलंकार का स्वरूप वही रहा जो दण्डी में है, परन्तु इसकी परिभाषा उत्तरोत्तर परिष्कृत होती गई। विश्वनाथ (१०.१४) ने इसे एक वाक्य में अभिव्यक्त दो पदार्थों का सादृश्यकथन कहा है : **साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः**। यह लक्षण इसे रूपक एवं अन्य सादृश्यमूलक अलंकारों से पृथक् करता है।

दण्डी ने उपमा के बत्तीस भेदों की व्याख्या की है। इनमें से अनेक भेद उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा छोड़ दिए गए, कुछ भेद नये नामों से गृहीत किए गए, कुछ स्वतन्त्र अलंकारों के रूप में विकसित हुए एवं कुछ अन्य अलंकारों के भेद के रूप में आए। ऐसे भेदों की यथास्थान चर्चा की जाएगी।

अम्भोरुहमिवाताम्रं मुग्धे करतलं तव।
इति धर्मोपमा साक्षात्तुल्यधर्मप्रदर्शनात्[1] ॥१५॥

द्वात्रिंशद्भेदभिन्नामुपमामुदाहरिष्यंस्तत्र प्रथमं भेदं धर्मोपमामाह—**अम्भोरुहमिति**। हे मुग्धे बाले, तव करतलं पाणितलम् अम्भोरुहं कमलम् इव आताम्रम् ईषद्रक्तं वर्तते। इति उक्तवाक्ये साक्षात् शब्दतः तुल्यधर्मप्रदर्शनाद् उपमेयस्य करतलस्य उपमानस्य च कमलस्येति द्वयोः समानधर्मस्य आताम्रत्वस्य वर्णनाद् धर्मोपमा नामोपमाभेदः। अर्वाचीनानां मतेन उपमेयोपमानतुल्यधर्म-वाचकपदानां चतुर्णामपि ग्रहणादत्र पूर्णोपमा।

'हे मुग्धे, तुम्हारी हथेली कमलपुष्प के समान पाटलवर्ण है।' यहाँ

---

१. –निदर्शनात्, –प्रदर्शनम्, –प्रकाशनात्।

तुल्यधर्म (=सामान्य धर्म) का शब्दतः उल्लेख होने से धर्मोपमा **(नामक उपमा-भेद) है।**

उत्तरवर्ती आचार्यों ने उपमेय, उपमान, सामान्यधर्म और वाचकपद—इन चारों का उपादान होने से ऐसे उदाहरणों में पूर्णोपमा की स्थिति मानी है; तु० साद० १०.१५ : **सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च। उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यमियं पुनः॥**

राजीवमिव ते वक्त्रं नेत्रे नीलोत्पले इव।
इयं[1] प्रतीयमानैकधर्मा वस्तूपमैव सा ॥१६॥

अथ द्वितीयं भेदं वस्तूपमामाह—**राजीवमिति**। ते तव वक्त्रं मुखं राजीवं पद्मम् इव वर्तते, नेत्रे नयने च नीलोत्पले नीलकमले इव स्तः। अत्र मुखकमलयो रक्तवर्णत्वं नेत्रयोर्नीलोत्पलयोश्च नीलवर्णत्वं सामान्यधर्मः, स च प्रतीयमान एव न तु शब्दोपात्तः। अत आह—प्रतीयमानः गम्यमानः (न तु अभिधीयमानः) एकधर्मः सामान्यधर्मः यस्यां सा तादृशी इयं वस्तुनोरुपमेयोपमानयोरेव उपादानाद् वस्तूपमा तन्नामोपमाभेदः। अर्वाचीनानां मतेनेयं धर्मलुप्तोपमा।

'(हे सुन्दरी,) तुम्हारा वदन पद्म के समान है और तुम्हारी आँखें नीलकमल के सदृश हैं।' यहाँ सामान्यधर्म की प्रतीतिमात्र हो रही है (उसका शब्दतः उपादान नहीं किया गया है), अतः (केवल वस्तुओं—उपमेय और उपमान—का उपादान होने से) यहाँ वस्तूपमा **है।**

उत्तरवर्ती आचार्यों के अनुसार यहाँ (धर्म)लुप्तोपमा है, क्योंकि यहाँ सामान्यधर्म—क्रमशः रक्तवर्णत्व और नीलवर्णत्व—का लोप अथवा अनुपादान है; तु० साद० १०.१७-८ : **लुप्ता सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः॥ त्रयाणां वानुपादाने श्रौत्यार्थी सापि पूर्ववत्।**

तवानन[2]मिवोन्निद्रमरविन्दमभूदिति।
सा प्रसिद्धेर्विपर्यासाद्विपर्यासोपमेष्यते ॥१७॥

तृतीयं भेदं विपर्यासोपमामाह—**तवाननमिति**। अरविन्दं पद्मं तव आननं मुखम् इव उन्निद्रं प्रबुद्धं विकसितं वा अभूत् आसीत्। इति अत्र प्रसिद्धेः मुखमुपमेयं पद्मं चोपमानं स्यादिति लोकप्रसिद्धस्य व्यवहारस्य विपर्यासाद् वैपरीत्यात् (पद्ममत्रोपमेयं मुखं चोपमानमस्तीति हेतोः) इयं विपर्यासोपमा तन्नामो-

---

१. इति। २. त्वदाननम्।

पमाभेदः इष्यते । अर्वाचीनानां मतेनात्र प्रतीपालंकारः ।

'(वह) कमल तुम्हारे मुख के समान विकसित था।' यहाँ लोकप्रसिद्ध व्यवहार के विपरीत (सादृश्य-)कथन होने से विपर्यासोपमा **(नामक उपमा-भेद) है।**

साधारण लोकव्यवहार में मुख उपमेय के रूप में और कमल उपमान के रूप में आता है; अर्थात् 'तुम्हारा मुख कमल के समान विकसित है' ऐसा कहा जाता है। प्रस्तुत उदाहरण में इस लोकव्यवहार के विपरीत कथन होने से विपर्यासोपमा है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसे प्रतीप माना है; तु० **साद० १०.८७ : प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् । निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥**

तवानन[1]मिवाम्भोजमम्भोजमिव ते मुखम् ।
इत्यन्योन्योपमा सेयमन्योन्योत्कर्षशंसिनी[2] ॥१८॥

चतुर्थं भेदमन्योन्योपमामाह—**तवाननमिति**। अम्भोजं कमलं तव आननं वदनम् इव ते तव मुखं च अम्भोजम् इव। इत्येवम् अन्योन्यस्य परस्परस्य उत्कर्षं गौरवं शंसतीति तच्छीला इयमुपमा अन्योन्योपमा इति कथ्यते। अत्र हि मुखं कमलं चेत्युभे अपि परस्परोपमानभावेन परस्परस्योत्कर्षं शंसतः। अर्वाचीनानां मतेनेयमेवोपमेयोपमा ।

'कमल तुम्हारे मुख के समान है और तुम्हारा मुख कमल के समान है।' इस प्रकार (उपमेय और उपमान द्वारा) एक दूसरे के उत्कर्ष का कथन होने से यहां अन्योन्योपमा **है।**

उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसे उपमेयोपमा कहा है; तु० **साद० १०.२७ : पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता।** इस अलंकार में दोनों पदार्थ (जैसे—यहाँ मुख और कमल) प्रस्तुत हों, यह आवश्यक नहीं है। उक्त उदाहरण में मुख प्रस्तुत है और कमल अप्रस्तुत। दूसरी ओर, निम्नाङ्कित उदाहरण में दोनों प्रस्तुत हैं : **धर्मोऽर्थ इव पूर्णश्रीरर्थो धर्म इव त्वयि (चन्द्रा० ५.८)** ।

त्वन्मुखं कमलेनैव तुल्यं नान्येन केनचित् ।
इत्यन्यसाम्यव्यावृत्तेरियं सा नियमोपमा ॥१६॥

पञ्चमं भेदं नियमोपमामाह—**त्वन्मुखमिति**। त्वनमुखं तव वदनं कमलेन एव तुल्यं, केनचिद् अन्येन न। इत्यत्र अन्यैः चन्द्रादिभिः तस्य साम्यस्य

---

१. त्वदाननम्। २. –शालिनी।

सादृश्यस्य व्यावृत्तेः निषेधाद्, तद्द्वारा चोपमाननियमनाद्, इयं नियमोपमा। अर्वाचीनैरयं भेदो न निरूपितः।

'तुम्हारा वदन कमल के ही सदृश है, किसी अन्य पदार्थ के (सदृश) नहीं।' यहाँ (चन्द्र आदि) अन्य पदार्थों से (मुख के) सादृश्य का निषेध होने से (और तद्द्वारा उपमान का नियमन होने से) नियमोपमा है।

अन्य पदार्थों से सादृश्य के निषेध का कारण यह दृष्टिकोण है कि उपमानों की बहुलता उपमेय के अपकर्ष अथवा उसके अत्यन्त साधारण होने का सूचक है। उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों ने इस उपमा-भेद को ग्रहण नहीं किया।

पद्मं तावत्तवान्वेति मुखमन्यच्च तादृशम्।
अस्ति चेदस्तु तत्कारीत्यसावनियमोपमा ॥२०॥

षष्ठं भेदमनियमोपमामाह—**पद्ममिति**। पद्मं कमलं (कर्तृ) तावत् तव मुखं वदनम् अन्वेति अनुकरोति, अन्यच्च तादृशं पद्मसदृशं वस्तु चन्द्रादिकं तत्कारि त्वद्वदनानुकारि अस्ति चेद् अस्तु। इत्यत्र उपमानेतरनियमनाभावाद् उपमानविषये नियमाभावाद्वा अनियमोपमा। अयमपि भेदोऽर्वाचीनैरस्वीकृतः।

'कमल तुम्हारे वदन के समान है; यदि उस जैसा (=कमल-तुल्य) अन्य कोई पदार्थ भी तुम्हारे वदन के समान है, तो होने दो।' यहाँ (अन्य उपमान का नियमन न होने से अथवा उपमान के संबन्ध में नियम न होने से) अनियमोपमा है।

उत्तरवर्ती अलंकारशास्त्रियों ने इस उपमा-भेद को स्वीकार नहीं किया।

समुच्चयोपमाप्यस्ति न कान्त्यैव मुखं तव।
ह्लादनाख्येन चान्वेति कर्मणे[1]न्दुमितीदृशी ॥२१॥

सप्तमं भेदं समुच्चयोपमामाह—**समुच्चयेति**। तव मुखं कान्त्या एव केवलया प्रभयैव न, अपितु ह्लादनाख्येन आनन्दनाभिधेन कर्मणा चापि इन्दुं चन्द्रमसम् अन्वेति अनुकरोति। न केवलं कान्तौ किंतु आनन्दनकर्मण्यपि ते मुखं चन्द्रानुकारि वर्तते इत्यर्थः। इतीदृशी उपमा सामान्यधर्मसमुच्चयाद् हेतोः समुच्चयोपमाभिधया वर्ण्यते। चमत्कारविशेषविरहादयमपि भेदोऽर्वाचीनैर्निरस्तः।

'तुम्हारा वदन केवल कान्ति में ही नहीं, अपितु आह्लादकता में भी (=आह्लादक होने के कारण भी) चन्द्रमा के समान है।' यहाँ (दो सामान्य

---

१. धर्मेणेन्दुम्।

धर्मों—कान्ति और आह्लादकता—का समुच्चय होने के कारण) समुच्चयोपमा है।

यह उपमा-भेद भी, विशेष चमत्कारपूर्ण न होने के कारण, बाद के आचार्यों द्वारा छोड़ दिया गया।

त्वय्येव त्वन्मुखं दृष्टं दृश्यते दिवि चन्द्रमाः ।
इयत्येव भिदा नान्येत्यसावतिशयोपमा ॥२२॥

अष्टमं भेदमतिशयोपमामाह—**त्वयीति** । त्वन्मुखं तव वदनं त्वयि एव दृष्टं, चन्द्रमाः च दिवि आकाशे एव दृश्यते, इयती एव भिदा आश्रमभेदकृतो भेदः त्वन्मुखचन्द्रमसोः वर्तते, नान्या काचिद् भिदा । इत्येवम् उपमेयोपमानयोः भिन्नाश्रयत्वकथनेन औपम्यस्य सातिशयचमत्कारित्वाद्, उपमेयोपमानयोः सत्यपि महत्यन्तरे तयोराश्रयनिबन्धन एव भेदो नान्य इति तयोरध्यवसानकथनाद्वा, अत्रातिशयोपमा नामोपमाभेदः । अयं चांशतः अतिशयोक्त्या व्यतिरेकेण च तुलनीयः ।

'तुम्हारा वदन तुम्हारे शरीर में ही और चन्द्रमा आकाश में (ही) दृष्टिगोचर होता है। (तुम्हारे वदन और चन्द्रमा में) केवल इतना ही अन्तर है, और कोई अन्तर नहीं।' यहाँ अतिशयोपमा है।

मुख और चन्द्रमा में आश्रयगत अन्तर के अतिरिक्त कोई और अन्तर नहीं—इस उपमा-प्रकार में सातिशय चमत्कार होने के कारण, अथवा दोनों में (आश्रयभेद को छोड़कर अन्यथा) अभेद का कथन होने के कारण, यहाँ अतिशयोपमा है। यह उपमा-भेद अतिशयोक्ति और व्यतिरेक अलंकार से अंशतः तुलनीय है।

मय्येवास्या मुखश्रीरित्यलमिन्दोर्विकत्थनैः ।
पद्मेऽपि सा यदस्त्येवेत्यसावुत्प्रेक्षितोपमा ॥२३॥

नवमं भेदमुत्प्रेक्षितोपमामाह—**मयीति** । 'मयि एव अस्याः नायिकायाः मुखश्रीः वदनकान्तिः, नान्यत्र' इति ईदृशैः इन्दोः चन्द्रमसः विकत्थनैः आत्मश्लाघावचोभिः अलम्, नैवं चन्द्रमसा विकत्थनीयमित्यर्थः । यतो हि पद्मे कमले अपि सा नायिकामुखच्छविः अस्त्येव । इत्येवं चन्द्रकर्तृकात्मश्लाघोत्प्रेक्षणादत्र उत्प्रेक्षितोपमा । उपमाभेदोऽयमंशतः प्रतीपभेदविशेषेण तुल्यः ।

"'इस (नायिका) के वदन की-सी कान्ति केवल मुझमें ही है'—चन्द्रमा की यह आत्मश्लाघा व्यर्थ है, क्योंकि कमल में भी तो उसके मुख की-सी छवि है।" यहाँ (चन्द्रमा द्वारा आत्मश्लाघा किए जाने की उत्प्रेक्षा होने के कारण)

उत्प्रेक्षितोपमा है।

यहाँ चन्द्रमा की आत्मश्लाघा उत्प्रेक्षित मात्र है, वास्तविक नहीं; इस दृष्टि से यह उत्प्रेक्षण-मूलक उपमा है, परन्तु इसका उत्प्रेक्षा अलंकार (२.२२१-३४) से कोई सीधा संबन्ध नहीं है। दूसरी ओर, यह प्रतीप के 'उस रूप से तुलनीय है जिसकी परिभाषा विश्वनाथ (साद० १०.८८) ने इस प्रकार दी है : **उक्त्वा चात्यन्तमुत्कर्षमत्युत्कृष्टस्य वस्तुनः। कल्पितेऽप्युपमानत्वे प्रतीपं केचिदूचिरे ॥**

यदि किंचिद्भवेत्पद्मं सुभ्रु[1]विभ्रान्तलोचनम् ।
तत्ते मुखश्रियं धत्तामित्यसावद्भुतोपमा ॥२४॥[2]

दशमं भेदमद्भुतोपमामुदाहरणेन लक्षयति—**यदी**ति। हे सुभ्रु, यदि पद्मं कमलं किंचिद् मनाक् विभ्रान्तलोचनं विघूर्णितनेत्रं भवेत्, तत् तर्हि तत् पद्मं ते तव मुखश्रियं वदनशोभां धत्तां धारयेत्। यदि पद्मं नेत्रयुतं संजायेत तर्हि तत् त्वद्वदनश्रियं प्राप्तुं प्रभवेदित्यद्भुतसंभावनामूलकत्वादसावद्भुतोपमालंकारः। अर्वाचीनैरयं भेदः संबन्धातिशयोक्तित्वेन गृहीतः।

'हे सुन्दरी, यदि कमल में चञ्चल नेत्र लग जाएँ तब कहीं वह तुम्हारे वदन की शोभा को पा सके।' यहाँ **(**अद्भुत संभावना अथवा कल्पना होने के **कारण)** अद्भुतोपमा है।

उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने इसे (असंबन्ध में संबन्धमूलक) संबन्धातिशयोक्ति के रूप में गृहीत किया है, क्योंकि यहाँ 'यदि' के अर्थ के बल से आरोपित संबन्ध की संभावना से असंबन्ध में संबन्ध की कल्पना की गई है। साद० (१०.४६-७) में इसका यह उदाहरण है : **यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम्। तदोपमीयते तस्या वदनं चारुलोचनम् ॥**

'सुभ्रु' को 'विभ्रान्तलोचनम्' की भाँति पद्म के विशेषण के रूप में भी रखा जा सकता है।

शशीत्युत्प्रेक्ष्य तन्वङ्गि त्वन्मुखं त्वन्मुखाशया ।
इन्दुमप्यनुधावामीत्येषा मोहोपमा स्मृता[3] ॥२५॥

एकादशं भेदं मोहोपमामाह—**शशी**ति। हे तन्वङ्गि कृशाङ्गि, त्वन्मुखं तव वदनं 'शशी चन्द्रमाः अयम्' इति उत्प्रेक्ष्य संभाव्य (ततश्च त्वद्विरहे) त्वन्मुखाशया तव वदनस्य स्पृहया अहम् इन्दुं चन्द्रमसम् अपि अनुधावामि

१. पद्ममुद्भ्रु। २. श्लोकोऽयं क्वचित्पुस्तकान्तरे नास्ति। ३. मता।

अनुसरामि, चन्द्रमसि त्वद्वदनभ्रान्त्येत्यर्थः। इत्येषा मोहोपमा स्मृता कथिता। अर्वाचीनैः भेदोऽयं भ्रान्तिमान् इति नाम्ना गृहीतः।

'हे कृशाङ्गी, तुम्हारे वदन को चांद समझकर (और फिर तुम्हारे विरह में) चन्द्रमा को तुम्हारा वदन जानकर मैं उसके पीछे दौड़ रहा हूँ।' यहाँ (मुख में चन्द्रमा का और चन्द्रमा में मुख का भ्रम होने के कारण) मोहोपमा है।

उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रग्रन्थों में यह भ्रान्तिमान् अलंकार के रूप में आया है, जिसकी परिभाषा इस प्रकार है : **साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः (साद० १०.३६)।**

किं पद्ममन्तर्भ्रान्तालि किं ते लोलेक्षणं मुखम्।
मम दोलायते चित्तमितीयं संशयोपमा ॥२६॥

द्वादशं भेदं संशयोपमां निदर्शयति—**किमिति**। किम् इदम् अन्तर्भ्रान्तालि अन्तः मध्ये भ्रान्तौ अली भ्रमरौ यस्य तत्तादृशं पद्मं कमलम्, अथवा ते तव लोलेक्षणं चञ्चलनेत्रयुगयुतं मुखं वदनम्—इत्थं मम चित्तं दोलायते संशयदोलामारोहति। इति सादृश्यप्रतीतेः संशयमूलकत्वाद् इयं संशयोपमा। मतान्तरेऽत्र संदेहः ससंदेहो वाऽलंकारः।

'क्या यह कमल है जिसके बीच में दो भौंरे मँडरा रहे हैं? अथवा क्या यह चञ्चल नयनों वाला तुम्हारा मुख है? मेरे चित्त में इस प्रकार का संशय है।' यह (सादृश्य-कथन के संशय-मूलक होने के कारण) संशयोपमा है।

अन्य आचार्यों (तु० भामह ३.४३; वामन ४.३.११) ने इसे संदेह अथवा ससंदेह के नाम से पृथक् अलंकार माना है। स्वयं दण्डी (२.३५८) ने इसके ससंदेह के रूप में स्वतन्त्र अलंकार होने का संकेत किया है। विश्वनाथ (साद० १०.३५) ने इसका लक्षण इस प्रकार दिया है : **संदेहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः।**

न पद्मस्येन्दुनिग्राह्यस्येन्दुलज्जाकरी द्युतिः।
अतस्त्वन्मुखमेवेदमित्यसौ निर्णयोपमा ॥२७॥

त्रयोदशं भेदं निर्णयोपमामाह—**न पद्मस्येति**। इन्दुना चन्द्रमसा निग्राह्यस्य तिरस्कार्यस्य, अभिभाव्यस्येत्यर्थः, पद्मस्य इन्दुलज्जाकरी चन्द्रपराभवकारिणी (चन्द्रशोभातिशायिनी) द्युतिः शोभा न संभवति। पद्मं हि निजसंकोचहेतुना चन्द्रमसाऽभिभूयते, एवं तेन अभिभूतपूर्वस्य अभिभवनीयस्य वा पद्मस्य च्छविः चन्द्रद्युतिस्पर्धिनी न संभवति। अतः इदं त्वन्मुखमेव, न तु

पद्मम्। इति असौ एवंरूपा उपमा सादृश्यप्रतीतेः संशयोत्तरकालिकनिर्णयरूपत्वाद् निर्णयोपमा नाम। उपमाभेदोऽयमर्वाचीनैर्निश्चयान्तः संदेहो निश्चयो वाऽलंकार इति गृहीतः।

'चन्द्रमा द्वारा (संकोचित, अतश्च) अभिभूत कर दिए जाने वाले कमल की शोभा चन्द्रमा को भी लज्जित कर देने वाली नहीं हो सकती। इसलिए यह तुम्हारा मुख ही है (कमल नहीं)।' यह (सादृश्य-कथन के निर्णयान्त संशय रूप होने के कारण) निर्णयोपमा है।

चन्द्रमा कमल के संकोच का कारण है; इस प्रकार वह उसे पराजित या तिरस्कृत करने वाला है। निर्णयोपमा को उत्तरवर्ती आचार्यों ने निश्चयान्त संदेह (तु० साद० १०.३६) अथवा निश्चय अलंकार (तु० वही १०.३६) के रूप में गृहीत किया है। निश्चय की परिभाषा इस प्रकार है: **अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः।**

शिशिरांशुप्रतिस्पर्धि[1] श्रीमत्सुरभिगन्धि च।
अम्भोजमिव ते वक्त्रमिति श्लेषोपमा स्मृता[2] ॥२८॥

चतुर्दशं भेदं श्लेषोपमामाह—शिशिरेति। ते तव वक्त्रं वदनं शिशिरांशुप्रतिस्पर्धि चन्द्रविरोधि (चन्द्रः विरोधी यस्य तत्), श्रीमत् लक्ष्मीसंगतं सुरभिगन्धि सुगन्धि च यद् अम्भोजं कमलं तद् इव शिशिरांशुप्रतिस्पर्धि चन्द्रप्रतिद्वन्द्वि (चन्द्रस्य प्रतिद्वन्द्वि, तच्छोभातिशायित्वात्), श्रीमत् प्रशस्यशोभं सुरभिगन्धि सौरभान्वितं च अस्ति। अत्र शिशिरांशुप्रतिस्पर्धीत्यादेर्विशेषणत्रयस्य श्लेषमुखेन मुखे कमले चेत्युभयत्रान्वितेः श्लेषोपमा नामोपमाभेदः। श्लेषश्चात्र अर्थगतः।

'जिस प्रकार कमल चन्द्रमा का शत्रु, लक्ष्मी से संगत और सुगन्धयुक्त होता है, उसी प्रकार तुम्हारा मुख भी चन्द्रमा (के सौन्दर्य) का प्रतिद्वन्द्वी, शोभासंपन्न और सुरभित साँसों वाला है।' (श्लेष अलंकार से अनुप्राणित सादृश्य-कथन होने के कारण) यह श्लेषोपमा है।

वस्तुतः यह श्लेष से आविद्ध उपमा है; दोनों अलंकारों का यहाँ संकर है। श्लेष यहाँ अर्थगत है; 'श्रीमत्' में शब्द-श्लेष भी है।

सरूपशब्दवाच्यत्वात्सा समानोपमा[3] यथा।
बालेवोद्यानमालेयं सालकाननशोभिनी ॥२९॥

---

१. –प्रतिद्वन्द्वि। २. मता। ३. सरूपो–, संदानो–।

पञ्चदशं भेदं समानोपमामाह—सरूपेति । सरूपशब्दैः भिन्नार्थैरपि समानरूपैः शब्दैः वाच्यत्वात् साधर्म्यस्य प्रतिपाद्यत्वात् सा प्रसिद्धा उपमा समानोपमा नाम भवति । यथा—इयम् उद्यानमाला आरामपङ्क्तिः सालकाननशोभिनी सालकेन चूर्णकुन्तलसहितेन आननेन मुखेन शोभते इति तादृशी बाला नवयुवतिः इव सालकाननशोभिनी सालवृक्षाणां काननेन वनेन शोभान्विता वर्तते। अत्र सभङ्गः शब्दश्लेषः, तेनानुप्राणिता चोपमा । उपमेयोपमानयोः सामान्यधर्मावत्र भिन्नावपि सरूपशब्दवाच्यत्वादभिन्नाविव प्रतीयेते ।

जहाँ सामान्यधर्म (भिन्न होते हुए भी) समान रूप वाले (श्लिष्ट) शब्दों द्वारा कथित (होने से अभिन्न-सा प्रतीत) हो, वहाँ समानोपमा होती है। जैसे—यह उपवनमाला नवयुवती के समान सालकानन से शोभायमान है (=जिस प्रकार नवयुवती सालक आनन अर्थात् अलकों से युक्त अपने मुख से शोभा पाती है, उसी प्रकार यह वनपंक्ति साल-काननों अर्थात् साल-वृक्षों के वनों से सुशोभित है) ।

यहाँ सभङ्ग शब्दश्लेष (द्र० साद० १०.१२) है, और उससे अनुप्राणित (अथवा संकीर्ण) उपमा है। यहाँ बाला और उद्यानमाला के बीच वस्तुतः कोई साधर्म्य नहीं है; केवल शब्दश्लेष द्वारा कृत्रिम साधर्म्य स्थापित किया गया है। 'सालकानन' के स्थान पर 'सालकमुख' या 'सालवन' पद का प्रयोग करने पर यहाँ श्लेष नहीं रहेगा, एवं तब यहाँ उपमा की सिद्धि भी न हो सकेगी। इस प्रकार यहाँ शब्दश्लेषमूलक उपमा है ।

पद्मं बहुरजश्चन्द्रः क्षयी ताभ्यां तवाननम् ।
समानमपि सोत्सेकमिति निन्दोपमा स्मृता[1] ॥३०॥

षोडशं भेदं निन्दोपमामुदाहरति—पद्ममिति । पद्मं खलु बहुरजः बहुपरागधूसरं, चन्द्रः च क्षयी (कृष्णपक्षे) क्षयशीलः । तव आननं ताभ्यां दोषदुष्टाभ्यां पद्मचन्द्राभ्यां समानं साधर्म्यान्तरेण तुल्यम् अपि सोत्सेकं समधिकोत्कर्षशालि वर्तते, रजोरहितत्वात् क्षयित्वाभावाच्चेत्यर्थः । इति एवंरूपा उपमा उपमाननिन्दया साम्यस्य कीर्तनाद् निन्दोपमा स्मृता । अत्र साम्यमात्रपर्यवसायित्वात् तत्रैव च कवेरभिनिवेशात् सत्यपि उपमेयव्यतिरेके तस्य प्राधान्याभावाद् न व्यतिरेकः ।

'कमल (पुष्प-)धूलि से धूसरित होता है और चन्द्रमा क्षयशील (=कृष्णपक्ष में क्रमशः घटने वाला) होता है। तुम्हारा मुख इन दोनों के समान होते हुए भी उत्कृष्ट शोभा से संपन्न है।' यहाँ (निन्द्य उपमानों से सादृश्य-कथन

---

१. मता ।

होने के कारण) निन्दोपमा है।

दण्डी ने यह उपमा-भेद भरत के नाट्यशास्त्र (१७.५१) से लिया है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने प्रायः इसे स्वीकार नहीं किया। यहाँ उपमान (कमल और चन्द्रमा) की अपेक्षा उपमेय (मुख) के आधिक्य की प्रतीति होने पर भी उसकी प्रधानता न होने से एवं सादृश्य-कथन मात्र के मुख्यतः विवक्षित होने से व्यतिरेक अलंकार की स्थिति नहीं है।

ब्रह्मणोऽप्युद्भवः पद्मं चन्द्रः[1] शम्भुशिरोधृतः।
तौ तुल्यौ त्वन्मुखेनेति[2] सा प्रशंसोपमेष्यते[3] ॥३१॥

सप्तदशं भेदं प्रशंसोपमामाह—**ब्रह्मण** इति। पद्मं कमलं ब्रह्मणः सर्वजगत्स्रष्टुः पितामहस्य अपि उद्भवः उत्पत्तिस्थानम्, नारायणनाभिकमलयोनिर्ब्रह्मेति पौराणिकश्रुतेः; चन्द्रः च शम्भुशिरोधृतः हरेण मौलिना धृतः। एतादृशौ ब्रह्मणा शिवेन चानुगृहीतौ तौ प्रशस्तौ पद्मचन्द्रौ त्वन्मुखेन तव वदनेन तुल्यौ सदृशौ स्तः। इति उपमेयस्य प्रशस्तोपमानतुल्यत्वादत्र प्रशंसोपमा नामोपमाभेद इष्यते। प्रसिद्धस्योपमेयस्य (मुखस्य) उपमानत्वकल्पनादत्र विपर्यासोपमापि संभवति। प्रशंसाप्राधान्यात्तु प्रशंसोपमाया एवात्र ग्रहणम्।

'कमल (सकल जगत् के स्रष्टा) ब्रह्मा का भी उत्पत्तिस्थान है और चन्द्रमा शिव द्वारा सिर पर धारण किया जाता है। ऐसे कमल और चन्द्रमा तुम्हारे मुख के समान हैं।' यहाँ (प्रशस्त उपमानों से सादृश्य-कथन होने के कारण) प्रशंसोपमा है।

दण्डी ने यह उपमा-भेद भी भरत के नाट्यशास्त्र (१७.५०) से लिया है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसे प्रायः स्वीकार नहीं किया। प्रस्तुत उदाहरण में प्रसिद्ध उपमेय (मुख) की उपमान के रूप में कल्पना होने से विपर्यासोपमा (२.१७) भी है, परंतु प्रशंसा की प्रधानता होने से यहाँ प्रशंसोपमा का ही ग्रहण किया गया है।

चन्द्रेण त्वन्मुखं तुल्यमित्याचिख्यासु मे मनः।
स गुणो वास्तु दोषो वेत्याचिख्यासोपमां विदुः ॥३२॥

अष्टादशं भेदमाचिख्यासोपमामुदाहरति—**चन्द्रेणेति**। त्वन्मुखं तव वदनं चन्द्रेण तुल्यम् इति मे मम मनः आचिख्यासु वक्तुकामं वर्तते। स मम तदाख्यानाभिलाषः गुणः वा अस्तु दोषः वा अस्तु इति न जाने। इत्येवंप्रकारामुपमां

---

१. पद्मश्चन्द्रः। २. ते मुखेनेति। ३. –पमोच्यते।

तस्या आचिख्यासामूलत्वाद् आचिख्यासोपमां विदुः, काव्यशास्त्रविद इति शेषः।

'तुम्हारा मुख चन्द्रमा के समान है—ऐसा मेरा हृदय कहना चाहता है; परन्तु ऐसा कहना उचित होगा अथवा अनुचित (यह मैं नहीं जानता)।' यह आचिख्यासोपमा है (क्योंकि यहाँ उपमा के मूल में आचिख्यासा—कहने की इच्छा—मात्र है, वास्तविक आख्यान अथवा कथन नहीं)।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस उपमा-भेद को भी स्वीकार नहीं किया। उक्त तीन उपमा-भेदों (निन्दा–, प्रशंसा– और आचिख्यासा–) का सर्वप्रथम खण्डन हमें भामह में प्राप्त होता है; तु० २.३७-८ : **यदुक्तं त्रिप्रकारत्वं तस्याः कैश्चिन्महात्मभिः। निन्दाप्रशंसाचिख्यासाभेदादत्राभिधीयते ॥ सामान्यगुणनिर्देशात्त्रयमप्युदितं ननु। मालोपमादिः सर्वोऽपि न ज्यायान् विस्तरो मुधा ॥**

शतपत्रं शरच्चन्द्रस्त्वदाननमिति त्रयम्।
परस्परविरोधीति सा विरोधोपमा मता[1] ॥३३॥

एकोनविंशं भेदं विरोधोपमामाह—**शतपत्रमिति**। शतपत्रं कमलं, शरच्चन्द्रः शारदश्चन्द्रमाः, त्वदाननं तव मुखं चेति त्रयं परस्परविरोधि अन्योन्यप्रतिद्वन्द्वि वर्तते, समानगुणत्वात्, समानगुणा हि परस्परप्रतिद्वन्द्विनो भवन्तीति। अथवाऽत्र कमलचन्द्रमसोः परस्परविरोधः प्रसिद्ध एव, नायिकामुखं च तत्सौन्दर्यातिशायितया तदुभयप्रतिद्वन्द्वीति सर्वेषां परस्परविरोधित्वम्। अत्र विरोधस्य साम्यपर्यवसायितया विरोधोपमा मता। अर्वाचीनैस्त्वनपेक्षित इत्यनुपात्तोऽयं भेदः।

'कमल, शरत्कालीन चन्द्रमा और तुम्हारा मुख—ये तीनों परस्पर विरोधी (अर्थात् एक-दूसरे के सौन्दर्य के प्रतिद्वन्द्वी) हैं।' यहां (विरोध का सादृश्य में पर्यवसान होने से) विरोधोपमा है।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस उपमा-भेद को अनपेक्षित समझते हुए इसे स्वीकार नहीं किया।

न जातु शक्तिरिन्दोस्ते मुखेन प्रतिगर्जितुम्।
कलङ्किनो जडस्येति प्रतिषेधोपमैव सा ॥३४॥

विंशं भेदं प्रतिषेधोपमां निदर्शयति – **न जात्विति**। इन्दोः चन्द्रमसः ते तव मुखेन न जातु कदाचिदपि प्रतिगर्जितुं प्रतिस्पर्धितुं, तत् तुलयितुमित्यर्थः, शक्तिः सामर्थ्यम् अस्ति। कीदृशस्येन्दोरित्याह—कलङ्किनः कलङ्कवतः अथ च जडस्य शीतलप्रकृतेः, मूढस्येति च ध्वन्यते। एवं ह्यत्र दोषदुष्टस्य चन्द्रस्य

---

१. –पमोदिता।

नायिकामुखप्रतिस्पर्धाशक्तिः प्रतिषिध्यते । प्रतिषेधमुखेन चात्र सादृश्यकथनात् प्रतिषेधोपमा नामोपमाभेदः ।

'चन्द्रमा में तुम्हारे मुख से प्रतिस्पर्धा करने की शक्ति नहीं है, क्योंकि वह कलङ्की और जड़ (=शीतल; मूढ़) है।' यहाँ (उपमान—चन्द्रमा—के उपमानत्व का प्रतिषेध होने के कारण) प्रतिषेधोपमा है।

यहाँ उपमेय (मुख) और उपमान (चन्द्रमा) का सादृश्य-कथन प्रतिषेध-मूलक है। आगे, २.३०९ में, दण्डी ने इसे उपमापह्नुति भी कहा है। उत्तरवर्ती काव्यशास्त्रियों ने इस उपमा-भेद को उपादेय नहीं माना।

मृगेक्षणाङ्कं ते वक्त्रं मृगेणैवाङ्कितः शशी ।
तथापि सम एवासौ नोत्कर्षीति चटूपमा ॥३५॥

एकविंशं भेदं चटूपमामाह—**मृगेक्षणेति**। ते तव वक्त्रं वदनं मृगस्य ईक्षणं चक्षुः (अत्यन्तसादृश्यादभेदविवक्षया) अङ्कः चिह्नं यस्य तत्तादृशमस्ति, मृगनयनसदृशनयनोपेतं वर्तते इत्यर्थः; परं शशी चन्द्रस्तु समग्रेणैव मृगेण अङ्कितः लक्षितोऽस्ति। तथापि असौ चन्द्रः त्वन्मुखेन समः तुल्यः एव, न तु उत्कर्षी उत्कृष्टः, नाधिकसौन्दर्योपेतः। तव मुखं मृगैकदेशेनैव अङ्कितं, चन्द्रस्तु सर्वावयविनाऽपि मृगेण, एवम् अधिकसामग्रीसंपन्नोऽपि स त्वन्मुखं नातिशेते सौन्दर्येणेति भावः। अत्र सादृश्यकथनस्य प्रियोक्तिरूपत्वाच्चटूपमा, तथा चोत्कर्षकारणे सत्यपि नोत्कर्ष इति विशेषोक्तिरपि। अयमप्युपमाभेदोऽर्वाचीनैर्नाङ्गीकृतः।

'तुम्हारा वदन मृग की आँख मात्र से अङ्कित है (=हरिण की-सी आंखों से युक्त है), जब कि चन्द्रमा समूचे मृग से ही अङ्कित है। फिर भी वह (चन्द्रमा) तुम्हारे इस वदन के तुल्य ही है, इससे बढ़कर नहीं।' यहां (सादृश्य के चटुमूलक, अथवा प्रिय कथन पर आधारित होने से) चटूपमा है।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस उपमा-भेद को भी स्वीकार नहीं किया। उक्त उदाहरण में विशेषोक्ति अलंकार (२.३२३) की भी स्थिति है।

न पद्मं मुखमेवेदं न भृङ्गौ चक्षुषी इमे ।
इति विस्पष्टसादृश्यात्तत्त्वाख्यानोपमैव सा ॥३६॥

द्वाविंशं भेदं तत्त्वाख्यानोपमामुदाहरति—**न पद्ममिति**। इदं पुरो दृश्यमानं वस्तु पद्मं कमलं न, किंतु मुखमेव; इमौ (अत्र मुखे) दृश्यमानौ पदार्थौ भृङ्गौ भ्रमरौ न, किंतु चक्षुषी नेत्रे इमे स्तः। इत्येवं सादृश्यस्य विशेषेण स्पष्टत्वाद् भ्रमनिरासपूर्वकतत्त्वाख्यानमूलत्वादियं सा उपमा तत्त्वाख्यानोपमा नाम। निर्णयोपमायां तत्त्वाख्यानं संदेहनिरासपूर्वकं भवति, इह तु तद् भ्रान्तिनिराकरणपूर्वक-

मस्तीत्यनयोर्भेदः ।

'यह कमल नहीं है, मुख ही है; ये भौंरे नहीं हैं, ये तो आंखें हैं।' इस प्रकार यहां सादृश्य के (भ्रमनिवारण के अनन्तर वास्तविक कथन द्वारा स्थापित होने से) अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण यह तत्त्वाख्यानोपमा है।

इस उदाहरण में तत्त्वाख्यान (=वास्तविकता का कथन) भ्रमनिवारण-पूर्वक है। पूर्ववर्णित निर्णयोपमा (२.२७) में तत्त्वकथन संदेहनिराकरणपूर्वक है। यह इन दोनों में अन्तर है। फिर भी यह अन्तर अधिक स्पष्ट और पर्याप्त नहीं है। दण्डी की तत्त्वाख्यानोपमा को अप्पय दीक्षित (कुवलया० २६) ने भ्रान्तापह्नुति कहा है।

चन्द्रारविन्दयोः कान्ति[1]मतिक्रम्य मुखं तव।
आत्मनैवाभवत्तुल्यमित्यसाधारणोपमा ॥३७॥

त्रयोविंशं भेदमसाधारणोपमामाह—**चन्द्रेति**। तव मुखं चन्द्रारविन्दयोः कान्तिं शोभाम् अतिक्रम्य आत्मकान्त्या विजित्य आत्मनैव तुल्यं सदृशम् अभवत्। इत्यत्र उपमेयस्य सदृशान्तरविरहात् तेन च तदसाधारणत्वकथनाद् असाधारणोपमा नामोपमाभेदः। मतान्तरेऽयमेवानन्वयोऽलंकारः।

'चन्द्रमा और कमल की कान्ति का अतिक्रमण करके यह तेरा वदन अब अपने ही सदृश हो गया है।' यहाँ **(अन्य सदृश वस्तुओं—चन्द्रमा और कमल—के निराकरण से उपमेय—मुख—की असाधारणता का कथन होने के कारण)** असाधारणोपमा है।

दण्डी ने, दूसरे मत के अनुसार, इसे अनन्वय कहा है (तु० २.३५८)। भामह (३.४५) एवं अन्य उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसे अनन्वय ही माना है; द्र० साद० १०.२६ : **उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः**। इस अलंकार का मूल भरत (१७.५३) द्वारा उल्लिखित सदृशी उपमा है।

सर्वपद्मप्रभासारः समाहृत[2] इव क्वचित्।
त्वदाननं[3] विभातीति तामभूतोपमां विदुः ॥३८॥

चतुर्विंशं भेदमभूतोपमामाह—**सर्वेति**। त्वदाननं तव वदनं सर्वेषामपि पद्मानां प्रभासारः कान्तिसारः क्वचिद् एकत्र स्थाने समाहृतः पुञ्जीकृत्य स्थापितः इव विभाति शोभते; इति ताम् इमामुपमां प्रभासारसमाहरणस्य तत्त्वतोऽभूतत्वात् तत्संभावनया चौपम्यकथनाद् अभूतोपमां विदुः, आचार्या इति शेषः। वस्तु-

१. कक्ष्याम्। २. -सारं समाहृतम्। ३. तवाननं।

तोऽभूतसंभावनयाऽयं भेद उत्प्रेक्षायामन्तर्भावमर्हति ।

'तुम्हारा मुख सभी कमलों की शोभा के सार का एकत्र पुञ्जीकृत रूप-सा प्रतीत होता है ।' यहाँ (शोभासार के वास्तव में अविद्यमान—अभूत—अथवा असंभव पुञ्जीकरण की संभावना और तन्मूलक सादृश्यकथन होने के कारण) अभूतोपमा है।

संभावना-मूलक होने से इस उपमा-भेद का उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत ग्रहण किया जा सकता है। दूसरी ओर, यह दण्डी की अपनी अद्भुतोपमा (२.२४) से तुलनीय है। दोनों का परस्पर अन्तर बताते हुए रङ्गाचार्यशास्त्री लिखते हैं : **वस्तुतोऽविद्यमानस्य केवलं कविप्रतिभया निष्पाद्यमानस्य धर्मिणो यत्र वर्णनं तत्राभूतोपमा । स्वयं विद्यमानस्य धर्मिणो यत्रान्यधर्मिणां संमेलनकल्पनया साम्यवैचित्र्यवर्णनं तत्राद्भुतोपमा इत्युभयोर्भेदः ।**

चन्द्रबिम्बादिव विषं चन्दनादिव पावकः ।
परुषा वागितो वक्त्रादित्यसंभावितोपमा ।।३९।।

पञ्चविंशं भेदमसंभावितोपमामाह—**चन्द्रेति** । इतः एतस्मात् ते वक्त्राद् मुखात् परुषा कठोरा वाग् वाणी चन्द्रबिम्बात् चन्द्रमण्डलाद् विषम् इव चन्दनाच्च पावकः अग्निः इव (असंभवा) वर्तते । यथा चन्द्राद्विषं चन्दनाच्चाग्निर्न संभवति तथैव तव मुखात्परुषा वागप्यसंभवास्ति इत्यत्रौपम्यस्य असंभावितार्थकथनमूलत्वादसंभावितोपमा । उपमाभेदोऽयमर्वाचीनैर्नाङ्गीकृतः । निदर्शनालंकारेण चायमंशतस्तुलनीयः ।

'तुम्हारे (कोमल) मुख से कठोर वाणी का निकलना इसी प्रकार (असंभव) है जिस प्रकार (सुधामय) चन्द्रमण्डल से विष का और (शीतल) चन्दन से अग्नि का उद्गम (असंभव है)।' यहां (औपम्य का आधार असंभावित का कथन है; इस कारण यह) असंभावितोपमा है।

यह उपमा-भेद उत्तरवर्ती आचार्यों के निदर्शना अलंकार (तु० साद० १०.५१) से अंशतः तुलनीय है।

चन्दनोदकचन्द्रांशु[1]चन्द्रकान्तादिशीतलः ।
स्पर्शस्तवेत्यतिशयं बोधयन्ती[2] बहूपमा ।।४०।।

षड्विंशं भेदं बहूपमामाह—**चन्दनेति** । तव स्पर्शः चन्दनवत् उदकवत् चन्द्रकिरणवत् चन्द्रकान्तवत्, आदिपदेन एवंविधद्रव्यान्तरवच्च, तेषां स्पर्श इवेति

---

१. -शीतांशु-। २. प्रथयन्ती ।

भावः, शीतलः अस्ति; इत्येवम् अतिशयम् अनेकशीतलद्रव्यौपम्याद् नायिका-स्पर्शस्य शैत्यातिशयं बोधयन्ती व्यञ्जयन्ती इयम् उपमा बहूपमा नाम। अर्वाचीना इमां मालोपमामाहुः।

'तुम्हारा स्पर्श चन्दन, जल, चन्द्रकिरण, चन्द्रकान्त मणि आदि के (स्पर्श के) समान शीतल है।' (अनेक शीतल पदार्थों से सादृश्यकथन द्वारा नायिका के स्पर्श की) अतिशीतलता का बोध कराने वाली यह उपमा बहूपमा है।

उत्तरवर्ती आचार्यों के अनुसार यह मालोपमा है जिसकी परिभाषा इस प्रकार है : **मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते** (साद० १०.२६)। दण्डी की अपनी मालोपमा (२.४२) उत्तरकालीन रशनोपमा से तुलनीय है।

इन्दु[1]बिम्बादिवोत्कीर्णं पद्मगर्भादिवोद्धृतम्।
तव तन्वङ्गि वदनमित्यसौ विक्रियोपमा ॥४१॥

सप्तविंशं भेदं विक्रियोपमामुदाहरति—**इन्द्विति**। हे तन्वङ्गि कृशाङ्गि, तव वदनम् इन्दुबिम्बाद् चन्द्रमण्डलाद् उत्कीर्णम् इव अथवा पद्मगर्भात् कमलोदराद् उद्धृतम् इव वर्तते; इत्यत्र नायिकावदनस्य प्रकृतिभूतयोश्चन्द्रकमलयोः विकृति-रूपत्वेन निर्देशाद् औपम्यस्य च तन्मूलत्वाद् विक्रियोपमा नामोपमाभेदः। उपमाभेदोऽयमर्वाचीनैर्नाङ्गीकृतः। उदाहरणे चात्रोत्प्रेक्षास्थितिः स्पष्टा।

'हे कृशांगी, तुम्हारा वदन चन्द्रमण्डल से कुरेदकर बनाया गया-सा अथवा कमल-गर्भ में से निकाला गया-सा है।' यह विक्रियोपमा है।

यहाँ चन्द्र और कमल को प्रकृति (=मूल द्रव्य) के रूप में एवं नायिका के वदन को विक्रिया अथवा विकृति (=प्रकृति से उत्पन्न पदार्थ) के रूप में निर्दिष्ट किया गया है; अतः विक्रियोपमा है। इसकी परिभाषा अन्यत्र इस प्रकार है : **उपमेयस्य यत्र स्यादुपमानविकारता। प्रकृतेर्विकृतेः साम्यात्तामाहुर्विक्रियो-पमाम्** (जीवानन्द विद्यासागर की **विवृति** से उद्धृत)। उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने इस उपमा-भेद को स्वीकार नहीं किया।

पूष्ण्यातप इवाह्नीव पूषा व्योम्नीव वासरः।
विक्रमस्त्वय्यधाल्लक्ष्मीमिति मालोपमा मता[2] ॥४२॥

अष्टाविंशं भेदं मालोपमामाह—**पूष्णीति**। पूष्णि सूर्ये आतपः इव, अह्नि दिने पूषा सूर्यः इव, व्योम्नि आकाशे वासरः दिवसः इव त्वयि राजनि विक्रमः पराक्रमः लक्ष्मीं शोभां राजलक्ष्मीं वा अधात् न्यदधात्। यथाऽऽतपः

१. चन्द्र–। २. –पमैव सा।

सूर्ये, सूर्यो दिवसे, दिवसश्चाकाशे शोभां निदधाति तथैव पराक्रमस्त्वयि लक्ष्मीं राजलक्ष्मीं वा न्यदधाद् इति सरलार्थः। अत्र मालायां पुष्पाणामिव पूर्वोत्तर-वाक्यस्थपदानां परस्पराभिसंबन्धान्मालोपमा मता। उपमाभेदोऽयमर्वाचीनानां रशनोपमयांऽशतस्तुलनीयः।

'जिस प्रकार प्रकाश सूर्य को, सूर्य दिवस को और दिवस आकाश को शोभान्वित करता है, वैसे ही (हे राजन्,) तुम्हारे पराक्रम ने तुम्हें (राज-) लक्ष्मी से संपन्न बनाया है।' यहाँ **(माला में फूलों के समान विभिन्न उपमानों का परस्पर संबन्ध होने के कारण)** मालोपमा है।

यह उत्तरवर्ती आचार्यों की रशनोपमा (द्र० साद० १०.२५ : **कथिता रशनोपमा। यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता।।**) से अंशतः तुलनीय है, जब कि उनकी मालोपमा वस्तुतः दण्डी की बहूपमा (२.४०) है। स्वयं दण्डी की बहूपमा और मालोपमा में परस्पर यह अन्तर है कि जहाँ बहूपमा में उपमानबाहुल्य मात्र होता है, वहाँ मालोपमा में उसके साथ-साथ पूर्ववाक्यस्थ पद का उत्तरवाक्यस्थ पद से अभिसंबन्ध होने से उनकी माला-सी बन जाती है।

वाक्यार्थेनैव वाक्यार्थः कोऽपि यद्युपमीयते।
एकानेकेवशब्दत्वात्सा[1] वाक्यार्थोपमा द्विधा।।४३।।

एकोनत्रिंशं भेदं वाक्यार्थोपमां लक्षयति—**वाक्यार्थेनेति**। यदि कोऽपि वाक्यार्थः पदसमुदायार्थः वाक्यार्थेन एव अपरेण उपमीयते, तदा वाक्यार्थोपमा भवति। अयं भावः—प्रकृताप्रकृतयोर्वाक्ययोः साङ्गेनोपमानभूतेनाङ्गिना साङ्गस्यो-पमेयभूतस्याङ्गिनो यत् साम्यं तद् वाक्यार्थोपमा। सा च एकानेकेवशब्दत्वात् क्वचिदेकेवशब्दघटितत्वात् क्वचिच्चानेकेवशब्दघटितत्वाद् द्विधा वक्ष्यमाण-द्विप्रकाराऽस्ति। उपमाभेदोऽयमर्वाचीनैः कैश्चिदाचार्यैः स्वीकृतः।

यदि कोई वाक्यार्थ किसी अन्य वाक्यार्थ से उपमित होता है, तो वहाँ वाक्यार्थोपमा **होती है। यह दो प्रकार की होती है : (१) एक 'इव' शब्द से घटित, और (२) अनेक 'इव' शब्दों से घटित।**

यह वस्तुतः एक वाक्य में आए एकाधिक पदार्थों का अन्य वाक्य में आए तत्सदृश पदार्थों से सादृश्य-कथन है। यही इसका वैचित्र्याधायक तत्त्व है। इसके अभाव में **यथा व्योम्नि विधुर्भाति तथा भूमौ तवाननम्** जैसी वैचित्र्य-रहित उक्ति में वाक्यार्थोपमा की स्थिति नहीं मानी जा सकती। वामन (४.२.३) ने इस उपमा-भेद को वाक्यार्थवृत्ति उपमा कहा है। भोज (सरस्व० ४.१८) की वाक्यार्थोपमा, जिसके उदाहरण के रूप में उसने दण्डी के पद्य **दिवो जागर्ति**····

१. -शब्दत्वे सा।

(२.४६) को उद्धृत किया है, इससे भिन्न है ।

त्वदाननमधीराक्षमाविर्दशनदीधिति ।
भ्रमद्भृङ्गमिवालक्ष्यकेसरं भाति पङ्कजम् ॥४४॥

एकेवशब्दघटितां वाक्यार्थोपमामुदाहरति—**त्वदानन**मिति । अधीराक्षं चञ्चलनेत्रयुतम्, आविर्दशनदीधिति प्रकटीभवद्दन्तकान्ति त्वदाननं तव मुखं भ्रमद्भृङ्गं संचरद्भ्रमरयुतम् आलक्ष्यकेसरम् ईषल्लक्षितकिञ्जल्कं पङ्कजं कमलम् इव भाति शोभते । अत्र चञ्चलनेत्रम् आविर्भवद्दन्तद्युति च नायिकामुखमिति वाक्यार्थः संचरदलिसहितम् ईषत्प्रकटितपरागं च कमलमिति वाक्यार्थेनापरेण उपमितः । तत्र च नेत्रदशनदीधितिरूपेण अङ्गेनाङ्गवद् उपमेयभूतमाननं भृङ्ग-केसररूपेण अङ्गेनाङ्गवता उपमानभूतेन पङ्कजेन उपमितमिति वाक्यार्थोपमा । औपम्यं चेदमेकेवशब्दघटितम् ।

चञ्चल नेत्रों से युक्त और कुछ-कुछ झलक रही दन्तच्छवि वाला तुम्हारा यह वदन मँडरा रहे भौंरों से युक्त और कुछ मात्रा में पराग प्रकट करते हुए कमल के समान शोभायमान है ।

यहाँ पूर्वार्ध में स्थित वाक्यार्थ उत्तरार्ध में स्थित वाक्यार्थ से उपमित हुआ है । वास्तव में यहाँ नायिका के वदन का कमल से, उसकी चञ्चल आँखों का भौंरों से और दन्तच्छवि का पुष्पपराग से सादृश्य कथन है (तु० **अलंकारशेखर** पृ० ३०) । वामन ने इसके उदाहरण के रूप में कालिदास (रघुवंश ६.६०) का यह पद्य प्रस्तुत किया है : **पाण्ड्योऽयमंसार्पितलम्बहारः क्लृप्ताङ्गरागो हरि-चन्दनेन । आभाति बालातपरक्तसानुः सनिर्झरोद्गार इवाद्रिराजः ॥**

नलिन्या इव तन्वङ्ग्यास्तस्याः पद्ममिवाननम् ।
मया मधुव्रतेनेव पायं पायमरम्यत ॥४५॥

अनेकेवशब्दघटितां वाक्यार्थोपमामुदाहरति—**नलिन्या** इति । नलिन्याः कमलिन्या इव तस्याः तन्वङ्ग्याः कृशाङ्ग्याः पद्ममिव आननं मुखं मधुव्रतेन भ्रमरेण इव मया पाय पायं पौनःपुन्येन पीत्वा अरम्यत रतिरासाद्यत । 'अहं तन्वङ्ग्याः वदनं चिरं निषेव्य अरंसि' इति वाक्यार्थोऽत्र 'भ्रमरः नलिन्याः कमलमधु चिरं पीत्वा रमते' इति वाक्यार्थेनापरेण उपमितः । तत्र च तन्वङ्गी नलिन्या, तन्मुखं कमलेन, नायकश्च भ्रमरेणोपमिताः । औपम्यं चात्रानेकेव-शब्दघटितम् ।

कमलिनी के समान उस कृशाङ्गी (नायिका) के कमल-सदृश मुख का बारबार पान करके भ्रमर-सा मैं आनन्दमग्न हो गया ।

यहाँ उपमेयभूत वाक्यार्थ है 'नायिका का मुखपान कर मैं आनन्दविभोर हो गया'; और उपमानभूत वाक्यार्थ है '(जैसे) कमलिनी के कमल-मधु का पान करके भौंरा आनन्दमग्न हो जाता है।' यहाँ उपमेयभूत वाक्य के प्रत्येक घटक का उपमानभूत वाक्य के प्रत्येक घटक के साथ साम्य-कथन है जो 'इव' शब्द के अनेक बार प्रयोग द्वारा संपन्न हुआ है।

वस्तु किंचिदुपन्यस्य न्यसनात्तत्सधर्मणः ।
साम्यप्रतीतिरस्तीति प्रतिवस्तूपमा यथा ॥४६॥

त्रिंशं भेदं प्रतिवस्तूपमां लक्षयति—**वस्त्विति**। किंचित् किमपि प्रस्तुतं वस्तु उपन्यस्य प्रथममुपस्थाप्य तत्सधर्मणः तत्समानगुणस्य अप्रस्तुतस्य वस्तुनः न्यसनाद् उपस्थापनात् साम्यप्रतीतिः इवादिशब्दानभिधानेऽपि सादृश्यबोधः अस्ति इति इत्थं प्रतिवस्तूपमा नामोपमाभेदः संभवति। यथेति वक्ष्यमाणोदाहरणोपक्रमः। उपमाभेदोऽयमुद्भटादिभिरुत्तरवर्तिभिराचार्यैः किंचिद्व्याख्याभेदपूर्वकं पृथगलंकारत्वेन प्रस्तुतः।

किसी (प्रस्तुत) वस्तु को उपन्यस्त करके उसके समान धर्म वाले किसी अन्य (अप्रस्तुत) वस्तु का उपस्थापन करने से ('इव' आदि शब्दों के प्रयोग के बिना ही) जो सादृश्य-प्रतीति होती है वह प्रतिवस्तूपमा का विषय है।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसे कुछ व्याख्याभेद के साथ स्वतन्त्र अलंकार के रूप में प्रस्तुत किया है। विश्वनाथ (१०.४९-५०) के अनुसार इसकी परिभाषा इस प्रकार है: **प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः॥ एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्।**

नैकोऽपि त्वादृशोऽद्यापि जायमानेषु राजसु।
ननु द्वितीयो नास्त्येव पारिजातस्य पादपः ॥४७॥

प्रतिवस्तूपमामुदाहरति—**नैक** इति। जायमानेषु उत्पद्यमानेषु अथवा जातेषु राजसु नृपतिषु अद्यापि अद्ययावदपि एकोऽपि राजा त्वादृशः तव सदृशः नास्ति। इत्येवं प्रस्तुतमुपन्यस्य तत्सधर्माणमप्रस्तुतमुपस्थापयति—ननु निश्चयेन पारिजातस्य पादपः स्वर्गतरुविशेषः द्वितीयो नास्त्येव। गम्यसाम्यस्य वाक्यद्वयस्यात्र एकोऽपि सामान्यो धर्मः (सदृशपदार्थाभावरूपः) पृथङ् निर्दिष्ट इति अर्वाचीनमतानुसारमपि प्रतिवस्तूपमोदाहरणमेतत्।

(प्रतिवस्तूपमा का उदाहरण:) अब तक हो चुके राजाओं में एक भी राजा आपके समान नहीं है। निश्चय से पारिजात का वृक्ष भी (एक ही है,) दूसरा नहीं।

यहाँ पहले वाक्य में निर्दिष्ट वस्तु प्रस्तुत है। दूसरे वाक्य में उसके समान अन्य (अप्रस्तुत) वस्तु का उपस्थापन किया गया है। इस प्रकार यहाँ प्रतिवस्तूपमा है। इन दोनों वाक्यों में सादृश्य गम्य है, और इस सादृश्य के कारणभूत सामान्यधर्म (प्रस्तुत राजा और पारिजात दोनों के अप्रतिम होने) का पृथक् शब्दों में निर्देश होने के कारण यहाँ उक्त अलंकार की उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा प्रदत्त परिभाषा भी घटित हो जाती है।

अधिकेन समीकृत्य[1] हीनमेकक्रियाविधौ ।
यद् ब्रुवन्ति स्मृता सेयं तुल्ययोगोपमा यथा ॥४८॥

एकत्रिंशं भेदं तुल्ययोगोपमामाह—**अधिकेनेति**। एकक्रियाविधौ एकजातीयक्रियाविधाने, समानक्रियानिर्देशप्रसङ्गेनेति भावः, हीनं गुणैर्न्यूनं किंचिद्वस्तु अधिकेन अधिकगुणेन केनचिद् वस्तुना समीकृत्य सदृशीकृत्य यद् ब्रुवन्ति वर्णयन्ति कवयः तत्र सेयं तुल्ययोगिता स्मृता। यथेति प्रस्तोष्यमाणोदाहरणोपक्रमार्थम्। उपमाभेदोऽयं स्वयं दण्डिनोपरिष्टाद्व्याख्यातेन तुल्ययोगितालंकारेण तुलनीयः।

समान क्रिया के निर्देश के प्रसङ्ग में, न्यून गुण वाले किसी पदार्थ को अधिक गुण वाले किसी अन्य पदार्थ से समानता प्रस्तुत करके जो कथन किया जाता है वह तुल्ययोगोपमा है।

यह उपमा-भेद स्वयं दण्डी के तुल्ययोगिता अलंकार (२.३३०-२) से तुलनीय है। भामहकृत तुल्ययोगिता की परिभाषा भी इसके पर्याप्त निकट है; तु० ३.२७ : **न्यूनस्यापि विशिष्टेन गुणसाम्यविवक्षया। तुल्यकार्यक्रियायोगादित्युक्ता तुल्ययोगिता** ॥; तु० वामन ४.३.२६ भी। परंतु उत्तरवर्ती आचार्यों की तुल्ययोगिता (तु० साद० १०.४७-८) से यह पर्याप्त भिन्न है।

दिवो जागर्ति रक्षायै पुलोमारिर्भवान् भुवः[2] ।
असुरास्तेन हन्यन्ते सावलेपास्त्वया नृपाः[3] ॥४९॥

उक्तमुदाहरति—**दिव** इति। पुलोमारिः इन्द्रः दिवः स्वर्गस्य रक्षायै जागर्ति; भवान् भुवः पृथिव्याः रक्षायै जागर्ति। तेन इन्द्रेण असुराः दैत्याः हन्यन्ते; त्वया सावलेपाः गर्विताः नृपाः राजानः हन्यन्ते। अत्र हीनगुणस्य प्रस्तुतस्य राज्ञोऽधिकगुणेन इन्द्रेण एकजातीयक्रियासंबन्ध इति अतुल्यगुणयोरपि तयोः तुल्यक्रियायोगात् समीकरणात् तुल्ययोगोपमा। इवाद्यप्रयोगात्साधर्म्यमत्र

---

१. समाहृत्य। २. भुवो भवान्। ३. त्वया नराः, नृपास्त्वया।

व्यङ्ग्यमेव ।

(तुल्ययोगोपमा का उदाहरण :) इन्द्र स्वर्ग की रक्षा (करने) के लिए जागता है, आप पृथ्वी की (रक्षा करने के लिए)। वह असुरों का संहार करता है, आप अभिमानी राजाओं का (संहार करते हैं) ।

इन्द्र की अपेक्षा स्पष्टतः न्यून गुणों वाले प्रस्तुत राजा की इन्द्र से तुलना का आधार एकजातीय क्रिया अर्थात् राज्य की रक्षा के लिए जागना और शत्रुओं का नाश करना है। इस प्रकार उक्त (अतुल्यों में भी) तुल्य क्रिया के योग से यहाँ तुल्ययोगोपमा है। भोज (**सरस्व० ४, उदा० १५**) ने इस पद्य को अनिवादिशब्दा (='इव' आदि शब्दों के प्रयोग से रहित) वाक्यार्थोपमा के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है, जो अधिक उपयुक्त है। दण्डी का निम्न-लिखित पद्य भी, जो उसके नाम से श्रवण बेलगोला के ११२८ ई० के एक शिलालेख में उद्धृत है (**तु० एपिग्राफ़िया कर्नाटिका**, जिल्द २, ६७, पृ० २६०), इस उपमाभेद का सुन्दर उदाहरण है : **जह्नोः कन्यां जटाग्रेण बभार परमेश्वरः। श्रीवर्द्धदेव संधत्से जिह्वाग्रेण सरस्वतीम् ॥**

कान्त्या चन्द्रमसं धाम्ना सूर्यं धैर्येण चार्णवम् ।
राजन्ननुकरोषीति सैषा हेतूपमा मता[1] ॥५०॥

अथान्तिमं द्वात्रिंशमुपमाभेदं हेतूपमामाह—**कान्त्येति**। हे राजन्, त्वं कान्त्या देहप्रभया चन्द्रमसं, धाम्ना तेजसा सूर्यं, धैर्येण धृत्या च अर्णवं समुद्रम् अनुकरोषि। इति सा एषा राज्ञः चन्द्रादिभिः सादृश्यस्य हेतूनां कान्तिप्रभृतीनां निर्देशाद् हेतूपमा मता। उपमाभेदोऽयमर्वाचीनैर्न पृथगुपात्तः ।

'हे राजन्, तुम (अपने शरीर की) कान्ति से चन्द्रमा का, तेज से सूर्य का और धैर्य से समुद्र का अनुकरण करते हो।' यहां (राजा के चन्द्रमा आदि से सादृश्य के हेतुओं—कान्ति, तेज और धैर्य—का कथन होने से) हेतूपमा है ।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस उपमा-भेद का पृथक् ग्रहण नहीं किया। भोज (**सरस्व० १, उदा० १६१**) ने प्रस्तुत उदाहरण को अधिकौपम्य के गुणत्व के निदर्शन के रूप में उद्धृत किया है। इसके उत्तरार्ध को उसने इस प्रकार रखा है : **राजन्ननुकरोषि त्वं सौभाग्येनापि मन्मथम् ॥**

न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा ।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम् ॥५१॥

---

१. स्मृता ।

उपमाभेदान्निरूप्याधुना प्रसङ्गेन तद्गतान् दोषान् तेषां च कदाचिददोषत्वं निर्दिशन्नाह—**न लिङ्गे**ति। यत्र धीमतां सचेतसाम् उद्वेगः वैरस्यं प्रतीतिविघातजन्यमाकुलत्वं वा न भवति तत्र भिन्ने लिङ्गवचने उपमेयगतलिङ्गभिन्नं लिङ्गम् उपमेयगतवचनभिन्नं च वचनम् अथ च हीनाधिकता अपि उपमेयापेक्षया उपमानस्य हीनता अधिकता चेति इमे चत्वारः उपमादोषाः उपमादूषणाय न अलं न प्रभवन्ति। सामान्यतः लिङ्गभेदः, वचनभेदः, उपमानहीनता, उपमानाधिकता चेति दोषाः सहृदयोद्वेगकराः सन्त उपमां दूषयन्ति, परं कदाचित्ते सहृदयोद्वेगमजनयन्तोऽदोषत्वं भजन्ते यथाऽनन्तरं वक्ष्यमाणेषूदाहरणेषु।

जहां सहृदयों का हृदय उद्विग्न (=वैरस्यपूर्ण) न हो वहां (उपमान में उपमेय से) भिन्न लिङ्ग और वचन (का प्रयोग) तथा (उपमेय की अपेक्षा उपमान की) हीनता (=न्यूनगुणता) एवं अधिकता (=अधिकगुणता)—ये (चार उपमादोष) उपमा को दूषित नहीं करते।

दण्डी के अनुसार उक्त उपमादोष (लिङ्गभेद, वचनभेद, उपमानहीनता और उपमानाधिकता) नित्य नहीं हैं, प्रत्युत अवसर-सापेक्ष अथवा व्यवस्थित विषय वाले होने से अनित्य हैं। दूसरे शब्दों में, सहृदय के हृदय में वैरस्य उत्पन्न करने की स्थिति में ही ये दोष हैं, अन्यथा नहीं। अगले दो पद्यों में ये दोष वैरस्यजनक न होने के कारण वस्तुतः दोष नहीं हैं।

भामह (२.३९-४०) ने निम्नलिखित सात उपमादोष गिनाए हैं : **हीनताऽसंभवो लिङ्गवचोभेदो विपर्ययः। उपमानाधिकत्वं च तेनासदृशतापि वा॥ त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।** वामन (४.२.८-२१) ने इनमें से विपर्यय का ग्रहण नहीं किया। दूसरी ओर रुद्रट (११.२४) ने वैषम्य, असंभव, अप्रसिद्धि और सामान्यशब्दभेद—ये चार उपमादोष माने हैं; उसके अनुसार लिङ्ग, वचन आदि का भेद अन्तिम दोष के अन्तर्गत आ जाता है। भोज (सरस्व० १.२५-६) ने दण्डी द्वारा उल्लिखित चार दोषों का ही ग्रहण किया है। उसने एवं अन्य आचार्यों ने प्रायः दोष-विवेचन के प्रसङ्ग में उपमा-दोषों का उल्लेख किया है।

स्त्रीव गच्छति षण्डोऽयं[1] वक्त्येषा स्त्री पुमानिव।
प्राणा इव प्रियोऽयं[2] मे विद्या धनमिवार्जिता:[3] ॥५२॥

लिङ्गवचनभेदरूपोपमादोषस्यादोषत्वमुदाहरति—**स्त्रीवे**ति। अयं षण्डः क्लीवः स्त्री इव गच्छति; एषा स्त्री पुमान् इव वक्ति वदति। इह वाक्यद्वये उप-

---

१. पण्ढोऽयं। २. प्रियेयं। ३. अर्जिता इति पाठोऽत्र अर्जिताः इति संशोधितः।

मानगतो लिङ्गभेदः प्राप्तरूपतया न सहृदयोद्वेगकर इति नात्रोपमादोषः। अयं जनः मे प्राणाः इव प्रियः; मया विद्याः धनमिव अर्जिताः—इत्यनयोर्वाक्ययोः उपमानगतो वचनभेदः (द्वितीये च लिङ्गभेदोऽपि) प्रयोगसुभगत्वाददोषत्वेन ग्राह्यः।

यह नपुंसक स्त्री की भांति चलता है; यह स्त्री पुरुष के समान बोलती है; यह (मनुष्य) मुझे प्राणों के समान प्रिय है; मैंने विद्याएँ धन की भांति अर्जित की हैं।

इन वाक्यों में पहले दो वाक्य लिङ्गभेद के तथा बाद के दो वचनभेद के उदाहरण हैं; अन्तिम वाक्य में लिङ्गभेद भी है। इनमें लिङ्ग अथवा वचन का भेद सहृदयहृदयग्राह्य होने से दोष नहीं है।

भवानिव महीपाल देवराजो विराजते।
अलमंशुमतः कक्षा[1]मारोढुं तेजसा नृपः ॥५३॥

उपमानहीनत्वाधिकत्वरूपदोषयोरदोषत्वं निदर्शयति—**भवानिति**। हे महीपाल राजन्, देवराजः इन्द्रः भवान् इव विराजते शोभते। अत्र वाक्ये उपमानस्य (राज्ञः) उपमेयापेक्षया (इन्द्रापेक्षया) हीनत्वम्। नृपः तेजसा प्रतापेन अंशुमतः सूर्यस्य कक्षां श्रेणीं, सादृश्यमिति भावः, आरोढुम् आक्रमितुं, प्राप्तुम्, अलं समर्थः—इत्यत्र उपमानस्य (सूर्यस्य) उपमेयाद् (राज्ञः) अधिकत्वम्। अनयोर्वाक्ययोः उपमानस्य हीनत्वाधिकत्वे राज्ञः देवांशसंभूततया नात्यन्तं वैरस्यमावहतः इत्यनयोरदोषत्वम्।

हे राजन्, देवराज (इन्द्र) आपके समान शोभायमान है; यह राजा अपने प्रताप से सूर्य की समता प्राप्त करने में समर्थ है।

इन वाक्यों में उपमान उपमेय की अपेक्षा क्रमशः हीन और अधिक (=उत्कृष्ट) हैं। फिर भी चूँकि राजा देवताओं के अंश से निर्मित माना जाता है, इसलिए यहाँ देवताओं से उसके सादृश्य-कथन में आए उक्त दोष उपमा को दूषित नहीं करते।

इत्येवमादौ[2] सौभाग्यं न जहात्येव जातुचित्।
अस्त्येव[3] क्वचिदुद्वेगः प्रयोगे वाग्विदां[4] यथा ॥५४॥

उक्तोदाहरणान्युपसंहरति—**इत्येवमिति**। इत्येवमादौ उदाहरणजाते लिङ्गभेदादिदोषयुतः प्रयोगः जातुचित् कदाचित् सौभाग्यं काव्यसौष्ठवं न जहात्येव

१. कक्ष्याम्। २. –आदि, –आदेः। ३. अस्ति च। ४. तद्विदां।

नोज्झत्येव । तथापि वाग्विदां काव्यविदां कवीनां प्रयोगे लिङ्गभेदादिदोषयुते प्रयोगविशेषे क्वचिद् उद्वेगः वैरस्यम् अस्त्येव भवत्येव । यथेति वक्ष्यमाणोदाहरणोपक्रमार्थम् ।

इस प्रकार उक्त उदाहरणों में (लिङ्गभेद आदि दोषों से युक्त प्रयोग) काव्यसौष्ठव का परित्याग नहीं करता। (फिर भी) कवियों के (इन दोषों से युक्त) प्रयोगविशेष में कहीं-कहीं (वैरस्य-जनित) उद्वेग होता ही है।

(काव्य-)सौष्ठव के लिए 'सौभाग्य' शब्द का प्रयोग काव्यादर्श में अन्यत्र (३.१५१ में) भी है।

हंसीव धवलश्चन्द्रः सरांसीवामलं नभः ।
भर्तृभक्तो भटः श्वेव खद्योतो भाति भानुवत् ॥५५॥

लिङ्गभेदादिदोषाणां प्रयोगविशेषे वैरस्यावहत्वमुदाहरति—**हंसीवेति** । चन्द्रः हंसी इव धवलः श्वेतः (अत्र लिङ्गभेदो दोषः); नभः गगनं सरांसि तडागाः इव अमलं स्वच्छम् (अत्र वचनभेदो दोषः); भटः सैनिकः श्वा कुक्कुरः इव भर्तृभक्तः स्वाम्यनुरक्तः (अत्र उपमानहीनत्वं दोषः); खद्योतः ज्योतिरिङ्गणः भानुवत् सूर्यः इव भाति द्योतते (अत्र उपमानाधिक्यं दोषः) ।

चन्द्रमा हंसी के समान श्वेत है; आकाश सरोवरों के समान निर्मल है; सैनिक कुत्ते के समान स्वामिभक्त है; जुगनू सूर्य के समान चमक रहा है।

यहाँ चारों वाक्यों में क्रमशः लिङ्गभेद, वचनभेद (तु० **सरस्व० १, उदा० ३४-५**), उपमानहीनत्व और उपमानाधिक्य दोष हैं जो सहृदयों के हृदय में वैरस्य उत्पन्न करते हैं। रत्नश्रीज्ञान ने इस पद्य को निम्नलिखित प्रकार से निर्दोष रूप में प्रस्तुत किया है : **चन्द्रो हंस इवाभाति नभः सर इवामलम् । भटो बन्धुरिव स्निग्धः खद्योतो भाति दीपवत् ॥**

ईदृशं[1] वर्ज्यते सद्भिः कारणं त्वत्र[2] चिन्त्यताम् ।
गुणदोषविचाराय स्वयमेव मनीषिभिः[3] ॥५६॥

सहृदयहृदयमेवात्र दोषत्वादोषत्वनिर्णयाय अलमित्युपसंहरन्नाह—**ईदृशमिति** । ईदृशम् अनन्तरोक्तप्रकारकं काव्यं सद्भिः सत्कविभिः वर्ज्यते परिह्रियते, न प्रयुज्यते इत्यर्थः । अत्र विषये गुणदोषविचाराय गुणो वाऽत्र दोषो वेति निर्णयाय कारणं हेतुः तु मनीषिभिः सहृदयैः कविभिः काव्यशास्त्रिभिश्चापि स्वयमेव चिन्त्यताम् ऊह्यताम् । सहृदयानां सदसद्विवेकि हृदयमेवात्र प्रमाणमिति भावः ।

---

१. ईदृशो । २. तत्र । ३. श्लोकार्धमिदं क्वचिन्नोपलभ्यते ।

श्रेष्ठ कवि उक्त प्रकार की काव्यरचना का परिहार करते हैं। इस विषय में, उनके द्वारा (ऐसे काव्य में) गुण अथवा दोष का विवेक करने का कारण सहृदय (कवि और आचार्य) स्वयं ही सोचें।

वाणी अथवा काव्य की 'शिष्टानुशिष्टता' या 'शिष्टेष्टता' पर दण्डी ने, अन्यत्र भी, विशेष बल दिया है; द्र० १.३; ३.१४८; और भी तु० १.२०, ३०। उचित उपमानों की योजना के संबन्ध में विस्तार के लिए, द्र० अलंकार-शेखर, पृ० ३८-४६।

इववद्वायथाशब्दाः समाननिभसंनिभाः।
तुल्यसंकाशनीकाशप्रकाशप्रतिरूपकाः ॥५७॥
प्रतिपक्षप्रतिद्वन्द्विप्रत्यनीकविरोधिनः।
सदृक्सदृशसंवादिसजातीयानुवादिनः ॥५८॥
प्रतिबिम्बप्रतिच्छन्द[1]सरूपसमसंमिताः[2]।
सलक्षणसदृक्षाभसपक्षोपमितोपमाः ॥५९॥
कल्पदेशीयदेश्यादिः[3] प्रख्यप्रतिनिधी अपि।
सवर्णतुलितौ शब्दौ ये च तुल्यार्थवाचिनः[4] ॥६०॥
समासश्च बहुव्रीहिः शशाङ्कवदनादिषु।
स्पर्धते जयति द्वेष्टि द्रुह्यति प्रतिगर्जति ॥६१॥
आक्रोशत्यवजानाति कदर्थयति निन्दति।
विडम्बयति संधत्ते[5] हसतीर्ष्यत्यसूयति ॥६२॥
तस्य मुष्णाति सौभाग्यं तस्य कान्तिं विलुम्पति।
तेन सार्धं विगृह्णाति तुलां तेनाधिरोहति ॥६३॥
तत्पदव्यां पदं धत्ते तस्य कक्षां[6] विगाहते।
तमन्वेत्यनुबध्नाति तच्छीलं तन्निषेधति ॥६४॥
तस्य चानुकरोतीति शब्दाः सादृश्यसूचकाः[7]।
उपमायामिमे प्रोक्ताः कवीनां बुद्धिसौख्यदाः[8] ॥६५॥

उपमायाः भेदान् दोषांश्च निरूप्याधुना सादृश्यसूचकान शब्दान् दिङ्मात्रं निर्दिशति—इववदिति। इववदादयश्चतुःषष्टिसंख्याकाः शब्दाः वाक्यांशाश्च उपमायां सादृश्यसूचकाः अतश्च कवीनां बुद्धिसौख्यदाः बौद्धिकसुखप्रदायिनः प्रोक्ताः। एषु कतिचित् सादृश्यवाचकाः कतिचिच्च सादृश्यप्रत्यायकाः शब्दाः

---

१. –च्छन्न–। २. –सप्रभाः। ३. –देश्यादि। ४. चान्यूनार्थवादिनः, –वाचिनः। ५. संरुन्द्धे। ६. कक्ष्यां। ७. –सूचिनः। ८. श्लोकार्धमिदं क्वचिन्नोपलभ्यते।

वाक्यांशाः वा सन्ति। सादृश्यवाचकेषु प्रमुखा इवादिप्रकाशान्ताः सदृशादितुलितान्ताः अन्ये च तुल्यार्थवाचिनः शब्दाः बहुव्रीहिश्च समासः। साम्यप्रत्यायकेषु च प्रतिरूपकादिविरोध्यन्ताः शब्दाः स्पर्धतेप्रभृतितस्यानुकरोत्यन्तानि च क्रियापदानि प्रामुख्यं भजन्ते।

इव, -वत्, वा, यथा, समान, -निभ (तु० १.५६), संनिभ, तुल्य, -संकाश (तु० २.१८३), -नीकाश, **और** -प्रकाश, प्रतिरूपक, प्रतिपक्ष, प्रतिद्वन्द्वी, प्रत्यनीक, विरोधी (तु० २.३३), सदृश्, सदृश, संवादी, (तु० २.१६३), सजातीय, अनुवादी, प्रतिबिम्ब, -प्रतिच्छन्द, सरूप, सम, संमित, सलक्षण, सदृक्ष, -आभ, सपक्ष, उपमित, -उपम, -कल्प, -देशीय **और** -देश्य, -प्रख्य, प्रतिनिधि (तु०२.१७७), सवर्ण, तुलित **एवं इसी प्रकार के अन्य तुल्यार्थवाची शब्द, बहुव्रीहि समास (जैसे**—शशाङ्कवदना =चन्द्रमा के समान वदन वाली), स्पर्धते (=**होड़ करता है; तु०** १.४९), जयति (=जीतता है), द्वेष्टि (=**द्वेष करता है; तु०** २.१५९), द्रुह्यति (=**द्रोह करता है**), प्रतिगर्जति (=**डांटता है; तु०** २.३४,८९), आक्रोशति (=**बुरा-भला कहता है**), अवजानाति (=**निरादर करता है**), कदर्थयति (=**तिरस्कृत करता है**), निन्दति (=**निन्दा करता है; तु० २.३६१ :** आक्षिपन्ति), विडम्बयति (=**उपहास करता है; तु० ३.८,१०९**), (श्रियं) संधत्ते (=**शोभा धारण करता है; तु० ५६; २.२४**), हसति (=**हँसता है**), ईर्ष्यति **और** असूयति (=**ईर्ष्या करता है; तु० ३.२९**), तस्य सौभाग्यं मुष्णाति (=**उसके सौन्दर्य का हरण करता है**), तस्य कान्तिं विलुम्पति (=**उसकी शोभा को विलुप्त करता है**), तेन सार्धं विगृह्णाति (=**उसके साथ लड़ता है**), तेन तुलाम् अधिरोहति (=**उसके साथ तुलता है**), तत्पदव्यां पदं धत्ते (=**उसके मार्ग पर कदम रखता है**), तस्य कक्षां विगाहते (=**उसकी श्रेणी का अवगाहन करता है; तु० २.५३, १८७**), तम् अन्वेति (=**उसका अनुसरण करता है; तु० २.२०, २१**), तच्छीलम् अनुबध्नाति (=**उसके स्वभाव का अनुगमन करता है**), तन्निषेधति (=**उसका निषेध अथवा प्रत्याख्यान करता है**) **और** तस्य अनुकरोति (=**उसका अनुकरण करता है; तु० २.५०**)—**ये शब्द (और वाक्यांश) उपमा में सादृश्य का बोध (=साक्षात् वाचन अथवा प्रतीति) कराते हैं, और इस प्रकार कवियों को बौद्धिक आनन्द प्रदान करते हैं।**

ये चौंसठ शब्द (=पद, प्रत्यय, समास और वाक्यांश) सादृश्यसूचक हैं। इनमें कुछ साक्षात् (=अभिधा से) सादृश्यवाची हैं और कुछ (लक्षणा अथवा व्यञ्जना से) सादृश्य की प्रतीति कराते हैं। प्रथम वर्ग में **इव** से **-प्रकाश** तक के और **सदृश्** से **तुलित** तक के एवं अन्य तुल्यार्थवाची शब्द तथा बहुव्रीहि समास आते हैं। यहाँ कर्मधारय समास (जैसे—**पुरुषव्याघ्र**) का ग्रहण भी

अभीष्ट है। द्वितीय वर्ग में शेष शब्द तथा वाक्यांश आते हैं। अर्थ के आधार पर इन्हें निम्ननिर्दिष्ट दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : (१) सीधे सादृश्यबोधक शब्द, जैसे—इव, -वत् आदि; और (२) परोक्ष रूप से (अ) विरोध, (आ) होड़ या जीत, (इ) निन्दा, और (ई) ईर्ष्या की अभिव्यक्ति द्वारा सादृश्य के प्रत्यायक शब्द अथवा वाक्यांश। इन शब्दों एवं वाक्यांशों का उल्लेख दिङ्निर्देशमात्र है, परिपूर्ण नहीं; इसी प्रकार के अन्य शब्द और वाक्यांश भी सादृश्य-बोध के लिए प्रयुक्त किए जा सकते हैं (विस्तार के लिए, द्र० **अलंकारशेखर**, पृ० ५२-५; तु० रङ्गाचार्यशास्त्री : **प्रभा** व्याख्या, पृ० १५१-५६ भी)।

उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते[1] ।
यथा बाहुलता पाणिपद्मं चरणपल्लवः[2] ॥६६॥

तृतीयमलंकारं रूपकं लक्षयति—**उपमैवेति** । तिरोभूतभेदा निगूढोपमेयोपमानभेदा उपमा एव रूपकम् अलंकारः उच्यते। सादृश्यातिशयबोधाय उपमेयोपमानयोः अभेदकथनं रूपकमित्यर्थः। तदुदाहरति—**बाहुलता** बाहुः एव लता; **पाणिपद्मं** पाणिः हस्तः एव पद्मम्; **चरणपल्लवः** चरणः एव पल्लवः इति। अत्र बाहुर्लतेव, पाणिः पद्ममिव, चरणः पल्लव इवेति विवक्षितत्वे बाह्वादीनां लतादीनां च परस्परमभेदः (भेदतिरोभावो वा) कथितः। **बाहुलते**त्यादौ कर्मधारयसमासः, अतश्चात्र समस्तं नाम रूपकभेदः।

ऐसी उपमा ही जहाँ (उपमेय और उपमान के परस्पर) भेद का तिरोभाव (=निगूहन) हो जाता है रूपक है। **जैसे**—बाहुलता (**=बांह ही लता; बांह-रूपी लता**), पाणिपद्मम् (**=हाथ ही कमल; हाथ-रूपी कमल**), चरणपल्लवः (**=चरण ही कोंपल; चरण-रूपी कोंपल**)।

यहाँ **बाहुलता** आदि में 'लता के समान बाँह' यह कथन विवक्षित है। इस उपमा-रूप कथन में बाँह (उपमेय) और लता (उपमान) की परस्पर भिन्नता स्पष्ट है। 'बाँह लता है' यह कहने में उपमेय और उपमान के बीच की यह भिन्नता तिरोहित हो जाती है। उपमेय और उपमान के बीच की भिन्नता का यह तिरोभाव ही, जो अतिशय-सादृश्य का बोध कराने के लिए है, रूपक अलंकार का विषय है। **बाहुलता** आदि में कर्मधारय समास है। ये समस्तरूपक के उदाहरण हैं। उत्तरवर्ती आचार्यों ने रूपक को उपमेय और उपमान का अभेदकथन कहा है; द्र० भामह (२.२१), वामन (४.३.६), मम्मट (१०.६३ :

---

१. इष्यते। २. -पल्लवम्।

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः), रुय्यक (१५; वृत्ति में दण्डी की कारिका का पूर्वार्ध उद्धृत है) आदि। अग्निपुराण (३४४.२३) के लेखक ने इस अलंकार की दण्डि-प्रदत्त परिभाषा को ही ग्रहण किया है। विश्वनाथ (१०.२८) के अनुसार, यह उपमेय पर उपमान का, अपह्नव-कथन से भिन्न, आरोप-कथन है: **रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे**। इस अलंकार की संकल्पना में आरोप की यह स्थिति दण्डी को भी मान्य है; तु० २.७०, ७६, ७९, ८२, ९५।

अङ्गुल्यः पल्लवान्यासन् कुसुमानि नखार्चिषः[1] ।
बाहू लते वसन्तश्रीस्त्वं नः प्रत्यक्षचारिणी ॥६७॥

रूपकस्य प्रथमं भेदं समस्ताख्यं **बाहुलते**त्यादिना निदर्श्याधुना द्वितीयं भेदमसमस्ताख्यमुदाहरति—**अङ्गुल्य** इति। हे सुन्दरि, त्वं नः अस्माकं प्रत्यक्षचारिणी मूर्तिमती संचारिणी च वसन्तश्रीः माधवी शोभा आसीः। तथाहि, तव अङ्गुल्यः पल्लवानि किसलयानि आसन्, तव नखार्चिषः नखांशवः कुसुमानि पुष्पाणि आसन्, अथ च ते बाहू लते आस्ताम्। अत्रोपमेयभूतानाम् अङ्गुल्यादीनाम् उपमानभूतैः पल्लवादिभिरभेदकथनमिति रूपकं, तेषां परस्परमसमस्तत्वाच्च असमस्तं नाम तद्भेदः।

(हे सुन्दरी,) तुम हमारे लिए साक्षात् चलती-फिरती वासन्ती शोभा थीं; तुम्हारी अंगुलियां (वसन्त की) कोंपलें थीं, तुम्हारे नखों की किरणें फूल थीं और बाहें लताएँ थीं।

यहाँ अंगुली आदि उपमेयों का कोंपल आदि उपमानों से अभेद-कथन है। यह अभेद-कथन समासरहित रूप में है, अतः यहाँ असमस्त रूपक है। भोज (**सरस्व० ४, उदा० २६**) ने इसे व्यस्तरूपक कहा है। लिङ्गभेद आदि उपमा-दोष एवं, वैरस्य-जनक न होने की स्थिति में, उनका अदोषत्व रूपक के संदर्भ में भी मान्य है। यहाँ **अङ्गुल्यः पल्लवानि** आदि में लिङ्ग-भेद नामक दोष वैरस्य-जनक न होने से रूपक को दूषित नहीं करता।

इत्येतदसमस्ताख्यं समस्तं पूर्वरूपकम् ।
स्मितं मुखेन्दोर्ज्योत्स्नेति समस्तव्यस्तरूपकम् ॥६८॥

पूर्वोक्तं भेदद्वयं संज्ञापयन् तृतीयं च प्रस्तुवन्नाह—**इत्येत**दिति। इत्येतद् अनन्तरोक्तम् असमस्ताख्यं रूपकम्, पूर्वरूपकं तत्पूर्वोदाहृतं च **बाहुलते**त्यादि समस्तं नाम। अथ च स्मितं लीलाहसितं मुखेन्दोः मुखचन्द्रस्य ज्योत्स्ना कौमुदी

---

१. नखत्विषः।

वर्तते इत्येतत् **मुखेन्दोः** इत्यस्य समस्तत्वात् **स्मितं ज्योत्स्ना** इत्येतयोश्च पदयोरसमस्तत्वात् समस्तव्यस्तरूपकम् ।

यह (उपर्युक्त रूपक) असमस्तरूपक है। उससे पहले निर्दशित (बाहुलता आदि) पद्यांश में समस्तरूपक है। **'मुस्कराहट मुख-चन्द्र की चांदनी है'—यहाँ (मुखेन्दोः में समास होने एवं** स्मितं ज्योत्स्ना **में समास न होने के कारण)** समस्तव्यस्तरूपक है।

दण्डी के **स्मितं** इत्यादि को भोज (**सरस्व० ४, उदा० २७**) ने इस प्रकार विकसित किया है : **स्मितं मुखेन्दौ ज्योत्स्ना ते प्रभाम्बु कुचकुम्भयोः । दोर्लता-पल्लवे पाणौ पुष्पं सखि नखार्चिषः ॥** उत्तरवर्ती आचार्यों ने समास पर आधारित इन रूपक-भेदों की प्रायः उपेक्षा की है।

ताम्राङ्गुलिदलश्रेणि नखदीधितिकेसरम् ।
ध्रियते मूर्ध्नि भूपालैर्भवच्चरणपङ्कजम् ॥६९॥

चतुर्थं भेदं सकलरूपकं निदर्शयति—**ताम्रेति** । ताम्राङ्गुलयः रक्ताः अङ्गुलयः एव दलश्रेण्यः पत्रावल्यः यस्य तत्, अथ च नखदीधितयः नखांशवः एव केसराणि किञ्जल्कानि यस्मिन् तत्तादृशं भवच्चरणपङ्कजं भवत्पादः एव कमलं तद् भूपालैः सामन्तनृपतिभिः मूर्ध्नि शिरसि ध्रियते निधीयते। भवच्चरण-कमले निजशिरोविनिपातः (=प्रणामः) विधीयते इत्यर्थः ।

लाल अंगुलियों-रूपी पंखुड़ियों वाला एवं नखकिरण-रूपी पुष्पपराग से युक्त आपका चरण-रूपी कमल (सामन्त) राजाओं द्वारा सिर पर धारण किया जाता है (=वे सामंतराज आपके चरणों पर अपना सिर रखकर प्रणाम करते हैं)।

अङ्गुल्यादौ दलादित्वं पादे चारोप्य पद्मताम् ।
तद्योग्यस्थानविन्यासादेतत्सकलरूपकम् ॥७०॥

उक्तोदाहरणं व्याचष्टे—**अङ्गुल्यादाविति** । अङ्गुल्यादौ उपमेये दलादित्वं दलश्रेणित्वादिकम् उपमानत्वं, पादे चोपमेये पद्मतां कमलत्वम् उपमानत्वम् आरोप्य तत्त्वेन प्रदर्श्य तयोः चरणस्य कमलस्येत्युभयोः तद्योग्ये तदनुरूपे स्थाने सामन्तराजशिरोरूपे विन्यासाद् धारणात्, तद्वर्णनादिति भावः, एतत् सकलरूपकं नाम रूपकभेदः । **ताम्राङ्गुलि-दलश्रेण्यादीनां** समस्तत्वादत्र समस्ताख्यं सकल-रूपकम् । पूर्वोक्ते **अङ्गुल्यः पल्लवान्यासन्** इत्यादौ तु तदसमस्ताख्यं सकल-रूपकम् । अर्वाचीनैः सकलरूपकमिदं साङ्गरूपकत्वेनोपात्तम् ।

अंगुलियों आदि पर पंखुड़ियों आदि का तथा चरण पर कमल का आरोप करके उन दोनों (=चरण और कमल) को उनके योग्य स्थान (सामन्त

राजाओं के सिर) पर विन्यस्त करने (का वर्णन होने) से यहां सकलरूपक है।

उक्त उदाहरण में **ताम्राङ्गुलिदलश्रेणि** आदि के समस्त होने के कारण समस्त-सकलरूपक है (तु० सरस्व० ४, उदा० ३३)। पूर्वोक्त **अङ्गुल्यः पल्लवान्यासन्** आदि में समास न होने के कारण असमस्त-सकलरूपक है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने सकलरूपक को साङ्गरूपक (समस्तवस्तुविषय) के रूप में ग्रहण किया है; द्र० साद० (१०.३०-१) : **अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत् ॥ समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च । आरोप्याणामशेषाणां शाब्दत्वे प्रथमं मतम् ॥**

अकस्मादेव ते चण्डि स्फुरिताधरपल्लवम् ।
मुखं मुक्तारुचो धत्ते घर्माम्भःकणमञ्जरीः ॥७१॥

पञ्चमं भेदमवयवरूपकमुदाहरति—**अकस्मादिति**। हे चण्डि अतिकोपने, अकस्मात् सहसा एव स्फुरितौ कम्पितौ अधरौ एव पल्लवौ यस्मिंस्तत्तादृशं ते तव मुखं (कर्तृ) मुक्तारुचः मुक्ताकणसदृशीः घर्माम्भःकणाः स्वेदोदकबिन्दवः एव मञ्जर्यः कुसुमावल्यः ताः (कर्म) धत्ते धारयति। प्रणयकुपितायास्तवाधरौ स्फुरतः मुखं च स्विद्यतीत्यर्थः।

हे मानिनी, एकाएक फड़क रही अधर-रूपी कोंपलों वाला यह तुम्हारा वदन मोती के दानों के समान स्वेदबिन्दु-रूपी कुसुममञ्जरी को धारण कर रहा है।

मञ्जरीकृत्य घर्माम्भः[1] पल्लवीकृत्य चाधरम् ।
नान्यथाकृतमत्रास्यमतोऽवयवरूपकम् ॥७२॥

उक्तमुदाहरणं विश्लेषयन्नाह—**मञ्जरीकृत्येति**। अत्रोदाहरणे अवयवभूतं घर्माम्भः स्वेदोदककणान् मञ्जरीकृत्य कुसुममञ्जरीत्वेन रूपयित्वा अधरं च पल्लवीकृत्य पल्लवत्वेन उपस्थाप्य अवयविभूतम् आस्यं नायिकामुखं नान्यथाकृतं न केनापि लतादिना रूपितम् इत्यतोऽत्रावयवमात्ररूपणाद् अवयवरूपकं नाम रूपकभेदः। अर्वाचां मतेनात्रैकदेशविवर्ति साङ्गरूपकम्।

यहाँ (उक्त उदाहरण में अवयवभूत) स्वेदकणों को कुसुममञ्जरी के रूप में एवं होंठों को कोंपलों के रूप में रूपित किया गया है, परन्तु (अवयवि-भूत) मुख को किसी अन्य (लता आदि) के रूप में प्रस्तुत (=रूपित) नहीं किया गया है; अतः यहां (अवयवों—स्वेदकण एवं होंठ—का ही रूपण होने के कारण) अवयवरूपक है।

---

१. -म्बु।

उत्तरवर्ती आचार्यों के अनुसार यहाँ एकदेशविवर्ती साङ्गरूपक है जिसे विश्वनाथ (साद० १०.३२) ने इस प्रकार परिभाषित किया है : **यस्य कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्ति तत्।** उपर्युक्त उदाहरण में नायिकामुख पर लता अथवा लतैकदेश का आरोप, शब्द द्वारा अभिहित न होने से, आर्थ है। अन्य आरोप यहाँ शाब्द हैं। अतः यहाँ एकदेशविवर्ती साङ्गरूपक है। भोज (सरस्व० ४, उदा० ३४) ने उक्त उदाहरण को अङ्गिप्रधान असमस्त रूपक के निदर्शन के रूप में उद्धृत किया है।

वल्गितभ्रु[1] गलद्घर्मजलमालोहितेक्षणम् ।
विवृणोति मदावस्थामिदं वदनपङ्कजम् ॥७३॥

षष्ठं भेदमवयविरूपकं निदर्शयति—**वल्गितेति**। इदं पुरो दृश्यमानं तव वल्गितभ्रु चलितभ्रूयुगं, गलद्घर्मजलं प्रस्रवत्स्वेदजलम् अथ च आलोहितेक्षणम् ईषद्रक्तनयनं वदनपङ्कजं मुखरूपं कमलं मदावस्थां मद्यपानजनितां मदविकृतां दशां भ्रूचापलस्वेदसंचारनेत्ररक्तत्वरूपां विवृणोति व्यञ्जयति।

चञ्चल भौंहों वाला, टपक रहे स्वेदकणों से युक्त और रतनार आंखों वाला तुम्हारा यह वदन-रूपी कमल (मदिरापान से उत्पन्न) मदपूर्ण अवस्था को प्रकट कर रहा है।

भौंहों की चञ्चलता, पसीने की बूँदों का प्रकट होना और आँखों में लाली का उदय मद्यपानजनित विकार के सूचक हैं। भोज (सरस्व० ४, उदा० ४३) ने इस पद्य को कुछ परिवर्तन के साथ उद्धृत किया है।

अविकृत्य[2] मुखाङ्गानि मुखमेवारविन्दताम् ।
आसीद् गमितमत्रेदमतोऽवयविरूपकम्[3] ॥७४॥

उक्तमुदाहरणं विशिनष्टि—**अविकृत्येति**। मुखाङ्गानि भ्रू-स्वेदविन्दु-नयनरूपाणि मुखावयवानि अविकृत्य अन्यथा अनुपस्थाप्य, कमलावयवभूतभ्रमरा-वश्यायकणदलत्वेन अरूपयित्वेति भावः, अवयविभूतं मुखमेव अरविन्दतां कमलत्वं गमितं प्रापितं कमलत्वेन रूपितम् आसीत्। अतोऽत्र केवलस्यावयविनः (मुखस्य) एव रूपणाद् अवयविरूपकम्। नवीनानां मतेनात्र निरङ्गरूपकम्।

यहां मुख के अवयवों (=भौंहों, स्वेदकणों और आंखों) को अविकृत रूप में ही रखकर (अर्थात् उनपर उपमान—कमल—के अङ्गों, क्रमशः भौंरों, ओसकणों और पंखुड़ियों का आरोप न करके) केवल (अवयवी) मुख को ही

---

१. वलितभ्रु। २. अविवृत्य। ३. -ऽवयव-।

कमल के रूप में रूपित किया गया है; अतः यहां अवयविरूपक है।

यहाँ अङ्गी अथवा अवयवी उपमेय (मुख) पर ही अङ्गी उपमान (कमल) का आरोप किया गया है; उपमेय के अङ्गों पर उपमान के अङ्गों का आरोप नहीं किया गया है। अतः यहाँ अवयविरूपक की स्थिति है। उत्तरवर्ती आचार्यों के अनुसार यहाँ निरङ्गरूपक है जिसे विश्वनाथ (साद० १०.३२-३) ने इस प्रकार परिभाषित किया है: **निरङ्गं केवलस्यैव रूपणं तदपि द्विधा॥ मालाकेवल-रूपत्वात्**···।

मदपाटलगण्डेन रक्तनेत्रोत्पलेन ते।
मुखेन मुग्धः[1] सोऽप्येष जनो रागमयः कृतः ॥७५॥

सप्तममेकाङ्गरूपकमुदाहरति—**मदपाटलेति**। मदेन मद्यपानजनितेन मदेन पाटलौ श्वेतरक्तौ गण्डौ कपोलौ यत्र तादृशेन अथ च रक्ते आलोहिते नेत्रे एव उत्पले कमले यत्र तादृशेन ते तव मुखेन मुग्धः त्वन्मुखसौन्दर्यमोहितः एष जनः, अहमित्यर्थः, रागमयः अनुरागपूर्णः, आलोहितश्च, कृतः विहितः।

मदपान करने के कारण हल्की लाली से युक्त कपोलों वाले और रतनार आंखों-रूपी कमलों से सुशोभित तुम्हारे वदन ने (तुम्हारे मुख-लावण्य से) मोहित इस जन को (=मुझे) भी अनुरागमय (=प्रेमपूर्ण अथवा रक्तवर्ण) बना दिया।

एकाङ्गरूपकं चैतदेवं द्विप्रभृतीन्यपि[2]।
अङ्गानि रूपयन्त्यत्र योगायोगौ भिदाकरौ ॥७६॥

उक्तमुदाहरणमुपसंहरन् अङ्गरूपकविशेषांश्च प्रस्तुवन्नाह—**एकाङ्गेति**। एतद् निदर्शितपूर्वम् एकाङ्गरूपकं नाम, एकस्मिन्नेवोपमेयेऽङ्गे (रक्तनेत्रद्वये) उपमानस्य अङ्गस्य (कमलयुगस्य) रूपणात्। एवमेव द्विप्रभृतीनि द्वित्र्यादीनि अपि अङ्गानि, न त्वङ्गिनमिति भावः, रूपयन्ति, कवय इति शेषः। अत्र अवयवरूपके योगायोगौ रूपणस्य युक्तत्वायुक्तत्वे, आरोप्यमाणानामुपमानानामङ्गानां परस्परं संगतिरसंगतिश्च, भिदाकरौ भेदकौ भवतः। एवं च युक्तरूपकमयुक्तरूपकं चेत्यपरौ रूपकभेदौ। वक्ष्यमाणोदाहरणाभ्यामनयो रूपमाविर्भविष्यति। वस्तुतस्तु एकाङ्गद्वयङ्गादिरूपकाणि युक्तायुक्ते च रूपके अवयवरूपकस्यैव विशेषाः।

उक्त उदाहरण में (उपमेयभूत एक अङ्ग—रक्तनेत्र—में ही उपमानभूत अङ्ग—उत्पल—का आरोप होने से) एकाङ्गरूपक है। इसी प्रकार (कवि-

---

१. मुग्धे। २. -तीनि च।

जन) दो, तीन आदि अङ्गों का भी आरोप करते हैं (जिसके फलस्वरूप द्व्यङ्ग-रूपक, त्र्यङ्गरूपक आदि बनते हैं)। यहाँ (इस अवयवरूपक में, आरोप्यमाण उपमानभूत अङ्गों की) परस्पर संगति और असंगति भी इसके भेदकतत्त्व हैं (जिनके परिणामस्वरूप क्रमशः युक्तरूपक और अयुक्तरूपक नामक रूपक-भेद बनते हैं)।

एकाङ्ग–, द्व्यङ्ग–, त्र्यङ्ग– आदि रूपकभेद वस्तुतः अवयव (=अङ्ग) रूपक के उपभेद हैं। इसी प्रकार युक्तरूपक और अयुक्तरूपक द्व्यङ्ग–, त्र्यङ्ग– आदि (अवयवरूपक) के उपभेद मात्र हैं। इनका स्वरूप आगे दिए गए उदाहरणों से स्पष्ट होगा।

स्मितपुष्पोज्ज्वलं लोलनेत्रभृङ्ग[1]मिदं मुखम्।
इति पुष्पद्विरेफाणां संगत्या युक्तरूपकम् ॥७७॥

अष्टमं भेदं युक्तरूपकमाह—**स्मितेति**। स्मितं लीलाहसितमेव पुष्पं तेन उज्ज्वलं सुभगम्, अथ च लोले चञ्चले नेत्रे एव भृङ्गौ भ्रमरौ यत्र तादृशमिदं तव मुखं, शोभते इति शेषः। इत्यत्रोदाहरणे स्मिते नेत्रयोश्चेति उपमेयभूतमुखाङ्गेषु क्रमश आरोप्यमाणानां पुष्पस्य भ्रमरयोश्चेति उपमानभूतलतैकदेशाङ्गानां संगत्या परस्परसंबन्धस्य योगेन औचित्याद् वा युक्तरूपकं नाम (द्व्यङ्ग)रूपकभेदः।

'मुस्कान-रूपी फूल से छविमान् एवं चञ्चल नेत्ररूपी भौंरों से युक्त यह तुम्हारा मुख (शोभा पा रहा है)।' यहां (उपमेयभूत मुख के अङ्गों—मुस्कान और आंखों—पर क्रमशः आरोपित किए जा रहे) फूल और भौंरों की परस्पर संगति (=संबन्ध-योग) होने से युक्तरूपक है।

यहाँ यह युक्तरूपक स्पष्टतः द्व्यङ्गरूपक का उपभेद है। दण्डी के श्लोकार्ध को भोज (**सरस्व० ४, उदा० ३५**) ने इस पंक्ति से पूरा किया है : **न कस्य नन्दनं सुभ्रु सुरभिश्वसितानिलम्** ॥ इस पंक्ति के साथ यह त्र्यङ्गरूपक का उदाहरण बन जाता है।

इदमार्द्रस्मितज्योत्स्नं स्निग्धनेत्रोत्पलं मुखम्।
इति ज्योत्स्नोत्पलायोगादयुक्तं नाम रूपकम् ॥७८॥

नवमं भेदमयुक्तरूपकमाह—**इदमिति**। आर्द्रं स्नेहार्द्रं स्मितमेव ज्योत्स्ना कौमुदी यत्र तत्तादृशम् अथ च स्निग्धे नेत्रे एव उत्पले कमले यत्र तादृशमिदं ते मुखं, शोभते इति शेषः; इत्यत्र स्मिते नेत्रयोश्च क्रमश आरोप्यमाणानां

---

१. भृङ्गनेत्रम्।

ज्योत्स्नायाः उत्पलयोश्च परस्परम् अयोगाद् अन्योन्यविरोधितयाऽसंगतेः अयुक्तं नाम (द्व्यङ्ग)रूपकभेदः ।

'स्नेहार्द्र मुस्कान-रूपी चांदनी से शोभित एवं स्निग्ध नयनों-रूपी कमल से युक्त यह (तुम्हारा) मुख (शोभा पा रहा) है ।' यहां (मुस्कान और आंखों पर क्रमशः आरोपित की जा रही) चांदनी और कमलों की परस्पर असंगति होने से अयुक्तरूपक है ।

यहाँ भी यह रूपकभेद द्व्यङ्गरूपक का उपभेद है । चाँदनी और कमल परस्पर विरोधी हैं । ऐसे संगति-रहित उपमान-अङ्गों का आरोप होने से यहाँ अयुक्तरूपक है । पद्य के पूर्वार्ध को भोज (सरस्व० ४, उदा० ३६) ने इस पंक्ति से पूरा किया है : **जगन्नेत्रेन्दुरस्माकं कथं तापाय कल्पते ॥**

रूपणादङ्गिनोऽङ्गानां रूपणारूपणाश्रयात् ।
रूपकं विषमं नाम ललितं जायते यथा ॥७९॥

दशमं विषमं नाम रूपकभेदं लक्षयति—**रूपणादिति** । अङ्गिनः प्रधानस्य उपमेयभूतस्य अवयविनः रूपणाद् अथ च अङ्गानां तदवयवानाम् अप्रधानानां रूपणारूपणयोः कस्यचिदङ्गस्य रूपणं कस्यचिच्चारूपणमिति तयोः आश्रयाद् आश्रयणाद् विषमं नाम ललितं सुन्दरं रूपकं जायते । यथेति वक्ष्यमाणोदाहरणोपक्रमार्थम् ।

अङ्गी (=प्रधान, उपमेय) का रूपण करने से और उसके अङ्गों (में से किसी) का रूपण करने और (किसी का) न करने से विषम नामक सुन्दर रूपक(-भेद) होता है ।

मदरक्तकपोलेन मन्मथस्त्वन्मुखेन्दुना ।
नर्तितभ्रूलतेनालं मर्दितुं भुवनत्रयम् ॥८०॥

उक्तं विषमरूपकमुदाहरति—**मदरक्तेति** । मदेन मद्योपयोगेन रक्तौ पाटलौ कपोलौ यस्य तेन, अथ च नर्तितभ्रूलतेन नर्तिते चालिते भ्रुवौ एव लते यत्र तादृशेन त्वन्मुखेन्दुना त्वदीयं मुखमेव इन्दुः चन्द्रः तेन (सहायभूतेन) मन्मथः कामदेवः भुवनत्रयं त्रिभुवनं मर्दितुं जेतुम् अलं समर्थः । अत्र अङ्गिनः मुखस्य इन्दुत्वेन रूपणम्, अङ्गेषु च भ्रुवोर्लतात्वेन रूपणं कपोलयोश्चारूपणमिति रूपण-वैषम्याद् विषमरूपकम् ।

मदपान से लाल कपोलों वाले एवं नाच रही भौंहों-रूपी लताओं से युक्त तुम्हारे वदन-रूपी चन्द्रमा (की सहायता) से कामदेव तीनों लोकों को मसल देने (=जीत लेने) में समर्थ है ।

यहाँ प्रधान उपमेय (=अङ्गी) मुख का (चन्द्रमा के रूप में) रूपण है, एवं उसके अङ्गों में से एक—भौंहों—का (लता के रूप में) रूपण है और एक—कपोलों—का रूपण नहीं है। इस रूपण-वैषम्य के कारण यहाँ **विषम रूपक** है। वस्तुतः यह रूपक अवयवि- और अवयव-रूपक का संकर है। यहाँ आरोपित इन्दु और लता की परस्पर संगति न होने से अयुक्तरूपक भी है। यह उदाहरण भोज (**सरस्व० ४, उदा० ४०**) द्वारा उद्धृत है।

हरिपादः शिरोलग्नजह्नुकन्याजलांशुकः ।
जयत्यसुरनिःशङ्कसुरानन्दोत्सवध्वजः ॥८१॥

एकादशं सविशेषणरूपकमुदाहरति—**हरिपाद** इति। शिरसि अग्रभागे, अङ्गुलिदेशे, लग्ना संसक्ता या जह्नुकन्या गङ्गा तस्याः जलं शुभ्रं वारि तद् एव अंशुकं पताका (वस्त्राञ्चलं) यस्य तादृशः, असुरेभ्यः हरिनिर्जितेभ्यो बलि-प्रमुखेभ्यो दानवेभ्यः निःशङ्काः गतभयाः ये सुराः तेषाम् आनन्दोत्सवस्य ध्वजः केतुः, केतुरूप इत्यर्थः, हरिपादः वामनस्य विष्णोर्विक्रममाणस्य ऊर्ध्वमुत्क्षिप्तः चरणः जयति।

(विष्णु द्वारा पराजित) असुरों से निःशङ्क हुए देवताओं के हर्षोत्सव के अवसर पर गाड़े गए ध्वजदण्ड रूप, (वामनावतार-धारी) विष्णु के (स्वर्ग-विक्रमण के दौरान ऊपर की ओर उठे हुए) चरण की जय हो, जिसके अग्रभाग में (शुभ्र) गङ्गाजल-रूपी पताका (=वस्त्राञ्चल) लगी हुई है।

विशेषणसमग्रस्य रूपं केतोर्यदीदृशम् ।
पादे तदर्पणादेतत्सविशेषणरूपकम् ॥८२॥

उक्तमुदाहरणं विश्लेषयति—**विशेषणेति**। विशेषणेन **शिरोलग्नेत्यादि-**विशेषणेन समग्रस्य युक्तस्य केतोः ध्वजस्य यद् ईदृशं सपताकं रूपं तस्य रूपस्य पादे विष्णोर्विक्रममाणस्य ऊर्ध्वमुच्छ्रिते चरणे अर्पणाद् आरोपाद् एतत् सवि-शेषणरूपकं तदाख्यो रूपकभेदः। उपमेयभूते विष्णुचरणेऽत्रोपमानभूतस्य उत्सव-ध्वजस्य **शिरोलग्नेत्यादिविशेषणसहितस्यारोप** इति सविशेषणं रूपकमिति भावः।

यहां (शिरोलग्न इत्यादि) विशेषण से युक्त ध्वज के ऐसे (पताका-सहित) रूप का (स्वर्ग-विक्रमण के दौरान ऊपर की ओर उत्क्षिप्त) विष्णु-चरण पर आरोप किया गया है; अतः यहां सविशेषणरूपक है।

यह रूपक-भेद दण्डी के अपने सकलरूपक (२.६६-७०) से तुलनीय है एवं उसमें अन्तर्भुक्त हो सकता है। उक्त उदाहरण भोज (**सरस्व० ४, उदा० २८**) द्वारा उद्धृत है।

न मीलयति[1] पद्मानि न नभोऽप्यवगाहते ।
त्वन्मुखेन्दुर्ममासूनां हरणाय व्यवस्यति[2] ॥८३॥

द्वादशं भेदं विरुद्धरूपकं निदर्शयति—नेति । त्वन्मुखेन्दुः तव वदनचन्द्रः पद्मानि कमलानि न मीलयति न संकोचयति, न चापि स नभः आकाशम् अवगाहते आक्रामति । स तु केवलं मम असूनां प्राणानां हरणाय एव व्यवस्यति चेष्टते । पद्मनिमीलन-नभोवगाहनात्मकम् आत्मकर्तव्यमकुर्वन्नकर्तव्यं मत्प्राणहरणं सोऽध्यवस्यतीत्यर्थः । मानिनीं प्रति तद्विरहातुरस्य प्रियस्योपालम्भोक्तिरियम् ।

तुम्हारा यह वदन-रूपी चन्द्रमा न तो कमलों को संकुचित करता है और न ही आकाश में विचरण करता है। यह तो केवल मेरे प्राण लेने पर ही तुला हुआ है ।

अक्रिया चन्द्रकार्याणामन्यकार्यस्य च क्रिया ।
अत्र संदर्श्यते[3] यस्माद्विरुद्धं नाम रूपकम् ॥८४॥

उदाहरणं विशिनष्टि—**अक्रियेति** । अत्रोदाहरणे चन्द्राभिन्नतया रूपितेन मुखेन चन्द्रकार्याणां चन्द्रकर्तव्यत्वेन प्रसिद्धानां पद्मनिमीलनगगनसंचरणादीनां कर्मणाम् अक्रिया, अन्यकार्यस्य च तद्भिन्नेन च केनाप्यन्येन यमादिना संपाद्यस्य प्राणहरणादिरूपस्य कर्मणः क्रिया तद्द्वाराऽनुष्ठानं यस्मात् संदर्श्यते वर्ण्यते तस्माद्धेतोरत्र विरुद्धं नाम रूपकं रूपकभेदः । उपमानभूतचन्द्राभिन्नत्वेन रूपितस्य उपमेयभूतमुखस्य चन्द्रकार्यकारित्वमेवोचितं, तदन्यकार्यकारित्वं च विरुद्धमिति विरुद्धाख्यमत्र रूपकम् । वस्तुतस्तु अत्र विरोधो न रूपकमुपकरोति न वा तेन संबध्यते ।

यहां (चन्द्रमा से अभिन्न रूप में रूपित मुख द्वारा) चन्द्रमा के कार्यों (जैसे, कमल को बन्द करना, आकाश में विचरना आदि) के न करने का एवं किसी अन्य (जैसे, यमराज आदि) द्वारा संपाद्य (प्राणहरण-रूप) कर्म के करने का वर्णन किया गया है; अतः यहां (मुख-रूपी चन्द्र द्वारा चन्द्र-विरुद्ध कर्म किए जाने का वर्णन होने से) विरुद्धरूपक है ।

वस्तुतः यहाँ विरोध (जो वास्तव में वैषम्य है) का रूपक से कोई संबन्ध नहीं, और न ही रूपक यहाँ विरोध से किसी प्रकार उपकृत होता है । यहाँ रूपक और विशेषोक्ति (२.३२३) की संसृष्टि मानना अथवा, जैसा कि भोज **(सरस्व०**

---

१. निमीलयति । २. हरणायैव कल्पते, -यास्यति, पश्यति । ३. संदृश्यते, संदिश्यते ।

३, उदा० ४१) ने निर्दिष्ट किया है, अयुक्तकार्य चित्रहेतु (काव्यादर्श २.२५३, २५८) की स्थिति स्वीकार करना अधिक उपयुक्त है।

गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि गौरवेणासि पर्वतः।
कामदत्वाच्च लोकानामसि त्वं कल्पपादपः॥८५॥

त्रयोदशं भेदं हेतुरूपकमुदाहरति—**गाम्भीर्येणेति**। हे राजन्, गाम्भीर्येण दुरवगाहतया हेतुना त्वं समुद्रः असि, गौरवेण गरिम्णा सारवत्त्वेन वा त्वं पर्वतः असि, अथ च लोकानां प्रजानां कामदत्वाद् इष्टप्रदत्वात् त्वं कल्पपादपः वाञ्छितफलदायित्वेन प्रसिद्धः स्वर्गद्रुमविशेषः असि। गाम्भीर्यगरिमौदार्यवतः कस्यापि राज्ञः स्तुतिरियम्।

(हे राजन्,) तुम अपनी गम्भीरता के कारण समुद्र हो और गरिमा के कारण पर्वत हो। प्रजाओं की कामना पूरी करने के कारण तुम (उनके लिए) कल्पवृक्ष (=अभीष्टफलप्रद रूप में प्रसिद्ध स्वर्गस्थ वृक्षविशेष) हो।

गाम्भीर्यप्रमुखैरत्र हेतुभिः सागरो गिरिः।
कल्पद्रुमश्च क्रियते तदिदं हेतुरूपकम्॥८६॥

उक्तमुदाहरणं विवृणोति—**गाम्भीर्येति**। अत्र अनन्तरोक्तपद्ये गाम्भीर्यप्रमुखैः गाम्भीर्यगौरवकामप्रदत्वैर्हेतुभिः उपमेयभूतो राजा क्रमशः सागरः पर्वतः कल्पद्रुमश्च क्रियते सागराद्यभिन्नत्वेन रूप्यते। तत् तस्माद् इदं हेतुरूपकं नाम रूपकभेदः। अर्वाचां मतेनात्र उल्लेखालंकारः, स च रूपकयोगविशिष्टः।

उक्त उदाहरण में गम्भीरता आदि हेतुओं (के निर्देश) से (किसी प्रस्तुत राजा को क्रमशः) समुद्र, पर्वत और कल्पवृक्ष (के रूप में रूपित) किया गया है। अतः यहां हेतुरूपक है।

यहाँ हेतुनिर्देश वास्तव में रूपक का उपकारक नहीं है। वैसे भी यहाँ आरोप की अपेक्षा औपम्य का भाव अधिक स्पष्ट है। विश्वनाथ (**साद० १०. ३७ वृत्ति**) ने यहाँ विषयभेद से प्रयोजित उल्लेख अलंकार माना है तथा इसमें रूपक का योग भी स्वीकार किया है।

राजहंसोपभोगार्ह[1] भ्रमरप्रार्थ्यसौरभम्।
सखि वक्त्राम्बुजमिदं तवेति[2] श्लिष्टरूपकम्॥८७॥

चतुर्दशं भेदं श्लिष्टरूपकमाह—**राजहंसेति**। हे सखि, इदं तव वक्त्रा-

---

१. -भोगार्थं। २. तदेतद्।

म्बुजं मुखकमलं राजहंसैः (मुखपक्षे) नृपवरैः (कमलपक्षे च) राजहंसाख्यहंस-जातिकपक्षिविशेषैः उपभोगं (मुखपक्षे) चुम्बनं (कमलपक्षे च) भक्षणम् अर्ह-तीति तादृशम् अथ च भ्रमरैः (मुखपक्षे) कामुकैः (कमलपक्षे च) मधुकरैः प्रार्थ्यं स्पृहणीयं सौरभं यस्य तत्तादृशम् अस्ति। इत्यत्र राजहंसोपभोगार्हत्वादेः सामान्य-धर्मस्य श्लेषमूलत्वाद् शिलष्टरूपकम्।

'हे सखी, तुम्हारा यह मुख-रूपी कमल राजहंसों (मुख के पक्ष में : =**श्रेष्ठ राजाओं**; कमल के पक्ष में : = **राजहंस नामक हंसविशेषों**) **के उपभोग** (१=**चुम्बन**; २=**भक्षण**) **के योग्य तथा भ्रमरों** (१=**कामुकजनों**; २=**भौंरों**) **द्वारा स्पृहणीय, परंतु अप्राप्य, सौरभ से संपन्न है।' यहां** (राजहंसोपभोगार्हत्व **आदि साधारणधर्मों के श्लेषमूलक होने से**) शिलष्टरूपक है।

तु० **अलंकारशेखर**, पृ० ३३ भी (**उत्तरार्ध : पुष्णाति सुषमां कांचिन्मुख-पङ्केरुहं तव**)। वास्तव में यहाँ रूपक और श्लेष अलंकारों का संकर है।

इष्टं साधर्म्यवैधर्म्यदर्शनाद्गौणमुख्ययोः।
उपमाव्यतिरेकाख्यं रूपकद्वितयं यथा ॥८८॥

पञ्चदशमुपमारूपकं षोडशं च व्यतिरेकरूपकं नाम भेदावाह—**इष्टमिति**। गौणमुख्ययोः अप्रधानप्रधानयोः अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्वा साधर्म्यवैधर्म्ययोः सादृश्य-स्यासादृश्यस्य च दर्शनात् क्रमशः उपमाख्यं व्यतिरेकाख्यं च रूपकद्वितयं रूपक-भेदद्वयम् इष्टम्। अप्रस्तुतप्रस्तुतयोः, अर्थाद् आरोप्यमाणस्य अप्रस्तुतस्य (चन्द्रादेः) आरोपविषयस्य च प्रस्तुतस्य (मुखादेः), परस्परं सादृश्यकथनम् उप-मारूपकं तयोश्च असादृश्यकथनं व्यतिरेकरूपकमिति रूपकभेदद्वयं भवतीत्यर्थः। यथेति वक्ष्यमाणोदाहरणोपक्रमार्थम्।

(**आरोप्यमाण**) **अप्रस्तुत और** (**आरोपविषय**) **प्रस्तुत का परस्पर सादृश्यकथन** उपमारूपक **तथा इन दोनों का परस्पर असादृश्यकथन** व्यतिरेक-रूपक **के रूप में अभीष्ट है; ये रूपक के दो अन्य भेद हैं।**

इनमें उपमारूपक भामह (३.३५) और वामन (४.३.३२) में स्वतन्त्र अलंकार के रूप में आया है (तु० दण्डी २.३५८ भी)। व्यतिरेकरूपक वास्तव में व्यतिरेक अलंकार (तु० २.१८०, साद० १०.५२) ही है जो रूपक से उपकृत अथवा संसृष्ट है।

अयमालोहितच्छायो मदेन मुखचन्द्रमाः।
संनद्धोदयरागस्य चन्द्रस्य[1] प्रतिगर्जति ॥८९॥

१. मुखस्य।

पूर्वोक्तरूपकद्वितये प्रथमम् उपमारूपकमुदाहरति—**अयमिति** । मदेन मद्यपानजनितेनोन्मादेन आलोहितच्छायः आरक्तकान्तिः अयं तव मुखचन्द्रमाः मुखमेव चन्द्रमाः संनद्धोदयरागस्य संनद्धः अवस्थितः उदयरागः उदयकालिकलौहित्यं यस्य तादृशस्य चन्द्रस्य (संबन्धविवक्षायां षष्ठी) प्रतिगर्जति चन्द्रं स्पर्धते, तेन सादृश्यं तनुते इत्यर्थः । अत्रारोप्यमाणस्य गौणस्य (चन्द्रमसः) तदभिन्नतया रूपितस्य च मुख्यस्य (मुखस्य) परस्परम् औपम्यसूचकप्रतिगर्जनरूपसाधर्म्यकथनादुपमारूपकम् ।

(मद्यपानजनित) मद के कारण हल्की लालिमा से युक्त यह (तुम्हारा) मुख-रूपी चन्द्रमा उदयकालीन लाली धारण किए हुए चन्द्रमा से होड़ कर रहा है (=चन्द्रमा के समान लग रहा है)।

यहाँ आरोप्यमाण अप्रस्तुत (=गौण) चन्द्रमा और आरोपविषय प्रस्तुत (=मुख्य) मुख का परस्पर सादृश्यकथन होने से उपमारूपक है। यह सादृश्यकथन यहाँ औपम्यसूचक क्रियापद **प्रतिगर्जति** (तु० २.६१) द्वारा हुआ है।

चन्द्रमाः पीयते देवैर्मया त्वन्मुखचन्द्रमाः ।
असमग्रो ह्यसौ[1] शश्वदयमापूर्णमण्डलः ॥६०॥

व्यतिरेकरूपकं निदर्शयति—**चन्द्रमा इति** । देवैः सुरैः चन्द्रमाः पीयते, मया च त्वन्मुखचन्द्रमाः त्वद्वदनचन्द्रः पीयते निषेव्यते । असौ हि स चन्द्रस्तु सुरैः पीयमानः असमग्रः असकलो जायते, क्रमेणापचीयते इति भावः । परंतु अयं तव वदनेन्दुः शश्वद् नित्यमेव आपूर्णमण्डलः अखण्डमण्डलः संपूर्णप्रकाशो वा राजते । अत्रारोप्यमाणस्य अप्रस्तुतस्य चन्द्रमसः आरोपविषयस्य च प्रस्तुतस्य मुखस्य परस्परं वैधर्म्यदर्शनाद् व्यतिरेकरूपकम् । वस्तुतस्त्वत्र रूपकोपकृतो व्यतिरेक एव ।

देवता लोग चन्द्रमा का पान करते हैं (और) मैं तुम्हारे मुख-रूपी चन्द्रमा का। वह चन्द्रमा तो (देवों द्वारा पिया जाता हुआ) अपूर्ण (=अधूरे) मण्डल वाला हो जाता है, (परंतु) यह (तुम्हारा मुखचन्द्र) नित्य परिपूर्ण मण्डल से युक्त (=सकल और उज्ज्वल) रहता है।

यहाँ आरोप्यमाण अप्रस्तुत चन्द्रमा और आरोपविषय प्रस्तुत मुख का परस्पर वैधर्म्यकथन होने से व्यतिरेकरूपक है। यहाँ उक्त वैधर्म्य चन्द्रमा के असमग्र हो जाने और मुख के नित्य समग्र (=परिपूर्णमण्डल) रहने का कथन करके प्रदर्शित किया गया है। वस्तुतः यह रूपक से उपकृत व्यतिरेक अलंकार

---

१. –ऽप्यसौ ।

का उदाहरण है (द्र० २.१८०, १८३, १८४)।

मुखचन्द्रस्य चन्द्रत्वमित्थमन्योपतापिनः ।
न ते सुन्दरि संवादीत्येतदाक्षेपरूपकम् ॥९१॥

सप्तदशं भेदमाक्षेपरूपकमाह—**मुखचन्द्रस्येति**। हे सुन्दरि, इत्थम् एवं मयाप्यनुभूयमानेन प्रकारेण अन्योपतापिनः त्वद्विरहकातरं जनं मादृशमुपतापयतीति तच्छीलस्य ते तव मुखचन्द्रस्य चन्द्रत्वं न संवादि नानुगुणम्, एकान्तशीतत्वेन सर्वाह्लादकत्वेन च चन्द्रमसः प्रसिद्धेः त्वन्मुखेन्दोश्च तद्विपरीतधर्मत्वाद् इति भावः। अत्र प्रथमं मुखे चन्द्रमस आरोपः, ततश्च तस्य मुखेन्दोश्चन्द्रत्वप्रतिषेधोक्तिरूप आक्षेप इति रूपकस्याक्षेपानुगतत्वाद् आक्षेपरूपकम्।

'हे सुन्दरी, दूसरे को (=मुझे) इस प्रकार संतप्त करने वाले तुम्हारे इस मुख-रूपी चन्द्र का चन्द्रत्व अनुगुण (=यथार्थ अथवा उचित) नहीं है।' यहां (पहले मुख पर चन्द्रमा का आरोप और फिर उसके चन्द्रत्व का आक्षेप अथवा प्रतिषेध होने के कारण) आक्षेपरूपक है।

वास्तव में यहाँ रूपक से उपकृत आक्षेप अलंकार (द्र० २.१२०) है।

मुखेन्दुरपि ते चण्डि मां निर्दहति निर्दयम् ।
भाग्यदोषान्ममैवेति तत्समाधानरूपकम् ॥९२॥

अष्टादशं भेदं समाधानरूपकं निरूपयति—**मुखेन्दुरिति**। हे चण्डि अत्यन्तकोपने, ते तव मुखेन्दुः मुखमेव चन्द्रमाः अपि मां निर्दयं निष्ठुरं निर्दहति संतापयति। चन्द्रमस एकान्तप्रीतिकरत्वान्न त्वन्मुखेन्दोस्तापकरत्वं युज्यते इति भावः। तत्कथमेतदिति तत्र समाधानमाह—ममैव भाग्यदोषाद् इति। अत्र चन्द्रत्वेन रूपितस्य मुखस्य चन्द्रधर्माननुगुणत्वकथनं ततश्च तत्समाधानोपन्यास इति समाधानरूपकम्। परमार्थतस्त्वत्र रूपकोपकृतः (ससमाधानः) विषमोऽलंकारः।

'हे मानिनी, तुम्हारा मुख-रूपी यह चन्द्रमा (चन्द्रमा होते हुए) भी मुझे निर्दयतापूर्वक तपा रहा है। (परन्तु) यह मेरे अपने भाग्यदोष के कारण है।' यहां समाधानरूपक है।

यहाँ चन्द्रमा के रूप में रूपित मुख की चन्द्रमा के स्वभाव से विपरीतता दिखाई गई है और तदनन्तर भाग्यदोष रूप कारण के कथन द्वारा उसका समाधान प्रस्तुत किया गया है। अतः यहाँ समाधानरूपक है। वास्तव में यहाँ रूपक से उपकृत (समाधानान्त) विषम अलंकार (द्र० साद० १०.६९) की स्थिति माननी चाहिए।

मुखपङ्कजरङ्गेऽस्मिन् भ्रूलतानर्तकी[1] तव ।
लीलानृत्यं[2] करोतीति रम्यं रूपकरूपकम् ॥९३॥

नवदशं भेदं रूपकरूपकमाह—**मुखेति** । अस्मिन् पुरो दृश्यमाने तव मुखपङ्कजरङ्गे मुखमेव पङ्कजं कमलं तदेव रङ्गः रङ्गमञ्चः तत्र भ्रूलतानर्तकी तव भ्रूः एव लता सा एव नर्तकी लीलानृत्यं लीलाप्रधानं शृङ्गारमयं नर्तनं करोति । अत्र रूपितस्य पुनरपि रूपणाद्रम्यं हृद्यं रूपकरूपकं तदाख्यो रूपकभेदः । मुखमत्र प्रथमं पङ्कजत्वेन रूपितं ततश्च तद् मुखपङ्कजं रङ्गत्वेन रूपितम् । एवमेव भ्रूः प्रथमं लतात्वेन ततश्च सा भ्रूलता नर्तकीत्वेन रूपिता । इत्थं पुनारूपणं रूपकरूपकम् ।

'तुम्हारे मुखकमल-रूपी इस रङ्गमञ्च पर तुम्हारी भ्रूलता-रूपी यह नर्तकी शृङ्गारपूर्ण नृत्य कर रही है ।' यह मनोहारी रूपकरूपक **(का उदाहरण) है ।**

यहाँ पहले मुख पर कमल का और फिर मुखकमल पर रङ्गमञ्च का आरोप एवं पहले भौंहों पर लता का और फिर भ्रूलता पर नर्तकी का आरोप है । इस प्रकार आरोपव्यापार के दो बार होने के कारण यहाँ रूपकरूपक है । भोज (सरस्व० ४, उदा० ३२) ने इस पद्य के उत्तरार्ध को इस प्रकार परिवर्तित करके उपन्यस्त किया है : **लीलानाट्यामृतं दृष्टौ सखि यूनां निषिञ्चति ॥** अलंकारशेखर (पृ० ३३) में उत्तरार्ध इस प्रकार है : **नरीनर्ति लसत्स्वर्णकेतकीदललोचने ॥**

नैतन्मुखमिदं पद्मं न नेत्रे भ्रमराविमौ[3] ।
एतानि केसराण्येव नैता दन्तार्चिषस्तव ॥९४॥

अन्तिमं विंशं भेदं तत्त्वापह्नवरूपकमुदाहरति—**नैतदिति** । एतत् पुरो दृश्यमानं वस्तु तव मुखं न, इदं तु पद्मम्; नेमे तव नेत्रे, इमौ तु भ्रमरौ; एतानि च केसराणि किञ्जल्काः एव, एताः तव दन्तार्चिषः दन्तानां कान्तयः नैव सन्ति ।

यह तुम्हारा वदन नहीं, यह तो कमल है; ये तुम्हारी आँखें नहीं, अपितु दो भौंरे हैं; और ये तो फूलों के पराग ही हैं, तुम्हारे दांतों की किरणें नहीं ।

मुखादित्वं निवर्त्यैव पद्मादित्वेन रूपणात् ।
उद्भावितगुणोत्कर्षं तत्त्वापह्नवरूपकम् ॥९५॥

---

१. भ्रूलता नर्तकी । २, -नृत्तं । ३. भ्रमराविमे ।

उक्तमुदाहरणं विशदयति—मुखादित्वमिति । अत्र प्रस्तुतं तत्त्वभूतं मुखादित्वं मुखत्वं नेत्रत्वं दन्तद्युतित्वं च निवर्त्य निराकृत्य एव, प्रतिषिध्यैवेत्यर्थः, तेषां मुखादीनां पद्मादित्वेन क्रमशः पद्मत्वभ्रमरत्वकेसरत्वैः रूपणाद् एतद् उद्भावितगुणोत्कर्षम् उद्भावितं व्यञ्जितं गुणानाम् उपमेयगतानां धर्माणाम् उत्कर्षः वैचित्र्यातिशयः यत्र तत्तादृशं तत्त्वापह्नवरूपकं नाम रूपकभेदः । मुखादित्वस्य तत्त्वस्यापह्नवः तत्पूर्वकश्च आरोपोऽत्र विहित इत्यस्य समाख्याहेतुः ।

(प्रस्तुत, तत्त्वभूत) मुखत्व आदि का निराकरण (=प्रतिषेध, अपह्नव) करके (उस मुख आदि का) पद्म आदि के रूप में रूपण किए जाने से यहां तत्त्वापह्नवरूपक है जो (प्रस्तुत—मुख आदि—के) गुणों की उत्कृष्टता व्यञ्जित करता है ।

यह रूपकभेद वास्तव में अपह्नुति (२.३०४; तु० साद० १०.३८) से अभिन्न है । विश्वनाथ (वही, वृत्ति) आदि के अनुसार, यहाँ अपह्नुति का वह रूप है जिसमें अपह्नवपूर्वक आरोप होता है । अन्य आचार्य इसे ही शुद्धापह्नुति कहते हैं (तु० चन्द्रा० ५.२३) । यहाँ रूपक की स्थिति, इन उत्तरवर्ती आचार्यों के अनुसार, संभव नहीं, क्योंकि रूपक इनकी दृष्टि में निरपह्नव होता है; तु० काप्र० १०.९३ वृत्ति; अलंसर्व० १५; साद० १०.२८ ।

न पर्यन्तो विकल्पानां रूपकोपमयोरतः[1] ।
दिङ्मात्रं दर्शितं धीरैरनुक्तमनुमीयताम् ॥९६॥

रूपकमुपसंहरन्नाह—न पर्यन्त इति । रूपकोपमयोः रूपकस्य उपमायाश्च विकल्पानां प्रकाराणां पर्यन्तः अन्तः सीमा वा नास्ति । अतः सामग्र्येण तद्भेदानां निरूपणमशक्यमिति दिङ्मात्रं दिङ्निर्देशाय किंचिन्मात्रं दर्शितमत्र प्रदर्शितम्; अतश्चात्र अनुक्तम् अकथितं धीरैः धीमद्भिः, आचार्यैः कविभिश्च, अनुमीयतां स्वयम् ऊह्यताम्, इहानुक्ता अपि प्रकारास्तैरुक्तदिशा विज्ञायन्ताम् ।

रूपक और उपमा अलंकारों के विकल्पों (=भेदों) का अन्त नहीं है । इसलिए (यहाँ) उनका दिग्दर्शन मात्र ही कराया गया है । बुद्धिमान् (आचार्य और कवि) यहां अनिर्दिष्ट प्रकारों का भी (उक्त दिशा से) अनुमान कर लें ।

यह पद्य हेमचन्द्र (काअनु०, पृ० ३०२) द्वारा उद्धृत किया गया है ।

जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिनैकत्रवर्तिना ।
सर्ववाक्योपचार[2]श्चेत्तदाहु[3]र्दीपकं यथा ॥९७॥

---

१. रूपकोपमयोरपि । २. -वाक्योपकारश् । ३. तमाहुर् ।

अथ क्रमागतं चतुर्थमलंकारं दीपकमाह—**जातीति**। एकत्रवर्तिना एकत्र वाक्ये यस्मिन् कस्मिंश्चिदंशेऽवस्थितेन जातिक्रियागुणद्रव्यवाचिना जात्यादिषु अन्यतमस्य वाचकेन पदेन चेद् यदि सर्ववाक्योपचारः सकलस्यापि वाक्यस्य वाक्यजातस्य वा अन्वयोपपत्तिः स्यात्, साध्यसाधनभावेन तदपेक्षालक्षण उपकारो भवेदित्यर्थः, तदा एवंरूपमुपचारं दीपकं, सर्वं वाक्यं वाक्यजातं वा देहलीदीपकन्यायेन दीपयतीत्यन्वयेन दीपकाख्यमलंकारम्, आहुः तद्विद इति शेषः। यथेति उदाहरणोपक्रमार्थम्। अर्वाचीनैरलंकारोऽयमन्यथा लक्षितो व्याख्यातश्च। तथाहि तेषां मतेन प्रस्तुताप्रस्तुतयोरेकधर्माभिसंबन्धो दीपकम्। मतान्तरे क्रियानैक्ये कारकैक्यमपि तल्लक्षणम्।

(वाक्य में) एकत्र अवस्थित जाति, क्रिया, गुण अथवा द्रव्य के वाचक किसी एक पद से यदि समस्त वाक्य या वाक्यसमूह अन्वित (संबन्धित अथवा उपकृत) हो तो वहां दीपक होता है।

जाति आदि के आधार पर इसके चार भेदों एवं अन्यान्य भेदों की चर्चा उदाहरणों के रूप में आगे की गई है। इस अलंकार की परिभाषा उत्तरवर्ती युग में कुछ परिवर्तित और परिष्कृत रूप में इस प्रकार आई : **अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते (साद० १०.४८)**, अर्थात् अप्रस्तुत और प्रस्तुत के एक धर्म के संबन्ध को दीपक कहते हैं। इसका अन्य एक प्रकार कारकदीपक के रूप में आया (द्र० **साद० १०.४९ : अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत्।**; तु० **काप्र० १०.१०३**)। भोज (**सरस्व० ४.७७**) एवं विश्वेश्वर (**चम०, पृ० २३७**) ने दीपक की दण्डि-प्रदत्त परिभाषा को ग्रहण किया है।

पवनो दक्षिणः पर्णं जीर्णं हरति वीरुधाम्।
स एवावनताङ्गीनां[1] मानभङ्गाय कल्पते[2] ॥९८॥

जात्यादिगतेषु भेदेषु प्रथमं जातिगतमादिदीपकमुदाहरति—**पवन** इति। दक्षिणः पवनः मलयानिलः वीरुधां लतानां जीर्णं शीर्णं पर्णं पत्रजातं हरति। स एव च अवनताङ्गीनां नतगात्रीणां मानिनीनां मानभङ्गाय मानविगमाय कल्पते प्रभवति, कामोद्दीपकत्वाद् इति भावः। अत्रैकत्र वाक्यस्यादौ वर्तमानेन जातिवाचिना **पवन**पदेन वाक्यद्वयोपचारः भवतीति जातिगतमादिदीपकम्।

दक्षिण का यह पवन (=मलयानिल) लताओं के सूखे पत्तों को हर लेता है; (और, कामोद्दीपक होने से) वही पवन (मानिनी) स्त्रियों के मानभङ्ग का कारण भी बन जाता है।

---

१. एव नतगात्रीणां, नवाय च नता-। २. जायते।

यहाँ एकत्र, आदि में, अवस्थित जाति-वाचक **पवन** शब्द का दोनों वाक्यों में अन्वय (=संबन्ध) होने से **जातिगत आदिदीपक** है। उत्तरवर्ती आचार्यों के अनुसार यहाँ कारकदीपक की स्थिति है। भोज (क्रमशः **सरस्व०** ४, उदा० १६६ और **शृङ्गार०** १०, पृ० ४२२) द्वारा यह दोनों के उदाहरण के रूप में उद्धृत है।

चरन्ति चतुरम्भोधिवेलोद्यानेषु दन्तिनः ।
चक्रवालाद्रिकुञ्जेषु कुन्दभासो गुणाश्च ते ॥६६॥

क्रियागतमादिदीपकं निदर्शयति—**चरन्तीति** । चतुरम्भोधिवेलोद्यानेषु चतुःसमुद्रतटवर्तिषूपवनेषु ते तव दन्तिनः जयकुञ्जराः चरन्ति, अथ च चक्रवालाद्रिकुञ्जेषु लोकालोकपर्वतनिकुञ्जेषु, सिद्धाध्यासितेषु धरान्तप्रदेशेष्वित्यर्थः, तव कुन्दभासः कुन्दपुष्पोज्ज्वलाः गुणाः शौर्यत्यागादयः चरन्ति प्रथन्ते। शक्तिस्ते सर्वाभिभाविनी यशश्च ते विश्वव्यापि इति राज्ञः कस्यचित्प्रशस्तिरियम्। अत्रैकत्र वाक्यारम्भभागेऽवस्थितं **चरन्तीति** क्रियापदं वाक्यद्वयमन्वेतीति क्रियागतमादिदीपकम्।

(हे राजन्,) चारों समुद्रों के तटप्रदेश पर स्थित उद्यानों में (तुम्हारे विजयी) हाथी विचरते हैं और (धरा के सुदूर सीमान्त प्रदेश में स्थित) लोकालोक पर्वत के निकुञ्जों में कुन्द फूलों के समान शुभ्रवर्ण तुम्हारे गुण (विचरते हैं)।

लोकालोक धरती के छोर पर स्थित वह पौराणिक पर्वत है जिसके एक ओर प्रकाश है और दूसरी ओर अन्धकार। प्रस्तुत उदाहरण में एकत्र, आदि में, अवस्थित क्रियावाची **चरन्ति** पद की दोनों वाक्यों में अन्विति (=संबन्ध) होने से **क्रियागत आदिदीपक** है (तु० सरस्व० ४, उदा० १६५)।

श्यामलाः प्रावृषेण्याभिर्दिशो जीमूतपङ्क्तिभिः ।
भुवश्च सुकुमाराभिर्नवशाद्वलराजिभिः ॥१००॥

गुणगतमादिदीपकमुदाहरति—**श्यामला** इति। दिशः दिग्भागाः प्रावृषेण्याभिः वर्षाकालोदिताभिः जीमूतपङ्क्तिभिः मेघमालाभिः श्यामलाः श्यामलवर्णाः सन्ति, भुवः भूभागाश्च सुकुमाराभिः कोमलाभिः नवशाद्वलराजिभिः प्रत्यग्राभिः शष्पपङ्क्तिभिः श्यामलाः सन्ति। अत्र वाक्यस्यादावुपात्तं **श्यामलाः** इति गुणवाचि पदं वाक्यद्वयमुपचरतीति गुणगतमादिदीपकम्।

दिशाएं वर्षाकालीन मेघमालाओं से श्यामल हैं और भूप्रदेश सुकुमार नई (=हरी) तृणपंक्ति से (श्यामल हैं)।

यहाँ एकत्र, आदि में, अवस्थित गुणवाची **श्यामल** पद का दोनों वाक्यों में अन्वयन होने से **गुणगत आदिदीपक** है (तु० सरस्व० ४, उदा० १६७)।

विष्णुना विक्रमस्थेन दानवानां विभूतयः ।
क्वापि नीताः कुतोऽप्यासन्नानीता देवतर्द्धयः[1] ॥१०१॥

द्रव्यगतमादिदीपकं निदर्शयति—**विष्णुनेति**। विक्रमस्थेन बलिनिग्रहार्थे विक्रममाणेन विष्णुना वामनावतारेण हरिणा दानवानां बलिप्रमुखाणामसुराणां विभूतयः संपदः क्वापि कुत्रापि नीताः अपहृताः, अथ च तेनैव विष्णुना देवतानाम् इन्द्रप्रमुखाणां देवानाम् ऋद्धयः श्रियः कुतोऽपि आनीताः समुपाहृताः आसन्। विक्रमं प्रकटयता विष्णुना दानवश्रीर्विनाशिता देवश्रीश्च प्रतिष्ठापितेति भावः। अत्र व्यक्तिविशेषरूपद्रव्यवाचिनो वाक्यारम्भे स्थितस्य **विष्णुनेतिपदस्य** वाक्यद्वयेऽप्यन्वयोपपत्तिरिति द्रव्यगतमादिदीपकम्।

विक्रमण-कर्म में उद्यत (वामनावतार-धारी) विष्णु ने (बलि आदि) दानवों की संपदा को कहीं (अन्यत्र) पहुँचा दिया और देवों की लक्ष्मी को कहीं से लाकर प्रतिष्ठापित कर दिया।

यहाँ एकत्र, वाक्य के आरम्भ में, अवस्थित व्यक्तिविशेषरूप द्रव्य के वाचक **विष्णुना** पद की दोनों वाक्यों में अन्विति होने से **द्रव्यगत आदिदीपक है** (तु० सरस्व० ४, उदा० १९८)।

इत्यादिदीपकान्युक्तान्येवं मध्यान्तयोरपि ।
वाक्ययोर्दर्शयिष्यामः कानिचित्तानि तद्यथा ॥१०२॥

आदिदीपकमुपसंहरन् मध्यान्तदीपकं चोपक्रममाण आह—**इत्यादीति**। इत्येभिरुदाहरणैः आदिदीपकानि उक्तानि। एवमेव वाक्ययोर्वाक्यानां वा मध्ये चान्ते चापि कानिचित् तानि दीपकानि (मध्यदीपकान्तदीपकाख्यानि) दर्शयिष्यामः उदाहरिष्यामः। तद्यथेत्युदाहरणोपक्रमार्थम्। प्रथमवाक्यस्यादौ जात्यादिवाचिपदानाम् उपादानेऽपरत्र वाक्यजाते च तेषामन्वितौ यथाऽऽदिदीपकं पूर्वोदाहृतं जायते, तथा वाक्ययोर्वाक्यानां वा मध्ये तेषां पदानामुपादाने पूर्वत्रापरत्र चान्वयोपपत्तौ मध्यदीपकम्। एवमेव अन्तिमवाक्यान्तभागे तेषां ग्रहणे पूर्वत्र वाक्यजाते चान्वितौ अन्तदीपकं भवति। उदाहरणैश्चानयोर्मध्यान्तदीपकयो रूपमाविर्भविष्यति।

इस प्रकार (उक्त उदाहरणों द्वारा) आदिदीपक के (जाति, क्रिया, आदि

---

1. दैवतर्द्धयः।

के आधार पर चार) भेद कहे गए। इसी प्रकार दो (या अनेक) वाक्यों के क्रमशः मध्य और अन्त में (जाति, क्रिया आदि के वाचक पदों के आने के फलस्वरूप बनने वाले) मध्यदीपक और अन्तदीपक के कुछ भेद यहाँ निर्दशित किए जाएंगे। वे भेद इस प्रकार हैं।

वस्तुतः आदि, मध्य और अन्त में आने वाले जाति, क्रिया आदि के वाचक पदों के आधार पर किए गए दीपकभेद, जो हमें भामह (२.२५), उद्भट (१.१४), रुद्रट (७.६५) और वामन (४.३.१६) आदि के समय से प्राप्त होते हैं, वैज्ञानिक नहीं हैं। इस संबन्ध में विश्वनाथ (१०. ४८–६ वृत्ति) का यह कथन महत्त्वपूर्ण है : **अत्र च गुणक्रिययोरादिमध्यावसानसद्भावेन त्रैविध्यं न लक्षितम्। तथाविधत्रैविध्यस्य सर्वत्रापि सहस्रधासंभवात्।**

नृत्यन्ति निचुलोत्सङ्गे गायन्ति च कलापिनः।
बध्नन्ति च पयोदेषु दृशो हर्षाश्रुगर्भिणीः ॥१०३॥

जातिगतं मध्यदीपकमुदाहरति—**नृत्यन्तीति**। कलापिनः मयूराः निचुलोत्सङ्गे स्थलवेतसस्याधोभागे नृत्यन्ति, गायन्ति च। अथ च पयोदेषु मेघेषु हर्षाश्रुगर्भिणीः आनन्दाश्रुपरिप्लुताः दृशः चक्षूंषि बध्नन्ति, आनन्दाश्रुपरिपूर्णैर्लोचनैस्तान् मेघान् पश्यन्तीत्यर्थः। अत्र **कलापिनः** इति मध्यवाक्यवर्ति जातिपदं (कर्तृ) पूर्वत्रापरत्र च वाक्यजातमुपचरतीति जातिगतं मध्यदीपकम्।

मयूर बेंत के पौधों के नीचे नाच रहे हैं, गा रहे हैं तथा आनन्द के आंसुओं से परिपूर्ण नयनों से मेघों को निहार रहे हैं।

यहाँ वाक्यसमूह के मध्यभाग में स्थित **कलापिनः** इस जातिवाची पद का सर्वत्र अन्वय होने से **जातिगत मध्यदीपक** है। उत्तरवर्ती आचार्यों के अनुसार यहाँ कारकदीपक की स्थिति है; द्र० **साद०** १०.४६; तु० **अलंकारशेखर**, पृ० ३६ भी।

मन्दो गन्धवहः क्षारो वह्निरिन्दुश्च जायते।
चर्चाचन्दनपातश्च शस्त्रपातः प्रवासिनाम् ॥१०४॥

क्रियागतं मध्यदीपकं निदर्शयति—**मन्द** इति। प्रवासिनां विरहिणां जनानां कृते मन्दः मृदुः गन्धवहः पवनः (क्षते) क्षारः (इवासह्यः) जायते, इन्दुः चन्द्रः च वह्निः अग्निः (इव संतापकः) जायते, अथ च चर्चाचन्दनपातः चर्चारूपः चन्दनपातः मलयजसंपर्कः तेषां प्रवासिनां कृते शस्त्रपातः शस्त्रप्रहारः (इव रुजाकरः) भवति। अत्र वाक्यमध्यवर्तिनः **जायते** इति क्रियावाचिपदस्य सर्ववाक्यान्वयात् क्रियागतं मध्यदीपकम्।

विरही जनों के लिए मन्द तथा सुगन्धयुक्त पवन प्रखर (=असह्य) बन जाता है, चन्द्रमा आग (के समान संतापक) हो जाता है और चन्दन का लेप शस्त्रप्रहार (के समान पीडादायक) बन जाता है।

यहाँ वाक्यसमूह के मध्य में अवस्थित **जायते** इस क्रियावाची पद का सर्वत्र अन्वयन होने से **क्रियागत मध्यदीपक** है। दण्डी ने मध्यदीपक के गुणगत और द्रव्यगत भेदों के उदाहरण नहीं दिए हैं। रत्नश्रीज्ञान ने इनके उदाहरण इस प्रकार दिए हैं : गुणगत—**दहत्यपि नरेन्द्राणां मनांसि तव विक्रमः। निर्वापयति चेतांसि सुहृदां संश(श्र)यः श्रियः॥**; द्रव्यगत—**कृतो (ज्ञान-) मयः श्रीमान् प्रकाशः सर्वदर्शिना। हृतं च सर्वदिग्व्यापि दुर्जयं जगतां तमः॥**

जलं जलधरोद्गीर्णं कुलं गृहशिखण्डिनाम्।
चलं च तडितां[1] दाम बलं कुसुमधन्वनः॥१०५॥

जातिगतमन्तदीपकं निदर्शयति—**जलमिति**। जलधरैः मेघैः उद्गीर्णं वृष्टं जलं वारि, गृहशिखण्डिनां गृहमयूराणां कुलं समूहः, अथ च तडितां विद्युतां चलं चञ्चलं दाम रशना इत्येतत्त्रयं कुसुमधन्वनः कामदेवस्य बलं सैन्यं सैन्यभूतम्। रत्युद्दीपकैः वर्षाजलगृहमयूरविद्युद्दामभिः कामो विश्वमपि जगज्जयतीत्यर्थः। अत्र वाक्यान्तभागवर्तिना **बलमिति** जातिवाचकपदेन सर्ववाक्योपचार इति जातिगतमन्तदीपकम्।

मेघों द्वारा बरसाया गया जल, पालतू मयूरों का समूह और बिजली की चञ्चल रेखा—ये (तीनों) पुष्पधन्वा (कामदेव) की सेना हैं।

यहाँ वाक्यान्तभाग में अवस्थित **बलम्** इस जातिवाचक पद द्वारा सभी वाक्यों का अन्वयन होने से **जातिगत अन्तदीपक** है। इस पद्य में **उद्गीर्ण** पद का प्रयोग लाक्षणिक होने से मनोहारी है; तु० १.६५-६।

त्वया नीलोत्पलं[2] कर्णे स्मरेणास्त्रं शरासने।
मयापि मरणे चेतस्त्रयमेतत्समं कृतम्॥१०६॥

क्रियागतमन्तदीपकमुदाहरति—**त्वयेति**। त्वया कर्णे नीलोत्पलं कुवलयं, स्मरेण कामदेवेन शरासने निजधनुषि अस्त्रं शरः, मयापि च मरणे मृत्युव्यापारे चेतः चित्तम् इत्येतत् त्रयमस्माभिः समं युगपत् कृतं विहितं निहितं वा। अत्र वाक्यान्तावस्थितेन **कृतमिति** क्रियावाचकपदेन सर्ववाक्योपचार इति क्रियागतमन्तदीपकम्।

---

१. चलत्तडिल्लता-। २. कर्णो-।

(हे सुन्दरी,) तुमने अपने कान पर (अवतंस के रूप में) नीलकमल, कामदेव ने अपने धनुष पर बाण और मैंने मरने पर अपना चित्त—यह (हम सबने) एक साथ कर (=रख) लिया है।

यहाँ वाक्यों के अन्त में अवस्थित **कृतम्** इस क्रियावाची पद द्वारा सर्ववाक्योपचार होने से **क्रियागत अन्तदीपक** है। यह सहोक्ति (२.३५१) का भी सुन्दर उदाहरण है। दण्डी ने, इसके बाद, अन्तदीपक के गुणगत और द्रव्यगत भेद उदाहृत नहीं किए हैं। रत्नश्रीज्ञान ने इन भेदों के निम्नलिखित उदाहरण दिए हैं : गुणगत—**संभारमकरोद् बोधेस्तत्त्वज्ञानमजीजनत्। उज्जहार जगद्दुःखान्मुनीन्द्र भवतः कृपा ॥**; द्रव्यगत—**दिगन्तबद्धनिर्घोषं ममन्थ क्षीरसागरम्। विगलन्मथनायासं लेभे लक्ष्मीमधोक्षजः ॥**

शुक्लः श्वेतार्चिषो वृद्ध्यै पक्षः पञ्चशरस्य सः।
स च रागस्य रागोऽपि यूनां रत्युत्सवश्रियः ॥१०७॥

दीपकमिदान्तरेषु मालादीपकमुदाहरति—शुक्ल इति। शुक्लः पक्षः श्वेतार्चिषः शुभ्रकिरणस्य चन्द्रमसः वृद्ध्यै उपचयाय भवति, स श्वेतार्चिश्चन्द्रः पञ्चशरस्य कामस्य वृद्ध्यै जायते, तस्य कामोद्दीपकत्वात्, स च कामः यूनां तरुणानां रागस्य रमणीविषयस्यानुरागस्य वृद्ध्यै परिपोषाय भवति, रागोऽपि च तेषां यूनां रत्युत्सवश्रियः रतिः संभोग एवोत्सवस्तस्य श्रियः, तद्रूपायाः संपदः, वृद्ध्यै भवति।

शुक्लपक्ष चन्द्रमा की वृद्धि के लिए होता है, चन्द्रमा कामदेव की वृद्धि के लिए, कामदेव युवकों में (स्त्रीविषयक) अनुरागभाव की वृद्धि के लिए, और वह अनुरागभाव उनके रति-लीला के उत्सव की शोभा की वृद्धि के लिए होता है।

यहाँ प्रथम चरण **वृद्ध्यै श्वेतार्चिषः शुक्लः** इस प्रकार होना चाहिए था, क्योंकि यहाँ आदिदीपक की स्थिति अभिप्रेत है।

इत्यादिदीपकत्वेऽपि पूर्वपूर्वव्यपेक्षिणी।
वाक्यमाला प्रयुक्तेति तन्मालादीपकं मतम्[1] ॥१०८॥

उक्तमुदाहरणं विशदयति—इत्यादीति। अत्र आदिदीपकत्वे सत्यपि, **वृद्ध्यै** इति आदिवाक्यावस्थितेन क्रियावाचिपदेन सर्ववाक्यान्वितौ क्रियागतादिदीपके स्थितेऽपि, पूर्वपूर्वव्यपेक्षिणी पूर्वं पूर्वं वाक्यमपेक्षमाणा वाक्यमाला वाक्यावलिः

---

१. स्मृतम्, विदुः।

प्रयुक्ता इति तदेतन्मालादीपकमिति मतम् । अत्रोत्तरोत्तरो वाक्यार्थः पूर्वपूर्वसापेक्षः, तद्यथा रत्युत्सवश्रीवृद्धिः रागसापेक्षा, रागवृद्धिः कामसापेक्षा, कामवृद्धिः चन्द्रसापेक्षा चन्द्रवृद्धिश्च शुक्लपक्षसापेक्षेति । अर्वाचीनैर्मालादीपकमिति स्वतन्त्रोऽलंकारः परिगणितः ।

यहां, आदिदीपक होने पर भी, पूर्व-पूर्व (वाक्य) की अपेक्षा रखने वाली (उत्तर-उत्तर) वाक्यमाला का प्रयोग किया गया है; इसलिए यह मालादीपक (का उदाहरण) माना गया है।

यहाँ उत्तर-उत्तर वाक्यार्थ पूर्व-पूर्व वाक्यार्थ की अपेक्षा रखता है : रत्युत्सवशोभा की वृद्धि अनुराग-सापेक्ष है, अनुरागवृद्धि काम-सापेक्ष है, कामवृद्धि चन्द्र-सापेक्ष है एवं चन्द्रवृद्धि शुक्लपक्ष-सापेक्ष है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस मालादीपक को प्रायः स्वतन्त्र अलंकार के रूप में प्रतिष्ठित किया है । विश्वनाथ (साद० १०.७६-७) के अनुसार इसकी परिभाषा इस प्रकार है : **तन्मालादीपकं पुनः ।। धर्मिणामेकधर्मेण संबन्धो यद्यथोत्तरम् ।** जयदेव (चन्द्रा० ५.१०५) ने इस अलंकार को दीपक और एकावली का योग कहा है। भोज (शृङ्गार० १०, पृ० ४२४) ने उक्त पद्य द्वारा एकावली को उदाहृत किया है ।

अवलेपमनङ्गस्य वर्धयन्ति बलाहकाः ।
कर्शयन्ति तु[1] घर्मस्य मारुतोद्धूतशीकराः ॥१०९॥

विरुद्धार्थदीपकमुदाहरति—**अवलेपमिति** । मारुतेन पवनेन उद्धूताः उत्क्षिप्ताः शीकराः जलकणाः येषां तादृशाः बलाहकाः मेघाः अनङ्गस्य कामदेवस्य अवलेपं गर्वं वर्धयन्ति (कामोद्दीपकत्वाद्) उपचिन्वन्ति, घर्मस्य ग्रीष्मस्य तु अवलेपं ते कर्शयन्ति अपचिन्वन्ति, ग्रीष्मसंतापं कृशतां नयन्तीत्यर्थः ।

पवन द्वारा उड़ाए गए जलकणों वाले ये मेघ कामदेव के अभिमान को तो बढ़ाते हैं, परन्तु ग्रीष्म के (ताप रूप) दर्प को घटाते हैं।

अवलेपपदेनात्र बलाहकपदेन च ।
क्रिये विरुद्धे संयुक्ते तद्विरुद्धार्थदीपकम् ॥११०॥

उक्तमुदाहरणं विशदयति—**अवलेपेति** । अत्रोदाहरणे कर्तृभूतेन बलाहकपदेन कर्मभूतेन चावलेपपदेन वर्धनकर्शनरूपे विरुद्धे परस्परप्रतिकूले क्रिये संयुक्ते स्तः, तत् तस्माद् अत्र विरुद्धार्थदीपकं नाम दीपकभेदः । अन्यथा तु जातिगतं मध्यदीपकम् ।

---

१. च ।

यहाँ (कर्ता के रूप में स्थित) बलाहक (=मेघ) पद तथा (कर्म के रूप में स्थित) अवलेप पद के साथ परस्परविरुद्ध क्रियाओं (अर्थात् वर्धयन्ति=बढ़ाते हैं, और कर्शयन्ति =घटाते हैं) का संयोग है; इसलिए यहाँ (विरुद्धार्थक क्रियाओं का योग होने से) विरुद्धार्थदीपक है।

यहाँ वाक्यमध्यवर्ती **बलाहक** पद दीपक अथवा उभयोपकारक स्थिति में है, और यह जातिवाचक पद है। इस आधार पर यहाँ जातिगत मध्यदीपक है। परन्तु दण्डी द्वारा यहाँ विरुद्धार्थदीपक की स्थिति माने जाने का आधार यहाँ विरुद्धार्थक क्रियाओं का संयोग है। इस आधार पर हम **विष्णुना विक्रमस्थेन**···(२.१०१) में भी विरुद्धार्थदीपक की स्थिति स्वीकार कर सकते हैं।

हरत्याभोगमाशानां गृह्णाति ज्योतिषां गणम्।
आदत्ते चाद्य[1] मे प्राणानसौ जलधरावली[2] ॥१११॥

अथैकार्थदीपकं नामापरं भेदं निदर्शयति—**हरतीति**। असौ जलधरावली मेघपङ्क्तिः अद्य आशानां दिशाम् आभोगं विस्तारं हरति संकोचयति, ज्योतिषां नक्षत्राणां गणं समूहं गृह्णाति हरति, स्वस्मिन् निगूहतीत्यर्थः, अथ च सा अद्य प्रियाविरहितस्य मे प्राणान् आदत्ते हरति, हर्तुं चेष्टत इत्याशयः।

यह मेघमाला आज दिशाओं के विस्तार का हरण कर रही है, नक्षत्रों के समूह को तिरोहित कर रही है एवं मेरे (=मुझ विरही के) प्राण हर रही है।

अनेकशब्दोपादानात् क्रियैकैवात्र दीप्यते।
यतो जलधरावल्या तस्मादेकार्थदीपकम् ॥११२॥

उक्तमुदाहरणं विवृणोति—**अनेकेति**। यतः यस्माद् अत्रोदाहरणे कर्तृभूतया जलधरावल्या मेघमालया एका एव क्रिया हरणरूपा अनेकशब्दोपादानाद् हरणग्रहणादानात्मकानाम् अनेकेषाम् एकार्थकानां शब्दानाम् उपादानाद् दीप्यते, तस्मादत्र एकार्थकक्रियादीपनाद् एकार्थदीपकम्। अन्यथा त्वत्र जातिगतमन्तदीपकम्। अर्वाचीनमतेनात्र कारकदीपकस्थितिः स्यात्।

यहाँ (कर्ता के रूप में स्थित) जलधरावली **(=मेघमाला) द्वारा एक ही (हरण-रूप) क्रिया का (एक अर्थ वाले) अनेक शब्दों (अर्थात्** हरति, गृह्णाति, आदत्ते**) के ग्रहण से दीपन कराया गया है; अतः यहाँ एकार्थदीपक है।**

---

१. चास्य। २. –वलिः।

इस दीपक-भेद के ग्रहण का आधार यहाँ एकार्थक क्रिया का द्योतन है। ऊपर उल्लिखित जाति आदि पदों के, एवं दीपकभूत उक्त पदों की वाक्य में स्थिति के, आधार पर यहाँ जातिगत अन्तदीपक है, क्योंकि यहाँ अन्त में अवस्थित जातिवाची **जलधरावली** पद का सभी वाक्यों में अन्वयन है। उत्तरवर्ती आचार्यों के अनुसार इसे कारकदीपक का उदाहरण माना जा सकता है, क्योंकि यहाँ एक ही कारक (मेघमाला) से अनेक क्रियाओं (दिग्विस्तार घटाना, नक्षत्रों को तिरोहित करना और नायक के प्राण हरना) का द्योतन है। वस्तुतः यहाँ क्रियाएँ (√हृ, √ग्रह्, आ √दा) एकार्थक आभासित होती हुई भी, कर्ता द्वारा ईप्सिततम कर्म के संदर्भ में, अनेकार्थक हैं।

हृद्यगन्धवहास्तुङ्गास्तमालश्यामलत्विषः ।
दिवि भ्रमन्ति जीमूता भुवि चैते मतङ्गजाः ॥११३॥

शिलष्टार्थदीपकं निदर्शयति—हृद्येति। दिवि आकाशे हृद्यगन्धवहाः मनोहारिपवनानुगताः तुङ्गाः उन्नताः किंच तमालश्यामलत्विषः तमालवन्नीलवर्णशोभाः जीमूताः मेघाः भ्रमन्ति व्यावर्तन्ते; भुवि पृथिव्यां च एते हृद्यगन्धवहाः हृद्यं गन्धं मदजलजनितं वहन्तीति तादृशाः तुङ्गाः महान्तः तमालवन्नीलकान्तयश्च मतङ्गजाः करिणः भ्रमन्ति विचरन्ति।

आकाश में, मनोरम पवन से अनुगत, ऊँचाई पर स्थित एवं तमाल के समान साँवली शोभा धारण करने वाले मेघ मँडरा रहे हैं और धरती पर, हृदयावर्जक (मदजनित) गन्ध को धारण किए, विशाल आकार वाले एवं तमाल के समान साँवले रंग के हाथी घूम-फिर रहे हैं।

अत्र धर्मैरभिन्नानामभ्राणां दन्तिनां तथा[1] ।
भ्रमणेनैव[2] संबन्ध इति शिलष्टार्थदीपकम् ॥११४॥

उक्तोदाहरणं व्याचष्टे—अत्रेति। अत्र धर्मैः हृद्यगन्धवहत्वादिभिः साधारणैर्धर्मैः अभिन्नानां समानशब्दाभिहिततया अभिन्नत्वेनाभासमानानाम् अभ्राणां मेघानां तथा च दन्तिनां करिणां भ्रमणेन भ्रमणक्रियया एव संबन्धोऽस्तीति (स च संबन्धः हृद्यगन्धवहादौ शिलष्टार्थस्य स्थित्या वर्तते इति च हेतोरत्र शिलष्टार्थद्योतनाद्) शिलष्टार्थदीपकं नाम दीपकभेदः।

यहाँ (हृद्यगन्धवहत्व आदि) साधारण धर्मों से अभिन्न (=समान शब्दों से अभिहित होने के कारण अभिन्नवत् प्रतीत होने वाले) मेघों और हाथियों

---

१ हस्तिनामपि। २. भ्रमेणैकेन।

का एक भ्रमण-क्रिया से संबन्ध दिखाया गया है (और वह संबन्ध हृद्यगन्धवह आदि पदों के श्लिष्टार्थक होने के कारण संभव हो सका है), इसलिए यहां श्लिष्टार्थदीपक है।

वास्तव में यहाँ दीपक और श्लेष का संकर है। पूर्वोक्त जाति आदि पदों के और दीपक-भूत उक्त पदों की वाक्य में स्थिति के आधार पर यहाँ क्रियागत मध्यदीपक है।

अनेनैव प्रकारेण शेषाणामपि दीपके।
विकल्पानामवगति[1]र्विधातव्या विचक्षणैः ॥११५॥

दीपकमुपसंहरन्नाह—अनेनैवेति। अनेनैव यथायथं प्रदर्शितेन प्रकारेण दीपके शेषाणाम् अत्र अनुक्तानाम् अपि विकल्पानाम् अवगतिः बोधः विचक्षणैः सुधीभिराचार्यैः विधातव्या कर्तव्या।

इसी (उक्त) प्रकार से दीपक (अलंकार) में अवशिष्ट (=यहां अव्याख्यात) भेदों का भी बोध विद्वान् आचार्यों को कर लेना चाहिए।

रत्नश्रीज्ञान ने यहाँ अनुक्त भेदों में उपमा-, उत्प्रेक्षा- और आक्षेप-दीपक की सोदाहरण चर्चा की है। इनमें आक्षेप-दीपक का यह उदाहरण द्रष्टव्य है: **न खड्गधारा निशिता निशाता नापि सायकाः। हरन्ति च मम प्राणान्मृगाक्षि तव विभ्रमाः॥**

अर्थावृत्तिः पदावृत्तिरुभयावृत्तिरेव च[2]।
दीपकस्थान एवेष्टमलंकारत्रयं यथा ॥११६॥

अथ पञ्चममलंकारमावृत्तिं प्रस्तौति—अर्थावृत्तिरिति। अर्थस्य वाक्यार्थस्य आवृत्तिस्तत्स्वरूपोऽर्थावृत्तिनामकः, पदस्यावृत्तिः वाक्यान्तरे पुनरुपस्थितिस्तल्लक्षणः पदावृत्त्याख्यः, अर्थस्य पदस्य चेत्युभयोरपि वाक्यान्तरे आवृत्तिस्तत्स्वरूपश्च उभयावृत्तिसमाह्वः इति अलंकारत्रयं दीपकस्थाने दीपकजातीयत्वेन एव इष्टमाचार्यैरिति शेषः।

अर्थावृत्ति, पदावृत्ति और उभयावृत्ति—ये तीन अलंकार दीपक-जातीय अलंकारों के रूप में ही अभीष्ट हैं।

क्रमशः वाक्यार्थ की, पद की तथा वाक्यार्थ और पद दोनों की दूसरे वाक्य में पुनरावृत्ति इन अलंकारों का लक्षण है। वास्तव में ये तीनों एक ही अलंकार—आवृत्ति—के भेदमात्र हैं। स्वयं आवृत्ति भी दीपक के अन्यतम भेद

---

१. अनुगतिर्, अपि गतिर्। २. इत्यपि।

के रूप में ही स्वीकार्य है। भोज (सरस्व० ४.७८), मम्मट (१०.१०३ वृत्ति) और विश्वनाथ (१०.४८-९) आदि ने इसे इसी रूप में ग्रहण किया है। जयदेव (चन्द्रा० ५.४६-७) और अप्पय दीक्षित (कुवलया० ४९-५०) प्रभृति आचार्यों ने इसे आवृत्तिदीपक के रूप में स्वतन्त्र स्थान दिया है। इसके तीन रूप अगले तीन पद्यों में उदाहृत हैं।

विकसन्ति कदम्बानि[1] स्फुटन्ति[2] कुटजोद्गमाः[3]।
उन्मीलन्ति च कन्दल्यो दलन्ति ककुभानि[4] च ॥११७॥

तत्र प्रथममर्थावृत्तिमुदाहरति—**विकसन्तीति**। कदम्बानि नीपपुष्पाणि विकसन्ति, कुटजोद्गमाः गिरिमल्लिकाकुसुमानि स्फुटन्ति उद्भिन्नानि भवन्ति, कन्दल्यः कन्दलीपुष्पाणि उन्मीलन्ति विकासं गच्छन्ति, ककुभानि अर्जुनप्रसूनानि च दलन्ति विकचीभवन्ति। अत्र **विकसन्त्यादिषु** भिन्नरूपेष्वपि एकार्थेषु पदेषु **विकास**रूपस्यैकस्यैवार्थस्य पुनरावर्तनाद् अर्थावृत्तिः।

कदम्ब-पुष्प विकसित होते हैं, कुटज (=चमेली) के फूल खिलते हैं, कन्दलीकुसुम उन्मीलित होते हैं और ककुभ के फूल प्रस्फुटित होते हैं।

वर्षाकाल के इन फूलों के वर्णन में **विकसन्ति** आदि भिन्न रूप वाले, परन्तु समानार्थक, पदों में 'विकसित होते हैं' इस एक अर्थ की पुनरावृत्ति होने के कारण यहाँ **अर्थावृत्ति** है। इन समानार्थक पदों की आवृत्ति न होने की स्थिति में यहाँ क्रियागत आदिदीपक होगा; यथा—**विकसन्ति कदम्बानि तथैव कुटजोद्गमाः। सुगन्धयश्च कन्दल्यः कलानि ककुभानि च॥** (रत्नश्री से उद्धृत)।

उत्कण्ठयति मेघानां माला वृन्दं[5] कलापिनाम्।
यूनां चोत्कण्ठयत्येष[6] मानसं मकरध्वजः ॥११८॥

द्वितीयं रूपं पदावृत्तिं निदर्शयति—**उत्कण्ठयतीति**। मेघानां माला पङ्क्तिः कलापिनां मयूराणां वृन्दं समूहम् उत्कण्ठयति उद्ग्रीवयति, मेघदर्शनार्थमुद्ग्रीवं करोतीत्यर्थः। अथ च एष मकरध्वजः कामदेवः यूनां युवकानां मानसं चेतः उत्कण्ठयति पर्युत्सुकयति। अत्र **उत्कण्ठयतीति** पदस्यावृत्तिः, अस्य चोभयत्र भिन्नार्थकत्वान्नार्थावृत्तिः। अतश्चात्र पदावृत्तिर्नामालंकारः।

मेघों की पङ्क्ति मयूरों के समूह को उत्कण्ठित (=उद्ग्रीव) बनाती है

---

१. सरोजानि। २. स्फुरन्ति। ३. –जद्रुमाः। ४. कुमुदानि। ५. वर्गं।
६. –त्यद्य, –त्येव।

और यह कामदेव युवकों के हृदय को उत्कण्ठापूर्ण (=विलासोत्सुक) करता है।

श्लोक के पूर्वार्ध का आशय यह है कि आकाश में मेघों के प्रकट होने पर मयूर अपनी गर्दन ऊपर उठाकर उन्हें सानन्द निहारते हैं। इस पद्य में **उत्कण्ठयति** पद की आवृत्ति हुई है, परन्तु चूँकि दोनों स्थलों पर इसके अर्थ में अन्तर है, अर्थ की आवृत्ति यहाँ नहीं है। इस प्रकार केवल पद की आवृत्ति होने से यहाँ **पदावृत्ति** है (तु० सरस्व० ४, उदा० २००; कुवलया० ४९-५० वृत्ति)। इसकी आवृत्ति न होने की स्थिति में यहाँ भी क्रियागत आदिदीपक होगा; यथा—**उत्कण्ठयति मेघानां माला वर्गं कलापिनाम्। यूनां च रागसर्वस्वं मानसं मकरध्वजः॥** (रत्नश्री से उद्धृत)।

जित्वा विश्वं भवानत्र[1] विहरत्यवरोधनैः।
विहरत्यप्सरोभिस्ते रिपुवर्गो दिवं गतः॥११९॥

तृतीयं भेदमुभयावृत्तिमुदाहरति—**जित्वेति**। विश्वं जगत् जित्वा भवान् अत्र भूमण्डले अवरोधनैः अन्तःपुरिकाभिः विहरति रमते। ते तव रिपुवर्गः (त्वया रणे निहतः) शत्रुसमूहः दिवं गतः स्वर्गं प्राप्तः अप्सरोभिः दिव्याङ्गनाभिः विहरति क्रीडति। त्वया युद्धे शत्रवो हता इति कश्चिद्राजा स्तूयते। अत्राभिन्नार्थकस्य **विहरतीति** पदस्य तदर्थस्य चोत्तरस्मिन् वाक्ये पुनरावर्तनाद् उभयावृत्तिः।

समस्त भूमण्डल को जीतकर यहाँ आप अपने अन्तःपुर की स्त्रियों से विहार कर रहे हैं और (युद्ध में आपके द्वारा निहत) आपका शत्रुवर्ग स्वर्ग में जाकर अप्सराओं से विहार कर रहा है।

यहाँ **विहरति** पद की दूसरे वाक्य में उसी (अभिन्न) अर्थ में आवृत्ति हुई है, अतः पद और अर्थ दोनों की आवृत्ति होने से यहाँ **उभयावृत्ति** है। इनकी आवृत्ति न होने की स्थिति में यहाँ भी क्रियागत दीपक अलंकार होगा; यथा—**जित्वा विश्वं भवानत्र विहरत्यवरोधनैः। रम्याभिरप्सरोभिस्ते रिपुवर्गो दिवं गतः॥** (रत्नश्री से उद्धृत)।

प्रतिषेधोक्तिराक्षेपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रिधा।
अथास्य पुनराक्षेप्यभेदानन्त्यादनन्तता॥१२०॥

अथ षष्ठमलंकारं लक्षयन्नाह—**प्रतिषेधोक्तिरिति**। प्रतिषेधस्य उक्तिः कथनं, न तु तत्त्वतः प्रतिषेधः, आक्षेपः तदाख्यालंकारः। तत्त्वतः प्रतिषेधे तु वैचित्र्याभावादलंकारत्वाभावप्रसङ्गः। एवं विशेषाभिधानफलो वैचित्र्यावहः

---

१. अद्य।

प्रतिषेधाभास आक्षेपः । अयं चाक्षेपस्त्रैकाल्यापेक्षया त्रैकालिकवस्तुगतत्वेन भूतभवद्भविष्यदर्थसंबद्धतया वृत्ताक्षेपः वर्तमानाक्षेपः भविष्यदाक्षेपश्च इति त्रिधा जायते । अथ पुनरस्य आक्षेप्यभेदानाम् आक्षेपविषयप्रकाराणाम् आनन्त्याद् अनन्तता अनन्तरूपता, संभवतीति शेषः ।

प्रतिषेध-कथन को आक्षेप कहते हैं। तीन कालों से संबन्धित अर्थ की अपेक्षा से यह (वृत्ताक्षेप, वर्तमानाक्षेप और भविष्यदाक्षेप भेद से) तीन प्रकार का होता है। आक्षेपयोग्य अर्थ (=वस्तु) के भेदों की अनन्तता के कारण इसके पुनः अनन्त भेद (संभव) हैं।

दण्डी ने आक्षेप्य-भेद के आधार पर इसके इक्कीस रूपों की चर्चा की है, परन्तु इनमें से अनेक रूप किसी आक्षेप्य वस्तु पर आधारित नहीं हैं। वास्तव में दण्डी में इस अलंकार की संकल्पना और व्याख्या स्पष्ट नहीं है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसमें यथेष्ट स्पष्टता लाने का प्रयत्न किया है। भामह (२.६७-८) और अग्निपुराण (३४५.१५-६) के लेखक के अनुसार यह विशेष-कथन की इच्छा से अभीष्ट वस्तु का प्रतिषेधाभास है। मम्मट (१०.१०६-७), रुय्यक (३८ वृत्ति) और विश्वनाथ (१०.६४-५) प्रभृति ने इस संकल्पना का अनुसरण किया है; तु० **साद० : वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये ॥ निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा।** रुय्यक (३९ वृत्ति), विश्वनाथ (१०.६५) आदि ने (इष्ट अर्थ के प्रतिषेधाभास के साथ) अनिष्ट अर्थ के विध्याभास को भी इस अलंकार का विषय माना है (विस्तार के लिए, द्र० प्रस्तुत व्याख्याकार का **ए क्रिटिकल स्टडी आफ़ दण्डिन् एंड हिज़ वर्क्स,** पृ० २०८-१०)।

अनङ्गः पञ्चभिः पौष्पैर्[1]विश्वं व्यजयतेषुभिः[2] ।
इत्यसंभाव्यमथवा विचित्रा वस्तुशक्तयः ॥१२१॥

त्रैकाल्यापेक्षया भिन्नेषु प्रकारेषु प्रथमं वृत्ताक्षेपमुदाहरति—**अनङ्ग** इति । अनङ्गः अङ्गहीनः कामदेवः पञ्चभिः पौष्पैः पुष्पमयैः इषुभिः बाणैः विश्वं सकलं जगद् व्यजयत विजितवान्, इत्येतद् असंभाव्यम् असंभवतया अविश्वास्यम् । अथवा वस्तुशक्तयः पदार्थानां सामर्थ्यानि विचित्राः अद्भुताः अचिन्त्यस्वरूपाः । वस्तुशक्त्या सर्वमपि संभाव्यते इत्यर्थः ।

अङ्गहीन कामदेव ने अपने पाँच पुष्प-मय बाणों से ही समस्त विश्व को जीत लिया—यह असंभव है। अथवा वस्तुओं की (कार्यसाधक) शक्तियाँ विचित्र होती हैं (अतः यह बात संभव हो सकती है)।

---

१. पुष्पैर्। २. विजयते(?)।

कामदेव के पाँच वाण हैं अरविन्द, अशोक, आम्र, नवमल्लिका और नीलकमल। हेमचन्द्र (काअनु, पृ० ११६) ने प्रस्तुत पद्य को वितर्क संचारिभाव के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

इत्यनङ्गजयायोगबुद्धिर्हेतुबलादिह ।
प्रवृत्तैव यदाक्षिप्ता वृत्ताक्षेपः स ईदृशः[1] ॥१२२॥

उक्तमुदाहरणं विश्लेषयति—इत्यनङ्गेति। इति इहोदाहरणे प्रवृत्ता अतीतविषया एव अनङ्गजयायोगबुद्धिः अनङ्गकर्तृकविश्वविजयस्य अयोगबुद्धिः असंभाव्यतावोधः हेतुबलाद् वस्तुशक्तिवैचित्र्यरूपकारणनिर्देशाद् यद् यतः आक्षिप्ता प्रतिषिद्धा 'न कामदेवेन विश्वजयोऽसंभवः' इत्येवंप्रकारेण निषिद्धा, ततः ईदृशः स आक्षेपो वृत्ताक्षेपो नाम त्रैकाल्यापेक्षिभेदेषु प्रथमः।

इस (उदाहरण) में भूतविषयक, अङ्गहीन कामदेव द्वारा विश्वविजय की असंभवता के (प्रथम स्थापित), बोध का (वस्तुशक्तियाँ विचित्र होती हैं—इस) हेतु के निर्देश द्वारा प्रतिषेध किया गया है (अर्थात् काम द्वारा विश्व-विजय की संभावना को स्वीकार कर लिया गया है); इसलिए यह इस प्रकार का आक्षेप (वृत्त-विषयक अर्थ का प्रतिषेधरूप होने के कारण) वृत्ताक्षेप है।

आक्षेप का उक्त उदाहरण इस अलंकार के उस रूप की व्याख्या करता है जिसे जयदेव (चन्द्रा० ५.७०) ने इस प्रकार परिभाषित किया है : **आक्षेपः स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्** (उदा० : **चन्द्र संदर्शयात्मानमथवास्ति प्रिया-मुखम्**)। दण्डी के अर्थान्तराक्षेप का उदाहरण (२.१६५) भी इससे तुलनीय है (द्र० कुवलया० ७३ भी)।

कुतः कुवलयं कर्णे करोषि कलभाषिणि ।
किमपाङ्गमपर्याप्तमस्मिन् कर्मणि मन्यसे ॥१२३॥

त्रैकाल्यापेक्षिभेदेषु द्वितीयं वर्तमानाक्षेपं निदर्शयति—कुत इति। हे कल-भाषिणि मञ्जुभाषिणि, कर्णे कुवलयं नीलोत्पलम् अवतंसरूपेण कुतः किमर्थं करोषि धारयसि? किं त्वमस्मिन् कर्णशोभासंपादनात्मके कर्मणि आत्मनः अपाङ्गं नेत्रोपान्तभागम् अपर्याप्तम् असमर्थं मन्यसे? कर्णायतासितनयनोपान्तेनैव श्रवण-पाशस्यावतंसकृत्ये संभवे तत्र कुवलयधारणमनर्थकमिति भावः।

हे मधुरभाषिणी, तुम अपने कान पर (अवतंस के रूप में) नीलकमल क्यों खोंस रही हो? क्या तुम (अपने कान को सजाने के) इस कार्य में (कर्णान्त

---

१. -क्षेपस्तदीदृशम्, तदीदृशः।

तक पहुँची) अपनी कटाक्ष-दृष्टि को अपर्याप्त (=असमर्थ) समझती हो ?

यहाँ **अस्मिन् कर्मणि** से 'मुझे काम के बाणों से आहत करने के इस कार्य में' यह आशय भी लिया जा सकता है।

स वर्तमानाक्षेपोऽयं कुर्वत्येवासितोत्पलम् ।
कर्णे काचित् प्रियेणैवं चाटुकारेण रुध्यते ॥१२४॥

उदाहरणमुक्तं व्याचष्टे—**स** इति। अत्र कर्णे असितोत्पलं कुवलयं कुर्वती धारयन्ती एव (न तु कृतवती न वा करिष्यन्ती) काचित् नायिका चाटुकारेण चाटूक्तिचतुरेण प्रियेण एवम् उक्तप्रकारेण रुध्यते प्रतिषिध्यते इत्यतः कारणात् सोऽयमाक्षेपः वर्तमानकालिकस्य कुवलयधारणरूपस्य अर्थस्य प्रतिषेधाद् वर्तमानाक्षेपो नाम।

यहाँ अपने कान पर नीलकमल खोंसती हुई कोई नायिका अपने चाटुकार प्रेमी द्वारा उक्त प्रकार से रोकी जा रही है; अतः यहाँ (कमल-धारण रूप वर्तमानकालिक अर्थ का प्रतिषेध होने के कारण) वर्तमानाक्षेप है।

यहाँ उपमेय (अपाङ्ग) की उपस्थिति में उपमान (कर्णकुवलय) की निरर्थकता का उल्लेख है; इस रूप में यह वामन द्वारा व्याख्यात आक्षेप के निकट है (तु० ४.३.२७ : **उपमानाक्षेपश्चाक्षेपः**; द्र० वृत्ति भी)। वामन द्वारा प्रदत्त उदाहरण का यह अंश दण्डी के उक्त पद्य से तुलनीय है : **सौन्दर्यस्य पदं दृशौ च यदि चेत् किं नाम नीलोत्पलैः।**

सत्यं ब्रवीमि न त्वं मां द्रष्टुं वल्लभ लप्स्यसे।
अन्यचुम्बनसंक्रान्तलाक्षारक्तेन चक्षुषा ॥१२५॥

तृतीय भेदं भविष्यदाक्षेपं निदर्शयति—**सत्यमिति**। हे वल्लभ प्रिय, त्वम् अन्यचुम्बनेन नायिकान्तरकर्तृकेन कदाचित् संभविष्यता त्वन्नेत्रचुम्बनव्यापारेण संक्रान्तया तदधरतः संप्राप्तया लाक्षया रक्तेन अरुणीभूतेन चक्षुषा दृशा मां द्रष्टुं वीक्षितुं न लप्स्यसे न शक्ष्यसि इति सत्यम् अवितथं ब्रवीमि। नायिकान्तरसंपर्कदूषितश्चेत्त्वं भविष्यसि मम लोकान्तरप्रस्थानं ध्रुवं स्यादित्याशयः।

हे प्रिय, मैं सच कहती हूँ, किसी अन्य स्त्री द्वारा किए जाने वाले तुम्हारे (नेत्रों के) चुम्बन के फलस्वरूप, (उसके होठों में लगे) लाक्षारस के संक्रमण से रक्तवर्ण हो गई अपनी आँखों से तुम मुझे नहीं देख पाओगे (अर्थात् यदि कभी तुम किसी अन्य स्त्री से संपर्क स्थापित करोगे, तो मैं मर जाऊँगी, जिससे तुम मुझे कभी न देख सकोगे)।

सोऽयं भविष्यदाक्षेपः प्रागेवातिमनस्विनी ।
कदाचिदपराधोऽस्य भावीत्येवमरुन्द्ध यत् ॥१२६॥

उदाहरणमुपपादयति—सोऽयमिति। यद् यतः अत्रोदाहरणे अतिमनस्विनी सातिशयमानवती काचित् नायिका कदाचिद् अस्य प्रियस्य अपराधः नायिकान्तर-प्रसक्तिरूपः भावी संभविष्यति इति आशङ्कमाना प्रागेव प्रियद्वारा अपराधाचरणात्पूर्वमेव एवम् उक्तप्रकारेण अरुन्द्ध तं निवारितवती निषिद्धवती वा, तस्माद् हेतोः सोऽयमाक्षेपः भविष्यदर्थप्रतिषेधरूपत्वाद् भविष्यदाक्षेपो नाम ।

यहाँ कोई अत्यन्त मनस्विनी (=स्वाभिमानशील) नायिका 'शायद कभी यह मेरा प्रेमी (अन्य नायिका से संपर्कस्थापन-रूप) अपराध कर बैठे'—इस आशंका से (उसके द्वारा ऐसा अपराध होने से) पहले ही उसे चेतावनी देती है, अतः यहाँ (भविष्यद्-विषयक वस्तु का प्रतिषेध होने से) भविष्यदाक्षेप है।

तव तन्वङ्गि मिथ्यैव रूढमङ्गेषु मार्दवम् ।
यदि सत्यं मृदून्येव किमकाण्डे रुजन्ति माम् ॥१२७॥

त्रैकाल्यापेक्षिभेदान्निरूप्याधुना आक्षेप्यार्थाधारितान् भेदान् दिङ्मात्रं व्याचिख्यासुस्तेषु प्रथमं धर्माक्षेपमुदाहरति—तवेति। हे तन्वङ्गि कृशगात्रि, तव अङ्गेषु मार्दवं सौकुमार्यं मिथ्यैव सर्वथा मृषैव रूढं प्रसिद्धमस्ति। तवाङ्गानि मृदूनीति मिथ्याप्रसिद्धिरेव। तथाहि यदि तवाङ्गानि सत्यं मृदूनि एव तर्हि तानि अकाण्डे सहसा अकारणं वा मां त्वदनुरागवन्तं किं कुतः रुजन्ति पीडयन्ति, व्यथयन्तीत्यर्थः। न हि किंचिन्मृदु वस्तु पीडाकरं स्यात् कठोरस्यैव पीडनप्रकृतित्वात्।

हे कृशाङ्गी, तुम्हारे अङ्गों की तथाकथित सुकुमारता अवास्तविक ही है। यदि सचमुच ही तुम्हारे अङ्ग सुकुमार हैं तो वे मुझे सहसा पीडित क्यों करते हैं?

धर्माक्षेपोऽयमाक्षिप्तमङ्गनागात्रमार्दवम् ।
कामुकेन यदत्रैवं कर्मणा तद्विरोधिना ॥१२८॥

उक्तमुदाहरणं विशदयति—धर्माक्षेप इति। यद् यतः अत्रोदाहरणे अङ्गनायाः कस्याश्चिन्नायिकायाः गात्राणाम् अङ्गानां मार्दवं कामुकेन तत्प्रियेण एवं तद्विरोधिना मार्दवप्रतिकूलेन पीडनरूपेण कर्मणा व्यापारेण, नायिकाङ्गकर्तृकं पीडनं तदङ्गपारुष्यव्यञ्जकत्वेन उपन्यस्येत्यर्थः, आक्षिप्तं प्रतिषिद्धं, तस्मादयमाक्षेपः मार्दवरूपस्य अङ्गनाङ्गधर्मस्य आक्षेपाद् धर्माक्षेपो नाम ।

इस (उक्त उदाहरण) में किसी नायिका के अङ्गों की सुकुमारता का, उसके

प्रेमी द्वारा इस प्रकार (उन अङ्गों में) सुकुमारता-विरोधी (परपीडनरूप) व्यापार दिखाकर, निषेध किया गया है; अतः यहाँ (नायिका के शरीर के स्वाभाविक धर्म—मृदुता—का निषेध वर्णित होने के कारण) धर्माक्षेप है।

सुन्दरी सा न वेत्येष[1] विवेकः कस्य[2] जायते ।
प्रभामात्रं हि तरलं दृश्यते न तदाश्रयः[3] ॥१२९॥

द्वितीयं भेदमुदाहरति—सुन्दरीति। सा विवक्षिता काचित् सुन्दरी अस्ति नास्ति वा इति तद्भावनिर्णयरूपस्तदभावनिर्णयरूपो वा विवेकः निश्चयात्मकं ज्ञानं कस्य जायते, न कोऽपि तद् निश्चयेन ज्ञातुं प्रभवेदित्यर्थः। यतो हि तरलं चञ्चलम्, इतस्ततः विसृमरम् अतश्च नेत्रप्रतिघाति दुर्निरीक्ष्यं च, प्रभामात्रं कान्तिरेव केवला धर्मभूता दृश्यते चक्षुषा गृह्यते, न तु तदाश्रयः तत्प्रभारूप-धर्मस्याश्रयः तद्देहरूपमधिकरणं धर्मिभूतं दृग्गोचरीभवति। धर्ममात्रदर्शनेन न धर्मिणो निश्चयात्मको विवेकः संभवेदिति प्रकृत आशयः।

वह सुन्दरी (नायिका) है भी या नहीं (=उसका अस्तित्व भी है या नहीं)—इस बात का निश्चयपूर्वक ज्ञान किसे हो सकता है?—क्योंकि केवल एक तरल (=चञ्चल अतश्च आँखों को चुंधियाने वाली) प्रभा ही दीख पड़ती है, उस (प्रभा) का आश्रय (अर्थात् सुन्दरी का शरीर) दृष्टिगोचर नहीं होता।

तु० अभिज्ञानशाकुन्तल १.२८: न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्।

धर्म्याक्षेपोऽयमाक्षिप्तो धर्मी धर्मं प्रभाह्वयम् ।
अनुज्ञायैव[4] यद्रूप[5]मत्याश्चर्यं विवक्षता ॥१३०॥

उक्तमुदाहरणमुपपादयति—धर्म्याक्षेप इति। यद् यतः अत्रोदाहरणे अत्याश्चर्यं स्वाश्रयस्यापि तिरोधायकत्वाद् अत्याश्चर्यावहं नायिकायाः रूपं लावण्यं विवक्षता वक्तुमिच्छता तत्प्रियेण प्रभाह्वयं कान्तिनामकं धर्मं नायिकादेहगुणम् अनुज्ञाय स्वीकृत्य एव धर्मी तत्प्रभाश्रयभूतो नायिकादेहः आक्षिप्तः प्रतिषिद्धः, तस्माद् धर्मिण आक्षेपादयमाक्षेपो धर्म्याक्षेपो नाम।

यहाँ (किसी नायिका के) अत्यन्त आश्चर्यकारी रूप का वर्णन करने के इच्छुक नायक ने उसके प्रभा नामक धर्म (=गुण) को स्वीकार करते हुए भी (उस धर्म के आश्रयभूत) धर्मी अर्थात् नायिका के शरीर का प्रतिषेध किया है; अतः यहाँ (धर्मी का आक्षेप होने से) धर्म्याक्षेप है।

---

१. भवत्येवं, वा न वेत्येष, सा सुन्दरीयमित्येष। २. केन। ३. तत्र ना-। ४. अनुज्ञायेव, -यात्र। ५. तद्रूपम्।

चक्षुषी तव रज्येते स्फुरत्यधरपल्लवः[1] ।
भ्रुवौ च भुग्ने[2] न तथाप्यदुष्टस्यास्ति मे भयम् ॥१३१॥

तृतीयं भेदं कारणाक्षेपं निदर्शयति—**चक्षुषी** इति । मानिनीं प्रियां प्रत्युक्तिरियम् । तव चक्षुषी नयने रज्येते कोपोदयाद् आरक्ते भवतः, अधरपल्लवः पल्लवाभः ओष्ठः स्फुरति कम्पते, भ्रुवौ च ते भुग्ने कुटिलतां गते । तथापि एवं कुपितायामपि त्वयि अदुष्टस्य निर्दोषस्य नायिकान्तरसंपर्कस्थापनरूपापराधरहितस्य मे न भयं किंचिज्जायते ।

(हे मानिनी,) तुम्हारी आँखें (क्रोध से) लाल हो रही हैं, होंठ-रूपी पल्लव फड़क रहे हैं और भौंहें टेढ़ी हो गई हैं। फिर भी, चूंकि मैं (किसी अन्य स्त्री से संपर्क स्थापित करने के) अपराध से रहित हूँ, मुझे डर नहीं लग रहा है।

स एष[3] कारणाक्षेपः प्रधानं कारणं भियः[4] ।
स्वापराधो निषिद्धोऽत्र यत्प्रियेण पटीयसा ॥१३२॥

उक्तोदाहरणं विवृणोति—**स एष** इति । यद् यतः अत्रोदाहरणे पटीयसा चतुरतरेण मानिन्यनुनयननिपुणेन प्रियेण भियः मानिनीहेतुकस्य भयस्य प्रधानं मुख्यं कारणं स्वापराधः अन्यस्त्रीसंपर्करूपः निषिद्धः आत्मानमदुष्टं कथयता प्रतिषिद्धः, तस्मादत्र एष आक्षेपो निजापराधरूपस्य भयकारणस्याक्षेपात् कारणाक्षेपो नाम । अत्र भयरूपस्य कार्यस्याप्याक्षेपो वर्तत इति वक्ष्यमाणः कार्याक्षेपोऽप्यस्ति । एवं चाक्षेपद्वयस्य संकरः ।

यहाँ (अपने अपराध को छिपाने और मानिनी का मनुहार करने में) निपुण प्रेमी द्वारा अपने भय के प्रमुख कारण—(अन्य स्त्री से संपर्क-स्थापन रूप) अपने अपराध—का निषेध किया गया है; अतः यहाँ कारणाक्षेप **है।**

उक्त उदाहरण में भय रूप कार्य का भी निषेध है, अतः कार्याक्षेप की भी स्थिति है। इस प्रकार यहाँ इन दोनों आक्षेपों का संकर है। शुद्ध कारणाक्षेप का उदाहरण, प्रेमचन्द्र तर्कवागीश के अनुसार, निम्नलिखित है : **अस्माकं सखि वाससी न रुचिरे ग्रैवेयकं नोज्ज्वलं, नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं नैवास्ति कश्चिन्मदः । किं त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियो नान्यतो, दृष्टिं निक्षिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दुःस्थितम् ॥** यहाँ प्रिय के वशीभाव-रूप कार्य के कारणों—वस्त्ररुचिरत्व आदि—का निषेध है। शुद्ध कारणाक्षेप का यह उदाहरण विभावना (२.१९९) के लक्षण से संस्पृष्ट-सा प्रतीत होता है,

---

१. -पल्लवम् । २. भुग्नो । ३. एव । ४. ह्रियः ।

यद्यपि दोनों अलंकारों के विषयक्षेत्र में स्पष्ट अन्तर है। वस्तुतः दण्डी का उदाहरण ही निम्नलिखित उत्तरार्ध के साथ शुद्ध कारणाक्षेप का निदर्शन हो सकता है : **भ्रुवौ च भुग्ने न च मे दोषः कश्चन मानिनि ॥** कारणाक्षेप का यह रूप उत्तरवर्ती युग के विभावना अलंकार (तु० साद० १०.६६ : **विभावना विना हेतु कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते**) के पर्याप्त निकट है।

दूरे प्रियतमः सोऽयमागतो जलदागमः।
दृष्टाश्च फुल्ला निचुला न मृता चास्मि किं न्विदम्[1] ॥१३३॥

आक्षेप्यार्थापेक्षिभेदेषु चतुर्थं कार्याक्षेपमुदाहरति—**दूर** इति। प्रियतमः दूरे विदेशे वर्तते, स चायं जलदागमः (विरहिणो जनान् पर्युत्सुकयिता) वर्षाकालः आगतः समुपस्थितः। अथ च फुल्लाः पुष्पिताः निचुलाः स्थलवेतसाः दृष्टाः प्रत्यक्षीकृताः, न चाहं मृता विरहतापाद्उपरतास्मि। प्रोषितपतिकाऽहं विरहिणीप्राणदारुणे वर्षर्तौ समुपागतेऽपि जीवामि इति किं नु इदम्, आश्चर्यमिदमित्यर्थः।

प्रियतम दूर (विदेश में) है, यह वर्षाकाल आ गया है और ये वानीरतरु फूलों से लदे दिखाई पड़ने लगे हैं; फिर भी मैं मरी नहीं (जी रही हूँ)—यह क्या बात है ?

वर्षा ऋतु को विरही जनों के लिए प्राणघाती कहा गया है। कालिदास द्वारा की गई मेघरूप दूत की प्रसिद्ध कल्पना के पीछे इस ऋतु का यही उद्दीपन-पक्ष मुखर है।

कार्याक्षेपः स कार्यस्य मरणस्य निवर्तनात्।
तत्कारणमुपन्यस्य दारुणं जलदागमम् ॥१३४॥

उदाहरणं व्याचष्टे—**कार्याक्षेप** इति। तस्य (मरणस्य) कारणं कारणभूतं दारुणम् अतिकठोरं दुःसहं वा जलदागमं वर्षाकालम् उपन्यस्य उपस्थाप्य कार्यभूतस्य मरणस्य निवर्तनात् प्रतिषेधात्, न मृतास्मीति मरणोपस्थितिनिषेधादित्यर्थः, सोऽयमाक्षेपः कार्याक्षेपो नाम। गुणजात्यादिवैकल्यदर्शनलक्षणेन विशेषोक्त्यलंकारेण तुलनीयोऽयमाक्षेपः।

यहाँ (विरहिणी की मृत्यु के) कारण-भूत दारुण (=कठोर अथवा असह्य) वर्षाकाल की उपस्थिति दिखाकर उसके कार्य-भूत (विरहिणी की) मृत्यु का प्रतिषेध किया गया है; अतः यह कार्याक्षेप है।

आक्षेप का यह भेद गुण, जाति आदि के वैकल्यदर्शन-रूप विशेषोक्ति

---

१. न्वहम्।

अलंकार (२.३२३-६) से तुलनीय है। उत्तरवर्ती युग के विशेषोक्ति अलंकार (तु० साद० १०.६७ : सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिः) के तो यह पर्याप्त निकट है। दोनों के बीच अन्तर दिखाते हुए रङ्गाचार्यशास्त्री लिखते हैं : कारणमित्यस्य प्रसिद्धकारणमित्यर्थस्वीकारेऽप्रसिद्धकारणोपन्यासे कार्याभावो विशेषोक्तिरिति विशेषोक्तेर्विषयः स्वतन्त्रो दर्शितो भवति। अन्यथोभयोर्विषयैक्याद् दुरवस्था स्यात्।

न चिरं मम तापाय तव यात्रा भविष्यति।
यदि यास्यसि यातव्य[1]मलमाशङ्कयात्र[2] ते ॥१३५॥

पञ्चममनुज्ञाक्षेपमुदाहरति—न चिरमिति। तव यात्रा प्रवासगमनं चिरं दीर्घकालं यावत् त्वद्विरहितायाः मम तापाय दुःखाय न भविष्यति, त्वद्वियोगे सद्य एव मृताहं न चिरं दुःखमनुभविष्यामीति गूढार्थः। अतः यदि यास्यसि अवश्यं चेत्त्वया गन्तव्यं तर्हि यातव्यमेव, अत्र मदीयदुःखविषये तु ते तव आशङ्कया अलम्, मद्विरहे दुःखितेयं स्यादित्याशङ्का न त्वया विधेयेत्यर्थः।

तुम्हारी प्रवासयात्रा मेरे लिए अधिक समय तक दुःख का कारण नहीं बनेगी। इसलिए यदि तुमने जाना है तो जाओ; इस संबन्ध में (मैं तुम्हारे विरह में चिरकाल तक दुःखित रहूंगी—यह) आशङ्का मत करो।

'तुम्हारे वियोग में मैं मर जाऊंगी और इस प्रकार तुम्हारे विरह के दुःख से सदा के लिए मुक्त हो जाऊंगी'—यह यहाँ निगूढ अर्थ है।

इत्यनुज्ञामुखेनैवं[3] कान्तस्याक्षिप्यते गतिः।
मरणं सूचयन्त्यैव[4] सोऽनुज्ञाक्षेप इष्यते[5] ॥१३६॥

उक्तमुदाहरणं विश्लेषयति—इत्यनुज्ञेति। अत्र मरणं प्रियविरहे निजप्राणात्ययं सूचयन्त्या व्यञ्जयन्त्या एव नायिकया एवमुक्तप्रकारेण अनुज्ञामुखेन प्रवासगमनानुमतिद्वारेण कान्तस्य प्रियस्य गतिः विदेशगमनम् आक्षिप्यते प्रतिषिध्यते। सोऽयमाक्षेपः आक्षेपस्य अनुज्ञामुखत्वाद् अनुज्ञाक्षेपः इति इष्यते। अर्वाचीना इमम् 'अनिष्टार्थस्य विध्याभास आक्षेप' इति व्याख्यान्तरेण परिगृहीतमपरमाक्षेपमाहुः।

इस प्रकार यहाँ (प्रियविरह में अपनी अवश्यंभावी) मृत्यु का संकेत करती हुई नायिका (अपने प्रिय को प्रवासगमन की) अनुमति देते हुए उसकी

---

१. याहि त्वम्। २. आशङ्कयापि। ३. -नैव। ४. -यन्त्येति। ५. उच्यते, ईदृशः।

प्रवासयात्रा का निषेध करती है; अतः (अनुमति द्वारा आक्षेप होने के कारण) अनुज्ञाक्षेप है।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसे अनिष्ट अर्थ के विध्याभास (=अनुमति-सा आभासित होने वाले) निषेध के रूप में आक्षेप का एक अन्य प्रकार माना है; **तु० साद० १०.६५ : अनिष्टस्य तथार्थस्य विध्याभासः परो मतः।** अप्पय दीक्षित (कुवलया० ७५) ने दण्डी के उक्त उदाहरण को इसी आक्षेप-प्रकार के निदर्शन के रूप में उद्धृत किया है। इस आक्षेप-भेद का दण्डी द्वारा दिया गया 'अनुज्ञाक्षेप' नाम भ्रामक है, क्योंकि इसमें, कारणाक्षेप आदि के समान, अनुज्ञा आक्षेप का विषय नहीं है; प्रत्युत इसमें एवं अनुक्रोशाक्षेप (२.१५८) तक के आक्षेप-भेदों में आक्षेप्य अर्थ प्रिय की प्रवासयात्रा है जो अनुमति, अनादरभाव, आदेश आदि द्वारा आक्षिप्त हुई है।

धनं च बहु लभ्यं ते सुखं क्षेमं च वर्त्मनि।
न च मे प्राणसंदेहस्तथापि प्रिय मा स्म गाः ॥१३७॥

षष्ठं भेदं प्रभुत्वाक्षेपं निदर्शयति—**धनमिति**। हे प्रिय, ते तव प्रवासगमने व्यापारादिना बहु प्रभूतं धनं लभ्यम्, वर्त्मनि पथि च सुखं सौख्यं क्षेमं कुशलं चापि त्वयाधिगन्तव्यम् एव। मे मम च (त्वद्वियोगात्) प्राणसंदेहः मरणाशङ्का नास्ति, तथापि एवं यात्रापरिपन्थिकारणानाम् अभावेऽपि त्वं मा स्म गाः न प्रवासाय याहि। नाहं तव प्रवासगमनमनुजाने इति भावः।

हे प्रिय, तुम्हें (प्रवास में व्यापार आदि से) प्रचुर मात्रा में धन भी प्राप्त हो जाएगा और मार्ग में तुम्हें सुख-सुविधा एवं कल्याण भी प्राप्त होगा ही। (तुम्हारे वियोग में) मेरे प्राणों के विषय में संशय भी नहीं है। फिर भी तुम न जाओ (=मैं तुम्हें जाने नहीं देती)।

इत्याचक्षाणया[1] हेतून् प्रिययात्रानुबन्धिनः[2]।
प्रभुत्वेनैव रुद्धस्तत्[3] प्रभुत्वाक्षेप इष्यते[4] ॥१३८॥

उक्तमुदाहरणं विशदयति—**इत्याचक्षाणयेति**। इत्येवंप्रकारेणात्र प्रिययात्रानुबन्धिनः प्रियप्रवासगमनौचित्यपरिपोषकान् हेतून् धनलाभादिरूपान् आचक्षाणया कथयन्त्या स्वाधीनपतिकया प्रियः प्रभुत्वेन प्रियविषयेण स्वातन्त्र्येण एव रुद्धः विदेशयात्रातो निवारितः। तत् तस्माद् अत्र प्रियप्रवासयात्राप्रतिषेधस्य प्रियानिष्ठप्रभुत्वहेतुत्वात् प्रभुत्वाक्षेपः।

---

१. प्रत्या-। २. -सरोधिनः, -विबन्धिनः, -नुरोधिनः, -यात्रां विबध्नतः। ३. तु। ४. उच्यते, ईदृशः।

इस प्रकार यहाँ प्रिय की प्रवासयात्रा के पक्ष में हेतु उपस्थापित करते हुए भी (स्वाधीनपतिका) नायिका ने प्रिय पर अपने प्रभुत्व (=अधिकार) द्वारा ही उसे (यात्रा से) रोका है; अतः यह (आक्षेप-भेद) प्रभुत्वाक्षेप के रूप में अभीष्ट है।

यहाँ भी आक्षेप्य अर्थ प्रभुत्व न होकर प्रिय की प्रवासयात्रा है। भोज (सरस्व० ४, उदा० १५८) ने उक्त उदाहरण को आक्षेप के प्रसङ्ग में उद्धृत किया है।

जीविताशा बलवती धनाशा दुर्बला मम।
गच्छ वा तिष्ठ वा कान्त स्वावस्था तु निवेदिता ॥१३९॥

सप्तमं भेदमनादराक्षेपं निदर्शयति—जीविताशेति। मम जीविताशा प्राणेष्वासक्तिः बलवती गरीयसी अस्ति, तदपेक्षया च धनाशा धनप्राप्त्यभिलाषः दुर्बला क्षीणा वर्तते। विदेशव्यापारार्जिताद् धनाद् जीवितं मे प्रियतरं, तच्च त्वय्यत्र वसत्येव संभवमित्यर्थः। एवं स्थिते, हे कान्त, त्वं गच्छ वा तिष्ठ वा, न मयात्र किंचिद्वक्तव्यम्। मया तु केवलं स्वावस्था स्वमनःस्थितिः निवेदिता कथिता।

जीते रहने की मेरी इच्छा प्रबल है, तथा धन पाने की इच्छा (उसकी तुलना में) दुर्बल है। हे प्रिय, तुम जाओ या रहो (मुझे कुछ नहीं कहना); मैंने तो केवल अपने मन की स्थिति तुम्हें निवेदित की है।

असावनादराक्षेपो यदनादरवद्वचः।
प्रियप्रयाणं रुन्धत्या प्रयुक्तमिह रक्तया ॥१४०॥

उदाहरणं व्याचष्टे—असाविति। यद् यतः इहोदाहरणे रक्तया प्रियानुरागपरायणया कयाचिन्नायिकया प्रियस्य प्रयाणं विदेशगमनं रुन्धत्या निषेधन्त्या अनादरवद् अनादरयुक्तम्, औदासीन्यसूचकमित्यर्थः, वचः **गच्छ वा तिष्ठ वा** इतिरूपं प्रयुक्तं, तस्मादयमसौ अनादराक्षेपो नामाक्षेपभेदः।

यहाँ (प्रस्तुत उदाहरण में) किसी अनुरागपूर्ण नायिका ने अपने प्रिय के प्रवासगमन को रोकने के इरादे से ('तुम जाओ या यहीं रहो' इस प्रकार) अनादरयुक्त (=उदासीनतासूचक) शब्दों का प्रयोग किया है; अतः यह अनादराक्षेप है।

यहाँ प्रिय की प्रवासयात्रा का निषेध वाच्य नहीं, व्यङ्ग्य है; उसकी यह व्यङ्ग्यता नायिका के उदासीनतासूचक शब्दों से निष्पन्न हुई है (स्पष्ट है कि यहाँ भी अनादर आक्षेप का विषय नहीं)। प्रवासयात्रानिषेध-रूप वस्तु की

व्यङ्ग्यता के कारण यहाँ वस्तुध्वनि है; हेमचन्द्र (काअनु०, पृ० ३७८) ने उक्त पद्य को, इसीलिए, वस्तुध्वनि के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। आक्षेप के कतिपय अन्य भेदों (जैसे—परुष–, यत्न–, परवश–, उपाय–, रोष–, मूर्च्छा– और अनुक्रोश–) के उदाहरणों में भी ध्वनि की स्थिति है। **रसगङ्गाधर** (जिल्द ३, पृ० ४०२) के अनुसार ध्वनिकार की दृष्टि में सभी प्रकार का सव्यङ्ग्य निषेध इस अलंकार का विषय है। इस दृष्टि से यह गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य की सीमा में आ जाता है। **अग्निपुराण** (३४५.१४) के लेखक ने तो आक्षेप को ध्वनि ही मान लिया है : **स आक्षेपो ध्वनिः स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यतः।**

गच्छ गच्छसि चेत्कान्त पन्थानः सन्तु ते शिवाः।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद् यत्र गतो भवान् ॥१४१॥

अष्टमं भेदमाशीर्वचनाक्षेपमुदाहरति—**गच्छेति**। हे कान्त, गच्छसि चेद् यद्यवश्यं गन्तव्यं तर्हि गच्छ, प्रस्थितस्य ते पन्थानः मार्गाः शिवाः कल्याणप्रदाः, निर्विघ्नाः, सन्तु। त्वद्विरहदुःखादुपरतायाः मम अपि जन्म तत्र एव भूयाद् यत्र भवान् गतः। प्रस्थिते त्वयि मम मरणं निश्चितं, ततश्च पुनर्जन्मापि ध्रुवम्। एवं स्थिते यत्र तव प्रवासावस्थानं तत्रैवाहं निजजन्म आशास इति भावः।

हे प्रिय, यदि तुम्हें (अवश्य) जाना है तो जाओ; तुम्हारे मार्ग कल्याण-कारी (=निर्विघ्न) हों। (तुम्हारे जाने के बाद, मैं चाहती हूँ कि,) मेरा भी जन्म वहीं हो जहाँ तुम जा रहे हो।

इत्याशीर्वचनाक्षेपो यदाशीर्वादवर्त्मना।
स्वावस्थां सूचयन्त्यैव कान्तयात्रा निषिध्यते ॥१४२॥

उक्तमुदाहरणं विवृणोति—**इत्याशीरिति**। इति अत्रोदाहरणे यद् यतः नायिकया आशीर्वादवर्त्मना निजाभीष्टकथनमुखेन, 'यत्र भवान् गतस्तत्रैवाहं जन्म लप्सीय' इति स्वाभिलाषव्यक्तिमार्गेण इत्यर्थः, स्वावस्थां प्रियविरहे भविष्यन्तीं निजां स्थितिं मृत्युप्राप्तिरूपां सूचयन्त्या व्यञ्जयन्त्या एव कान्तयात्रा प्रियप्रवासगमनं निषिध्यते निवार्यते, तस्मादत्र आशीर्वचनाक्षेपो नामाक्षेपभेदः।

यहाँ कोई नायिका ('मेरा जन्म वहीं हो जहाँ आप जा रहे हैं'—इस प्रकार अपने जन्म के सम्बन्ध में) आशंसाकथन के माध्यम से (प्रियविरह में होने वाली) अपनी अवस्था (अर्थात् मृत्यु) को सूचित करती हुई प्रिय की विदेशयात्रा का निषेध करती है; इसलिए यहाँ (आशंसाकथन द्वारा आक्षेप होने से) आशीर्वचनाक्षेप है।

उत्तरवर्ती आचार्यों के अनुसार यहाँ अनिष्ट अर्थ का विध्याभास आक्षेप

है (द्र० २.१३६ पर टि०)। रुय्यक (अलंसर्व०, ३६, वृत्ति) और (साद० १०.६५) ने उक्त पद्य (२.१४१) को इसी आक्षेप-प्रकार के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है (तु० सरस्व० ४, उदा० १४७; चन्द्रा० ५.७२; कुवलया० ७५, भी)। उक्त पद्य वल्लभदेव की सुभाषितावलि (सं० १०४०) में भी उद्धृत है।

यदि सत्यैव यात्रा ते काप्यन्या मृग्यतां[1] त्वया।
अहमद्यैव रुद्धास्मि रन्ध्रापेक्षेण[2] मृत्युना ॥१४३॥

नवमं भेदं परुषाक्षेपं निदर्शयति—यदीति। यदि ते यात्रा प्रवासयात्रा सत्या निश्चिता एव, तर्हि त्वया कापि अन्या प्रिया मृग्यताम् अन्विष्यताम्—या खलु त्वद्वियोगेऽपि जीवनधारणे समर्था स्यादिति ध्वनिः। अहं तु अद्यैव त्वत्प्रस्थानक्षणे एव रन्ध्रापेक्षेण त्वद्विरहदुःखासहनलक्षणं मदीयं रन्ध्रं दौर्बल्यं तस्य अपेक्षा यस्य तादृशेन मच्छिद्रान्वेषणतत्परेण मृत्युना रुद्धा आक्रान्ता अस्मि। त्वयि प्रस्थितेऽनुपदमेव मृत्युर्मम प्राणान् हरिष्यतीति भावः।

(हे प्रिय,) यदि तुम्हारी प्रवासयात्रा निश्चित है, तो तुम कोई दूसरी (प्रेयसी) ढूंढ़ लो, क्योंकि मैं तो आज (तुम्हारे प्रस्थानक्षण में) ही, (तुम्हारे वियोग को न सह सकने की मेरी) दुर्बलता की ताक में रहने वाली मृत्यु द्वारा घेर ली गई हूँ (अर्थात् तुम्हारे प्रस्थान करते ही मौत मेरे प्राण ले लेगी)।

इत्येष परुषाक्षेपः परुषाक्षरपूर्वकम्।
कान्तस्याक्षिप्यते यस्मात्प्रस्थानं प्रेमनिघ्नया ॥१४४॥

उदाहरणं व्याचष्टे—इत्येष इति। यस्माद् यतः अत्र प्रेमनिघ्नया प्रियानुरागपरवशया नायिकया कान्तस्य प्रस्थानं विदेशयात्रा परुषाक्षरपूर्वकं काप्यन्या मृग्यतां त्वयेति निष्ठुरवचनप्रयोगपूर्वकम् आक्षिप्यते, तस्माद् एष परुषाक्षेपो नामाक्षेपभेदः।

यहाँ प्रेम-परवश कोई नायिका अपने प्रिय की प्रवासयात्रा को ('तुम कोई दूसरी प्रेयसी ढूंढ़ लो'—इस प्रकार के) कठोर शब्दों के प्रयोग द्वारा रोकती है; अतः यह परुषाक्षेप का उदाहरण है।

अनादराक्षेप के समान यहाँ भी आक्षेप व्यङ्ग्य है, वाच्य नहीं (तु० २.१४० पर टि०)।

---

१. काप्यनुग्राह्यतां। २. –वेक्षेण, –न्वेषेण, –न्वेषण–।

गन्ता चेद् गच्छ तूर्णं ते कर्णौ यान्ति[1] पुरा रवाः ।
आर्तबन्धुमुखोद्गीर्णाः[2] प्रयाणपरिपन्थिनः[3] ॥१४५॥

दशमं भेदं साचिव्याक्षेपमुदाहरति—गन्तेति । गन्ता चेत् प्रवासाय गमिष्यसि गन्तुमना वा चेदसि, तर्हि तूर्णं शीघ्रं गच्छ प्रतिष्ठस्व, यतो हि आर्ताः मन्मरणशोकातुराः ये बन्धवः बन्धुजनाः तेषां मुखेभ्यः उद्गीर्णाः अथ च प्रयाणपरिपन्थिनः त्वद्विदेशयात्राप्रतिरोधिनः रवाः क्रन्दनध्वनयः ते कर्णौ पुरा यान्ति संप्रत्येव यास्यन्ति (पुरायोगे भविष्यदर्थे लट्; तु० पाणिनि ३.३.४ : **यावत्पुरानिपातयोर्लट्**)। यावत्त्वद्यात्राप्रतिबन्धको मन्मृत्युसमनन्तरोत्थितरोदनध्वनिर्न ते श्रवणगोचरीभवति तावदेव प्रस्थानं कुरु मा विलम्बिष्ठा इति भावः।

यदि तुमने (प्रवास पर) जाना है तो शीघ्र जाओ, (क्योंकि मेरी मृत्यु के शोक से) व्याकुल बन्धुजनों के मुख से निकली क्रन्दनध्वनि, जो तुम्हारी यात्रा में बाधक होगी, तुम्हारे कानों में पड़ने ही वाली है।

साचिव्याक्षेप एवैष यदत्र प्रतिषिध्यते ।
प्रियप्रयाणं साचिव्यं कुर्वत्यैवा[4]तिरक्तया ॥१४६॥

उदाहरणं विशदयति—**साचिव्याक्षेप** इति । यद् यतः अत्रोदाहरणे अतिरक्तया अनुरागातिशयवत्या नायिकया तूर्णं गच्छेत्यनेन वचनेन साचिव्यं सचिवत्वं सहायभावं वा कुर्वत्या एव प्रियप्रयाणं प्रतिषिध्यते, तत एष साचिव्याक्षेपो नामाक्षेपभेदः।

यहाँ प्रगाढ अनुराग से पूर्ण कोई नायिका ('शीघ्र यहाँ से चल पड़ो'—इस प्रकार) साचिव्य अथवा सहायता करती हुई ही अपने प्रिय की प्रवासयात्रा को रोकती है; अतः यहाँ (साचिव्य द्वारा आक्षेप—प्रतिषेध—होने से) साचिव्याक्षेप है।

यहाँ भी अनिष्ट अर्थ का विध्याभास निषेध है (द्र० २.१३६ पर टि०)।

गच्छेति वक्तुमिच्छामि त्वत्प्रियं मत्प्रियैषिणी[5] ।
निर्गच्छति मुखाद्वाणी मा गा इति करोमि किम् ॥१४७॥

एकादशं भेदं यत्नाक्षेपं निदर्शयति—**गच्छेति** । अहं त्वत्प्रियं त्वदनुकूलं **गच्छ** इति वचः वक्तुम् इच्छामि, किंतु मम मुखाद् **मा गाः** न गच्छ इति मत्प्रियैषिणी मत्प्रियेच्छुका, मदभीष्टानुकूलेत्यर्थः, वाणी वाग् निर्गच्छति निर्याति।

---

१. यन्ति । २. -जनोद्गीर्णाः । ३. -प्रति-, -प्रतिबन्धिनः । ४. कुर्वत्येवा-, कुर्वत्यैकान्त- । ५. मत्प्रिय त्वत्प्रियैषिणी ।

इति अत्र किं करोमि ? कृतेऽपि यत्नेऽसाफल्यात् किं करवाणि निरुपायेति भावः।

मैं तुम्हारी इच्छा के अनुकूल 'जाओ'—ऐसा कहना चाहती हूँ, (परन्तु) मेरे मुख से मेरी अपनी इच्छा के अनुकूल 'मत जाओ'—ये शब्द (बरबस) निकल पड़ते हैं। इसमें मैं क्या करूँ?

यत्नाक्षेपः स यत्नस्य कृतस्यानिष्टवस्तुनि।
विपरीतफलोत्पत्तेरानर्थक्योपदर्शनात्[1] ॥१४८॥

उदाहरणं विवृणोति—**यत्नाक्षेप** इति। अनिष्टे अनभिलषिते गच्छेति वचनोच्चारणरूपे वस्तुनि कृतस्य यत्नस्य विपरीतं प्रतिकूलं यत् फलं परिणामः **मा गा** इति वचननिःसरणरूपः तस्य उत्पत्तेः कारणाद् आनर्थक्योपदर्शनाद् विहितयत्नवैयर्थ्यव्यञ्जनात् (तेन च प्रिययात्राक्षेपात्) सोऽयमाक्षेपो यत्नाक्षेपो नाम।

('जाओ'—ऐसा उच्चारण करने के रूप में) अनिष्ट अथवा अनभिमत वस्तु की सिद्धि के लिए किए गए प्रयत्न से (मुँह से 'मत जाओ' इन शब्दों के निकलने के रूप में) तद्विपरीत फल की उत्पत्ति होने से यहां (किए गए प्रयत्न की) व्यर्थता सूचित की गई है (एवं तद्द्वारा प्रिययात्रा का निषेध किया गया है); अतः यह यत्नाक्षेप **का उदाहरण है।**

अनादराक्षेप आदि के समान यहाँ भी आक्षेप (=प्रिययात्रानिषेध) व्यङ्ग्य है, वाच्य नहीं (तु० २.१४० पर टि०)। भोज (सरस्व० ४, उदा० १५३) ने उक्त उदाहरण को विध्याक्षेप के निदर्शन के रूप में उद्धृत किया है।

क्षणं[2] दर्शनविघ्नाय पक्ष्मस्पन्दाय[3] कुप्यतः।
प्रेम्णः प्रयाणं त्वं[4] ब्रूहि मया तस्येष्टमिष्यते ॥१४९॥

द्वादशं भेदं परवशाक्षेपमुदाहरति—**क्षणमिति**। क्षणं स्वल्पकालं दर्शनविघ्नाय त्वदवलोकनप्रतिबन्धिने पक्ष्मणां स्पन्दाय स्पन्दनक्रियायै अपि कुप्यतः कोपं कुर्वतः, त्वद्दर्शनविघ्नकरमक्षिनिमेषमपि असहमानस्येत्यर्थः, प्रेम्णः अनुरागस्य समीपे, न तु ममेति गतार्थः, प्रयाणं निजप्रवासगमनं त्वं ब्रूहि निवेदय, प्रेमाणं ननु गमनानुमतिं याचस्व न माम्। कथमित्याह—मया तु तस्य प्रेम्णः एव इष्टम् अभीष्टम् इष्यते। नाहं स्वतन्त्रा, अपितु प्रेमपरवशेत्यतः न मां किंतु प्रेमाणमेव विज्ञापयेत्यर्थः।

क्षण भर के लिए तुम्हारे दर्शन में बाधा उपस्थित करने वाले पलकों के स्पन्दन (=निमेष) पर भी कुपित हो जाने वाले प्रेम को ही तुम अपनी प्रवास-

---

१. -सूचनात्। २. क्षण-। ३. पक्ष्मा-। ४. ते।

यात्रा निवेदित करो (और उससे अपेक्षित अनुमति प्राप्त करो)। जो उसे अभीष्ट है वही मुझे भी अभीष्ट है (क्योंकि मैं पूर्ण रूप से उसके अधीन हूँ—प्रेम-परवश हूँ)।

सोऽयं[1] परवशाक्षेपो यत्प्रेमपरतन्त्रया ।
तया निषिध्यते यात्रान्यस्यार्थस्योपसूचनात्[2] ॥१५०॥

उदाहरणं विश्लेषयति—सोऽयमिति । यद् यतः अत्र प्रेमपरतन्त्रया प्रियानुरागपरवशया तया नायिकया अन्यस्य स्वभिन्नस्य अनुमतिप्रदानसमर्थस्य अर्थस्य प्रेमरूपस्य पदार्थस्य उपसूचनाद् निर्देशात्, तस्मिन्ननुज्ञायाचनस्य उपदेशादित्यर्थः, यात्रा प्रियगमनं निषिध्यते आक्षिप्यते, ततः सोऽयमाक्षेपः परवशाक्षेपो नाम ।

यहाँ प्रेम-परवश नायिका अपने से भिन्न (यात्रा की अनुमति प्रदान करने में समर्थ) अर्थ (अर्थात् प्रेम) का निर्देश करके (=उससे अनुमति प्राप्त करने की सलाह देकर) प्रिय को विदेशयात्रा से रोकती है; अतः यह परवशाक्षेप का उदाहरण है।

अनादराक्षेप आदि के समान यहाँ भी आक्षेप व्यङ्ग्य है, वाच्य नहीं (द्र० २.१४० पर टि०)।

सहिष्ये विरहं नाथ देह्यदृश्याञ्जनं मम[3] ।
यदक्तनेत्रां[4] कन्दर्पः प्रहर्ता[5] मां न पश्यति ॥१५१॥

त्रयोदशं भेदमुपायाक्षेपं निदर्शयति—**सहिष्य** इति । हे नाथ, अहं विरहं तव वियोगं सहिष्ये, तदर्थं तदुपायरूपं किंचन अदृश्याञ्जनम् अदृश्यत्वसाधकम् अञ्जनविशेषं मम मह्यं देहि, यदक्तनेत्रां येन अञ्जनेन अञ्जितनयनां मां खलु प्रहर्ता प्रहारशीलः उत्पीडको वा कन्दर्पः कामदेवः न पश्यति न वीक्षितुं क्षमः स्यात् ।

हे नाथ, मैं तुम्हारा वियोग सह लूंगी, (परंतु उसके उपाय के रूप में) तुम मुझे कोई अदृश्य बना देने वाला अञ्जन दो, जिसे आँखों में आँज लेने पर (विरहिजनों पर) प्रहार करने वाला कामदेव मुझे न देख सके।

---

१. अयं। २. यात्रेत्यस्यार्थस्योप-, यात्रा तस्यार्थस्योप-, यात्रेत्यन्यार्थस्योपदर्शनात्, यात्रा तस्यार्थस्योप-, तस्यार्थस्यैव सूच-। ३. यथा। ४. यद्रक्त-। ५. प्रहर्तुं।

दुष्करं जीवनोपायमुपन्यस्योपरुध्यते ।
पत्युः प्रस्थानमित्याहुरुपायाक्षेपमीदृशम् ॥१५२॥[1]

उदाहरणं व्याचष्टे—दुष्करमिति । अत्र दुष्करं दुर्लभम् असाध्यं वा जीवितोपायं कन्दर्पकर्तृकादर्शनसाधनाञ्जनविशेषप्रदानरूपं प्रियविरहिताया अपि आत्मनो जीवनस्योपायम् उपन्यस्य प्रस्तावरूपेण निर्दिश्य नायिकया पत्युः प्रियस्य प्रस्थानं प्रवासयात्रा उपरुध्यते निवार्यते इति ईदृशम् आक्षेपं (तस्यासाध्योपायोपन्यासद्वारकत्वाद्) उपायाक्षेपम् आहुः ।

यहाँ (विरहावस्था में भी अपने) जीते रह सकने के सर्वथा असाध्य उपाय (अर्थात् अदृश्यतासाधक अञ्जन के प्रदान) की प्रस्तावना करके नायिका अपने पति की प्रवासयात्रा को रोकती है; इस प्रकार के आक्षेप को उपायाक्षेप कहते हैं ।

अनादराक्षेप आदि के समान यहाँ भी आक्षेप व्यङ्ग्य है, वाच्य नहीं । उक्त प्रकार के अञ्जन की असंभवता अथवा उसके प्रयोग से कामदेव की दृष्टि और उसके प्रहार से बच सकने की असंभवता से यहाँ नायिका द्वारा पति की प्रवासयात्रा का प्रतिषेध सूचित होता है ।

प्रवृत्तैव प्रयामीति वाणी वल्लभ ते मुखात् ।
अयतापि त्वयेदानीं मन्दप्रेम्णा ममास्ति किम् ॥१५३॥

चतुर्दशं भेदं रोषाक्षेपमुदाहरति—प्रवृत्तैवेति । हे वल्लभ प्रिय, ते तव मुखात् प्रयामि गच्छामि इति वाणी प्रेममन्दत्वव्यञ्जिका वाक् प्रवृत्ता निर्गता एव । अतः इदानीम् अयता अगच्छता अपि, प्रवासाय प्रस्थानमकुर्वतापि, मन्दप्रेम्णा प्रयाणचर्चानुमितानुरागशैथिल्येन त्वया मम किं प्रयोजनं स्यात्, न किमपीत्यर्थः । कथं त्वं प्रयाणवार्तामपि कर्तुमुदसहथा इति मानिन्यत्र रोषं प्राप्ता ।

हे प्रिय, तुम्हारे मुँह से 'मैं जा रहा हूँ'—यह (अनुरागशैथिल्य सूचक) बात निकल ही गई । अब तो यदि तुम न भी जाओ तो भी (मेरे प्रति) मन्द अनुराग वाले तुमसे मुझे क्या ?

प्रिय द्वारा प्रवासगमन की चर्चामात्र ही प्रेयसी के प्रति उसके अनुराग की शिथिलता का सूचक है, और यह मानिनी के रोष का कारण है ।

रोषाक्षेपोऽयमुद्रिक्तस्नेहनिर्यन्त्रणात्मना[2] ।
संरब्धया प्रियारब्धं प्रयाणं यन्निषिध्यते[3] ॥१५४॥

---

१. मुग्धा कान्तस्येत्यादि वक्ष्यमाणं (२.१५५-६) श्लोकद्वितयं क्वचिद् अतः परं दृश्यते (तु० दरभङ्गासं०, पृ० ११२, टि० १) । २. –निर्यन्त्रिता–, –त्मया । ३. निवार्यते ।

उदाहरणं विशदयति—**रोषाक्षेप** इति । यद् यतोऽत्र उद्रिक्तेन परां काष्ठामारूढेन स्नेहेन प्रेम्णा निर्यन्त्रणः उच्छृङ्खलः आत्मा यस्याः तादृश्या संरब्धया अतिमात्रं रुष्टया नायिकया प्रियेण आरब्धम् उद्युक्तं प्रयाणं प्रवासगमनं निषिध्यते निवार्यते, तस्माद् अयमाक्षेपः रोषाक्षेपो नाम ।

यहाँ पराकाष्ठा तक पहुँचे अपने प्रेम के कारण उद्दाम आत्मा (=हृदय) वाली कोई अतिमात्र रुष्ट नायिका अपने प्रिय द्वारा प्रस्तावित प्रवासगमन का निषेध कर रही है; अतः यह (आक्षेप के रोष-सहित होने के कारण) रोषाक्षेप है ।

यहाँ भी, अनादराक्षेप आदि के समान, आक्षेप व्यङ्ग्य है (द्र० २.१४० पर टि०) ।

मुग्धा कान्तस्य यात्रोक्तिश्रवणादेव मूर्च्छिता ।
बुद्ध्वा वक्ति प्रियं दृष्ट्वा[1] किं चिरेणागतो भवान् ॥१५५॥[2]

पञ्चदशं भेदं मूर्च्छाक्षेपं निदर्शयति—**मुग्धेति** । कान्तस्य प्रियस्य यात्रोक्तिश्रवणात् प्रवासगमनवार्ताकर्णनाद् एव मूर्च्छिता मूर्च्छां गता मुग्धा नवयौवना प्रागल्भ्यमप्राप्ता काचिन्नायिका बुद्ध्वा मोहापगमे संज्ञां लब्ध्वा अथ च प्रियं दृष्ट्वा 'किं कथं भवान् चिरेण चिरकालानन्तरम् आगतः ?' इति वक्ति कथयति, कथमीदृशं विलम्बं कृत्वाऽऽयातो भवान् इति पृच्छति ।

अपने प्रिय के प्रवासगमन की बात सुनकर ही मूर्च्छित हो गई कोई मुग्धा नायिका होश में आने पर (सामने) प्रिय को देखकर कहती है : 'आप इतनी देर बाद क्यों आए हैं ?'

अन्तिम चरण का भाव यह भी लिया जा सकता है : 'क्या आप बहुत देर (पहले) से आए हुए हैं ?' विश्वनाथ (साद० ३.५८) के अनुसार मुग्धा नायिका की परिभाषा इस प्रकार है: **प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा । कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥**

इति तत्कालसंभूतमूर्च्छयाक्षिप्यते गतिः ।
कान्तस्य कातराक्ष्या यन्मूर्च्छाक्षेपः स ईदृशः ॥१५६॥

उक्तमुदाहरणं व्याचष्टे—**इतीति** । यद् यतः अत्र इति एवंप्रकारेण तत्कालं प्रियगमनवार्ताश्रवणसमकालम् एव संभूता उत्पन्ना मूर्च्छा यस्याः

---

१. प्रियाश्लिष्टा । २. दरभङ्गासंस्करणे कलकत्ताविश्वविद्यालयसंस्करणे चायमतुगः (२.१५६) चेति श्लोकौ न स्तः ।

तादृश्या कातराद्या अधीरनयनया मुग्धया कान्तस्य गतिः यात्रा आक्षिप्यते निषिध्यते, तस्माद् ईदृशः स आक्षेपस्तस्य मूर्च्छापूर्वकत्वाद् मूर्च्छाक्षेपो नाम ।

इस प्रकार यहाँ तत्काल (=प्रिय की प्रवासयात्रा की बात सुनते) ही मूर्च्छित हो गई घबराई आँखों वाली कोई मुग्धा अपने प्रिय के विदेशगमन का निषेध करती है; अतः इस प्रकार का यह आक्षेप (निषेध के मूर्च्छापूर्वक होने के कारण) मूर्च्छाक्षेप है ।

यहाँ भी आक्षेप व्यङ्ग्य है, वाच्य नहीं (द्र० २.१४० पर टि०) ।

नाघ्रातं न कृतं कर्णे स्त्रीभिर्मधुनि नार्पितम् ।
त्वद्द्विषां[1] दीर्घिकास्वेव विशीर्णं नील[2]मुत्पलम् ॥१५७॥

षोडशं भेदमनुक्रोशाक्षेपमुदाहरति—नाघ्रातमिति । त्वद्द्विषां (समराङ्गणे निहतानां) तव शत्रूणां स्त्रीभिः नीलम् उत्पलं न आघ्रातं घ्राणविषयीकृतं, न कर्णे कृतं श्रवणावतंसतया कर्णपाशे धारितं, न च मधुनि मद्ये अर्पितं तत्सुवासनार्थं तस्मिन्नाहितम्, एवं च तद् नीलोत्पलं दीर्घिकासु वापीषु एव विशीर्णं म्लानं परिक्षतं वा अभवत् ।

(हे राजन्,) तुम्हारे (द्वारा युद्ध में निहत) शत्रुओं की स्त्रियों ने नील कमल को न सूँघा, न कान में (अवतंस के रूप में) धारण किया और न मदिरा में (उसे सुवासित करने के लिए) डाला; (इस प्रकार वह कमल) बावड़ियों में ही मुरझाकर झड़ गया ।

असावनुक्रोशाक्षेपः[3] सानुक्रोशमिवोत्पले ।
व्यावृत्य कर्म तद्योग्यं शोच्यावस्थोपवर्णनात्[4] ॥१५८॥[5]

उदाहरणं विवृणोति—असाविति । अत्रोदाहरणे उत्पले नीलकमले सानुक्रोशमिव सदयमिव तद्योग्यं नीलकमलार्हं स्त्रीकर्तृकाघ्राणकर्णावतंसीकरण-मद्याधिकरणकतदर्पणात्मकं कर्म व्यापारं व्यावृत्य निराकृत्य आक्षिप्य वा तस्य शोच्यावस्थायाः विशीर्णत्वरूपायाः उपवर्णनात् प्रकाशनाद् अयम् आक्षेपः अनुक्रोशाक्षेपो नाम ।

यहाँ, नीलकमल के प्रति मानो अनुक्रोश (=दयाभाव) से, (स्त्रियों द्वारा सूँघे जाने आदि) उसके उचित कर्म अथवा व्यापार का निषेध करके

---

१. तद्द्विषां । २. जीर्णम् । ३. इत्यनु–, सानुक्रोशोऽयमाक्षेपः । ४. –दर्शनात् । ५. अतः परं क्वचित्संस्करणान्तरे वक्ष्यमाणम् अर्थो नेत्यादिकं श्लोकद्वयं (१६१-२) क्वचिच्च तदादिकं श्लोकचतुष्टयं (१६१-४) दृश्यते ।

(मुरझाकर झड़ जाने के रूप में) उसकी शोचनीय दशा का वर्णन किया गया है; अतः (आक्षेप के सानुक्रोश होने के कारण) यह अनुक्रोशाक्षेप है।

यहाँ आक्षेपविषय अनुक्रोश नहीं, नीलकमल में तद्योग्य व्यापार है। आक्षेप का अनुक्रोशपूर्वक होना ही इसके उक्त नाम का कारण है।

अमृतात्मनि पद्मानां द्वेष्टरि स्निग्धतारके।
मुखेन्दौ तव सत्यस्मिन्नपरेण किमिन्दुना ॥१५९॥

सप्तदशं भेदं श्लिष्टाक्षेपमुदाहरति—**अमृतात्मनी**ति। अमृतात्मनि अमृतमिव आत्मा स्वरूपं यस्य तादृशे परमाह्लादकतया अमृतस्वरूपे, पद्मानां द्वेष्टरि सौन्दर्यातिशयेन कमलपराजयकारिणि, कमलसदृशे इत्यर्थः, स्निग्धतारके स्निग्धनेत्रकनीनिकाशालिनि तव अस्मिन् पुरोवर्तिनि मुखेन्दौ मुखरूपे चन्द्रमसि सति विद्यमाने अपरेण आकाशस्थितेन इन्दुना चन्द्रमसा किम्? न तेन किमपि प्रयोजनम् इति भावः। अपरः खलु आकाशगतश्चन्द्रः अमृतात्मा सुधात्मकः, पद्मानां संकोचकत्वात् तद्द्वेष्टा, स्निग्धतारकः स्निग्धाः अनुरक्ताः तारकाः अश्विनीभरणीप्रभृतयः यस्मिन् तादृशः चास्ति, तादृशस्वरूपश्चायं नायिकाया मुखेन्दुरपीति आकाशगतस्य चन्द्रमसः निरर्थकत्वापत्तिः।

जब (परम आह्लादक होने से) अमृत स्वरूप, (अपने सौन्दर्य से) कमलों को पराजित करने वाला और स्निग्ध पुतलियों (वाली आंखों) से युक्त तुम्हारा यह मुख-रूपी चन्द्रमा विद्यमान है, तब दूसरे (आकाशगत) चन्द्रमा की, जो सुधापूर्ण, कमलों (को बन्द करने से उन) का शत्रु और (अश्विनी, भरणी आदि) ताराओं का स्नेही है, क्या आवश्यकता है?

इति मुख्येन्दुराक्षिप्तो गुणान् गौणेन्दुवर्तिनः।
तत्समान् दर्शयित्वेह[1] श्लिष्टाक्षेपस्तथाविधः[2] ॥१६०॥

उदाहरणं विश्लेषयति—**इती**ति। इति एवम् इह गौणेन्दुवर्तिनः गौणे (उपमेयभूते मुखरूपे) अमुख्ये चन्द्रमसि वर्तन्ते इति तादृशान् अमृतात्मत्वादीन् गुणान् धर्मान् तत्समान् मुख्येन्दुगुणसदृशान् दर्शयित्वा श्लिष्टैर्विशेषणैर्वर्णयित्वा मुख्येन्दुः (उपमानभूतः) मुख्यश्चन्द्रमाः आकाशगतः आक्षिप्तः **अपरेण किमिन्दुना** इति कैमर्थ्येन प्रतिषिद्धः, तस्य सार्थक्यं प्रतिषिद्धमिति भावः। तथाविधोऽयमाक्षेपः श्लिष्टविशेषणप्रयोगनिष्पादितत्वाद् श्लिष्टाक्षेपो नाम। आक्षेपविषयोऽत्र उपमानम्।

---

१. –त्वेति। २. –विधिः।

इस प्रकार यहाँ (श्लिष्ट विशेषणों द्वारा) गौण (उपमेयभूत मुख-रूपी) चन्द्रमा के (अमृतस्वरूपत्व आदि) गुणों को मुख्य (उपमानभूत) चन्द्रमा के समान बताकर उस मुख्य चन्द्रमा की सार्थकता का ('दूसरे—आकाशस्थ—चन्द्रमा की क्या आवश्यकता है'—ऐसा कह कर) आक्षेप (=निषेध) किया गया है; इस प्रकार का यह आक्षेप (श्लिष्ट विशेषणों के द्वारा निष्पादित होने के कारण) श्लिष्टाक्षेप है।

यह वस्तुतः उपमेय के रहते उपमान (की सार्थकता) का आक्षेप अथवा उसके निष्फलत्व का कथन है, और इस रूप में यह वामन के आक्षेप से तुलनीय है। वामन (४.३.२७, वृत्ति) के अनुसार उपमान की निरर्थकता बताकर उसका प्रतिषेध करना आक्षेप है। उसके उदाहरण का यह अंश दण्डी के उदाहरण से तुलनीय है : **तस्याश्चेन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेन्दुना।** इस उदाहरण में श्लेष नहीं है, जबकि दण्डि-प्रदत्त उदाहरण में श्लेष की स्थिति है। दण्डी का उदाहरण उसके अपने वर्तमानाक्षेप के उदाहरण (२.१२३) से भी तुलनीय है।

प्रसिद्ध उपमान का ऐसा निष्फलत्वकथन उत्तरवर्ती आचार्यों के अनुसार प्रतीप का विषय है (तु० साद० १०. ८७; चन्द्रा० ५.१३)।

अर्थो न संभृतः कश्चिन्न विद्या काचिदर्जिता।
न तपः संचितं किंचिद् गतं च सकलं वयः ॥१६१॥

अष्टादशं भेदमनुशयाक्षेपं निदर्शयति—अर्थ इति। कश्चिद् अर्थः सुवर्णादिरूपं धनं न संभृतः उपार्जितः, काचिद् विद्या त्रय्यान्वीक्षिक्यादिः न अर्जिता अधिगता, अथ च किंचित् तपः धर्मपुण्यादिप्राप्त्युपायरूपमभिमतमनुष्ठानं न संचितं संगृहीतम्, एवं च सकलम् अपि वयः पुरुषायुषं गतं व्यतीतं, पुरुषार्थसाधनं विनैव जीवनं गतप्रायमित्यर्थः।

(सुवर्ण आदि के रूप में) कोई धन उपार्जित नहीं किया, (त्रयी, आन्वीक्षिकी आदि) कोई विद्या अर्जित नहीं की, (पुण्य की प्राप्ति के साधनरूप) किसी तप का संग्रह (अथवा अनुष्ठान) नहीं किया, और सारी आयु (पुरुषार्थ-साधन के बिना व्यर्थ ही) बीत गई।

यह पद्य विद्याकर के सुभाषितरत्नकोश (सं० १५१२) में उद्धृत है।

असावनुशयाक्षेपो यस्मादनुशयोत्तरम्।
अर्थार्जनादेर्व्यावृत्तिर्दर्शितेह[1] गतायुषा ॥१६२॥

---

१. दर्शितेयं।

उदाहरणं विशदयति—**असाविति**। यस्माद् यतः इह उदाहरणे गतायुषा वृद्धेन केनचिद् अनुशयोत्तरं पश्चात्तापबहुलं (क्रियाविशेषणम्) अर्थार्जनादेः अर्थसंभरणविद्यार्जनतपःसंचयनरूपपुरुषार्थसाधनस्य व्यावृत्तिः प्रतिषेधः, आत्मना तस्य असाधनमित्यर्थः; दर्शिता वर्णिता, तस्माद् असावाक्षेपः अनुशयोत्तरत्वाद् अनुशयाक्षेपो नाम।

यहाँ कोई वृद्ध मनुष्य पश्चात्तापपूर्ण रूप से अपने द्वारा अर्थोपार्जन आदि (के किए जाने) के अभाव का (अर्थात् इनके न किए जाने का) वर्णन करता है; अतः यह आक्षेप (अनुशय-[=पश्चात्ताप-]पूर्वक होने से) अनुशयाक्षेप है।

यहाँ वृद्ध व्यक्ति द्वारा अर्थार्जन आदि व्यापार का संपादन आक्षेप का विषय है, और आक्षेप, स्वभावतः, अनुशयपूर्वक है। यह इसके उक्त नामकरण का आधार है।

किमयं शरदम्भोदः किं वा हंसकदम्बकम्।
रुतं नूपुरसंवादि श्रूयते तन्न तोयदः ॥१६३॥

एकोनविंशं भेदं संशयाक्षेपमुदाहरति—**किमयमिति**। किम् अयम् आकाशे लक्ष्यमाणः शरदम्भोदः शरत्कालिकः (शुभ्रो) मेघः ? किं वा हंसकदम्बकं (शरदि मानसादागच्छतां) हंसानां वृन्दम् ? एतत्संबन्धि नूपुरसंवादि मञ्जीररणितसदृशं रुतं ध्वनिः श्रूयते, तत् तस्माद् नायं तोयदः मेघः, किंतु नूपुररवानुकारिरवकारी हंससमूह एवेत्यर्थः।

क्या (आकाश में लक्षित हो रहा) यह शरद् ऋतु का बादल है अथवा मानस से आ रहे हंसों की पाँत है ? (इधर से) नूपुरों की-सी ध्वनि सुनाई पड़ रही है, अतः यह (नूपुरों का-सा शब्द करने वाला हंससमूह है,) बादल नहीं है।

इत्ययं संशयाक्षेपः संशयो यन्निवर्त्यते[1]।
धर्मेण हंससुलभेनास्पृष्टघनजातिना ॥१६४॥

उदाहरणं व्याचष्टे—**इत्ययमिति**। यद् यस्माद् अत्रोदाहरणे हंससुलभेन हंसेषु सुलभतया लक्ष्यमाणेन परंच अस्पृष्टघनजातिना न स्पृष्टा घनजातिर्येन, मेघसामान्यं तत्रासंभवाद् अस्पृशता मेघेष्वलक्ष्यमाणेनेत्यर्थः, धर्मेण नूपुरसंवादिरुतरूपेण गुणेन (तच्छ्रूयमाणत्वनिर्देशेन) संशयः 'किमियं मेघमाला हंस-

---

१. निवार्यते।

पङ्क्तिर्वा' इत्येवप्रकारकः संदेहः निवर्त्यते आक्षिप्यते, तस्मादयमाक्षेपः संशयस्याक्षेपात् संशयाक्षेपो नाम ।

यहां हंसों में (सामान्यतः) लक्ष्यमाण और बादलों में लक्षित न होने वाले (नूपुरध्वनि-सदृश ध्वनि रूप) धर्म के निर्देश से ('क्या यह मेघमाला है अथवा हंसों की पांत है ?'—इस प्रकार के) संदेह का निवारण (=आक्षेप) किया गया है; अतः यह संशयाक्षेप **है ।**

यहाँ आक्षेप का विषय संशय है। संशय के प्रतिषेध के रूप में यह निश्चयान्त संदेह (तु० साद० १०.३५-६) से तुलनीय है; विशेष रूप से, इसका उक्त उदाहरण विश्वनाथ द्वारा प्रदत्त इस उदाहरण से तुलनीय है : **किं तावत्सरसि सरोजमेतदारादाहोस्विन्मुखमवभासते तरुण्याः। संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्बिब्बोकैर्बकसहवासिनां परोक्षैः ।। (शिशुपालवध ८.२९) ।**

चित्रमाक्रान्तविश्वोऽपि विक्रमस्ते न तृप्यति[1] ।
कदा वा दृश्यते तृप्तिरुदीर्णस्य हविर्भुजः ।।१६५।।

विंशं भेदमर्थान्तराक्षेपं निदर्शयति—**चित्रमिति** । आक्रान्तविश्वः अभिभूतसकलसंसारः अपि ते विक्रमः पराक्रमः न तृप्यति तृप्तिमधिगच्छति इति चित्रम् आश्चर्यम् । अथवा किमत्र चित्रम् ? यतो हि उदीर्णस्य उद्दीप्तस्य हविर्भुजः अग्नेः तृप्तिः कदा वा दृश्यते, न कदाप्युद्दीप्तो वह्निर्भुक्तप्रभूतेन्धनोऽपि तृप्यतीत्यर्थः ।

(हे राजन्,) यह आश्चर्यजनक बात है कि समस्त विश्व को आक्रान्त (=अभिभूत) कर चुकने के बाद भी तुम्हारा पराक्रम तृप्त नहीं होता । अथवा (इसमें आश्चर्य की क्या बात है, क्योंकि) भड़की हुई आग की तृप्ति कब देखी जाती है ?

अयमर्थान्तराक्षेपः प्रक्रान्तो यन्निवर्त्यते[2] ।
विस्मयोऽर्थान्तरस्येह दर्शनात्तत्सधर्मणः ।।१६६।।

उदाहरणं व्याचष्टे—**अयमिति** । यद् यतः इहोदाहरणे तत्सधर्मणः विक्रमतुल्यगुणस्य अर्थान्तरस्य अन्यस्यार्थस्य उदीर्णहविर्भुजः दर्शनाद् वर्णनात् प्रक्रान्तः **चित्रमिति** पदेन उपन्यस्तः विस्मयः निवर्त्यते आक्षिप्यते, तस्मादयमाक्षेपः तस्य अर्थान्तरवर्णनोपस्थापितत्वाद् अर्थान्तराक्षेपो नाम ।

इस (उदाहरण) में उस (विक्रम) के समान धर्म वाले अन्य अर्थ

---

१. शाम्यति । २. निवार्यते ।

(अर्थात् उद्दीप्त अग्नि) के उपस्थापन द्वारा (चित्रम् इस पद से) अभिव्यक्त विस्मयभाव की निवृत्ति दिखाई गई है; अतः (यहां निवृत्ति—आक्षेप—का अर्थान्तरविन्यास द्वारा उपस्थापन होने से) यह अर्थान्तराक्षेप है।

यहाँ आक्षेप का विषय अर्थान्तर नहीं; वह तो आक्षेप का साधनमात्र है। आक्षेप का विषय यहाँ प्रस्तुत अर्थ अर्थात् विक्रम के सम्बन्ध में उत्पन्न आश्चर्यभाव है। जयदेव द्वारा व्याख्यात आक्षेप के प्रथम रूप से इस उदाहरण की तुलना के लिए देखें २.१२२ पर टि०।

न स्तूयसे[1] नरेन्द्र त्वं ददासीति कदाचन।
स्वमेव मत्वा गृह्णन्ति यतस्त्वद्धनमर्थिनः ॥१६७॥

एकविंशम् अन्तिमं भेदं हेत्वाक्षेपमुदाहरति—नेति। हे नरेन्द्र राजन्, त्वं ददासि अर्थिभ्यो धनं यच्छसि इति कदाचन कदाचिदपि न स्तूयसे प्रशस्यसे। तत्र हेतुं प्रस्तौति—यतः अर्थिनः याचकाः त्वद्धनं स्वं निजम् एव धनं मत्वा गृह्णन्ति स्वीकुर्वन्ति।

हे राजन्, 'तुम (याचकों को धन) देते हो'—इस प्रकार तुम्हारी स्तुति कभी नहीं की जाती, क्योंकि याचकजन तुम्हारे धन को अपना ही धन समझकर ग्रहण कर लेते हैं।

इत्येवमादिराक्षेपो हेत्वाक्षेप इति स्मृतः।
अनयैव दिशान्येऽपि विकल्पाः शक्य[2]मूहितुम् ॥१६८॥

उक्तमुदाहरणं विशदयन्नाक्षेपं चोपसंहरन्नाह—इत्येवमिति। इत्येवमादिः उक्तप्रकारकः तज्जातीयश्च आक्षेपः हेतून्यासपूर्वकत्वाद्, राजस्तुत्याक्षेपे **स्वमेव मत्वे**त्यादिना हेतोरुपस्थापनाद् इति भावः, हेत्वाक्षेप इति स्मृतः। संप्रत्युपसंहरति—अनया एव दिशा पद्धत्या अन्येऽपि विकल्पाः अनुक्ताः आक्षेपभेदाः ऊहितुम् अनुमातुं शक्यम् (इह **शक्याः** इति वाच्यत्वे सामान्यविवक्षया **शक्यमि**ति प्रयुक्तम्)।

इस उक्त प्रकार के आक्षेप को हेत्वाक्षेप कहा जाता है। इसी पद्धति से (इस अलंकार के) अन्य भेदों का भी अनुमान (एवं तद्द्वारा उनका निरूपण) किया जा सकता है।

उक्त उदाहरण में राजा की स्तुति का सहेतुक निषेध है जो वस्तुतः उसकी विशेष स्तुति है। इस रूप में यह व्याजस्तुति (२.३४३-७) से तुलनीय

---

१. श्रूयसे। २. दिशान्योऽपि विकल्पः शक्य ऊहितुम्।

है। पूर्वव्याख्यात कारणाक्षेप से यह हेत्वाक्षेप सर्वथा भिन्न है; कारणाक्षेप में **कारण का** आक्षेप होता है और यहाँ **कारण से** (प्रस्तुत अर्थ का) आक्षेप होता है। आक्षेप के अन्य प्रभेदों में रत्नश्रीज्ञान ने विपर्यास-, निश्चय- और प्रसाद- को उदाहृत किया है। परन्तु वास्तव में ये और इस प्रकार के अन्य संभव भेद प्रस्तुत अलंकार की संकल्पना को स्पष्ट करने में सहायक नहीं होते। यह बात दण्डी द्वारा निरूपित अनेक प्रभेदों पर भी लागू होती है; किंतु इन प्रभेदों का यह ऐतिहासिक महत्त्व अवश्य है कि इनसे उत्तरवर्ती युग में आक्षेप के विविध रूपों की उद्भावना को प्रेरणा मिली।

ज्ञेयः सोऽर्थान्तरन्यासो वस्तु प्रस्तुत्य किंचन।
तत्साधनसमर्थस्य न्यासो योऽन्यस्य वस्तुनः ॥१६९॥

अथ क्रमप्राप्तं सप्तममलंकारं लक्षयति—**ज्ञेय** इति। किंचन किमपि विवक्षितं वस्तु अर्थं प्रस्तुत्य उपन्यस्य, तस्य (विवक्षितस्य प्रस्तुतस्य) साधने उपपादने, समर्थने इत्यर्थः, समर्थस्य क्षमस्य अन्यस्य अप्रस्तुतस्य वस्तुनः यः न्यासः निवेशः उपस्थापनं वा सोऽयम् अर्थान्तरन्यासः तन्नामालंकारः ज्ञेयः प्रतिपत्तव्यः। अर्वाञ्च आचार्या इमं समर्थ्यसमर्थकयोरर्थयोः सामान्यविशेषभावं विशेषसामान्यभावं कार्यकारणभावं कारणकार्यभावं सारूप्यमात्रं चाहुः।

किसी (विवक्षित) अर्थ को (प्रस्तुत के रूप में) उपस्थापित करके उस (प्रस्तुत अर्थ) के उपपादन अर्थात् समर्थन में समर्थ अन्य (अप्रस्तुत) अर्थ का न्यास (=स्थापन) अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने समर्थ्य अर्थ और समर्थक अर्थान्तर को सामान्य या विशेष अथवा कार्य या कारण के रूप में लक्षित किया है। विश्वनाथ (**साद०** १०.६१-२) के अनुसार इस अलंकार की परिभाषा इस प्रकार है : **सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि। कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते॥ साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः॥** मम्मट (१०.१०९) ने सामान्य-विशेष-भाव की स्थिति में ही अर्थान्तरन्यास माना है। दण्डी के उदाहरणों में समर्थ्य वस्तु **विशेष** ही है जिसका **सामान्य** द्वारा समर्थन दिखाया गया है। जहाँ दो अर्थों में कार्यकारण-भाव होता है वहाँ वस्तुतः काव्यलिङ्ग की स्थिति होनी चाहिए, जैसा कि रुय्यक के टीकाकार जयरथ का मत है (तु० रामचन्द्र द्विवेदी : **अलंकार-मीमांसा**, पृ० ३६९-७०)। साम्यप्रतीति के लिए अर्थान्तर का उपस्थापन करना, दण्डी के अनुसार, प्रतिवस्तूपमा (२.४६-७) का व्यापार है; अर्थान्तरन्यास में अर्थान्तर का उपस्थापन प्रस्तुत अर्थ के समर्थन के लिए होता है। यही इन दोनों में अन्तर है (तु० **रत्नश्री**)। जहाँ दो अर्थों में बिम्ब-

प्रतिबिम्ब-भाव होता है (अतश्च जहाँ समर्थ्यसमर्थक-भाव निश्चित नहीं होता) वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है। यह अलंकार दण्डी में नहीं है। भोज (**सरस्व०** ४.६७) और विश्वेश्वर (**चम०**, पृ० २३४) ने अर्थान्तरन्यास की दण्डि-प्रदत्त परिभाषा को ग्रहण किया है।

सामान्यतः इस अलंकार में समर्थ्य अर्थ का उपस्थापन पहले होता है एवं समर्थक अर्थान्तर का न्यास बाद में; कारिका के **वस्तु प्रस्तुत्य किंचन** से इस तथ्य का पोषण होता है। परंतु समर्थक अर्थान्तर का न्यास पहले भी संभव है (तु० **सरस्व०** ४.६८, उदा० १६१)। जीवानन्द विद्यासागर आदि व्याख्याकारों ने इस स्थिति को **शिशुपालवध** (९.६) के इस पद्य द्वारा निदर्शित किया है : **प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता। अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि॥**

विश्वव्यापी विशेषस्थः श्लेषाविद्धो विरोधवान्।
अयुक्तकारी युक्तात्मा युक्तायुक्तो विपर्ययः ॥१७०॥
इत्येवमादयो भेदाः प्रयोगेष्वस्य[1] लक्षिताः।
उदाहरणमालैषां रूपव्यक्त्यै[2] निदर्श्यते[3] ॥१७१॥

अथ लक्षितस्यालंकारस्य प्रभेदानाह—विश्वव्यापीति। विश्वव्यापी सर्वव्यापी, सर्वगामिना समर्थकवस्तुनोपलक्षितः। विशेषस्थः क्वचिद्वस्तुविशेषे एव स्थितः, असर्वगामिना समर्थकवस्तुनोपलक्षितः। श्लेषाविद्धः श्लेषेण अनुगतः। विरोधवान् विरुद्धार्थयुक्तः। अयुक्तकारी अनुचितकार्यकारिणा समर्थ्यवस्तुनोपलक्षितः। युक्तात्मा युक्तात्मना समर्थ्यवस्तुनोपलक्षितः। युक्तायुक्तः युक्तायुक्तकारिणा समर्थ्यवस्तुद्वयेनोपलक्षितः। विपर्ययः अनन्तरोक्तविपरीतक्रमः अर्थाद् अयुक्तयुक्तकारिणा समर्थ्यवस्तुद्वयेनोपलक्षितः। इत्येवमादयः अस्य भेदाः प्रयोगेषु काव्यप्रयोगेषु लक्षिताः भवन्ति। एषां भेदानां रूपव्यक्त्यै स्वरूपप्रकाशनाय उदाहरणमाला प्रयोगसमूहः निदर्श्यते प्रस्तूयते।

विश्वव्यापी (=सर्वगत अथवा सार्वत्रिक समर्थक वस्तु से उपलक्षित), **विशेषस्थ** (=विशेषस्थित—असार्वत्रिक—समर्थक वस्तु से उपलक्षित), **श्लेषाविद्ध** (=श्लेषालंकार से युक्त), **विरोधवान्** (=परस्पर-विरुद्ध वस्तुओं से उपलक्षित), **अयुक्तकारी** (=अयुक्तियुक्त कर्म करने वाली समर्थ्य वस्तु से युक्त), **युक्तात्मा** (=युक्तिसंगत समर्थ्य वस्तु से युक्त), **युक्तायुक्त** (=क्रमशः युक्तियुक्त और अयुक्तियुक्त कर्म करने वाले समर्थ्य वस्तुद्वय से युक्त) और **विपर्यय**

---

१. विकल्पे-। २. -युक्त्यै, -व्यक्तौ। ३. निगद्यते।

(=पूर्वोक्त युक्तायुक्त का विपरीत रूप अर्थात् क्रमशः अयुक्त और युक्त कर्म करने वाले समर्थ्य वस्तुद्वय से युक्त)—इस प्रकार के इस (अलंकार) के भेद काव्यप्रयोगों में लक्षित होते हैं। इनके स्वरूप की व्याख्या के लिए (नीचे क्रमशः इनके) उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं।

भगवन्तौ जगन्नेत्रे सूर्याचन्द्रमसावपि ।
पश्य गच्छत एवास्तं नियतिः केन लङ्घ्यते ॥१७२॥

तत्र प्रथमं भेदं विश्वव्यापिनमुदाहरति—**भगवन्ताविति**। भगवन्तौ ऐश्वर्यशालिनौ सर्वसामर्थ्ययुक्तौ अथ च जगन्नेत्रे सर्वजगत्प्रकाशकत्वाद् अखिललोकनयनभूतौ सूर्याचन्द्रमसौ सूर्यः चन्द्रमाः चापि अस्तं गच्छतः एव इति पश्य। उक्तं वस्तु प्रस्तुत्य तत्साधनसमर्थमर्थमाह—नियतिः भाग्यं केन लङ्घ्यते अतिक्रम्यते, न कोऽपि दैवमतिक्रमितुं प्रभवति। इत्येवमत्र समर्थनक्षमस्यार्थान्तरस्य दैवानतिक्रमत्वरूपस्य विश्वव्यापित्वाद् विश्वव्यापी नामार्थान्तरन्यासभेदः।

ऐश्वर्य से संपन्न (=सर्वसामर्थ्ययुक्त) एवं विश्व के नेत्र-रूप ये सूर्य और चन्द्रमा भी, देखो, अस्त हो जाते हैं। आखिर, भाग्य को कौन लांघ सकता है?

यहाँ सूर्य और चन्द्रमा के अस्तंगमन-रूप (विशेष) अर्थ को प्रस्तुत करके उसके समर्थन में भाग्य की अलङ्घ्यता रूप (सामान्य) अर्थान्तर का न्यास किया गया है। यह अर्थान्तर—भाग्य की अलङ्घ्यता—सर्वगत अथवा सार्वत्रिक है; अतः यहाँ **विश्वव्यापी अर्थान्तरन्यास** है।

पयोमुचः परीतापं हरन्त्येते[1] शरीरिणाम् ।
नन्वात्मलाभो महतां परदुःखोपशान्तये ॥१७३॥

द्वितीयं भेदं विशेषस्थं निदर्शयति—**पयोमुच** इति। एते दृश्यमानाः पयोमुचः मेघाः शरीरिणां देहवतां प्राणिनां परीतापं ग्रीष्मर्तुप्रभवं संतापं हरन्ति अपनयन्ति। अर्थमिमं समर्थयितुमर्थान्तरमाह—ननु महताम् उत्तमानाम् आत्मलाभः जन्मग्रहणं परदुःखोपशान्तये अन्येषां दुःखस्य निवारणाय भवति। अत्र समर्थकस्यार्थान्तरस्य (महतामिति कथनेन न प्राणिमात्रस्यापितु महात्मनामेवेति) महात्मरूपविशेषस्थत्वाद् विशेषस्थो नामार्थान्तरन्यासप्रभेदः।

ये बादल प्राणियों के (ग्रीष्मजनित) ताप को हरते हैं। निश्चय से, बड़े लोगों का जन्मग्रहण दूसरों के दुःखों के निवारण के लिए होता है।

---

१. हरन्त्येव।

यहाँ पूर्वकथित अर्थ के समर्थन के लिए उपस्थापित अर्थान्तर (परदुःखहरण के लिए जन्मग्रहण) प्राणिमात्र-साधारण न होकर विशेष—महात्मजनों—में ही स्थित है (क्योंकि सभी का जन्मग्रहण परदुःखहरण के लिए नहीं होता)। इस प्रकार यहाँ **विशेषस्थ अर्थान्तरन्यास** है। भोज (सरस्व० ४, उदा० १५६) ने इसे साधर्म्येण अर्थान्तरन्यास के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

उत्पादयति लोकस्य प्रीतिं मलयमारुतः[1]।
ननु दाक्षिण्यसंपन्नः सर्वस्य भवति प्रियः[2] ॥१७४॥

तृतीयं भेदं श्लेषाविद्धं प्रयोगे लक्षयति—**उत्पादयतीति**। मलयमारुतः दक्षिणापथे मलयपर्वतात् प्रवृत्तः पवनः लोकस्य जगतः प्रीतिम् आनन्दम् उत्पादयति जनयति। अर्थमिमं समर्थयितुमर्थान्तरं प्रस्तौति—ननु दाक्षिण्यसंपन्नः सौजन्यसमन्वितः जनः, अथवा (श्लेषाद्) दाक्षिणात्यः जनः पदार्थो वा, सर्वस्य प्रियः प्रीतिकरः भवति। मलयानिलः खलु दक्षिणदेशभवः इति तस्य सर्वप्रीतिकरत्वं स्वाभाविकमित्यर्थः। अत्र प्रस्तुतार्थसमर्थकेऽर्थान्तरे उभयवस्तुगामिनः **दाक्षिण्य**पदस्य श्लिष्टत्वाद् श्लेषाविद्धो नामार्थान्तरन्यासभेदः।

मलयाचल से बहने वाला समीर समस्त संसार के लिए (=सभी लोगों में) आनन्द उत्पन्न करता है। निश्चय से, दाक्षिण्य (=सौजन्य; =दाक्षिणात्यत्व) से संपन्न (जन अथवा पदार्थ) सभी के लिए प्रीतिकर होता है।

मलयाचल भारत के दक्षिणभाग में स्थित कुलपर्वत है जिसकी पहचान पश्चिमी घाट के दक्षिणी भाग से की जाती है। चन्दन और उससे सुरभित शीतल बयार के लिए यह विशेष रूप में प्रसिद्ध है। यहाँ प्रथम वाक्य में प्रस्तुत किए गए अर्थ के समर्थन में उपस्थापित अर्थान्तर में **दाक्षिण्य** पद, जो उभयवस्तुगामी है, श्लिष्ट है; अतः यह **श्लेषाविद्ध अर्थान्तरन्यास** का उदाहरण है। इस उदाहरण की प्रथम पङ्क्ति आगे, २.२३६ में, हेतु अलंकार के निदर्शन के रूप में भी आई है।

जगदानन्दयत्येष[3] मलिनोऽपि निशाकरः।
अनुगृह्णाति हि परान् सदोषोऽपि द्विजेश्वरः ॥१७५॥

चतुर्थं भेदं विरोधवन्तं निदर्शयति—**जगदिति**। एषः मलिनः कलङ्कयोगात् सदोषः अपि निशाकरः चन्द्रमाः जगद् लोकम् आनन्दयति प्रीणयति। सदोषः कश्चित्पदार्थः प्रीतिकरः स्यादिति विरुद्धमेतत्। तमिममर्थं प्रस्तुत्याथान्तरेण विरोधवता समर्थयति—सदोषोऽपि स्वयं दोषयुतोऽपि द्विजेश्वरः ब्राह्मणः हि

---

१. दक्षिण-। २. सर्वस्यावहति प्रियम्। ३. आह्लाद-।

निश्चयेन परान् अन्यान् अनुगृह्णाति उपदेशदानेन उपकरोति। अत्र मलिनत्वानन्दकत्वाभ्यां विरुद्धधर्माभ्यामुपलक्षितो विरोधवान् प्रस्तुतोऽर्थः सदोषत्वानुग्राहकत्वाभ्यां विरुद्धधर्माभ्यां संगृहीतेन विरोधवताऽर्थान्तरेण समर्थित इति विरोधवान्नामार्थान्तरन्यासविकल्पः। **सदोषोऽपि द्विजेश्वरः** इत्यस्य श्लेषवशात् 'सकलङ्कोऽपि चन्द्रमाः' इत्ययमप्यर्थः स्याद् इत्येवमत्र श्लेषयोगोऽपि वर्तते।

यह चन्द्रमा मलिन (=कलङ्कयुक्त) होते हुए भी समस्त जगत् को आनन्दित करता है। ब्राह्मण स्वयं दोषयुक्त होते हुए भी निश्चय से दूसरों को (उपदेशप्रदान द्वारा) अनुगृहीत करता है।

यहाँ मलिन चन्द्रमा का आह्लादकत्व रूप विरोधवान् अर्थ दोषपूर्ण ब्राह्मण के अनुग्राहकत्व रूप विरोधवान् अर्थान्तर द्वारा समर्थित हुआ है; अतः **विरोधवान् अर्थान्तरन्यास** है। **सदोषोऽपि द्विजेश्वरः** का 'सकलङ्क चन्द्रमा भी' यह अर्थ भी श्लेष द्वारा संभव है। इस प्रकार यहाँ श्लेष अलंकार का भी योग है।

मधुपानकलात् कण्ठान्निर्गतोऽप्यलिनां ध्वनिः।
कटुर्भवति कर्णस्य कामिनां पापमीदृशम् ॥१७६॥

पञ्चमं भेदमयुक्तकारिणमुदाहरति—**मधुपाने**ति। मधुपानेन कुसुममकरन्दास्वादनेन कलात् मधुरात् कण्ठात् निर्गतः अपि अलिनां भ्रमराणां ध्वनिः गुञ्जनशब्दः कामिनां कामसंतप्तानां जनानां कर्णस्य श्रोत्रस्य (जातावेकवचनम्) कटुः उद्वेगकरः, उत्कण्ठाजनकत्वाद् व्यथकः, भवति। उक्तमिममयुक्तकर्मरूपम् अर्थं समर्थयितुमर्थान्तरमाह—पापं कामासक्तिरूपं पापकर्म ईदृशं भवति, मधुरमपि वस्तु तत् कटु करोतीत्यर्थः। अत्र मधुरस्य ध्वनेः कटुत्वमिति समर्थ्योऽर्थः अयोग्यः, तस्मादिह अयुक्तकारी नामार्थान्तरन्यासप्रभेदः।

(फूलों के) मधु का पान करने से मधुर हुए कण्ठ से निकलने पर भी भौंरों की गुंजार कामसंतप्त प्रेमियों के लिए कर्णकटु होती है; आखिर (कामासक्तिरूप) पाप ऐसा ही होता है (वह मीठे पदार्थ को भी कड़वा बना देता है)।

मधुर ध्वनि का कटुत्वपूर्ण प्रभाव यहाँ समर्थ्य अर्थ है। कटुत्व के मधुरत्व के अयोग्य (=अननुकूल) होने के रूप में इस अर्थ के अयुक्त कर्मसंपादक होने से यहाँ **अयुक्तकारी अर्थान्तरन्यास** है।

अयं मम दहत्यङ्गमम्भोजदलसंस्तरः।
हुताशनप्रतिनिधिर्दाहात्मा ननु युज्यते ॥१७७॥

षष्ठं भेदं युक्तात्मानमुदाहरति—**अयमिति**। अयं मया संप्रति सेव्यमानः अम्भोजदलसंस्तरः कमलदलनिर्मितम् आस्तरणं शयनीयं वा मम (विरहिणः) अङ्गं गात्रं, गात्रसमूहमित्यर्थः, दहति संतापयति। कमलपत्रशयनीयसंबन्धिनः दाहकत्वस्य लोकप्रसिद्धमनुपपन्नत्वं निराकुर्वन्, तद्द्वारा च तस्योपपन्नत्वम् अर्थाद् युक्तात्मत्वं समर्थयन्नाह—ननु हुताशनप्रतिनिधिः लोहितवर्णतया अग्नेः प्रतिनिधिः सदृशः पदार्थः (अत्र अम्भोजदलसंस्तरः) दाहात्मा दहनस्वभावः इति युज्यते युक्तत्वेन संभाव्यते। अग्निसदृशवर्णः पदार्थः अग्निवदेव दाहकः स्यादिति युक्तात्मायमर्थः। एवं युक्तात्मनार्थेन समर्थ्यस्यार्थस्य समर्थनादत्र युक्तात्मा नामार्थान्तरन्यासः।

कमलपुष्पों की पंखुड़ियों से तैयार की गयी यह सेज (विरहातुर) मेरे अङ्गों को जला रही है। आग के समान (वर्ण वाले) पदार्थ की दाहक प्रकृति उचित (=स्वाभाविक) ही है।

कमल की पंखुड़ियों से बनी सेज की दाहकता, जो सामान्यतः लोक में अप्रसिद्ध होने से अनुपपन्न है, की युक्तात्मता अथवा उपपन्नता यहाँ समर्थ्य अर्थ है। इसका समर्थन 'अग्निसदृश वर्ण वाले पदार्थ की दाहकता स्वाभाविक है' यह कहकर किया गया है। इस प्रकार समर्थ्य अर्थ की युक्तात्मता (युक्तियुक्तता) का समर्थन होने से यहाँ **युक्तात्मा अर्थान्तरन्यास** है।

क्षिणोतु कामं शीतांशुः किं वसन्तो दुनोति माम्।
मलिनाचरितं कर्म सुरभेर्नन्वसांप्रतम् ॥१७८॥

सप्तमं भेदं युक्तायुक्तं निदर्शयति—**क्षिणोत्विति**। शीतांशुः चन्द्रमाः कामं यथेष्टं मां विरहिणं क्षिणोतु पीडयतु, तस्य कलङ्किनः मलिनस्वभावत्वाद् युक्तं स्यात्परपीडनम्। परं वसन्तः सुरभिकालः मां किमर्थं दुनोति उपतापयति, मालिन्यरहितस्य वसन्तस्य अयुक्तं ननु परपीडनम्। अर्थमिममर्थान्तरेण समर्थयितुमाह—मलिनैः दोषपूर्णैः, चन्द्रादिभिरिति भावः, आचरितम् अनुष्ठितं कर्म ननु सुरभेः विख्यातकीर्तेः गुणिनो वा, अथवा सुरभिमतो वसन्तकालस्य, असांप्रतम् अयुक्तम् अनुचितम्। अत्र समर्थ्यवाक्ये चन्द्रमसः पीडकत्वं युक्तं वसन्तस्य च तदयुक्तमिति युक्तायुक्तयोः समर्थ्यार्थयोर्ग्रहणाद् युक्तायुक्तनामार्थान्तरन्यासभेदः।

चन्द्रमा चाहे मुझे पीडित करे, परंतु यह वसन्त मुझे क्यों सताता है? (चन्द्रमा जैसे) मलिन (अथवा कलङ्कित) जनों द्वारा किया जाने वाला कर्म (सुरभि—वसन्त—जैसे) विख्यात (अथवा निर्मल) कीर्ति वाले व्यक्ति को शोभा नहीं देता।

यहाँ समर्थनीय वाक्य में चन्द्रमा के पीडकत्व को उचित (=युक्त) कहा गया है, और वसन्त के तापकत्व को अनुचित (=अयुक्त) दिखाया गया है, एवं उसके समर्थन में तदनुरूप सामान्य अर्थान्तर, **मलिनाचरितं** आदि, का न्यास किया गया है। इस प्रकार, युक्त और अयुक्त अर्थ का समर्थन होने से यहाँ **युक्तायुक्त अर्थान्तरन्यास** है। रङ्गाचार्यशास्त्री के अनुसार, यहाँ उत्कृष्ट (=युक्त) वसन्त द्वारा निकृष्ट (=अयुक्त) कर्म के आचरण का उल्लेख होने से युक्तायुक्त अर्थान्तरन्यास है।

यह उदाहरण अप्पय दीक्षित (कुवलया० ८१) द्वारा व्याख्यात विभावना के एक प्रकारविशेष (**विरुद्धात् कार्यसंपत्तिर्दृष्टा काचिद्विभावना**) के निम्नलिखित निदर्शन से तुलनीय है : **अविवेकि कुचद्वन्द्वं हन्तु नाम जगत्त्रयम्। श्रुतिप्रणयिनोरक्ष्णोरयुक्तं जनमारणम्**॥

कुमुदान्यपि तापाय[1] किमङ्ग[2] कमलाकरः।
नहीन्दुगृह्येषूग्रेषु सूर्यगृह्यो मृदुर्भवेत् ॥१७९॥

अष्टमं भेदं विपर्ययं निदर्शयति—**कुमुदानीति**। कुमुदानि शीतांशुकरविकासीनि अतश्च शीतलत्वेन प्रत्याशितानि कैरवाणि अपि विरहिणो मम तापाय संतापाय भवन्ति, तर्हि कमलाकरः उष्णांशुकरविकासितया उष्णत्वेन संभावितं पद्मवनं किम् अङ्ग किं पुनः, तस्य तु अतिमात्रसंतापकरत्वं स्यादित्यर्थः। उक्तमर्थं समर्थयितुमर्थान्तरमाह—इन्दुगृह्येषु चन्द्रपक्षीयेषु कुमुदादिषु उग्रेषु तापकारिषु सत्सु सूर्यगृह्यः सूर्यपक्षीयः कमलादिः मृदुः शीतलः नहि नैव भवेत् संभवेत्। यदि शीतलत्वेन संभाविताः पदार्थाः तापकराः स्युः, तर्हि उष्णत्वेन तर्कितास्तु अतिमात्रं तापं विदध्युः, तेषामतापकरत्वं तु न जातु स्यादित्यर्थः। अत्र कुमुदानां तापकरत्वमयुक्तं कमलानां च युक्तमिति (क्रमेण) अयुक्तयुक्तयोरर्थयोः समर्थनाद् अनन्तरोक्तयुक्तायुक्तविपरीतत्वं, तस्माच्च विपर्ययो नामार्थान्तरन्यासप्रभेदः।

ये कुमुद के फूल भी मेरे लिए तापकारी हैं, फिर इस कमलवन की तो बात ही क्या ? जब (शीतल) चन्द्रमा के पक्ष से संबन्धित (=उसकी किरणों से खिलने वाले कुमुद आदि) पदार्थ भी तापकारी हैं, तब (उष्ण) सूर्य के पक्ष से संबन्धित (=उसकी किरणों से खिलने वाले कमल आदि) पदार्थ तो शीतल हो ही नहीं सकते।

कुमुदों का तापकत्व **अयुक्त** तथा कमलों का तापकत्व **युक्त** होने से यहाँ क्रमशः अयुक्त और युक्त अर्थों का समर्थन है। इस प्रकार अयुक्तयुक्त अर्थ का

---

१. दाहाय। २. किमयं।

यह समर्थन पूर्वोक्त युक्तायुक्त अर्थ के समर्थन का विपर्यय (=विपरीतरूप) होने से **विपर्यय** नामक अर्थान्तरन्यास है ।

दण्डी के **इत्येवमादयो भेदाः** (२.१७१) से इसके अन्यान्य भेद भी काव्य-प्रयोगों में लक्षित किए जा सकते हैं। रत्नश्रीज्ञान ने 'ऐसे अन्य' भेदों में अविरुद्ध और अविरुद्धविरुद्ध नामक भेदों को उदाहृत किया है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने दण्डी द्वारा वर्णित उक्त भेद नहीं अपनाए ।

शब्दोपात्ते प्रतीते वा सादृश्ये वस्तुनोर्द्वयोः ।
तत्र यद् भेदकथनं व्यतिरेकः स कथ्यते[1] ॥१८०॥

अथाष्टममलंकारं व्यतिरेकमाह—**शब्दोपात्त** इति । द्वयोः वस्तुनोः (उपमेयोपमानयोः) सादृश्ये शब्दोपात्ते वाचकशब्देन प्रतिपादिते, शब्दाद्वा गृहीते, प्रतीते वा अशब्दोपात्तेऽपि लक्षणया वा पूर्वापरप्रसङ्गेन वा प्रतीतिं गते सति, तत्र सादृश्ये यद् भेदकथनं केनचिद् धर्मविशेषेण (उपमेयोत्कर्षप्रतिपादनाय) भेदप्रतिपादनं स व्यतिरेकः कथ्यते ।

दो पदार्थों के बीच सादृश्य के शब्द द्वारा गृहीत (=कथित) होने पर या (लक्षणा से अथवा पूर्वापरप्रसङ्ग से) प्रतीत होने पर वहाँ (उनके बीच) भेद के कथन को व्यतिरेक कहते हैं ।

यहाँ दो पदार्थों से अभिप्राय स्पष्टतः उपमेय और उपमान है। सादृश्य-स्थापना के अनन्तर भेदकथन का उद्देश्य उपमेय का उत्कर्ष दिखाना होता है। यद्यपि यह बात दण्डी ने अपनी परिभाषा में स्पष्ट रूप में उल्लिखित नहीं की है, तथापि उसके उदाहरणों से यह स्पष्ट है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसका स्फुट उल्लेख किया है; द्र० मम्मट : **काप्र० १०.१०५ : उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।** अनेक आचार्यों ने उपमेय के उत्कर्ष के साथ उसके अपकर्ष के कथन को भी इस अलंकार का विषय माना है; तु० विश्वनाथ : **साद० १०.५२ : आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताथवा । व्यतिरेकः**'''। (तु० **अलंसर्व० २८ वृत्ति; कुवलया० ५७** भी)। भोज (**सरस्व० ३.३२**) तथा विश्वेश्वर (**चम०, पृ० १७२**) ने इस अलंकार की दण्डिप्रदत्त परिभाषा को ही ग्रहण किया। दण्डी ने इस अलंकार का निम्नलिखित आधारों पर वर्गीकरण किया है : सादृश्य की शब्दोपात्तता अथवा प्रतीयमानता; एकत्रवर्ती अथवा उभयत्रवर्ती भेदक धर्म का कथन; भेदमात्रकथन अथवा उत्कर्षकथन (=आधिक्यदर्शन); दो पदार्थों की सजातीयता अथवा विजातीयता; और अन्य अलंकारों (जैसे श्लेष,

---

१. उच्यते ।

आक्षेप और हेतु) से संकर। इन भेदों का दिङ्मात्र निदर्शन आगे के पद्यों में प्राप्त होता है।

धैर्यलावण्यगाम्भीर्य[1]प्रमुखैस्त्वमुदन्वतः ।
गुणैस्तुल्योऽसि[2] भेदस्तु वपुषैवेदृशेन ते ॥१८१॥

व्यतिरेकप्रभेदान् निदिदर्शयिषुस्तत्र प्रथममेकव्यतिरेकाख्यं प्रभेदमुदाहरति—धैर्येति। धैर्यं धीरत्वं (समुद्रपक्षे स्थिरत्वमनतिक्रान्तमर्यादत्वं वा), लावण्यं सौन्दर्यं (समुद्रपक्षे लवणमयत्वं), गाम्भीर्यं दुरवगाहस्वभावत्वं (समुद्रपक्षे अगाधता) इति एतत्प्रमुखैः गुणैः धर्मैः त्वम् उदन्वतः समुद्रस्य तुल्यः समानः असि। भेदः युवयोः परस्परं वैधर्म्यं तु ते तव ईदृशेन हस्तपादादिमता पुरो दृश्यमानेन वपुषा शरीरेण एव वर्तते। धैर्यादिभिर्गुणैस्त्वं समुद्रेण सदृशो मूर्त्यैव च तद्भिन्न इत्यर्थः।

धैर्य (समुद्र के पक्ष में : मर्यादा में रहना), सौन्दर्य (समुद्र के पक्ष में : नमकयुक्त होना) और (स्वभाव की) गम्भीरता (समुद्र के पक्ष में : गहराई, अगाधता) आदि गुणों से, हे राजन्, तुम समुद्र के तुल्य हो। (तुम दोनों में परस्पर) अन्तर तो तुम्हारे इस प्रकार के शरीर से ही है।

इत्येकव्यतिरेकोऽयं धर्मेणैकत्रवर्तिना ।
प्रतीति[3]विषयप्राप्तेर्भेदस्योभयवर्तिनः ॥१८२॥

उदाहरणं विशदयति—इत्येकेति। इत्येवम् अत्रोदाहरणे एकत्रवर्तिना उपमेयमात्रे (नृपतौ) अवस्थितेन धर्मेण (विशिष्टमूर्तिमत्त्वरूपेण) उभयवर्तिनः उपमेये उपमाने चेत्युभयत्र वर्तमानस्य भेदस्य परस्परवैधर्म्यस्य प्रतीतिविषयप्राप्तेः प्रतीयमानत्वाद् हेतोः अयम् एकव्यतिरेकः, उपमेयमात्रस्थितधर्मविशेषोल्लेखेन उपमेयोपमानयोर्द्वयोरपि भेदप्रतीतिकर एकव्यतिरेकाख्यो व्यतिरेकभेदः।

यहां केवल एक (—उपमेयमात्र—) में स्थित धर्म (—मूर्तिविशेषयुक्तत्व—)के उल्लेख द्वारा (उपमेय और उपमान) दोनों के बीच विद्यमान अन्तर की प्रतीति होने से यह एकव्यतिरेक है।

अभिन्नवेलौ गम्भीरावम्बुराशिर्भवानपि ।
असावञ्जनसंकाशस्त्वं तु चामीकरच्छविः[4] ॥१८३॥

द्वितीयं भेदमुभयव्यतिरेकमुदाहरति—अभिन्नेति। हे राजन्, अम्बुराशिः

१. -माहात्म्य-। २. तुल्योऽपि। ३. प्रतीत-। ४. -द्युतिः।

समुद्रः भवान् अपि च उभावपि अभिन्नवेलौ अनतिक्रान्तमर्यादौ गम्भीरौ अगाधौ दुरवगाहस्वभावौ वा स्थः। इत्थमत्र सादृश्ये सत्यपि, असौ समुद्रः अञ्जन-संकाशः वर्णेन अञ्जनसदृशः नीलवर्णः अस्ति, त्वं तु चामीकरच्छविः सुवर्ण-प्रभः असि।

समुद्र और, (हे राजन्,) तुम—दोनों मर्यादा का उल्लङ्घन न करने वाले एवं गम्भीर (=अगाध;=गम्भीर स्वभाव युक्त) हो; परंतु, तुम दोनों में, वह (समुद्र) अञ्जन के समान (नीलवर्ण) है और तुम सोने की-सी छवि वाले हो।

उभयव्यतिरेकोऽयमुभयोर्भेदकौ गुणौ ।
कार्ष्ण्यं पिशङ्गता चोभौ यत्पृथग्दर्शिताविह[1] ॥१८४॥

उक्तमुदाहरणं व्याचष्टे—**उभयेति**। यद् यस्माद् इह उदाहरणे उभयोः उपमानोपमेययोः समुद्रस्य नृपतेश्च क्रमेण कार्ष्ण्यं कृष्णता (नीलवर्णत्वं) पिशङ्गता सौवर्णवर्णत्वं चेति उभौ अपि भेदकौ परस्परभेदकरौ गुणौ पृथक् पृथक्त्वेन दर्शितौ कथितौ, तस्मादयम् उभयव्यतिरेको नाम व्यतिरेकविकल्पः।

यहाँ (उपमानभूत समुद्र और उपमेयभूत राजा) दोनों के (क्रमशः) कृष्णत्व और सुवर्णवर्णत्व—ये दोनों भेदक (=परस्पर भेद की प्रतीति कराने वाले) गुण अलग-अलग दिखाए गए हैं; अतः यह उभयव्यतिरेक का उदा-हरण है।

तु० सरस्व० ३, उदा० ६४।

त्वं समुद्रश्च दुर्वारौ महासत्त्वौ सतेजसौ ।
अयं तु[2] युवयोर्भेदः स जडात्मा[3] पटुर्भवान्[4] ॥१८५॥

तृतीयं भेदं सश्लेषं निदर्शयति—**त्वमिति**। हे राजन्, त्वं समुद्रः च दुर्वारौ, त्वम् अवार्यवेगः, समुद्रश्च दुर्वाः दुष्टमनास्वाद्यं वा वाः वारि यस्य तादृशः। अथ युवां महासत्त्वौ, त्वं बलातिशययुक्तः समुद्रश्च महद्भिः सत्त्वैः जलजन्तुभिर्युक्तः। अथ च युवां सतेजसौ, त्वं तेजस्वी समुद्रश्च तेजसा वाडवाग्निना सहितः। तदेवं समानयोरपि युवयोः अयं तु भेदः यत् स समुद्रः जडात्मा जडप्रकृतिः जलस्वरूपो वा, भवान् च पटुः चेतनप्रकृतिः चतुरो वा इति।

(हे राजन्,) तुम और समुद्र दोनों दुर्वार, महासत्त्व और तेजोमय हो (=तुम अवार्य—दुर्धर्ष—वेग वाले, महाशक्तिशाली और तेजस्वी हो एवं समुद्र

---

१. पृथक्त्वेन दर्शितौ। २. इयता। ३. जलात्मा। ४. तथापि भवतः कक्षां जडात्मा नायमर्हति।

खुरे अथवा खारे जल वाला, बड़े-बड़े जलजन्तुओं से परिपूर्ण और वाडव अग्नि से युक्त है); फिर भी, तुम दोनों में यह अन्तर है कि वह (समुद्र) जडप्रकृति अथवा जलमय है और तुम चेतनाशील अथवा चतुर हो।

स एष[1] श्लेषरूपत्वात्सश्लेष इति गृह्यताम् ।
साक्षेपश्च सहेतुश्च दर्श्यते[2] तदपि द्वयम् ॥१८६॥

उक्तं व्याचक्षाणोऽन्यच्च भेदद्वयं दर्शयिष्यन्नाह—**स एष** इति । स एषः ईदृशः (अनन्तरोक्तः उभयव्यतिरेकः) श्लेषरूपत्वात् श्लिष्टत्वात् सश्लेषः व्यतिरेकभेदः इति गृह्यतां ज्ञायताम् । अथ साक्षेपः आक्षेपसहितः सहेतुः हेतुसहितः चेति तद् द्वयं व्यतिरेकभेदद्वितयम् अपि दर्श्यते वक्ष्यमाणोदाहरणाभ्यां निदर्श्यते।

इस प्रकार का यह (उभयव्यतिरेक का उदाहरण) श्लेषयुक्त होने के कारण सश्लेषव्यतिरेक समझा जाए। (आक्षेप और हेतु से युक्त व्यतिरेक) साक्षेप और सहेतु व्यतिरेक होते हैं; ये दो भेद भी (अगले दो उदाहरणों द्वारा) दिखाए जाते हैं।

उपर्युक्त **त्वं समुद्रश्च** इत्यादि उदाहरण को हेमचन्द्र (**काअनु०**, पृ० ३४८) ने श्लेष और व्यतिरेक के अङ्गाङ्गिभाव संकर के निदर्शन के रूप में उद्धृत किया है।

स्थितिमानपि धीरोऽपि रत्नानामाकरोऽपि सन् ।
तव कक्षां[3] न यात्येव मलिनो मकरालयः ॥१८७॥

चतुर्थं भेदं साक्षेपमुदाहरति—**स्थितिमानिति** । हे राजन्, त्वमिव स्थितिमान् मर्यादावान् अपि, धीरः प्रशान्तः अपि, अथ च रत्नानां मुक्ताप्रवालादीनाम् आकरः उत्पत्तिस्थानं निलयो वा (नृपपक्षे सद्गुणरत्नानां भवनमपि) अपि सन् मलिनः नीलजलतया क्षारजलतया वा मालिन्ययुतः मकरालयः समुद्रः निर्मलस्य तव कक्षां सादृश्यं साधर्म्यं वा न याति एव । अत्र प्रथमं सादृश्यं प्रदर्श्य ततस्तदाक्षेपः कृत इति साक्षेपव्यतिरेकः।

(हे राजन्, तुम्हारे समान) मर्यादावान्, प्रशान्त और (मुक्ता, प्रवाल आदि) रत्नों का आकर (=खान;=भवन) होते हुए भी यह मलिन (=नीले या खारे जल से युक्त होने के कारण मालिन्यपूर्ण) समुद्र तुम्हारी समानता को प्राप्त नहीं होता।

---

१. एव। २. दृश्यते। ३. कक्ष्यां।

यहाँ पहले सादृश्य दिखाकर फिर उसका आक्षेप (=प्रतिषेध) किया गया है; अतः **साक्षेप (एक-)व्यतिरेक** है।

वहन्नपि महीं कृत्स्नां सशैलद्वीपसागराम्।
भर्तृभावाद् भुजंगानां शेषस्त्वत्तो निकृष्यते ॥१८८॥

पञ्चमं भेदं सहेतुव्यतिरेकं निदर्शयति—**वहन्नपीति**। शैलैः पर्वतैः द्वीपैः समुद्रमेखलैर्भूखण्डैः सागरैः समुद्रैः च सहितां कृत्स्नां समस्तां महीं पृथिवीं वहन् (त्वमिव) धारयन् अपि शेषः शेषनागः अनन्तः भुजंगानां सर्पाणां भर्तृभावात् स्वामित्वाद् हेतोः त्वत्तः त्वदपेक्षया निकृष्यते निकृष्टत्वं गच्छति। सकलधराधारणेन त्वमिव सन्नपि शेषः भुजंगनायकत्वात्त्वदपेक्षया निकृष्टः, न हि त्वं स इव भुजंगानां जाराणां भर्ता पोषक इति भावः। अत्र उपमेयोपमानयोर्भेदकथने **भर्तृभावाद् भुजंगानामिति** हेतूपस्थापनात् सहेतुव्यतिरेकः।

(हे राजन्,) पहाड़ों, द्वीपों और समुद्रों सहित अखिल पृथ्वी को (तुम्हारे समान) धारण करते हुए भी शेषनाग, साँपों का राजा होने के कारण, तुमसे निकृष्ट है (क्योंकि तुम उसकी भाँति भुजंगों—जारों—के भर्ता अर्थात् भरण-कर्ता नहीं हो)।

यहाँ उपमेय (राजा) और उपमान (शेषनाग) के बीच भेद दिखाने के लिए, 'साँपों का राजा होने के कारण' यह हेतु उपस्थापित किया गया है; अतः यहाँ **सहेतु (एक-)व्यतिरेक** है।

शब्दोपादानसादृश्यव्यतिरेकोऽयमीदृशः।
प्रतीयमानसादृश्योऽप्यस्ति सोऽनुविधीयते[1] ॥१८९॥

शब्दोपात्तसादृश्यव्यतिरेकमुपसंहरन् प्रतीयमानसादृश्यव्यतिरेकं चोपक्रममाण आह—**शब्दोपादानेति**। अयम् ईदृशः एतावत्पर्यन्तमुदाहृतः शब्दोपादानेन यत्सादृश्यं तत्र व्यतिरेकः भेदकथनं तल्लक्षणः व्यतिरेकप्रकारः आसीत्। अथ प्रतीयमानम् अशब्दोपात्तं गम्यं सादृश्यं यत्र तादृशोऽपि व्यतिरेकः अस्ति, सः अधुना अनुविधीयते अनुपदमेव व्याख्यायते, उदाहरणैरिति शेषः।

इस पूर्वोक्त प्रकार से यह (शब्दोपात्त सादृश्य वाले पदार्थों के परस्पर भेदकथन पर आधारित) शब्दोपात्तसादृश्य व्यतिरेक **हुआ। इसके अतिरिक्त,** प्रतीयमानसादृश्य व्यतिरेक **भी होता है; उसकी व्याख्या अब की जाती है।**

---

१. सोऽप्यभिधीयते, सोऽन्वाभि-।

व्यतिरेक के उक्त दो प्रकारों के लिए २.१८० और उसकी व्याख्या देखें।

त्वन्मुखं कमलं चेति द्वयोरप्यनयोर्भिदा ।
कमलं जलसंरोहि त्वन्मुखं त्वदुपाश्रयम् ॥१९०॥

प्रतीयमानसादृश्यव्यतिरेके प्रथमं भेदमात्रोक्तिमूलमुदाहरति—**त्वन्मुख**मिति । त्वन्मुखं तव वदनं कमलं च इति द्वयोः अपि अनयोः भिदा भेदः अस्ति। तथाहि कमलं खलु जलसंरोहि जले संरोहति जायते इति तादृशमस्ति, परं त्वन्मुखं त्वदुपाश्रयं त्वामेव, न त्वन्यत्किंचिद्, उपाश्रयते इति तादृशं वर्तते। वाचकपदानुपादानादत्र मुखकमलयोः सादृश्यं प्रतीयमानमेव, सति चेदृशे सादृश्येऽत्राश्रयभेदकथनरूपो व्यतिरेकः ।

(हे सुन्दरी,) तुम्हारा मुख और कमल—इन दोनों में यह अन्तर है कि जहां कमल जल में उगने वाला है, वहां तुम्हारा मुख तुम पर ही उपाश्रित है।

यहाँ वाचकपद का ग्रहण न होने से सादृश्य प्रतीयमान है, शाब्द नहीं। अतः यहाँ प्रतीयमानसादृश्य व्यतिरेक है (तु० सरस्व० ३, उदा० ९५)। उसमें भी, यहाँ (आश्रय-)भेदमात्र का कथन होने से भेदमात्रोक्तिमूलक व्यतिरेक-प्रकार है।

अभ्रूविलासमस्पृष्टमदरागं[1] मृगेक्षणम् ।
इदं तु नयनद्वन्द्वं तव तद्गुणभूषितम् ॥१९१॥

प्रतीयमानसादृश्यव्यतिरेके द्वितीयमाधिक्यदर्शनमूलं निदर्शयति—**अभ्रूविलास**मिति। मृगेक्षणं हरिणस्य नेत्रयुगलम् अभ्रूविलासं भ्रूविलासरहितम् अथ च अस्पृष्टमदरागम् अस्पृष्टः अस्वीकृतः मदरागः मदकरः रागः मदिरापानजनितलौहित्यं वा येन तादृशमस्ति। परं तु तव इदं नयनद्वन्द्वं नेत्रयुगलं तद्गुणभूषितं ताभ्यां भ्रूविलासमदरागाख्याभ्यां गुणाभ्याम् अलंकृतं वर्तते। अत्रापि नायिकामृगनेत्रद्वन्द्वयोः सादृश्यं प्रतीयमानमेव न शाब्दं, तथा चात्रोपमेये नायिकानयनद्वन्द्वे मृगेक्षणापेक्षयाऽऽधिक्यदर्शनमिति तन्मूलो व्यतिरेकः।

मृग के नयन भौंहों के विलास से अनभिज्ञ और मद की लाली से शून्य हैं, परंतु तुम्हारी ये आँखें उक्त गुणों (=भ्रूविलास और मदराग) से अलंकृत हैं (और इस प्रकार उनसे बढ़कर हैं)।

यहाँ भी नायिका और मृग की आँखों का परस्पर सादृश्य प्रतीयमान है, अतः यहाँ प्रतीयमानसादृश्य व्यतिरेक है (तु० सरस्व० ३, उदा० ९६)। उसमें

---

१. अस्पष्ट-।

भी, यहाँ उपमेयभूत नायिका की आँखों में उपमानभूत मृग की आँखों की अपेक्षा गुणाधिक्य का कथन होने से आधिक्यदर्शनमूलक व्यतिरेकप्रकार है।

पूर्वस्मिन् भेदमात्रोक्तिरस्मिन्नाधिक्यदर्शनम् ।
सदृशव्यतिरेकश्च पुनरन्यः प्रदर्श्यते ॥१६२॥

उक्तमुदाहरणद्वयं विशदयन् व्यतिरेकभेदान्तरं चोपक्रममाण आह—**पूर्वस्मिन्निति**। पूर्वस्मिन् प्रथममुदाहृते **त्वन्मुखं कमलं** चेत्यादिपद्ये भेदमात्रोक्तिः उपमेयोपमानयोः मुखकमलयोः भेदमात्रस्य आश्रयभिन्नतारूपस्यैव कथनमासीत्। अस्मिन् अनन्तरोक्ते **अभ्रूविलास**मित्यादिपद्ये तु आधिक्यदर्शनम् उपमेयभूतनायिकानेत्रयुगलस्य उपमानभूतमृगेक्षणापेक्षयोत्कर्षवर्णनमस्ति। एवं प्रतीयमानसादृश्यव्यतिरेकस्य द्वाविमौ भेदौ भवतः—भेदमात्रोक्तिमूलः आधिक्यदर्शनमूलश्च। अथ पुनः अन्यः व्यतिरेकप्रकारः सदृशव्यतिरेकः तदाख्यः भेदकधर्मसादृश्यलक्षणः प्रदर्श्यते वक्ष्यमाणेन पद्यद्वयेन निदर्श्यते।

(त्वन्मुखं कमलं च इत्यादि इस) **पहले पद्य में (उपमेय और उपमान के बीच) भेद (=आश्रयभेद) मात्र का कथन किया गया है और** (अभ्रूविलासम् इत्यादि) **इस पद्य में (उपमान की अपेक्षा उपमेय के) आधिक्य अथवा उत्कर्ष का वर्णन किया गया है (इस प्रकार ये पद्य प्रतीयमानसादृश्य व्यतिरेक के दो रूप उपस्थापित करते हैं : भेदमात्रकथनमूलक और आधिक्यवर्णनमूलक)। इनके अतिरिक्त (व्यतिरेक का एक) अन्य भेद सदृशव्यतिरेक है जिसे (अगले दो उदाहरणों द्वारा) निदर्शित किया जाता है।**

त्वन्मुखं पुण्डरीकं च फुल्ले सुरभिगन्धिनी ।
भ्रमद्भ्रमरमम्भोजं लोलनेत्रं[1] मुखं तु[2] ते ॥१६३॥

सदृशव्यतिरेके प्रथमं शाब्दं भेदमुदाहरति—**त्वन्मुख**मिति। त्वन्मुखं पुण्डरीकं कमलं चेति द्वे अपि फुल्ले विकसिते स्तः, मुखं स्मितविकासयुतं कमलं च दलविकासयुतमित्यर्थः। अथ द्वे अपि सुरभिगन्धिनी इष्टगन्धवती स्तः। फुल्लत्वसुरभिगन्धित्वरूपसाधारणधर्मोपादानात्सादृश्यमत्र शब्दोपात्तम्। अथ द्वयोर्भेदमाह—अम्भोजं कमलं भ्रमद्भ्रमरं भ्रमन्तौ भ्रमरौ यस्मिंस्तत्तादृशमस्ति, परंतु ते मुखं लोलनेत्रं लोले चञ्चले नेत्रे यस्मिंस्तत्तादृशं वर्तते। अत्र भेदकधर्मयोः भ्रमरयुक्तत्वनेत्रयुक्तत्वयोः परस्परसादृश्यात्सदृशव्यतिरेकः।

तुम्हारा वदन और यह कमल—दोनों खिले हुए एवं सुगन्धपूर्ण हैं।

---

१. लोलदृष्टि। २. च।

परंतु जहाँ कमल मंडरा रहे भौंरों से युक्त है, वहाँ तुम्हारा वदन चञ्चल आँखों से युक्त है।

यहाँ 'खिले हुए होना' और 'सुगन्धपूर्ण होना' इन साधारणधर्मों का ग्रहण होने से सादृश्य शाब्द है। कमल और मुख के भेदक धर्मों—**भ्रमरयुक्तत्व** और **नयनयुक्तत्व**—के परस्पर सदृश होने से यहाँ सदृशव्यतिरेक है। इस प्रकार यह **शाब्द सदृशव्यतिरेक** का उदाहरण है (**तु० सरस्व० ३, उदा० ६६**)।

चन्द्रोऽयमम्बरोत्तंसो हंसोऽयं तोयभूषणम्[1]।
नभो नक्षत्रमालीदमिदमुत्कुमुदं[2] पयः ॥१९४॥

अथ प्रतीयमानसादृश्यं सदृशव्यतिरेकं निदर्शयति—**चन्द्र** इति। अयं दृश्यमानः चन्द्रः अम्बरोत्तंसः आकाशस्य अलंकारः अस्ति, अयं च हंसः तोयभूषणं जलस्य अलंकारः वर्तते। अथ इदं नभः नक्षत्रमालि तारागणमण्डितम्, इदं च पयः जलम् उत्कुमुदम् उद्गतकुमुदं शोभते। अत्र चन्द्रहंसयोः अम्बर-तोययोश्च सादृश्यं गम्यमस्ति। अथ चात्र चन्द्रस्य हंसस्य च मध्ये भेदकधर्मयोः अम्बरभूषणत्वतोयभूषणत्वयोः, अम्बरस्य तोयस्य च मध्ये भेदकधर्मयोः नक्षत्र-युक्तत्वकुमुदयुक्तत्वयोः परस्परसदृशत्वात् सदृशव्यतिरेकः।

यह चन्द्रमा आकाश का भूषण है और यह हंस जल (अर्थात् सरोवर) का भूषण है; यह आकाश नक्षत्रों की पंक्ति से युक्त है और यह जल खिले हुए कुमुदों से सुशोभित है।

यहाँ चन्द्रमा और हंस का शुक्लता-रूप परस्पर सादृश्य तथा आकाश और जल का सूक्ष्मता-रूप परस्पर साधर्म्य गम्य अथवा प्रतीयमान है। चन्द्रमा और हंस के भेदक धर्मों—**अम्बरभूषणत्व** और **जलभूषणत्व**—के तथा आकाश और जल के भेदक धर्मों—**नक्षत्रयुक्तत्व** और **कुमुदयुक्तत्व**—के परस्पर सदृश होने से यहाँ सदृशव्यतिरेक है। इस प्रकार यह **प्रतीयमानसादृश्य सदृशव्यतिरेक** का उदाहरण है (**तु० सरस्व० ३, उदा० ६७**)।

प्रतीयमानसौक्ष्म्यादि[3]साम्ययोर्वियदम्भसोः[4]।
कृतः प्रतीतशुद्धयोश्च भेदोऽस्मिंश्चन्द्रहंसयोः[5] ॥१९५॥
पूर्वत्र शब्दवत्साम्यमुभयत्रापि भेदकम्।
भृङ्गनेत्रादि तुल्यं तत्सदृशव्यतिरेकता ॥१९६॥

उक्तमुदाहरणद्वयं विशदयति—**प्रतीयमानेति**। अस्मिन् अनन्तरोक्ते

१. -भूषणः। २. उत्फुल्लकुमुदं। ३. -शौक्ल्यादि-। ४. -साम्ययोश्चन्द्रहंसयोः। ५. -ऽस्मिन् वियदम्भसोः, हंसचन्द्रयोः।

चन्द्रोऽयम् इत्यादिपद्ये प्रतीयमानं वर्णनानुरोधेन यथाकथंचिदुन्नीयमानं (न तु शब्दोपात्तं) सौक्ष्म्यादि सूक्ष्मत्वादिरूपं साम्यं सादृश्यं ययोः तयोः वियदम्भसोः आकाशजलयोः, अथ च प्रतीतशुद्धयोः प्रतीता (न तु शब्दोपात्ता) शुद्धिः शुभ्रता शुक्लता वा ययोः तयोः चन्द्रहंसयोः भेदः भेदकथनं कृतः विहितः । पूर्वत्र पूर्ववर्तिनि **त्वन्मुखम्** इत्यादिपद्ये साम्यं शब्दवत् शब्दोपात्तमस्ति, तत्र शब्दोपात्त-साम्ययोः मुखकमलयोर्भेदः कृतः इति शेषः । अथानयोः पद्ययोः सदृशव्यतिरेक-स्थितिं प्रतिपादयन्नाह—उभयत्र पद्यद्वयेऽपि भृङ्गनेत्रादि (आदिशब्दाद् अम्बर-तोययोः नक्षत्रकुमुदयोश्च ग्रहणम्) भेदकं भेदकधर्मः तुल्यं सदृशम् । तथा हि **भ्रमल्लोले**ति भिन्नशब्दाभ्यां प्रतिपादितस्यापि वस्तुतोऽभिन्नस्य चाञ्चल्यस्योभयत्र विद्यमानत्वाद् भ्रमरनेत्रयोस्तुल्यता । एवमेवाम्बरतोययोः सूक्ष्मत्वादिना नक्षत्र-कुमुदयोश्च मनोहराकारत्वेन तुल्यत्वं ज्ञेयम् । तदेवम् अत्र पद्यद्वयेऽपि सदृश-व्यतिरेकता (भेदकयोः सादृश्यात्) सदृशव्यतिरेकस्थितिः वर्तते ।

इस (उपर्युक्त चन्द्रोऽयम् **इत्यादि पद्य) में आकाश और जल के बीच, जिनका कि सूक्ष्मत्वरूप सादृश्य प्रतीयमान है, एवं चन्द्रमा और हंस के बीच, जिनका कि शुभ्रत्वरूप सादृश्य प्रतीयमान है, परस्पर भेदकथन किया गया है। (उक्त उदाहरण से) पहले के उदाहरण (**त्वन्मुखं पुण्डरीकं च **इत्यादि) में (मुख और कमल के बीच परस्पर भेदकथन किया गया है, जहाँ कि उनका) अन्योन्य सादृश्य शब्दोपात्त है। दोनों पूर्वोक्त उदाहरणों में भ्रमर और नेत्र आदि के रूप में आए भेदकधर्म परस्पर सदृश हैं; इसलिए इनमें** सदृशव्यतिरेक **की स्थिति है।**

भ्रमर और नेत्र—दोनों में चञ्चलता समानधर्म है। आकाश और जल में सूक्ष्मत्व साधारण धर्म है एवं नक्षत्र और कुमुदपुष्प में मनोहर आकृति का साम्य है। इस प्रकार, इन वैधर्म्यप्रतिपादक भेदकधर्मों में परस्पर सादृश्य होने से उक्त पद्य सदृशव्यतिरेक के उदाहरण हैं।

अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं[1] सूर्यरश्मिभिः ।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः ॥१९७॥

अथ भेदान्तरं सजातिव्यतिरेकमुदाहरति—**अरत्नेति** । यूनां युवकानां यौवनप्रभवं प्रथमवयोजातं तमः अन्धकारः, सदसद्विवेकपरिपन्थी मोह इत्यर्थः, अरत्नालोकसंहार्यं रत्नानां मणीनाम् आलोकेन अपि न संहार्यम् अभेद्यम्, अथ च सूर्यरश्मिभिः रविकिरणैः अपि न वार्यम् अनपनेयम्, अतश्च सर्वथा दृष्टि-

१. अहार्यं ।

रोधकरं दर्शनसामर्थ्यरोधकं, सदसद्दर्शनप्रतिरोधि, वर्तते।

युवकों का, यौवनावस्था में उत्पन्न, (मानसिक) अन्धकार रत्नों के आलोक से भी न हटाया जा सकने वाला एवं सूर्य की किरणों से भी न रोके जा सकने योग्य, (और इस प्रकार सर्वथा) दृष्टिरोध पैदा करने वाला होता है।

तु० सरस्व० ३, उदा० ६०। भावसाम्य के लिए, द्र० कादम्बरी, अनुच्छेद १०३ : **केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमदीपप्रभापनेयमतिगहनं तमो यौवनप्रभवम्।**

सजाति[1]व्यतिरेकोऽयं तमोजातेरिदं तमः।
दृष्टिरोधितया तुल्यं भिन्नैर्धर्मैरदर्शि[2] यत् ॥१९८॥

उक्तमुदाहरणं विश्लेषयति—**सजातीति**। यद् यस्माद् अत्रोदाहरणे दृष्टिरोधितया दृष्टिप्रतिरोधित्वात् तमोजातेः प्रसिद्धायाः अन्धकारजातेः तुल्यं सदृशं सजातीयम् इदं यौवनप्रभवं तमः मोहान्धकारः भिन्नैः रत्नालोकासंहार्यत्व-सूर्यकिरणावार्यत्वादिरूपैः धर्मैः भेदकगुणैः अदर्शि दर्शितं वर्णितं, तस्मात्सोऽयं व्यतिरेकभेदस्तुल्यजातितो भेदकथनात्सजातिव्यतिरेको नाम।

(उक्त उदाहरण में) दृष्टिरोधक होने के कारण प्रसिद्ध अन्धकारजाति के सदृश (=सजातीय) इस (यौवनावस्था में उत्पन्न मोहरूप) अन्धकार को (रत्नों के प्रकाश से असंहार्य होना आदि) भिन्न धर्मों से दिखाया गया है; अतः यहां (सजातीय से भेदकथन होने के कारण) सजातिव्यतिरेक है।

प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किंचित्कारणान्तरम्।
यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना ॥१९९॥

अथ नवममलंकारं विभावनां लक्षयति--**प्रसिद्धेति**। यत्र उक्तिविशेषे प्रसिद्धस्य लोकप्रतीतस्य हेतोः (कार्यविशेषं प्रति) कारणस्य व्यावृत्त्या निरासेन, अभावप्रदर्शनेनेत्यर्थः, यत्किंचित् किमपि कारणान्तरं तस्य कार्यविशेषस्य अन्यत् कारणं विभाव्यं कार्योत्पत्त्युपपादनार्थम् अनुसंधेयं विशेषेण चिन्तनीयम् अथवा स्वाभाविकत्वं कारणान्तरानुसंधानाभावे सति कार्यस्य स्वभावसिद्धत्वं विभाव्यं कल्पनीयं, सा तादृशी उक्तिः विभावना तदाख्यालंकारयुता भवति।

जहाँ (किसी कार्य के) लोकप्रसिद्ध कारण का अभाव दिखाकर (उस कार्य के प्रति) किसी अन्य कारण की विभावना (=विशेष कल्पना) की जाए अथवा (उस कार्य की) स्वभावसिद्धता की कल्पना की जाए, वहाँ विभावना **होती है।**

१. स्वजाति-। २. भिन्नमन्यैरदर्शि, अदर्शयत्।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस अलंकार के लक्षण को अधिक स्पष्टता प्रदान की; उन्होंने, सामान्यतः, कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति के वर्णन को विभावना कहा; तु० साद० १०.६६ : **विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।** भोज (**सरस्व०** ३. ९), **अग्निपुराण** (३४४.२७-८) के लेखक तथा विश्वेश्वर (**चम०**, पृ० १५०) ने इस अलंकार की दण्डि-प्रदत्त परिभाषा को ही ग्रहण किया।

अपीतक्षीबकादम्बमसंमृष्टा[1]मलाम्बरम् ।
अप्रसादितशुद्धाम्बु[2] जगदासीन्मनोहरम्[3] ॥२००॥

प्रथमं कारणान्तरविभावनात्मकं प्रकारमुदाहरति—**अपीतेति** । शरदृतुवर्णनमिदम् । शरत्काले प्राप्ते अपीताः अकृतमधुपानाः अपि क्षीबाः मत्ताः कादम्बाः कलहंसाः यस्मिन् तत्, असंमृष्टं मार्जन्या अपरिशोधितम् अपि अमलं स्वच्छम् अम्बरम् आकाशं यस्मिन् तत्, अथ च अप्रसादितं कतकफलादिना अपरिष्कृतम् अपि शुद्धं निर्मलम् अम्बु जलं यस्मिन् तत् तादृशं जगद् मनोहरं हृदयावर्जकम् आसीत् ।

(शरत्काल के आने पर) समस्त जगत् मनोहारी बन गया : कलहंस (कमल-मधु का) पान किए बिना भी मतवाले हो गए, आकाश (पानी से) धोए न जाने पर भी स्वच्छ हो गया और (नदियों आदि का) जल (कतकफल से) परिष्कृत न किए जाने पर भी निर्मल हो गया ।

यह कारणान्तरविभावनात्मक विभावना का उदाहरण है (तु० **सरस्व०** ३, **उदा०** १३) । अप्पय दीक्षित (**कुवलया०** ७७) ने प्रस्तुत उदाहरण को इसी अलंकार के संदर्भ में उद्धृत किया है । यह उदाहरण विभावना के भामह-प्रदत्त निम्नलिखित वर्षावर्णनविषयक निदर्शन (२.७८) से तुलनीय है : **अपीतमत्ताः शिखिनो दिशोऽनुत्कण्ठिताकुलाः । नीपोऽविलिप्तसुरभिरभ्रष्टकलुषं जलम् ॥**

अनञ्जितासिता दृष्टिर्भ्रूरनावर्जिता नता ।
अरञ्जितोऽरुण[4]श्चायमधरस्तव सुन्दरि ॥२०१॥

स्वाभाविकत्वविभावनात्मकं प्रकारमुदाहरणेन प्रस्तौति—**अनञ्जितेति** । हे सुन्दरि, तव दृष्टिः अनञ्जिता अञ्जनेन अननुलिप्ता अपि असिता कृष्णा, तव भ्रूः अनावर्जिता केनचित् सप्रयासम् अनामिता अपि नता आभुग्ना, अथ च अयं तव अधरः अरञ्जितः लाक्षारसेन अरक्तीकृतोऽपि अरुणः लोहितः अस्ति ।

हे सुन्दरी, तुम्हारी आँखें (अञ्जन से) आँजी गई न होने पर भी काली

---

१. असंसृष्टा- । २. -सूक्ष्मा- । ३. -रमम् । ४. अरञ्जितारुणश् ।

हैं, तुम्हारी भौंहें (किसी के द्वारा) झुकाई गई न होने पर भी (नीचे की ओर) आनत हैं, और तुम्हारे ये होंठ (लाख के रस से) रँगे गए न होने पर भी लाल हैं।

यह स्वाभाविकत्वविभावनात्मक विभावना का उदाहरण है (तु० सरस्व० ३, उदा० १४)।

यदपीतादिजन्यं[1] स्यात् क्षीबत्वाद्यन्यहेतुजम्[2]।
अहेतुकं च तस्येह विवक्षेत्यविरुद्धता ॥२०२॥

उक्तमुदाहरणद्वयं विशदयंस्तत्र च विरोधपरिहारं प्रतिपादयन्नाह—**यदपीतेति**। अपीतादिजन्यं पानाद्यजन्यं यत् क्षीबत्वादि (आदिशब्दात् प्रथमोदाहरणे **अपीतेत्यादौ** संमार्जनाजन्यममलत्वं प्रसादनाजन्यं च शुद्धत्वं, द्वितीयोदाहरणे **अनञ्जितेत्यादौ** च अञ्जनाजन्यमसितत्वम् आवर्जनाजन्यं नतत्वं रञ्जनाजन्यं चारुणत्वं गृह्यन्ते) अन्यहेतुजं (प्रथमोदाहरणे) शरत्कालोदयरूपकारणान्तरजन्यं (द्वितीयोदाहरणे च) अहेतुकं कारणं विनैवोत्पन्नं, स्वभावजमित्यर्थः, स्यात्, तस्य (अन्यहेतुजत्वस्य अहेतुकत्वस्य च) इह विवक्षा प्रतिपादनाभिलाषः अस्ति इति हेतोः अत्र अविरुद्धता विरोधाभावः। कारणाभावे कथं कार्योत्पत्तिरिति आपाततः विरोधावगतौ सत्यामपि वक्तुरिच्छावशात् कारणान्तरस्य स्वभावरूपालौकिककारणस्य चानुसंधानान्न तत्त्वतो विरोधः इत्यभिप्रायः।

(मधु-)पान आदि से अनुत्पन्न मतवालापन आदि कार्य जो (पहले उदाहरण, अपीत इत्यादि, में शरत्कालारम्भ रूप) अन्य कारण से उत्पन्न और (दूसरे उदाहरण, अनञ्जिता इत्यादि, में) कारण के बिना उत्पन्न अर्थात् स्वाभाविक बताया गया है, उसकी उक्त रूप में (=अन्यहेतुज और अहेतुक अर्थात् स्वाभाविक रूप में) विवक्षा होने से यहाँ विरोध नहीं है।

कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति होने में विरोध की प्रतीति होती है; परंतु जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों में हम देखते हैं, कविविवक्षा से दूसरे कारण अथवा स्वभावरूप अलौकिक कारण का विभावन होने से यहाँ वास्तविक विरोध की स्थिति नहीं है।

वक्त्रं निसर्गसुरभि वपुरव्याजसुन्दरम्[3]।
अकारणरिपुश्चन्द्रो निर्निमित्तासुहृत्स्मरः[4] ॥२०३॥

---

१. –जन्म, अपीत्यादिजन्म। २. –हेतुकम्। ३. अत्यन्त–। ४. निर्निमित्तसुहृत्स्मरो, निर्निमितं सुहृत् पुमान्।

पूर्वमार्थस्वाभाविकत्वविभावनामुदाहृत्य संप्रति शाब्दीमुपस्थापयति—**वक्त्रमिति**। वक्त्रं नायिकायाः वदनं निसर्गसुरभि स्वाभाविकसौरभयुतं, न तु कर्पूरादिद्रव्यैरित्यर्थः। वपुः तस्याः शरीरम् अव्याजसुन्दरं प्रसाधनप्रयत्नविशेषमन्तरेण, स्वभावत एवेत्यर्थः, रमणीयम्। चन्द्रः विरहिणो मम अकारणरिपुः केनचिद् मत्कर्तृकेणापकारेण हेतुना विनापि शत्रुः। अथ च स्मरः कामः मम निर्निमित्तासुहृत् किमपि कारणं मत्कृतापकाररूपं विनापि मे शत्रुः अस्ति।

(प्रिया का) वदन नैसर्गिक सुगन्ध से युक्त है; उसकी देह स्वभावतः मनोहारी है। दूसरी ओर, यह चन्द्रमा बिना कारण के ही मेरा शत्रु बना हुआ है और यह कामदेव भी बिना निमित्त के ही मुझसे वैर कर रहा है।

भोज (**सरस्व० ३, उदा० १६**) ने इसे **गीर्भङ्ग्या विचित्रा** विभावना के निदर्शन के रूप में उद्धृत किया है। **वपुरव्याजसुन्दरम्** के लिए, तु० **अभिज्ञानशाकुन्तल १.१८ : इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः।**

निसर्गादिपदैरत्र हेतुः साक्षान्निवर्तितः।
उक्तं च सुरभित्वादि[1] फलं तत्सा[2] विभावना ॥२०४॥

उक्तमुदाहरणं विशदयति—**निसर्गेति**। अत्रोदाहरणे **निसर्गादिपदैः**, आदिशब्दाद् **अव्याजाकारणनिर्निमित्त**शब्दानां ग्रहणम्, सुरभित्वादीनां कार्याणां स्वाभाविकत्वप्रतिपादनेनेत्यर्थः, हेतुः कारणं, कारणत्वेन स्थिता व्यापाराः (यथा वक्त्रे मुखवासाभ्यवहारः, वपुषि भूषाधारणं, चन्द्रकामदेवयोश्च मात्सर्यवृत्तिः), साक्षाद् वाचकव्यापारेण, निसर्गादिशब्दप्रयोगद्वारेत्यर्थः, निवर्तितः व्यावर्तितः, अथ च तदभावेऽपि सुरभित्वादि (आदिना सौन्दर्यशत्रुत्वयोर्ग्रहणम्) फलं कार्यम् उक्तं वर्णितं, तस्मादत्र सा प्रसिद्धा शाब्दस्वाभाविकत्वविभावनालक्षणा विभावना।

यहाँ निसर्ग आदि पदों (के प्रयोग) द्वारा (सुरभित्व, सौन्दर्य और शत्रुत्व के लौकिक) कारण (जैसे—मुखवास, अलंकारधारण एवं चन्द्रमा और कामदेव की मात्सर्यवृत्ति) का साक्षात् (=शब्दप्रयोग द्वारा) व्यावर्तन किया गया है एवं (उसके अभाव में भी) सुरभित्व आदि कार्य (=फल) का कथन किया गया है; अतः यह उक्त (शाब्दस्वाभाविकत्वविभावनात्मक) विभावना है।

वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः।
उक्तिः संक्षिप्तरूपत्वात्[3] सा समासोक्तिरिष्यते ॥२०५॥

अथ दशममलंकारं समासोक्तिमाह—**वस्तु किंचिदिति**। किंचिद् वस्तु अभिप्रेत्य मनसिकृत्य तेन अभिप्रेतेन वस्तुना तुल्यस्य अन्यवस्तुनः अन्यस्य

१. सुरभीत्यादि। २. तस्माद्। ३. संक्षेप-।

कस्यचिद् वस्तुनः सा उक्तिः कथनं संक्षिप्तरूपत्वात् समासभावाद्, एकस्य कथने-नार्थद्वयप्रतीतिरित्येवं संक्षेपोक्तिरूपत्वादित्यर्थः, समासोक्तिरलंकारः इष्यते ।

किसी (इष्ट) वस्तु को अभिप्राय में रखकर (=मन में धारकर) उस वस्तु के समान किसी अन्य वस्तु का कथन, संक्षिप्तरूप (कथन) होने के कारण, समासोक्ति (के रूप में) अभीष्ट है।

उक्त परिभाषा के अनुसार अप्रस्तुत (उपमान) का कथन और उससे प्रस्तुत (उपमेय) की प्रतीति समासोक्ति है । वामन (४.३.३ वृत्ति), भोज (**सरस्व०** ४.४६), मम्मट (१०.६७), विश्वेश्वर (**चम०**, पृ० २१६) आदि आचार्य इस संकल्पना को मान्यता देते हैं। दूसरी ओर, रुय्यक (**अलंसर्व०** ३१), अप्पय दीक्षित (**कुवलया०** ६१), विश्वनाथ (**साद०** १०.५६, **वृत्ति**), विद्यानाथ (**प्रताप०** ८.११७) आदि आचार्य अप्रस्तुत की प्रतीति से युक्त प्रस्तुत की उक्ति को इस अलंकार का विषय मानते हैं (तु० **साद०** १०.५६ : **समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः । व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥**) और इस प्रकार इसे अप्रस्तुतप्रशंसा से पृथक् करते है। दण्डी की समासोक्ति उत्तरवर्ती इन आचार्यों की अप्रस्तुतप्रशंसा से तुलनीय है, यद्यपि वह उसकी अपनी अप्रस्तुतप्रशंसा से कुछ भिन्न स्वरूप लिए हुए है ।

रत्नश्रीज्ञान ने दण्डी की समासोक्ति को ध्वनि का रूप माना है, एवं इस संदर्भ में **ध्वन्यालोक** की इस (१.१३) कारिका को उद्धृत किया है : **यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ । व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥**

पिबन्मधु यथाकामं भ्रमरः फुल्लपङ्कजे ।
अप्यसंनद्धसौरभ्यं पश्य चुम्बति कुड्मलम्[1] ॥२०६॥

तुल्यकार्ये समासोक्तिप्रकारमुदाहरति—**पिबन्निति** । भ्रमरः फुल्लपङ्कजे विकसिते कमले स्थितं मधु मकरन्दं यथाकामं यथेच्छं पिबन्, पीत्वेत्यर्थः, असंनद्ध-सौरभ्यम् अनुपजातमधुगन्धं विकासमप्राप्तं कुड्मलं कलिकाम् अपि चुम्बति इति पश्य ।

देखो, यह भौंरा खिले कमल में प्राप्त पुष्परस का यथेष्ट पान करता हुआ (अब) एक ऐसी कली को चूम रहा है जिसमें अभी सौरभ का अवतार भी नहीं हुआ है !

तु० **गाथासप्तशती** ५.४४ : **यावन्न कोशविकासमाप्नोतीषदीषन्मालती-**

१. कुड्मलम् ।

कलिका । मकरन्दपानलोलुप भ्रमर तावदेव मर्दयसि ।। (संस्कृतच्छाया ।)

इति प्रौढाङ्गनाबद्धरतिलीलस्य रागिणः ।
कस्यांचिदिह[1] बालायामिच्छावृत्तिर्विभाव्यते ।।२०७।।

उक्तमुदाहरणं व्याचष्टे—**इतीति** । इति इह अस्मिन्नुदाहरणे प्रौढाङ्गनायां प्राप्तयौवनायां कस्यांचिद् वनितायाम् आबद्धा निबद्धा रतिलीला सुरतक्रीडा येन तादृशस्य रागिणः अनुरागवतः कामुकस्य नायकस्य कस्यांचिद् बालायाम् अप्राप्तयौवनायाम् एव इच्छावृत्तिः रागप्रसरः विभाव्यते प्रतीयते । तामेव तदीयेच्छावृत्तिमभिप्रेत्य तत्तुल्यमन्यद् वस्तु भ्रमरद्वारा कुड्मलचुम्बनरूपमत्र कथितमिति समासोक्त्यलंकारः ।

इस प्रकार यहाँ यौवनसंपन्न रमणी से यथेष्ट रतिक्रीडा करने वाले अनुरागपूर्ण नायक की किसी (अप्राप्तयौवना) बाला के प्रति इच्छावृत्ति की प्रतीति होती है ।

उक्त उदाहरण में कामुक नायक की अप्राप्तयौवना बाला के प्रति सुरतेच्छा को अभिप्रेत वर्ण्यवस्तु (=प्रस्तुत) के रूप में मन में रखकर उसके सदृश अन्य (अप्रस्तुत) वस्तु—भ्रमर द्वारा कलिकाचुम्बन—का कथन किया गया है; अतः यहाँ समासोक्ति है । आगे प्रदत्त समासोक्तिप्रकारों के नामकरण के आधार पर इसे तुल्यकार्या समासोक्ति कहा जा सकता है । भोज (**सरस्व० ४, उदा० ६६**) ने उक्त पद्य को समासोक्ति के एक भेद, जात्यन्तर अन्योक्ति, के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है ।

विशेष्यमात्रभिन्नापि तुल्याकारविशेषणा ।
अस्त्यसावपराप्यस्ति भिन्नाभिन्नविशेषणा ।।२०८।।

समासोक्तिभेदावपरावाह—**विशेष्येति** । विशेष्यमात्रम् (अभिप्रेताभिहितवस्तुद्वयबोधकं) विशेष्यपदमात्रं भिन्नं श्लेषाभावात् प्रभिन्नं यत्र सा तादृशी अपि तुल्याकारविशेषणा तुल्याकारं विशेषणं यत्र तादृशी श्लेषप्रयोगाद् अभिप्रेताभिहितोभयगामिविशेषणा असौ समासोक्तिः तत्प्रकारः अस्ति । अथ च अपरापि भिन्नाभिन्नविशेषणा क्वचिद् श्लेषाभावे भिन्नाकारविशेषणा क्वचिच्च श्लेषवशाद् अभिन्नाकारविशेषणा इत्युभयात्मका समासोक्तिभिदा अस्ति । एवमुभयत्र विशेष्यभिन्नत्वे सति अभिन्नविशेषणा भिन्नाभिन्नविशेषणा चेति प्रकारद्वयम् ।

विशेष्यपदमात्र से भिन्न, परन्तु विशेषणों से अभिन्न, समासोक्ति

---

१. अपि ।

तुल्याकारविशेषणा है। (किसी अंश में) भिन्न और (किसी अंश में) अभिन्न विशेषणों वाली (समासोक्ति की) अन्य भिदा भिन्नाभिन्नविशेषणा होती है।

अभिप्रेत और अभिहित वस्तुओं के विशेषणों की अभिन्नता श्लेष अलंकार पर निर्भर होती है। आगे के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जाएगी।

रूढमूलः फलभरैः पुष्णन्ननिशमर्थिनः ।
सान्द्रच्छायो महावृक्षः सोऽयमासादितो मया ॥२०९॥

प्रथमं तुल्याकारविशेषणामुदाहरति—**रूढमूल** इति। रूढं प्रवृद्धं मूलं तलं यस्य तादृशः, फलभरैः फलसमूहैः अर्थिनः फलार्थिनः अनिशं सर्वदा पुष्णन् उपकुर्वन्, अथ च सान्द्रच्छायः घनच्छायः अयं सः अभीष्टः महावृक्षः मया आसादितः प्राप्तः। अत्र महान् कश्चिद्वृक्षः अभिहितः, अभिप्रेतस्तु कश्चिन्महापुरुषः, तद्विशेषणानि चात्र वृक्षविशेषणतुल्याकाराण्येव। तद्यथा—रूढमूलः प्रवृद्धमूलधनः, फलभरैः फलसमुदयैः अनिशमर्थिनः याचकान् पुष्णन् अथ च सान्द्रच्छायः स्निग्धवदनकान्तिः सोऽयं महापुरुषो मया लब्ध इति। एवं विशेषणानां तुल्याकारत्वादियं तुल्याकारविशेषणा।

परिणत (=दृढ़) मूल से युक्त, (फल के) आकाङ्क्षी जनों को फलसमूह से सतत पुष्ट करने वाला एवं घनी छाया वाला यह (अभीष्ट) विशाल वृक्ष मुझे अब प्राप्त हो गया है।

किसी विशाल वृक्ष के वर्णन के पीछे यहाँ कोई महापुरुष वर्ण्यरूप में अभिप्रेत है। महापुरुष के पक्ष में इस पद्य का अर्थ इस प्रकार होगा : 'दृढ़ मूलधन से युक्त, याचकजनों को अभ्यर्थित फल से उपकृत करने वाला एवं स्निग्ध मुखकान्ति से सम्पन्न यह (उदार) महापुरुष मुझे अब प्राप्त हो गया है।' यहाँ विशेषणों के तुल्याकार होने से तुल्याकारविशेषणा समासोक्ति है।

अनल्पविटपाभोगः फलपुष्पसमृद्धिमान् ।
सच्छायः[1] स्थैर्यवान् दैवादेष लब्धो मया द्रुमः ॥२१०॥

भिन्नाभिन्नविशेषणामुदाहरति—**अनल्पेति**। अनल्पः बहुलः विटपानां शाखानाम् आभोगः विस्तारः यस्य तादृशः, फलानां पुष्पाणां च समृद्धिः वैपुल्यं विद्यते यस्य सः, सच्छायः शोभनच्छायः, अथ च स्थैर्यवान् स्थिरः, दृढमूल इत्यर्थः, एष द्रुमः वृक्षः मया दैवात् लब्धः प्राप्तः। अत्रापि पूर्वपद्यवद् वृक्षः कश्चिदभिहितः, महापुरुषश्च कश्चिदभिप्रेतः। तद्विशेषणेषु चतुर्षु प्रथमे द्वे वृक्षमात्रगामित्वाद् भिन्ने, अन्तिमे च द्वे सच्छायः (शोभनकान्तिः) स्थैर्यवान् (मनः-

१. सुच्छायः, सोच्छ्रायः।

स्थैर्ययुतः दृढनिश्चयः) इति च महापुरुषपक्षेऽपि श्लेषवशाद् योजयितुं शक्ये इति वृक्षमहापुरुषोभयगामित्वाद् अभिन्ने । एवं च भिन्नाभिन्नविशेषणत्वाद् भिन्नाभिन्नविशेषणेयम् ।

शाखाओं के बहुल विस्तार से युक्त, फलों और फूलों से समृद्ध, मनोरम (=घनी) छाया वाला एवं स्थिर (=दृढमूल) यह वृक्ष मुझे भाग्य से प्राप्त हो गया है।

यहाँ वृक्ष के चार विशेषणों में से प्रथम दो केवल वृक्ष के साथ ही लग सकते हैं; अतः भिन्न हैं। अन्तिम दो विशेषण वृक्ष और महापुरुष दोनों के साथ लग सकते हैं; अतः अभिन्न हैं। इस प्रकार यहाँ भिन्नाभिन्नविशेषणा समासोक्ति है। महापुरुष के पक्ष में **सच्छायः** का अर्थ होगा 'सुन्दर कान्ति वाला' और **स्थैर्यवान्** का अर्थ होगा 'मानसिक स्थिरता से युक्त'।

उभयत्र पुमान् कश्चिद् वृक्षत्वेनोपवर्णितः ।
सर्वे साधारणा धर्माः पूर्वत्रान्यत्र तु द्वयम् ॥२११॥

पूर्वोक्तमुदाहरणद्वयं विशदयति—**उभयत्रेति**। उभयत्र पद्यद्वयेऽपि कश्चित् पुमान् पुरुषः, उदारचरित इति भावः, वृक्षत्वेन उपवर्णितः अभिहितः। पूर्वत्र प्रथमे पद्ये सर्वेऽपि धर्माः रूढमूलत्वादयः साधारणाः उभयगामित्वाद् उभयसाधारणाः, सर्वाण्यपि विशेषणपदानि श्लेषस्पर्शाद् वृक्षपुरुषोभयान्वयीनि सन्तीत्यर्थः। अन्यत्र द्वितीये पद्ये तु द्वयम् अन्तिमं सच्छायत्वं स्थैर्यवत्त्वं चेति धर्मद्वयमुभयसाधारणं वृक्षपुरुषोभयान्वयि वर्तते, पूर्ववर्ति विशेषणद्वयं च वृक्षमात्रगामि इत्यर्थः।

उपर्युक्त दोनों पद्यों में किसी पुरुष को वृक्ष के रूप में वर्णित किया गया है (अर्थात् किसी महापुरुष को अभिप्राय में रखकर तत्सदृश वृक्ष का कथन किया गया है)। इनमें पहले पद्य में सभी धर्म (=रूढमूल आदि सभी विशेषण) उभयसाधारण (=वृक्ष और पुरुष दोनों पक्षों में लागू होने योग्य, अतश्च तुल्य) हैं; दूसरे पद्य में (अन्तिम) दो धर्म अथवा विशेषण उभयसाधारण अतश्च अभिन्न हैं (और पहले दो धर्म केवल वृक्ष के पक्ष में ही लागू होते हैं, अतश्च भिन्न हैं)।

निवृत्तव्यालसंसर्गो निसर्गमधुराशयः ।
अयमम्भोनिधिः कष्टं कालेन परिशोष्यते[1] ॥२१२॥

अथापरं समासोक्तिभेदमपूर्वसमासोक्तिमुदाहरति—**निवृत्तेति**। निवृत्तः

१. –शुष्यति, –शुष्यते।

दूरीभूतः व्यालानां सर्पाणां संसर्गः संपर्कः यत्र तादृशः, अथ च निसर्गमधुरः स्वभावसुस्वादुः आशयः जलानामाधारः आश्रयभूतः अयं पुरो दृश्यमानः अम्भोनिधिः समुद्रः कालेन कालक्रमेण यमेन वा परिशोष्यते शुष्कत्वं नीयते इति कष्टमिदम् । अत्र दूरीभूतखलसंसर्गः प्रकृत्यैव मधुरहृदयश्च तथा च व्यापत्तिं गतः कश्चित् पुरुषः प्रस्तुतत्वेनाभिप्रेतः, तत्तुल्यश्च श्लेषादभिन्नविशेषणः समुद्रो वर्णितः ।

व्यालों (=सांपों) के संपर्क से रहित और स्वभाव से मधुर जल से परिपूर्ण यह (अपूर्व) समुद्र कालक्रम से, अथवा काल द्वारा, सुखाया जा रहा है, यह दुःख की बात है !

यहाँ व्यालों (=दुष्टों) के संपर्क से रहित और स्वभाव से मधुर आशय (=चित्तवृत्ति) वाले किसी संकटग्रस्त व्यक्ति को अभिप्राय में रखकर तत्सदृश समुद्र का कथन किया गया है ।

इत्यपूर्वसमासोक्तिः पूर्वधर्मनिवर्तनात् ।
समुद्रेण[1] समानस्य पुंसो व्यापत्तिसूचने[2] ॥२१३॥

उक्तमुदाहरणं विश्लेषयति—इत्यपूर्वेति । इति सेयमुदाहृता समासोक्तिः समुद्रेण समानस्य वस्तुतो विवक्षितस्य कस्यचित् पुंसः पुरुषस्य व्यापत्तिसूचने विनाशलक्षणस्य संकटस्य सूचने पूर्वधर्मनिवर्तनात् पूर्वयोः लोके समुद्रधर्मतया प्रसिद्धयोः व्यालसंसर्गक्षारजलाशयत्वयोर्धर्मयोः निवर्तनात् निषेधाद्, एवं च तस्य समुद्रस्य पुंसश्चापूर्वत्वख्यापनाद् अपूर्वसमासोक्तिर्नाम ।

उक्त उदाहरण में समुद्र के समान धर्म वाले किसी व्यक्ति के (शोषणरूप) विनाश की सूचना देने में (समुद्र के) पूर्व (=प्रसिद्ध) धर्मों (अर्थात् सर्पसंसर्ग और क्षारजलत्व) का निवर्तन (=निषेध) होने से (और इस प्रकार अभिहित समुद्र एवं अभिप्रेत सज्जन व्यक्ति की अपूर्वता की प्रतीति होने से) यहां अपूर्वसमासोक्ति (नामक समासोक्तिभेद) है ।

विवक्षा या[3] विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी[4] ।
असावतिशयोक्तिः स्यादलंकारोत्तमा[5] यथा ॥२१४॥

अथैकादशमलंकारमतिशयोक्तिमाह—विवक्षेति । या उक्तिः विशेषस्य असामान्यस्य अतिशयस्य, प्रस्तुतवस्तुगतस्य प्रकर्षस्येति भावः, लोकसीमातिवर्तिनी

१. समुद्रे तत्समा- । २. -वृत्ति-, -सूचनात् । ३. विवक्षया । ४. -वर्तिनः । ५. -त्तमो ।

लोकस्थित्यतिक्रान्ता अलौकिकचमत्कारयुता विवक्षा विवक्षाप्रेरिता वर्णना, असौ सा अलंकारोत्तमा अलंकारेषु श्रेष्ठा अतिशयोक्तिः स्यात्। यथेति वक्ष्यमाणोदाहरणोपक्रमार्थम्।

विशेष (=प्रस्तुतवस्तुगत अतिशय अथवा उत्कर्ष) की लौकिक वाग्व्यवहार का अतिक्रमण करने वाली विवक्षा (=विवक्षाप्रेरित वर्णना) अतिशयोक्ति है जो अलंकारों में श्रेष्ठ अलंकार है।

दण्डी की अतिशयोक्ति-कल्पना उसके अपने कान्तिगुण (१.८५) की संकल्पना से तुलनीय है (द्र० १.८५, ८७ पर टि० भी)। प्राचीन आचार्यों में उद्भट, अपनी अतिशयोक्ति-कल्पना में, उसके अत्यन्त निकट है; उसके अनुसार (२.११), निमित्तविशेष से उपनिबद्ध लोकातिक्रान्तगोचर उक्ति अतिशयोक्ति है। वामन (४.३.१०) ने संभाव्य धर्म और उसके उत्कर्ष की कल्पना को अतिशयोक्ति कहा है : **संभाव्यधर्मतदुत्कर्षकल्पनातिशयोक्तिः**। उत्तरकालीन अलंकारशास्त्रियों ने दण्डी की 'विशेषविवक्षा' को और अधिक निश्चित सीमाओं में बांधने का प्रयत्न किया है। फलतः उनकी अतिशयोक्ति-परिभाषा परिसीमित और परिष्कृत रूप में आई है। मम्मट (१०.१००-१) ने उपमान द्वारा उपमेय के निगरण के परिणामरूप दोनों के अभेदकथन (अध्यवसान) को अतिशयोक्ति का प्रमुख रूप माना है (उसके अनुसार इसके अन्य रूप हैं : प्रस्तुत अर्थ का अन्य रूप से वर्णन, यद्यर्थक शब्द के प्रयोग द्वारा अभूत अर्थ की कल्पना तथा कारण और कार्य के पौर्वापर्य का विपर्यय)। विश्वनाथ (१०.४६-७) ने अध्यवसानरूप अतिशयोक्ति के निम्नलिखित पाँच रूप माने हैं : उपमेय और उपमान में भिन्नता होने पर अभिन्नता का कथन, अभिन्नता होने पर भिन्नता का कथन, संबन्ध होने पर असंबन्ध का और असंबन्ध होने पर संबन्ध का कथन, तथा कारण और कार्य के पौर्वापर्य का विपर्यय। भोज (**सरस्व०** ४.८१) और विश्वेश्वर (**चम०**, पृ० २४१) ने इस अलंकार की दण्डि-प्रदत्त परिभाषा को ग्रहण किया है। **अग्निपुराण** (३४४.२५-६) में गृहीत इसकी परिभाषा भी इससे तुलनीय है।

मल्लिकामालभारिण्यः[1] सर्वाङ्गीणार्द्रचन्दनाः[2]।
क्षौमवत्यो न लक्ष्यन्ते ज्योत्स्नायामभिसारिकाः ॥२१५॥

अतिशयोक्तिमुदाहरति—**मल्लिकेति**। मल्लिकापुष्पाणां मालाः बिभ्रतीति ताः मल्लिकामालभारिण्यः (**इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु** इति पाणिनि-

---

१. –माल्य–, –धारिण्यः। २. सर्वाङ्गेणा–।

[६.३.६५]सूत्रेण मालाशब्दस्य ह्रस्वत्वम्), सर्वाङ्गं व्याप्नोतीति सर्वाङ्गीणं तादृशम् आर्द्रम् अश्यानं चन्दनं यासां ताः, अथ च क्षौमवत्यः सितसूक्ष्मपट्टपरिहिताः अभिसारिकाः संकेतस्थानं प्रयान्त्यः कान्तार्थिन्यः स्त्रियः ज्योत्स्नायां चन्द्रिकायां न लक्ष्यन्ते पृथक्त्वेन निर्धार्यन्ते। अतिसान्द्रायां चन्द्रिकायां चन्द्रिकावर्णाश्चन्द्रिकावर्णवस्त्राभरणविलेपनवत्यश्चाभिसारिका न चन्द्रिकाभिन्नतया विभाव्यन्त इत्यर्थः।

मल्लिका (के सफेद फूलों) की माला धारण किए, सभी अङ्गों में आर्द्र चन्दन के विलेपन से युक्त और क्षौमवसन (=श्वेत महीन वस्त्र) पहने ये अभिसारिकाएं (=प्रियमिलन के लिए संकेतस्थान को जाने वाली स्त्रियाँ) चाँद की चांदनी में (उस चाँदनी से पृथक्) लक्षित नहीं होतीं।

यह पद्य हेमचन्द्र (काअनु०, पृ० ३१८) द्वारा संबन्ध में असंबन्धकथन रूप अतिशयोक्ति के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है। भोज (**सरस्व० ४, उदा०** २२२) ने इसे गुणातिशयकान्त्यतिशयोक्ति के एवं अप्पय दीक्षित (**कुवलया०** १४६) ने मीलित अलंकार (**मीलितं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते**) के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। अतिशयोक्ति अलंकार का भामह-प्रदत्त निम्नलिखित उदाहरण (२.८२) इस पद्य से तुलनीय है : **स्वपुष्पच्छविहारिण्या चन्द्रभासा तिरोहिताः। अन्वमीयन्त भृङ्गालिवाचा सप्तच्छदद्रुमाः॥** वामन-प्रदत्त निम्नलिखित उदाहरण (४.३.१०) भी इससे तुलनीय है : **मलयजरसविलिप्ततनवो नवहारलताविभूषिताः, सिततरदन्तपत्रकृतवक्त्ररुचो रुचिरामलांशुकाः। शशभृति विततधाम्नि धवलयति धरामविभाव्यतां गताः, प्रियवसतिं प्रयान्ति सुखमेव निरस्तभियोऽभिसारिकाः॥**

चन्द्रातपस्य बाहुल्यमुक्तमुत्कर्षवत्तया[1]।
संशयातिशयादीनां व्यक्त्यै[2] किंचिन्निदर्श्यते॥२१६॥

उक्तमुदाहरणं व्याचक्षाण उदाहरणान्तराणि चोपक्रममाण आह—**चन्द्रातपस्येति**। उक्तोदाहरणे चन्द्रातपस्य ज्योत्स्नायाः बाहुल्यं प्रगाढत्वं सान्द्रधवलत्वम् उत्कर्षवत्तया लोकसीमातिवर्तिविशेषवत्तया मल्लिकापुष्पादिनिमीलकतया उक्तं वर्णितम् इति तद्धावल्यातिशयकथनादतिशयोक्तिः। एवमेव संशयातिशयादीनां संशयनिर्णयाद्याश्रयाणामतिशयोक्तिभेदानां व्यक्त्यै विशेषावगमाय किंचिद् उदाहरणजातं निदर्श्यते प्रस्तूयते।

(उक्त उदाहरण में) चाँदनी की प्रगाढता अर्थात् प्रगाढ धवलता के

---

१. -वत्तथा। २. व्यक्तौ।

(लोकसीमातिवर्ती) विशेष (=अतिशय अथवा उत्कर्ष) का वर्णन किया गया है (अतः यहां धवलताबाहुल्य-रूप अतिशयोक्ति है)। इसी प्रकार संशय, निर्णय आदि पर आश्रित अतिशयोक्तिभेदों के स्पष्टीकरण के लिए कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं।

स्तनयोर्जघनस्यापि मध्ये मध्यं प्रिये तव[1]।
अस्ति नास्तीति संदेहो न मेऽद्यापि निवर्तते ॥२१७॥

तत्र प्रथमं संशयातिशयरूपामतिशयोक्तिं निदर्शयति—**स्तनयो**रिति। हे प्रिये, तव स्तनयोः पयोधरद्वयस्य जघनस्य नितम्बस्य चापि मध्ये अन्तराले मध्यं कटिप्रदेशः अस्ति नास्ति वा इति मे संदेहः अद्यापि चिरसहवासानन्तरम् अधुनापि न निवर्तते अपैति। तनीयसोऽपि कटिभागस्य सूपलक्ष्यत्वात्तादृशसंशयस्य अभावनीयत्वेऽपि विशेषविवक्षया तस्यातिशयेन कल्पनादत्र संशयरूपातिशयोक्तिः।

हे प्रेयसी, तुम्हारे स्तनभाग और नितम्ब के बीच तुम्हारा कटिप्रदेश है अथवा नहीं है—यह मेरा संदेह आज भी दूर नहीं होता।

यहाँ वास्तव में संदेह का कोई अवसर नहीं है, क्योंकि कटिभाग, चाहे वह कितना भी क्षीण क्यों न हो, संलक्षित होगा ही। फिर भी विशेषकथन के अभिप्राय से संशय की अतिशय-कल्पना होने से यहाँ **संशयातिशयरूप** अतिशयोक्ति है। यहाँ संदेह अलंकार (तु० दण्डी की संशयोपमा, २.२६) की स्थिति नहीं है, क्योंकि उक्त अलंकार का विषय उपमेय में उपमान का संदेह है (तु० साद० १०.३६ वृत्ति)। भोज (सरस्व० ४, उदा० २२१) ने प्रस्तुत पद्य को गुणातिशयतनुत्वातिशयोक्ति के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

निर्णेतुं शक्यमस्तीति मध्यं[2] तव नितम्बिनि।
अन्यथा नोपपद्येत पयोधरभरस्थितिः[3] ॥२१८॥

निर्णयातिशयरूपामतिशयोक्तिमुदाहरति—**निर्णेतु**मिति। हे नितम्बिनि पृथुजघने, तव मध्यं कटिभागः अस्ति इति निर्णेतुं निश्चेतुं शक्यम् एव, अन्यथा कटिभागाभावे पयोधरभरस्य स्तनलक्षणस्य आभोगस्य स्थितिः अवस्थानं न उपपद्येत आश्रयं विनावस्थानासंभवाद् न सिद्ध्येत्। अत्र वस्तुतः संशयस्य तदपाकरणरूपनिर्णयस्य चाभावनीयत्वेऽपि विशेषविवक्षया तस्यातिशयेन कल्पनाद्

---

१. मध्यं तव नितम्बिनि। २. मध्यमस्तीति शक्यं। ३. अन्यथानुपपत्त्यैव पयोधरभरस्थितेः।

निर्णयरूपातिशयोक्तिः ।

हे नितम्बिनी, तुम्हारा मध्यभाग अर्थात् कटिप्रदेश है—ऐसा निर्णय (=निश्चय) किया जा सकता है, क्योंकि अन्यथा (आश्रयभूत कटिप्रदेश के अभाव में उसके ऊपर अवस्थित) विपुल स्तनों की स्थिति उपपन्न (=सिद्ध) नहीं होगी।

यहाँ वास्तव में (संदेह और तदनन्तर) निर्णय का कोई अवसर नहीं है, फिर भी विशेषकथन के अभिप्राय से निर्णय की अतिशय-कल्पना होने से यहाँ **निर्णयातिशयरूप** अतिशयोक्ति है। हेमचन्द्र (**काअनु०**, पृ० ३४०) ने इस पद्य को अनुमान अलंकार के तथा भोज (**सरस्व० ३, उदा० १७१**) और अप्पय दीक्षित (**कुवलया० १७१ वृत्ति**) ने अर्थापत्ति के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

अहो विशालं भूपाल भुवन[1]त्रितयोदरम् ।
माति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते ॥२१६॥

आश्रयातिशयरूपामतिशयोक्तिमुदाहरति—**अहो** इति । हे भूपाल भूपते, अहो आश्चर्यं यद् भुवनत्रितयोदरं त्रिभुवनाभोगः विशालम् अतिविस्तृतम् अस्ति, त्रिभुवनस्य विशालता आश्चर्यकरीति भावः । यद् यतो हि अत्र त्रिभुवनोदरे ते तव मातुं समावेष्टुम् अशक्यः अपि यशोराशिः कीर्तिसंदोहः माति पर्याप्तः समाविष्टो वा तिष्ठति, नातिरिच्यते । अत्र आश्रयस्य भुवनत्रितयोदरस्य विशालत्वप्रतिपादनद्वारा आश्रितस्य यशोराशेर्विशेषविवक्षयातिशयवर्णनाद् आश्रयातिशयरूपातिशयोक्तिः ।

हे राजन्, त्रिभुवन का यह क्षेत्र, अहो, कितना विशाल है, क्योंकि इसमें तुम्हारा (कहीं भी) न समा सकने योग्य कीर्तिसमूह भी समाया हुआ है !

यहाँ आश्रयभूत त्रिभुवनक्षेत्र की विशालता के प्रतिपादन द्वारा तदाश्रित कीर्तिसमूह का अतिशयकथन होने से **आश्रयातिशयरूप** अतिशयोक्ति है। भोज (**सरस्व० ४, उदा० २२०**) ने इस पद्य को गुणातिशयमहत्त्वातिशयोक्ति के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। उत्तरवर्ती अलंकारशास्त्रियों के अनुसार यहाँ अधिक अलंकार है; द्र० **साद० १०.७२ : आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते**। मम्मट (१०.१२८) एवं अप्पय दीक्षित (**कुवलया० ६६**) ने इस पद्य को अधिक के उदाहरण के रूप में ही उद्धृत किया है। हेमचन्द्र (**काअनु०**, पृ० ३२६) ने यहाँ व्याघातलक्षण विरोध माना है।

---

१. भवन- ।

अलंकारान्तराणामप्याहुरेकं[1] परायणम् ।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥२२०॥

अलंकारान्तरशोभाधायकतत्त्वरूपेणाप्यतिशयोक्तेर्महत्त्वमाह—**अलंकारेति**। वागीशमहितां वागीशेन बृहस्पतिना अथवा वागीशैः वाक्पतिभिः वाल्मीकिप्रभृतिभिः कविभिः महितां पूजिताम्, अत्यन्तमभीष्टामित्यर्थः, इमाम् अतिशयाह्वयाम् उक्तिम् अतिशयोक्तिम् अलंकारान्तराणाम् अन्येषाम् अलंकाराणाम् उत्प्रेक्षाविभावनादीनाम् अपि एकं परायणं प्रधानम् आश्रयं शोभाधायकं तत्त्वम् आहुः कथयन्ति ।

वाणी के अधिपति (बृहस्पति, अथवा वाल्मीकि आदि कवियों) द्वारा पूजित (=अत्यन्त अभीष्ट) इस अतिशयोक्ति अलंकार को अन्य अलंकारों का भी प्रधान आश्रय अर्थात् शोभाधायक तत्त्व माना जाता है।

अन्य अलंकारों के उपकारक तत्त्व के रूप में प्रस्तुत अलंकार का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हृदयंगमा की निम्नलिखित टिप्पणी यहाँ अवधेय है : **अलंकारान्तराणामप्येष उपकारी भवति, अतिशयजननत्वं विना भूषणता न स्यादित्यभिप्रायः**। रत्नश्रीज्ञान के अनुसार, यह अलंकार स्वभावोक्ति जैसे यथावस्थित वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करने वाले अलंकार को भी चमत्कारविशेष से परिपूर्ण करता है; फिर उपमा, रूपक आदि वक्रोक्ति-रूप अलंकारों का तो कहना ही क्या ? भामह (२.८५) ने इसे वक्रोक्ति की संज्ञा दी है और इसके बिना किसी भी अलंकार की स्थिति स्वीकार नहीं की है। रुद्रट (अध्याय ९) ने अलंकारों के अपने वर्गीकरण में अतिशय को एक तत्त्व के रूप में स्वीकार करके उसके आधार पर (दण्डी द्वारा उल्लिखित अलंकारों में से) उत्प्रेक्षा, विभावना, विरोध, विशेष और हेतु को अतिशयमूलक अलंकारों के रूप में परिगणित किया है। दण्डी के विरोध और विशेषोक्ति के लक्षण में उल्लिखित 'विशेषदर्शन' उसकी अतिशयोक्ति-परिभाषा में गृहीत 'विशेषविवक्षा' ही है। आनन्दवर्धन (ध्वन्या० ३.३७ वृत्ति) ने अतिशयोक्ति के उक्त महत्त्व को इन शब्दों में स्वीकार किया है : **यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यति। कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत्। भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तम्—सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥** (का० २.८५) इति। **तत्रातिशयोक्तिर्यमलंकारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगः, अन्यस्य त्वलंकार-**

१. अप्येकमाहुः ।

मात्रतंवेति सर्वालंकारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात्सैव सर्वालंकाररूपेत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः। भोज (सरस्व० ४.८४) ने दण्डी की प्रस्तुत कारिका को इसी संदर्भ में उद्धृत किया है। मम्मट (१०.१३६ वृत्ति) का यह कथन भी यहाँ अवधेय है : **सर्वत्रैवंविधविषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालंकारत्वायोगात्**।

रत्नश्रीज्ञान ने विपर्यासातिशयोक्ति के अतिरिक्त, उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा से अनुगत अतिशयोक्तिभेदों को भी यहाँ उदाहृत किया है।

अन्यथैव स्थिता वृत्तिश्चेतनस्येतरस्य वा ।
अन्यथोत्प्रेक्ष्यते यत्र[1] तामुत्प्रेक्षां विदुर्यथा ॥२२१॥

अथ द्वादशमलंकारमुत्प्रेक्षां लक्षयति—**अन्यथैवेति**। यत्र काव्योक्तौ चेतनस्य सजीवस्य मनुष्यादेः इतरस्य अचेतनस्य निर्जीवस्य जडस्य कर्णोत्पलादेः वा अन्यथा एव स्थिता वृत्तिः गुणक्रियास्वरूपः व्यापारः अन्यथा स्वरूपतः अन्येन प्रकारेण उत्प्रेक्ष्यते परिकल्प्यते संभाव्यते वा, ताम् उत्प्रेक्षां विदुः, आचार्या इति शेषः। यथेत्युदाहरणोपक्रमार्थम्।

जिस (काव्योक्ति) में चेतन अथवा जड़ की अन्यथा (=एक रूप में) स्थित (गुणरूप अथवा क्रियारूप) वृत्ति को दूसरे रूप में परिकल्पित (=संभावित) किया जाता है, उसे उत्प्रेक्षा कहते हैं।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने इस अलंकार की परिभाषा को परिष्कृत रूप में उपस्थापित करते हुए इसे प्रस्तुत की अप्रस्तुत के रूप में संभावना कहा है (द्र० **काप्र० १०.९२ : संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्; तु० साद० १०.४०** भी। उत्कटैककोटिक संदेह को संभावना कहते हैं, और वह अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत के निगरण से होती है। निगरण की दो स्थितियाँ होती हैं : (१) प्रस्तुत का अनुपादान, और (२) उसका उपादान होने पर उसका अधःकरण। प्रथम स्थिति में अध्यवसाय (=अभेदप्रतिपत्ति) **सिद्ध** होती है और दूसरी में **साध्य**। पहली स्थिति अतिशयोक्ति को जन्म देती है और दूसरी उत्प्रेक्षा को (**तु० साद० १०.४६ वृत्ति**)। इस प्रकार, जहाँ अतिशयोक्ति में विषय की 'निगीर्णता' होती है, वहाँ उत्प्रेक्षा में उसकी 'निगीर्यमाणता' होती है। इसी 'निगीर्यमाणता' को रुय्यक (**अलंसर्व० २१**) ने अध्यवसाय में व्यापार (क्रियांश) की प्रधानता कहा है (तु० रामचन्द्र द्विवेदी : **अलंकार-मीमांसा**, पृ० २९७-३०१)।

उत्तरकाल के आचार्यों में **अग्निपुराण** (३४४.२४-५) के लेखक ने

१. यत्तु।

उत्प्रेक्षा की दण्डि-प्रदत्त परिभाषा को ग्रहण किया है। भोज (**सरस्व० ४.५०**) और विश्वेश्वर (**चम०**, पृ० २२०) की उत्प्रेक्षा-कल्पना दण्डी से प्रभावित है।

मध्यंदिनार्कसंतप्तः सरसीं गाहते गजः।
मन्ये मार्तण्ड[1]गृह्याणि पद्मान्युद्धर्तु[2]मुद्यतः[3] ॥२२२॥

चेतनगतामुत्प्रेक्षामुदाहरति—**मध्यंदिनेति**। मध्यंदिनं मध्याह्नः तत्संबन्धिना अर्केण सूर्येण संतप्तः गजः करी सरसीं सरोवरं गाहते अवतरति। इति चेतनस्य गजस्य यथावस्थितां वृत्तिमन्यथोत्प्रेक्षमाण आह—मन्ये जाने मार्तण्डस्य (निजसंतापकारणस्य) सूर्यस्य गृह्याणि तत्पादोपजीवित्वात् तत्पक्षपातीनि पद्मानि कमलानि उद्धर्तुम् उन्मूलयितुम् उद्यतः संनद्धः स गजः सरसीमवतरति इति।

दोपहर के सूर्य (के ताप) से संतप्त हाथी मानो (अपने संतापक) सूर्य के पक्षपाती कमलों को (वैरप्रतिशोध के लिए) जड़ से उखाड़ने को संनद्ध होकर सरोवर का अवगाहन कर रहा है।

स्नातुं पातुं बिसान्यत्तुं करिणो जलगाहनम्।
तद्वैरनिष्क्रयायेति कविनोत्प्रेक्ष्य वर्ण्यते ॥२२३॥

उक्तमुदाहरणं व्याचष्टे—**स्नातुमिति**। अत्रोदाहरणे कविना स्नातुं स्नानार्थं, पातुं जलपानार्थं, बिसानि कमलमृणालानि च अत्तुं खादितुं तद्भक्षणार्थं विहितं करिणः गजस्य जलगाहनं सरोवतरणं (कर्तृ) तद्वैरनिष्क्रयाय तस्य सूर्यस्य यद् वैरं शत्रुत्वं तस्य निष्क्रयाय प्रतिशोधनाय, तत्पक्ष्यपद्मोद्धरणद्वारेण तद्वैर-प्रतिकरणायेत्यर्थः; इति एवंप्रकारेण उत्प्रेक्ष्य परिकल्प्य वर्ण्यते प्रस्तूयते, इत्युत्प्रेक्षोदाहरणमिदं, उत्प्रेक्षा चात्र चेतनविषया।

(उक्त उदाहरण में) स्नान करने, जल पीने और बिस (=कमलनाल) खाने के हेतु हाथी के (द्वारा किए गए) जलावगाहन को, (वह अवगाहन) उस (सूर्य) की शत्रुता का प्रतिशोध करने के लिए है—इसप्रकार, परिकल्पित करके कवि द्वारा वर्णित किया गया है।

उक्त पद्य चेतनगत उत्प्रेक्षा का उदाहरण है। उत्तरवर्ती आचार्यों के अनुसार यहाँ फलोत्प्रेक्षा (तु० **साद० १०.४३**) है। जीवानन्द विद्यासागर ने यहाँ प्रत्यनीक (**साद० १०.८६**) अलंकार की भी स्थिति मानी है, परंतु वस्तुतः यहाँ उसकी स्थिति संभव नहीं है (तु० रङ्गाचार्यशास्त्री भी)।

---

१. मार्तण्ड-। २. आहर्तुम्। ३ उत्सुकः।

कर्णस्य भूषणमिदं ममायतिनिरोधिनः[1] ।
इति कर्णोत्पलं प्रायस्तव दृष्टचा विलङ्घ्यते ॥२२४॥

अचेतनगतामुत्प्रेक्षां निदर्शयति—**कर्णस्येति** । इदम् उत्पलं मम आयतिं प्रसरं निरुणद्धि इति तच्छीलस्य कर्णस्य भूषणं शोभाकरम् इति कृत्वा प्रायः नूनं कर्णोत्पलं श्रवणावतंसकमलं (हे आयताक्षि) तव दृष्टया (कर्णोपान्तपातिन्या) दृशा विलङ्घ्यते तिरस्क्रियते । तव दृष्टिर्निजकान्तिविस्ताराभ्यां कमलमतिशेते इति वक्तव्ये तया आत्मप्रसररोधकरस्य कर्णस्योत्पलं विलङ्घ्यत इत्यत्रोत्प्रेक्षितम्, उत्प्रेक्षा चेयमचेतनगता । प्रायःशब्दोऽत्रोत्प्रेक्षावाचकः ।

'यह (कमल) मेरे प्रसार को रोकने वाले कान का अलंकरण-साधन है'—शायद ऐसा सोचकर, हे विशालाक्षी, तुम्हारी आँख (तुम्हारे अपने) कर्णोत्पल का तिरस्कार कर रही है (अर्थात् अपनी छवि और विस्तार से उसे पराजित कर रही है) ।

अपाङ्गभागपातिन्या दृष्टेरंशुभिरुत्पलम् ।
स्पृश्येत[2] वा न वैवं तु[3] कविनोत्प्रेक्ष्य कथ्यते[4] ॥२२५॥

उक्तमुदाहरणं विश्लेषयति—**अपाङ्गेति** । अपाङ्गभागे नयनोपान्तभागे पततीति तच्छीलायाः दृष्टेः नायिकायाः दृशः अंशुभिः कान्तिभिः उत्पलं कर्णावतंसोत्पलं स्पृश्येत संसृज्येत वा न वा स्पृश्येत (तदेवं स्पर्शाभावे तद्दृष्टया कर्णोत्पललङ्घनं न संभवं स्यादित्यर्थः), तथापि एवं 'दृष्टया कर्णोत्पलं विलङ्घ्यते' इत्येवंरूपं तु कविना केनापि उत्प्रेक्ष्य परिकल्प्य कथ्यते वर्ण्यते । एवं दृष्ट्या कर्णोत्पललङ्घनस्योत्प्रेक्षणादत्रोत्प्रेक्षा ।

(केवल अपने) उपान्तभाग तक ही फैलने वाली आँखों की कान्ति से (कर्णावतंसभूत) कमल चाहे संपर्क में आए अथवा न आए, परंतु यहाँ कवि द्वारा इस प्रकार की उत्प्रेक्षा करके (आँखों द्वारा कर्ण के विलङ्घन का) वर्णन किया गया है ।

उक्त पद्य अचेतनगत उत्प्रेक्षा का उदाहरण है । उत्तरकालीन आचार्यों के अनुसार उक्त उदाहरण में हेतूत्प्रेक्षा (**साद० १०.४३**) की स्थिति होगी । यहाँ **प्रायः** शब्द उत्प्रेक्षाव्यञ्जक है ।

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।[5]
इतीदमपि भूयिष्ठमुत्प्रेक्षालक्षणान्वितम् ॥२२६॥

---

१. –विरोधिनः । २. स्पृश्यते । ३. वेत्येवं । ४. वर्ण्यते । ५. अतः परमिदं

परंपराप्राप्तमुदाहरणान्तरं विवेचयितुं तत्प्रस्तुवन्नाह—**लिम्पतीवेति** । तमः अन्धकारः अङ्गानि लिम्पति इव, नभः आकाशम् (कर्तृ) अञ्जनं वर्षति इव । इति इदं पद्यार्धमपि भूयिष्ठम् अत्यर्थम् उत्प्रेक्षालक्षणेन अन्वितम् उपेतम् अस्ति, न त्वत्रोपमेति भावः । अत्र हि लेपनवर्षणक्रिये तमोनभःकर्तृकत्वेनोत्प्रेक्षिते इत्युत्प्रेक्षा ।

'अन्धकार अङ्गों को मानो लीप रहा है; आकाश मानो अञ्जन (=सुरमा) बरसा रहा है।' यह (पद्यभाग) भी मुख्यतः उत्प्रेक्षा के लक्षण से युक्त है।

यहाँ लेपनक्रिया और वर्षणक्रिया क्रमशः अन्धकारकर्तृक और आकाश-कर्तृक क्रिया के रूप में उत्प्रेक्षित हैं। रुय्यक (**अलंसर्व०** २१ **वृत्ति**, पृ० ८८) के अनुसार, यहाँ लेपन और वर्षण क्रियाओं की क्रमशः तमोगत और नभोगत (क्रियाओं) के रूप में उत्प्रेक्षा है। इसी संदर्भ में अन्यत्र (पृ० १००) उसने यहाँ अन्धकार धर्मी में लेपनक्रियाकर्तृत्वरूप धर्म की उत्प्रेक्षा मानी है (द्र० २.२३३ पर टि० भी)। **लिम्पतीव** इत्यादि उदाहरण दण्डी द्वारा आगे अविकल रूप में उद्धृत किया गया है; वहाँ यह संसृष्टि के उदाहरण (२.३६२) के रूप में आया है। यह पद्य मूलतः भास (**बालचरित** १.१५; **चारुदत्त** १.१९) का है; भास से इसे शूद्रक (**मृच्छकटिक** १.३४) ने ग्रहण किया। ऐसा प्रतीत होता है कि काव्यशास्त्र के क्षेत्र में यह पद्य दण्डी के पहले से ही चर्चा का विषय बन चुका था। उत्तरवर्ती आचार्यों में भी यह विवाद का विषय बना रहा; तु० **वक्रोक्ति०** ३, पृ० १९५; **सरस्व०** ५.१७६ प्रभृति; **अलंसर्व०** २१ **वृत्ति**; **अलंकाररत्नाकर** ३२ **वृत्ति**; **साद०** १०.४५ **वृत्ति**; **कुवलया०** ३३ **वृत्ति**।

केषांचिदुपमाभ्रान्तिरिवश्रुत्येह जायते[1] ।
नोपमानं तिङन्तेनेत्यतिक्रम्याप्तभाषितम् ॥२२७॥

उक्तोदाहरणे केषांचन उपमाभ्रान्तिं निर्दिशन्नाह—**केषांचिदिति**। इह अत्र **इवश्रुत्या** इवशब्दग्रहणेन केषांचिद् उपमाभ्रान्तिः जायते । भ्रान्तिश्चेयं नोचिता शास्त्रविरुद्धत्वादित्याह—तिङन्तेन आख्यातेन क्रियारूपेण उपमानं न संभवतीति आप्तानाम् आचार्याणां भाषितं वचनम् अतिक्रम्य अदृष्ट्वा अप्रमाणीकृत्य वा तेऽत्रोपमेति भ्राम्यन्ति । **महाभाष्ये** पतञ्जलिना तिङन्तस्योपमानत्वं

क्वचिदधिकं दृश्यते—असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥ पिनष्टीव तरङ्गाग्रैरुदधिः फेनचन्दनम् । तदादाय करैरिन्दुर्लिम्पतीव दिगङ्गनाः ॥ (पिनष्टीवेत्यादिपद्यं कुवलयानन्दे [३३ वृत्ति] सरस्वतीकण्ठाभरणे [२, उदा० १९८; ४, उदा० २३८] चापि प्राप्यते ।)

1. जन्यते ।

निषिद्धम् । तन्मतादर्शनाज्जातोऽयं भ्रम इति भावः ।

इस (उदाहरण) में इव शब्द के ग्रहण से किन्हीं (विद्वानों) को यहाँ उपमा का भ्रम होता है; उन्हें यह भ्रम 'तिङन्त शब्द अथवा क्रियारूप के साथ उपमान नहीं होता' इस आप्तकथन का अनवलोकन अथवा अतिक्रमण करने से होता है ।

पतञ्जलि ने **महाभाष्य** (३.१.७) में कहा है : **न वै तिङन्तेनोपमानमस्ति** । चूँकि सिद्ध का ही उपमानत्व संभव है और तिङन्तार्थ साध्य होता है, अतः तिङन्त से उपमान का विधान संभव नहीं है । इस सम्बन्ध में भोज (**सरस्व० ५.१७६ वृत्ति**) द्वारा इसी प्रसङ्ग में उद्धृत यह कारिका भी अवधेय है : **सिद्धमेव समानार्थमुपमानं विधीयते । तिङन्तार्थस्तु साध्यत्वादुपमानं न जायते ॥** इस प्रकार वस्तुतः तिङन्त के साथ (जैसे **रोदतीव गायति, नृत्यतीव गच्छति** आदि में) प्रयुक्त इव शब्द संभावना का ही बोधक होता है, उपमा का नहीं (तु० रङ्गाचार्यशास्त्री भी) ।

उपमानोपमेयत्वं तुल्यधर्मव्यपेक्षया ।
लिम्पतेस्तमसश्चासौ धर्मः कोऽत्र[1] समीक्ष्यते ।।२२८।।

उपमाभ्रान्तिनिवारणे प्रमाणं निर्दिश्याधुना युक्तिं प्रस्तौति—**उपमानेति** । उपमानोपमेयत्वं कस्यचिद्वस्तुन उपमानत्वं तदितरस्य च कस्यचिद् उपमेयत्वं तुल्यधर्मस्य तयोर्द्वयोरपि साधारणस्य धर्मस्य व्यपेक्षया समाश्रयेण हेतुना भवेत्, नान्यथा । समानधर्ममपेक्ष्यैव उपमानोपमेयभावः संभवतीत्यर्थः । सा च तुल्यधर्मव्यपेक्षा उक्तोदाहरणे नास्तीति तत्प्रश्नत आह—**लिम्पतेः** लिम्पतीति तिङन्तार्थस्य (उपमानत्वेन गृहीतस्य) **तमसः** अन्धकारस्य च (उपमेयत्वेनोपात्तस्य) असौ साधारणो धर्मः अत्र उदाहरणे कः समीक्ष्यते लक्ष्यते, न कोऽपीत्यर्थः । तस्मादुभयानुगतसाधारणधर्माभावान्नात्रोपमासंभवः ।

(किसी वस्तु का) उपमानभाव और (किसी अन्य का) उपमेयभाव (उन दोनों वस्तुओं के परस्पर) तुल्यधर्म की अपेक्षा रखते हैं । (प्रस्तुत उदाहरण में यदि लिम्पति **को उपमान के रूप में कल्पित किया जाए तो उस)** लिम्पति (='लीपता है') **का और अन्धकार का वह (परस्पर तुल्य) धर्म क्या लक्षित होता है ? (अर्थात् दोनों का कोई तुल्यधर्म यहाँ लक्षित नहीं होता ।)**

उपमा के लिए दो पदार्थों का परस्पर उपमान-उपमेयभाव आवश्यक है और उपमान-उपमेयभाव के लिए उनके परस्पर तुल्यधर्म की अपेक्षा होती है ।

---

१. को नु ।

प्रस्तुत उदाहरण में इसकी स्थिति न होने से उपमा का कोई अवसर नहीं है।

यदि लेपनमेवेष्टं लिम्पतिर्नाम कोऽपरः।
स एव धर्मो धर्मी चेत्यनुन्मत्तो[1] न भाषते ॥२२९॥

ननु लेपनं तुल्यधर्मः स्यादिति पराभिप्रायमाशङ्क्य तन्निराकरोति—**यदीति**। यदि लेपनम् एव **लिम्पतेस्तमसश्च** तुल्यधर्मत्वेन इष्टं स्यात् तर्हि **लिम्पतिर्नाम** कः अपरः अवशिष्यते धर्मी, यस्यासौ धर्मः भवेत्। **लिम्पति**पदस्य लेपनमेवार्थः, तच्च यदि धर्मतया गृहीतं, तर्हि तद्भिन्नः कोऽस्ति **लिम्पति**पदार्थः यो धर्मितया गृहीतः स्यात्। अथ 'स एव एकः **लिम्पति**पदार्थः धर्मः धर्मी चेत्युभयं भवेद्' इति कश्चिद् अनुन्मत्तः स्वस्थचित्तो विद्वान् न भाषते, उन्मत्त एवेदृशं भाषेतेत्यर्थः। एवं तावद् **लिम्पतितमसो**रुपमानोपमेयभावो न घटत इत्यत्र नोपमासंभवः।

यदि लेपनक्रिया ही (लिम्पति **और** तमस् **के तुल्य धर्म के रूप में**) **अभीष्ट हो, तो वह** लिम्पति **नामक दूसरा (धर्मी) क्या है?** (**अर्थात्** लिम्पति **भी तो लेपन ही है जिसे कि धर्म के रूप में गृहीत किया गया है।) और 'वही एक** (लिम्पति **पद का अर्थ अर्थात्** लेपन) **धर्म भी है और धर्मी भी है'—ऐसा कथन स्वस्थचित्त व्यक्ति कभी नहीं कर सकता।**

इस प्रकार **लिम्पति और तमस्** का उपमान-उपमेयभाव घटित न होने से यहाँ उपमा की स्थिति संभव नहीं।

कर्ता यद्युपमानं स्यान्न्यग्भूतोऽसौ क्रियापदे।
स्वक्रियासाधनव्यग्रो नालमन्यदपेक्षितुम् ॥२३०॥

कर्तृलक्षणो **लिम्पति**रुपमानं स्यादिति परमतमुद्भाव्य तन्निरस्यति—**कर्तेति**। यदि कर्ता **लिम्पतीति**तिङा प्रतिपाद्यः लेपनरूपव्यापाराश्रयः कर्ता उपमेयभूतस्य तमसः उपमानं स्याद् उपमानत्वेन गृह्येत, तदापि मतमिदं दोषयुतं, यतो हि असौ कर्ता क्रियापदे **लिम्पतीति**क्रियापदे तत्प्रतिपाद्ये व्यापारे वा न्यग्भूतः तिरस्कृतः तिष्ठति, तिङर्थविशेषणत्वाद् गौणत्वमापन्नो वर्तते, न च तादृशस्य तिरस्कृतस्योपमानत्वं संभवति। तथा हि, स्वक्रियायाः लेपनरूपायाः साधने व्यग्रः व्यापृतः असौ कर्ता अन्यत् कार्यान्तरम् अपेक्षितुं साधयितुं न अलं समर्थः स्यात्। यथैका स्थाली पाकमेकं साधयन्ती तदैव पाकान्तरं साधयितुं न शक्नुयात्, तथा एकस्य (तिङर्थस्य) विशेषणतया अधीनः कर्ता अन्यस्य (तमसः) उपमान-

---

[1] चेत्युन्मत्तोऽपि।

रूपविशेषणत्वमासुं न प्रभवेदित्यर्थः।

यदि (लिम्पति-क्रिया का) कर्ता (उपमेयभूत तमस् का) उपमान माना जाए, (तो भी यह मत दोषपूर्ण है, क्योंकि) वह (पूर्वोक्त कर्ता) क्रियापद (लिम्पति अथवा उसके द्वारा प्रतिपाद्य व्यापार) में तिरोहित अर्थात् तिरस्कृत रूप में स्थित है। (और फिर लेपनरूप अपनी) क्रिया को सिद्ध करने में व्यापृत (वह कर्ता, तमस् का उपमानरूप विशेषण बनने के रूप में,) अन्य कार्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं है।

एक (तिङर्थ) के विशेषण के रूप में अधीन कर्ता अन्य (अन्धकार) के उपमानरूप विशेषण के रूप में नहीं आ सकता। इस संबन्ध में **वैयाकरण-सिद्धान्तमञ्जूषा** के लेखक नागेशभट्ट का यह कथन उल्लेखनीय है : **एकत्र विशेषणत्वेन गृहीतशक्तिकस्य ज्ञातस्य वापरत्र विशेषणत्वायोगः** (रङ्गाचार्यशास्त्री की **प्रभा** व्याख्या से उद्धृत)। इस प्रकार 'अन्धकार लेपनकर्ता के समान अङ्गों को लीपता है'—ऐसी स्थिति मानते हुए क्रियापद में तिरोहित लेपनकर्ता को उपमान की पदवी देना संभव नहीं है (तु० **कुवलया०** ३३ **वृत्ति** भी)। यहाँ तरुणवाचस्पति की यह टिप्पणी भी अवधेय है : **तत्र कर्ता उपमानं, क्रिया किल समानधर्मः, इति चेत्, तत्प्रतिक्षिपति—न्यग्भूत इति। आख्याते क्रियाप्राधान्येन तत्साधककर्ता सर्वाकारेण मग्नः, नामपदस्थकर्तेव न स्वतन्त्रः। अतो न विशेष-माकाङ्क्षते।** (तु० **हृदयंगमा** और **रत्नश्री** भी)।

यो लिम्पत्यमुना तुल्यं तम इत्यपि शंसतः[1]।
अङ्गानीति न संबद्धं[2] सोऽपि मृग्यः समो[3] गुणः ॥२३१॥

वैयाकरणमतेन उपमासंभवं निराकृत्याधुना नैयायिकमतेनापि तदसंभवत्व-माह—**य** इति। यः लिम्पति अमुना तेन लेपनकर्त्रा तुल्यं सदृशं तमः—इत्यपि शंसतः कथयतः वादिनो मते **अङ्गानि** इति व्याप्यं कर्म न संबद्धं स्याद्। तथा हि, यदि 'यः लेपनमात्रं व्याप्यनिरपेक्षं करोति तेन तुल्यं तमः' इति शस्यते, तर्हि **अङ्गानि** इति व्याप्यं कर्मपदं न केनापि संबद्ध्यते। अथापि स समः साधारणः गुणोऽपि मृग्यः उक्तोदाहरणेऽन्वेष्टव्यः, न सोऽत्र उपात्तो गम्यत्वेन वा स्थित इति भावः। तदभावे च नोपमासंभवः।

'जो लेप करता है उसके समान अन्धकार (लीपता है)'—यदि ऐसा कहा जाए तो 'अङ्गों को' यह व्याप्य (कर्म) पद असंबद्ध रहता है। इसके अति-रिक्त, (उपमा की प्रतीति के लिए अनिवार्य) साधारण धर्म भी यहाँ मृग्य है।

लेपन को कर्ता का व्याप्य-निरपेक्ष क्रिया मानने की स्थिति में **अङ्गानि**

१. शंसिनः, संगतः। २. संबद्धः, संबन्धः। ३. मृग्यस्तमो-।

इस व्याप्य कर्मपद की संगति नहीं बैठती। और यदि उसे व्याप्य-साक्षेप क्रिया मानें, तो भी साधारणधर्म का अस्तित्व आवश्यक है, क्योंकि उसके अभाव में उपमा की स्थिति संभव नहीं है।

यथेन्दुरिव ते वक्त्रमिति कान्तिः प्रतीयते।
न तथा लिम्पतौ[1] लेपादन्यदत्र प्रतीयते ॥२३२॥

ननु साधारणधर्माप्रयोगे लुप्तोपमा भवति, सा चेह स्यादिति चेत्तदपि नात्र संभवतीत्याह—**यथेति**। यथा 'ते वक्त्रम् इन्दुः इव' इत्यत्र कान्तिः सौन्दर्यं प्रतीयते साधारणधर्मतया गम्यते, तथा अत्र विवेच्यमानोदाहरणे **लिम्पतौ** उपमानभूते लेपनकर्तरि लेपाद् धर्माद् अन्यद् धर्मान्तरं न प्रतीयते येनात्र उपमासंभावना स्यात्। साधारणधर्मानुपादानेऽपि यत्र सादृश्यस्य प्रसिद्धतया साधारणधर्मस्य स्फुटत्वं तत्र लुप्तोपमा भवति, अत्र तु तस्या अपि नावसरः इति भावः।

जैसे 'तुम्हारा वदन चन्द्रमा के समान है' इस उक्ति में (उपमेय और उपमान के तुल्यधर्म के रूप में) सौन्दर्य की प्रतीति होती है; उस प्रकार इस (लिम्पतीव इत्यादि पद्य) में लिम्पति **(=उपमानभूत लेपनकर्ता) में लेप धर्म के अतिरिक्त किसी अन्य (साधारण) धर्म की प्रतीति नहीं होती।**

कहने का अभिप्राय यह है कि लेपधर्म की ही यहाँ प्रतीति होती है, और यह धर्म लेपनकर्ता और अन्धकार का साधारणधर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह लेपनक्रिया लेपनकर्ता का धर्म तो है, परन्तु अन्धकार का धर्म नहीं (वह तो यहाँ अन्धकार के संदर्भ में उत्प्रेक्षित मात्र है)। **रत्नश्री** का यह कथन इस संबन्ध में महत्त्वपूर्ण है : **तथाहि लेपनं तावत् [लेपन-]कर्तुरेव धर्मः न तमसः, केवलं तत्रोत्प्रेक्ष्यते, नापि धर्मान्तरं साधारणमिहास्ति विवक्षितं वा। ...लेपस्तु लिम्पतावेव वर्तते न तमसीति किमाश्रयेयमुपमा स्यात्?**

तदुपश्लेषणार्थोऽयं लिम्पतिर्ध्वान्तकर्तृकः।
अङ्गकर्मा च पुंसैवमुत्प्रेक्ष्यत[2] इतीष्यताम्[3] ॥२३३॥

अथ निजमतं निगमयन्नाह—**तदिति**। तत् तस्माद् अयम् उपश्लेषणार्थः व्यापनार्थकः लेपनार्थको वा लिम्पतिः **लिम्पती**तिक्रियापदवाच्या लेपनक्रिया अत्र पुंसा कविना कविनिबद्धवक्त्रा वा एवं ध्वान्तकर्तृकः तमःकर्तृकः, तमसा क्रियमाणः, अङ्गकर्मा अङ्गानि कर्म व्याप्यं यस्य स तादृश इति, तमःकर्तृकत्वेनाङ्गकर्मकत्वेन चेत्यर्थः, उत्प्रेक्ष्यते परिकल्प्यते संभाव्यते इति इष्यताम् इष्टत्वेन गृह्यताम्। अतश्चात्रोत्प्रेक्षैव, न तूपमा।

---

१. लिम्पतेर्। २. उत्प्रेक्षित। ३. -ष्यते, -क्ष्यताम्।

इसलिए, यहाँ यह व्यापनार्थक लेपनक्रिया कवि द्वारा उक्त प्रकार से अन्धकारकर्तृक (=अन्धकार द्वारा की जा रही) एवं अङ्गकर्मक (=अङ्गरूप व्याप्य वाली) क्रिया के रूप में उत्प्रेक्षित अथवा परिकल्पित की गई है—यह मत अभीष्ट है (और इस प्रकार यहाँ उत्प्रेक्षा है, उपमा नहीं)।

रुय्यक (अलंसर्व० २१ वृत्ति, पृ० ८८) ने यहाँ क्रियोत्प्रेक्षा मानकर कहा है : **अत्र लेपनवर्षणक्रिये तमोनभोगतत्वेनोत्प्रेक्ष्येते**। यह कथन दण्डी के मत का अनुसरण करता है (तु० २.२२६ पर टि० भी)। मम्मट (१०.९२ वृत्ति) का अभिमत इससे भिन्न है; उसके अनुसार, यहाँ व्यापन आदि की लेपन आदि के रूप में संभावना की गई है। प्रेमचन्द्र तर्कवागीश ने प्रस्तुत कारिका के **उपश्लेषणार्थः** का अर्थ किया है 'तमःकर्तृक व्यापनरूप विषय वाला'। उसके अनुसार, यहाँ तमःकर्तृक अङ्गव्यापन, जो उत्प्रेक्षा का विषय है, तमःकर्तृक तादृश विलेपन के रूप में उत्प्रेक्षित है। यह व्याख्या मम्मट के मत के अनुरूप है, परंतु इसमें **उपश्लेषणार्थः** का उक्त अर्थ क्लिष्टकल्पनापूर्ण है।

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥२३४॥

अथोत्प्रेक्षाव्यञ्जकान् शब्दानाह—**मन्य** इति। **मन्ये, शङ्के, ध्रुवं, प्रायः, नूनम्** इत्येवमादिभिः शब्दैः उत्प्रेक्षा व्यज्यते बोध्यते। **इवशब्दः** अपि तादृश एव, उत्प्रेक्षाव्यञ्जकः इत्यर्थः।

मन्ये (=मानता हूँ), शङ्के (=शङ्का करता हूँ), ध्रुवम् (=निश्चय से), प्रायः और नूनम् (=संभवतः)—इन और ऐसे ही अन्य शब्दों से उत्प्रेक्षा व्यञ्जित होती है। इव (=मानो) शब्द भी इसी प्रकार (उत्प्रेक्षाव्यञ्जक) है।

तु० कुवलया० ३३-५ वृत्ति; अलंकारशेखर, पृ० ३४। उक्त उत्प्रेक्षाव्यञ्जक शब्दों में इव उपमाव्यञ्जक भी है। इस संबन्ध में विद्याचक्रवर्ती का यह कथन उल्लेखनीय है : **यदायमुपमानांशो लोकतः सिद्धिमृच्छति॥ तदोपमैव येनेवशब्दः सादृश्यसूचकः। यदा पुनरयं लोकादसिद्धः कविकल्पितः॥ तदोत्प्रेक्षैव येनेवशब्दः संभावनापरः।** (अलंकारसर्वस्वनिष्कृष्टार्थकारिका ३६-८)। उत्प्रेक्षाव्यञ्जक शब्दों का प्रयोग न होने पर गम्योत्प्रेक्षा होती है; यथा—**त्वत्कीर्तिर्भ्रमणश्रान्ता विवेश स्वर्गनिम्नगाम्।**

हेतुश्च सूक्ष्मलेशौ च वाचामुत्तमभूषणम्।
कारकज्ञापकौ हेतू तौ चानेकविधौ[1] यथा ॥२३५॥

---

१. च नैकविधौ।

त्रयोदशमलंकारं हेतुं प्रस्तुवंस्तदनन्तरोदीरितौ च सूक्ष्मलेशावुद्दिशन्नाह —**हेतुश्चेति**। हेतुः च सूक्ष्मः लेशः चेति अलंकारत्रयं वाचां काव्यवाचाम् उत्तमं श्रेष्ठं भूषणम् अलंकरणसाधनम्। सोऽयं हेतुर्द्विविधः कारकः ज्ञापकश्च। करोति निष्पादयतीति क्रियानिष्पादको हेतुः कारकः। ज्ञापयति बोधयति कारणान्तर-निष्पन्नं कार्यमिति च ज्ञापकः। अग्निर्धूमस्य कारको हेतुः, धूमश्चाग्नेर्ज्ञापको हेतुः। हेतू चेमौ कारकज्ञापकावनेकविधौ। यथेत्युदाहरणप्रस्तावाय।

हेतु, सूक्ष्म और लेश—ये अलंकार वाणी के उत्तम भूषण हैं। हेतु दो प्रकार का होता है: कारकहेतु और ज्ञापकहेतु। ये दो हेतु भी आगे अनेक प्रकार के हैं।

भामह (२.८६) ने उक्त अलंकारों के अलंकारत्व का, उनके वक्रोक्ति-रहित होने के कारण, खण्डन किया है: **हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः। समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः॥** दण्डी ने हेतु की परिभाषा नहीं की है। **अग्निपुराण** (३४४.२९) के अनुसार उसकी परिभाषा इस प्रकार है: **सिषाधयिषितार्थस्य हेतुर्भवति साधकः**, अर्थात् जिस कार्य की सिद्धि अभिप्रेत है उसके साधक को हेतु कहते हैं। इसे ही भोज (**सरस्व० ३.१२**) ने **क्रियायाः कारणं हेतुः** कहकर लक्षित किया है। हेतु के दो भेदों में, क्रिया के निष्पादक हेतु को कारक तथा कारणान्तर से निष्पन्न कार्य के बोधक हेतु को ज्ञापक हेतु कहते हैं। उदाहरणतः, अग्नि धुएं का कारक हेतु है और धुआं अग्नि का ज्ञापक हेतु है। इसी प्रकार, मिट्टी घट का कारक हेतु है एवं शास्त्र तत्त्वार्थ का ज्ञापक हेतु है। उक्त दोनों हेतुप्रकारों के साथ उत्तरवर्ती युग में समर्थक हेतु की भी उद्भावना की गई। काव्य के क्षेत्र में इनका विषय-विभाजन, विश्वनाथ (**साद० १०.६२ वृत्ति**) के अनुसार, इस प्रकार है: **तत्र ज्ञापकोऽनुमानस्य विषयः, निष्पादकः काव्यलिङ्गस्य, समर्थकोऽर्थान्तरन्यासस्य**। इसके अनुसार, दण्डी का कारकहेतु उत्तरवर्ती काव्यलिङ्ग (**साद० १०.६२: हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते**) से एवं ज्ञापकहेतु अनुमान अलंकार (**तु० वही १०.६३: अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्**) से तुलनीय है।

अयमान्दोलितप्रौढ[1]चन्दनद्रुमपल्लवः।
उत्पादयति सर्वस्य[2] प्रीतिं मलयमारुतः[3] ॥२३६॥

तत्र प्रथमं कारकहेतुमुदाहरति—**अयमिति**। आन्दोलिताः आधूताः अप्रौढाः अभिनवाः चन्दनद्रुमाणां पल्लवाः येन तादृशः अयं प्रत्यक्षमनुभूय-

१. -लितप्रौढ-। २. लोकस्य, सर्वत्र। ३. दक्षिण-।

मानः मलयमारुतः मलयानिलः सर्वस्य लोकस्य प्रीतिं हर्षम् उत्पादयति जनयति। अत्र मलयमारुतः प्रीत्युत्पादने कारकहेतुः।

चन्दन के वृक्षों की नई कोंपलों को झकझोरने वाला यह मलयानिल सभी (प्राणियों) के हृदय में आनन्द उत्पन्न करता है।

यह कारकहेतु का उदाहरण है। इस पद्य का उत्तरभाग पहले भी (२.१७४) आया है। वस्तुतः मलयानिल कवि का मुख्य प्रियविषय है जिसका उसने अनेकत्र (१.४८-९; २.९८, २३८-९, ३०५, ३५३; ३.१५, ३१, १५०, १६५) वर्णन किया है।

प्रीत्युत्पादनयोग्यस्य रूपस्यात्रोपबृंहणम्।
अलंकारतयोद्दिष्टं निवृत्तावपि तत्समम् ॥२३७॥

उक्तमुदाहरणं विशदयन्नाह—**प्रीतीति**। अत्र प्रीत्युत्पादने आनन्दजनने योग्यस्य समर्थस्य, तत्र कारकहेतुभूतस्य, रूपस्य वायुस्वरूपस्य उपबृंहणं प्रतिसंस्करणम्, **आन्दोलिताप्रौढचन्दनद्रुमपल्लवः** इति विशेषणेन तस्य वैचित्र्यजनकत्वेनोपन्यासः कीर्तनं वा, अलंकारतया उद्दिष्टम्। तच्च रूपोपबृंहणं निवृत्तौ निवर्तनक्रियायाम् अपि समं तुल्यम्। यथात्र, प्रीत्युत्पादनाद्, हेतोः भावकारि प्रवर्तकं वा रूपं दर्शितं तथास्य अभावकारि निवर्तकं वा रूपमपि दृश्यते, तच्चानन्तरवक्ष्यमाणपद्येनोदाह्रियते।

इस उदाहरण में (मलयानिल के) आनन्द उत्पन्न करने में समर्थ (=कारकहेतुभूत) रूप का (अर्थात् उसकी चन्दनसंपर्कजनित सौरभसमृद्धि का) वैचित्र्यजनक उपस्थापन अलंकार के रूप में अभिप्रेत है। (यह वैचित्र्यजनक उपस्थापन प्रवृत्तिकारक अर्थात् उत्पादक हेतु का है।) इसी प्रकार निवृत्तिकारक अथवा विनाशक हेतु का भी वैचित्र्यजनक उपस्थापन होता है।

निवृत्तिकारक अथवा निवर्तक हेतु का स्वरूप अगले पद्य में निदर्शित है। उक्त दोनों (प्रवर्तक और निवर्तक) कारकहेतुप्रकारों को भोज (**सरस्व० ३, उदा० १९, २१**) ने क्रमशः प्रवर्तकक्रियाविष्ट और निवर्तकक्रियाविष्ट कारकहेतु कहा है और उन्हें दण्डी के पद्यों से उदाहृत किया है। हेतु, सूक्ष्म और लेश के अलंकारत्व का खण्डन करने वाले कुन्तक (३, पृ० २२१) ने दण्डी के आलोच्य उदाहरण (२.२३६) को उद्धृत करके यहाँ स्वभाव मात्र को ही, जो 'अलंकार्य' है, रमणीय माना है।

चन्दनारण्यमाधूय स्पृष्ट्वा मलयनिर्झरान्।
पथिकानामभावाय पवनोऽयमुपस्थितः ॥२३८॥

प्रवर्तकं कारकहेतुमुक्त्वा संप्रति निवर्तकमाह—**चन्दनेति**। चन्दनारण्यं चन्दनवनम् आधूय कम्पयित्वा, मलयनिर्झरान् मलयपर्वतप्रस्रवणानि च स्पृष्ट्वा आमृश्य अयं पवनः मारुतः पथिकानां पान्थानां, वियोगिनामित्यर्थः, अभावाय विनाशाय उपस्थितः। एतादृशः पवनः कामोद्दीपकत्वाद् विरहिणां दुःसहः, स चायमद्य संप्राप्त इति भावः।

चन्दनवन को प्रकम्पित करके एवं मलयपर्वत के झरनों का स्पर्श करके यह (सुरभित और शीतल) पवन प्रवासी विरहिजनों के विनाश के लिए आ उपस्थित हुआ है।

अभावसाधनायालमेवंभूतो हि मारुतः।
विरहज्वरसंभूत[1]मनोज्ञारोचके[2] जने ॥२३९॥

उक्तमुदाहरणं व्याचष्टे—**अभावेति**। एवंभूतः उक्तप्रकारकः हि चन्दनवनसंपर्कसुरभिः निर्झरस्पर्शशीतलश्च मारुतः पवनः विरहज्वरेण वियोगजनिततापेन संभूतं जातं मनोज्ञेषु रम्येषु वस्तुषु अरोचकं विद्वेषः यस्य तादृशे जने, तस्मिन् विषये, अभावसाधनाय तस्य विनाशं साधयितुम् अलं समर्थः। अत्र निवर्तकोऽभावसाधको वा कारकहेतुः **चन्दनारण्य**मित्यादिना कथितः।

इस प्रकार का (चन्दनवन के संपर्क से सुरभित और निर्झर के स्पर्श से शीतल) मलयानिल ऐसे (प्रवासी) जन के विनाश का साधन बनने में समर्थ होता है जिसके हृदय में, विरहसंताप के कारण, रमणीय वस्तुओं के प्रति अरुचि उत्पन्न हो गई है।

यहाँ **चन्दनारण्यम्** आदि द्वारा निवर्तक अथवा अभावसाधक कारकहेतु का कथन किया गया है।

निर्वर्त्ये च विकार्ये च हेतुत्वं तदपेक्षया।
प्राप्ये तु कर्मणि प्रायः क्रियापेक्षैव हेतुता ॥२४०॥

भावरूपस्य कर्मणस्त्रिविधत्वं तत्र च कर्मणि हेतुव्यापारं निरूपयन्नाह—**निर्वर्त्य** इति। त्रिविधं खलु कर्म निर्वर्त्यं विकार्यं प्राप्यं चेति। तत्र पूर्वमसदेव क्रियया जन्यम् अथवा पूर्वं सदेव क्रियया प्रकाश्यमानं निर्वर्त्यं, यथा **घटं करोती**त्यत्र **घटः**, **पुत्रं प्रसूते** इत्यत्र च **पुत्रः**। क्रियया रूपान्तरमापाद्यमानं विकार्यं, तच्च द्विविधं प्रकृत्युच्छेदसंभूतं, यथा **काष्ठं भस्मीकरोतीत्यत्र काष्ठं**, गुणान्तरापन्नं च, यथा **सुवर्णं कुण्डलं करोतीत्यत्र सुवर्णम्**। क्रियया केवलं संबध्यमानं (न तु

१. –संताप–। २. –मदनाग्न्यातुरे।

निर्वर्त्यं नापि विकार्यं) कर्म प्राप्यं, यथा **ग्रामं गच्छतीत्यत्र ग्रामः, वेदमधीते** इत्यत्र वा **वेदः**। इदं कर्मत्रैविध्यं **वाक्यपदीयमतानुसारि**। एषु प्रथमयोर्द्वयोः निर्वर्त्ये च विकार्ये च कर्मणि विषये हेतुत्वं कारकत्वं तदपेक्षया तत्तत्कर्मापेक्षि भवति; एवं **घटं करोतीत्यादौ** घटादिरूपकर्मापेक्षी हेतुव्यापारः। परं तु प्राप्ये कर्मणि प्रायः प्रायेण हेतुता हेतुत्वं क्रियापेक्षा (न तु कर्मापेक्षा) एव भवति; एवं **ग्रामं गच्छतीत्यत्र** गमनक्रियापेक्षी (न तु ग्रामापेक्षी) हेतुव्यापारः।

निर्वर्त्य और विकार्य कर्म में हेतु का व्यापार उस (निर्वर्त्य अथवा विकार्य, जैसी भी स्थिति हो,) कर्म पर आश्रित होता है; परंतु प्राप्य कर्म में यह हेतुव्यापार प्रायः क्रिया पर आश्रित होता है।

भावरूप कर्म तीन प्रकार का होता है: निर्वर्त्य, विकार्य और प्राप्य। पहले अविद्यमान और फिर क्रिया द्वारा जन्य अथवा पहले से विद्यमान और क्रिया द्वारा प्रकाश्य कर्म निर्वर्त्य है; जैसे—**घटं करोति** में घट अथवा **पुत्रं प्रसूते** में पुत्र। क्रिया द्वारा अवस्थान्तर में परिवर्तित किया जाने योग्य कर्म विकार्य है। यह अवस्थान्तरप्राप्ति मूलरूप के विनाश से भी संभूत हो सकती है (जैसे—**काष्ठं भस्मीकरोति** में काष्ठ का भस्मीकरण) और गुणान्तर की उत्पत्ति से भी (जैसे—**सुवर्णं कुण्डलं करोति** में सुवर्ण का कुण्डल बनाना)। यहाँ अवस्थान्तर में परिवर्त्य काष्ठ, सुवर्ण आदि विकार्य कर्म हैं। उक्त दोनों प्रकार के कर्मों में हेतु-व्यापार उस-उस कर्म पर आश्रित होता है; इस प्रकार **घटं करोति, काष्ठं भस्मीकरोति** इत्यादि में हेतु अथवा उसका व्यापार घट, काष्ठ आदिरूप कर्म पर आश्रित है। तीसरे प्रकार का कर्म, प्राप्य कर्म, क्रिया द्वारा केवलमात्र **प्राप्त** (=संबद्ध) होता है, उससे **निर्वृत्त** अथवा **विकृत** नहीं होता; जैसे **ग्रामं गच्छति, वेदम् अधीते** आदि में ग्राम, वेद आदि गमनक्रिया, अध्ययनक्रिया आदि द्वारा **संबद्ध** मात्र होते हैं, उससे **निर्वृत्त** अथवा **विकृत** नहीं होते। इस प्रकार इस कर्म में हेतुव्यापार प्रायः क्रियापेक्षी अथवा गमन आदि क्रिया पर आश्रित होता है। कर्म की यह त्रिविधता दण्डी ने भर्तृहरि (४५०-५०० ई०) के **वाक्यपदीय** (३.७.४६-५१) से ग्रहण की है, जिसके अनुसार उक्त कर्मों का लक्षण इस प्रकार है: **यदसज्जायते सद्वा जन्मना यत्प्रकाश्यते। तन्निर्वर्त्यं विकार्यं च कर्म द्वेधा व्यवस्थितम्॥ प्रकृत्युच्छेदसंभूतं किंचित् काष्ठादिभस्मवत्। किंचिद् गुणान्तरोत्पत्त्या सुवर्णादिविकारवत्॥ क्रियागतविशेषाणां सिद्धिर्यत्र न गम्यते। दर्शनादनुमानाद्वा तत्प्राप्यमिति कथ्यते॥**

हेतुर्निर्वर्तनीयस्य दर्शितः शेषयोर्द्वयोः।
दत्त्वोदाहरणद्वन्द्वं ज्ञापको वर्णयिष्यते ॥२४१॥

उक्तं व्यपदिशन् वक्ष्यमाणं च निर्दिशन्नाह—**हेतुरिति**। निर्वर्तनीयस्य अनन्तरोक्तस्य निर्वर्त्याख्यकर्मणः हेतुः दर्शितः **अयमान्दोलिते**त्यादिपद्यद्वयेन निदर्शितः। संप्रति शेषयोः द्वयोः विकार्यप्राप्याख्यकर्मणोः उदाहरणद्वन्द्वं निदर्शनद्वयं दत्वा (तेन च कारकहेतुमुपसंहृत्य) ज्ञापकः हेतुः वर्णयिष्यते उदाहरिष्यते।

(अयमान्दोलित- और चन्दनारण्यम् इन उदाहरणों द्वारा) निर्वर्त्य कर्म के (कारक) हेतु को निर्दशित कर दिया गया; (अब आगे) शेष दो (विकार्य और प्राप्य कर्मों के हेतु) के दो उदाहरण देकर ज्ञापक हेतु का वर्णन किया जाएगा।

उत्प्रवालान्यरण्यानि वाप्यः संफुल्लपङ्कजाः।
चन्द्रः पूर्णश्च कामेन[1] पान्थदृष्टेर्विषं[2] कृतम् ॥२४२॥

विकार्यकर्महेतुं निदर्शयति—**उत्प्रवालानीति**। उत्प्रवालानि उद्गतनवकिसलयानि अरण्यानि वनानि, संफुल्लपङ्कजाः विकसितकमलाः वाप्यः दीर्घिकाः, तथा च पूर्णः संपूर्णमण्डलः चन्द्रः सर्वमेतद् (अमृतमयं वस्तु) कामेन कामदेवेन पान्थदृष्टेः प्रवासिपथिकजननयनयोः विषं कृतम् अविषह्यत्वाद् विषरूपेण परिणामितं विषरूपविकारमापादितम्। अत्रारण्यादिकं विकार्यं कर्म, कामश्च तद्धेतुत्वेनोपवर्णित इति विकार्यकर्महेतुः।

नवोद्गत कोंपलों से युक्त वनप्रान्त, खिले कमलों वाली बावड़ियाँ और पूर्णमण्डल चन्द्रमा—इन सभी (अमृतमय) वस्तुओं को कामदेव ने (विरही) पथिकजन की आँखों के लिए विष के रूप में (परिणत अथवा विकृत) कर दिया।

यहाँ अरण्य आदि विकार्य कर्म हैं, और कामदेव उनके हेतु के रूप में वर्णित है। इस प्रकार यह विकार्य कर्म के कारक हेतु का उदाहरण है।

मानयोग्यां करोमीति प्रियस्थाने[3] स्थितां[4] सखीम्।
बाला भ्रूभङ्गजिह्माक्षी पश्यति स्फुरिताधरम्[5] ॥२४३॥

प्राप्यकर्महेतुमुदाहरति—**मानयोग्यामिति**। मानस्य योग्याम् अभ्यासं, मानसूचकाङ्गिकभावाभ्यासमित्यर्थः, करोमि इति अभिप्रेत्य बाला काचिद् मुग्धा नायिका भ्रूभङ्गजिह्माक्षी भ्रुवोर्भङ्गेन विकारेण जिह्मे कुटिले अक्षिणी नेत्रे यस्यास्तादृशी सती प्रियस्थाने प्रियतमस्य भूमिकायां स्थितां, प्रियतमत्वेन परिकल्पितामित्यर्थः, सखीं वयस्यां स्फुरिताधरं स्फुरितः (कृतककोपेन) कम्पितः अधरः यथा

1. कालेन। 2. -दृष्टिविषं। 3. -स्थान-। 4. कृतां। 5. -धरा।

स्यात्तथा (क्रियाविशेषणं) पश्यति वीक्षते। अत्र सखी बालाकर्तृकया दर्शनक्रियया केवलं संबध्यते इति सा प्राप्यं कर्म, बालायाश्चात्र हेतुत्वं तत्कर्तृकदर्शनक्रियापेक्षम्।

'मैं मान करने (=रूठने) का अभ्यास करती हूँ' ऐसा सोचकर यह (भोली) बाला, अपनी भौंहों को टेढ़ी करके एवं होठों को (कृतक कोप से) कँपाकर, प्रियतम की भूमिका निभा रही अपनी सखी को देखती है।

बालाकर्तृक दर्शनक्रिया से केवलमात्र संबद्ध (निर्वृत्त या विकृत नहीं) सखी यहाँ प्राप्य कर्म है। बाला का यहाँ उक्त कर्म के हेतु के रूप में वर्णन हुआ है (उसकी हेतुता यहाँ तत्कर्तृक दर्शनक्रिया पर ही आश्रित है)। इस प्रकार यह प्राप्य कर्म के कारकहेतु का उदाहरण है। भोज (**सरस्व० ३, उदा० २४**) ने इस पद्य को क्रियानाविष्ट प्रयोजक कारकहेतु के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।[1]
इतीदमपि साध्वेव कालावस्थानिवेदने ॥२४४॥

कारकहेतुं व्याख्यायाधुना ज्ञापकहेतुं निदर्शयन्नाह—**गत** इति। अर्कः सूर्यः अस्तम् अदर्शनं गतः, इन्दुः चन्द्रमाः भाति प्रकाशते, पक्षिणः च वासाय (विश्रामाय) निवासस्थानमुद्दिश्य यान्ति गच्छन्ति। इति इदम् एवंविधं स्वरूपकथनमात्रमपि कालावस्थायाः कालविशेषस्य प्रदोषलक्षणस्य अवस्थायाः स्थितेः निवेदने ज्ञापने साधु समीचीनम् अलंकाररूपम् एव वर्तते। अत्र संध्या ज्ञाप्याऽशाब्दत्वात्प्रतीयमाना, तत्र चार्कस्यास्तंगतत्वादिर्ज्ञापको हेतुः, स च प्रसङ्गविशेषे चमत्कारजनक इति तस्यालंकारता। भामहस्तु एवंविधाया उक्तेः काव्यत्वं निषेधति।

'सूर्य अस्त हो गया है, चन्द्रमा चमक रहा है और पक्षी अपने-अपने घोंसलों की ओर चल पड़े हैं'—इस प्रकार का यह (स्वरूप-)कथन भी काल-विशेष (संध्या) की अवस्था का वर्णन अथवा ज्ञापन करने में समीचीन (अतश्च अलंकार के रूप में ग्राह्य) ही है।

संध्या यहाँ ज्ञाप्य है जो शब्दतः उपात्त न होने से प्रतीयमान है। सूर्य का अस्त हो जाना आदि यहाँ ज्ञापक हेतु है जो प्रसङ्गविशेष में चमत्कारजनक होने से अलंकार के रूप में स्वीकार्य है। इस प्रकार यह **आर्थ ज्ञापकहेतु** का उदाहरण है। भामह (२.८७) ने इसी अलंकार के संदर्भ में इन शब्दों में इसके काव्यत्व का निषेध किया है: **गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय**

---

१. इदं श्लोकार्धं तालपत्रपुस्तके नास्ति।

पक्षिणः। इत्येवमादि किं काव्यं वार्त्तमिनां प्रचक्षते॥

अवध्यै[1]रिन्दुपादानामसाध्यैश्चन्दनाम्भसाम्[2]।
देहोष्मभिः सुबोधं ते सखि कामातुरं मनः॥२४५॥

ज्ञाप्यस्यार्थत्वमुदाहृत्य शाब्दत्वे उदाहरणमाह—**अवध्यैरिति**। हे सखि, इन्दुपादानां चन्द्रकिरणानाम् अपि अवध्यैः अविनाश्यैः, शीतलैरपि इन्दुरश्मिभिः शमयितुमशक्यैः, चन्दनाम्भसां चन्दनाक्तजलानाम् अपि असाध्यैः अनपनेयैः, मलयजरसचर्चोपचारेणाप्यप्रतिकार्यैः, देहोष्मभिः शरीरसंतापैः ते तव कामातुरं मदनपीडितं मनः सुबोधं सुज्ञातं भवति, स्फुटमवगम्यत इत्यर्थः। अत्र मनसः कामातुरत्वं ज्ञाप्यं तच्च शब्दोपात्तं, देहतापश्च तत्र ज्ञापको हेतुः।

चन्द्रमा की (शीतल) किरणों से भी न मिटने वाले एवं चन्दनजल से भी शान्त न होने वाले तुम्हारे शारीरिक ताप से, हे सखी, यह सुस्पष्ट है कि तुम्हारा मन कामपीडा से आक्रान्त है।

इस उदाहरण में नायिका के मन की कामातुरता ज्ञाप्य है जो आर्थ न होकर यहाँ शाब्द अथवा शब्दोपात्त है। शिशिरोपचारों से भी अनपनेय उसका देहताप यहाँ ज्ञापक हेतु के रूप में वर्णित है। इस प्रकार यह **शाब्द ज्ञापकहेतु** का उदाहरण है।

इति लक्ष्याः प्रयोगेषु रम्या[3] ज्ञापकहेतवः।
अभावहेतवः केचिद् व्याह्रियन्ते[4] मनोरमाः[5]॥२४६॥

ज्ञापकहेतूद्देशेन भावहेतुमुपसंहरन्नभावहेतूंश्च प्रस्तुवन्नाह—**इतीति**। इति उक्तविधिना रम्याः हृदयावर्जकाः ज्ञापकहेतवः भावहेत्वन्तर्भुक्ताः प्रयोगेषु काव्यप्रयोगेषु कविकृतप्रबन्धेषु लक्ष्याः ज्ञातव्याः। अथाधुना केचिद् मनोरमाः हृद्याः अभावहेतवः चतुर्विधाभावरूपा हेतवः व्याह्रियन्ते उच्यन्ते, उदाह्रियन्ते। प्रागभावः प्रध्वंसाभावः अन्योन्याभावः अत्यन्ताभावश्चेति चतुर्विधोऽभावः।

इस प्रकार (उक्त विधि से) मनोहारी ज्ञापकहेतु काव्यप्रबन्धों में देखे जाएँ। अब यहाँ अभावहेतु के कुछ सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं।

अगले चार पद्यों में अभाव के चार रूपों—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव—को उदाहृत किया गया है।

---

१. अवन्ध्यैर्। २. -म्भसा। ३. सम्यग्। ४. -क्रियन्ते। ५. -हराः।

अनभ्यासेन विद्यानामसंसर्गेण धीमताम् ।
अनिग्रहेण चाक्षाणां जायते व्यसनं नृणाम् ॥२४७॥

चतुर्विधेऽभावे प्रथमं प्रागभावं हेतुतया निदर्शयति—**अनभ्यासेनेति** । विद्यानां त्रयीप्रमुखाणाम् अनभ्यासेन अशिक्षया, धीमतां बुद्धिमतां जनानाम् असंसर्गेण असंगत्या अथ च अक्षाणाम् इन्द्रियाणाम् अनिग्रहेण असंयमेन इत्येतैः हेतुभिः नृणां मनुष्याणां व्यसनं विपत्तिः दुष्कर्मप्रवृत्तिर्वा जायते उत्पद्यते । अत्र व्यसनोत्पत्तिकरः विद्याभ्यासादीनामभावः प्रागभावरूपः, तस्य च व्यसनं प्रति कारकहेतुत्वम्, अतश्चेह प्रागभावरूपकारकहेतुरलंकारः ।

(त्रयी आदि) विद्याओं का अभ्यास न करने से, बुद्धिमानों के असंसर्ग से एवं इन्द्रियसंयम के अभाव से मनुष्यों की आपत्ति (अथवा मनुष्यों में दुष्प्रवृत्ति) उत्पन्न होती है।

उत्पत्ति से पूर्व किसी पदार्थ के अभाव को प्रागभाव कहते हैं। यहाँ विद्याभ्यास आदि का अभाव प्रागभावरूप है, और वह विपत्ति (अथवा दुष्प्रवृत्ति) के कारकहेतु के रूप में वर्णित हुआ है। इस प्रकार यह **प्रागभावरूप कारकहेतु** का उदाहरण है।

गतः कामकथोन्मादो गलितो यौवनज्वरः ।
क्षतो[1] मोहश्च्युता तृष्णा कृतं पुण्याश्रमे[2] मनः ॥२४८॥

द्वितीयं प्रध्वंसाभावहेतुमुदाहरति—**गत** इति । कामकथा विषयभोगचर्चा तया तस्याः तत्र वा यः उन्मादः विभ्रमः स गतः विरतः, यौवनज्वरः तारुण्य-जन्मा ऊष्मा गलितः विगतः, मोहः धनदारपुत्रादौ ममत्वबुद्धिः क्षतः नष्टः, तृष्णा विषयस्पृहा च्युता गलिता, अतश्च हेतोः मया पुण्याश्रमे पवित्रे संन्यासाश्रमे आश्रमप्रदेशे वा मनः चित्तं कृतं विनिवेशितम् । अत्र कामकथोन्मादादीनाम-भावः प्रध्वंसाभावरूपः, तस्य च पुण्याश्रमस्वीकरणे कारकहेतुत्वम् ।

विषयभोगों की चर्चा का उन्माद समाप्त हो चुका है, यौवन का बुखार उतर चुका है, मोह (=सांसारिक पदार्थों के प्रति ममत्व) नष्ट हो चुका है, तृष्णा ढल चुकी है, (और इसलिए अब मैंने) पवित्र आश्रम (=संन्यास आश्रम या आश्रमभूमि) में अपना चित्त लगा दिया है।

उत्पत्ति के अनन्तर किसी पदार्थ के विनाशजनित अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते हैं। यहाँ कामकथोन्माद, यौवनज्वर आदि का अभाव प्रध्वंसाभाव है जो पुण्य आश्रम में मन लगाने के हेतु के रूप में वर्णित हुआ है। इस प्रकार यह

---

१. गतो, हतो। २. -श्रये।

प्रध्वंसाभावरूप कारकहेतु का उदाहरण है।

वनान्यमूनि न गृहाण्येता नद्यो न योषितः ।
मृगा इमे न दायादास्तन्मे नन्दति मानसम् ॥२४६॥

तृतीयमन्योन्याभावहेतुं निदर्शयति—**वनानीति**। अमूनि दृश्यमानानि स्थानानि वनानि आश्रमवनानि सन्ति, न तु गृहाणि पूर्वं श्रितानि भवनानि। एताः पुरो लक्ष्यमाणाः नद्यः सरितः वर्तन्ते, न तु योषितः पूर्वाश्रमसहवासिन्यः स्त्रियः। इमे च अत्र विचरन्तः प्राणिनः मृगाः हरिणाः सन्ति, न तु दायादाः संबन्धिजनाः। तत् तस्माद् हेतोः अत्र प्रदेशे मे मम विरक्तस्य मानसं चेतः नन्दति आनन्दमनुभवति। अत्र वनादीनां गृहादीनां च परस्परमभावोऽन्योन्याभावः, तस्य चेह विरक्तमानसानन्दने कारकहेतुत्वम्।

ये वनभूमियाँ हैं, घर नहीं; ये नदियाँ हैं, स्त्रियाँ नहीं; ये हरिण हैं, संबन्धिजन नहीं। यही कारण है कि यहाँ मेरा मन आनन्द अनुभव कर रहा है।

एक पदार्थ का तद्भिन्न अन्य पदार्थ न होना अन्योन्याभाव है; दूसरे शब्दों में, घट में पटत्व का और पट में घटत्व का अभाव अन्योन्याभाव है। प्रस्तुत उदाहरण में वन, नदी आदि और घर, स्त्री आदि का परस्पर अभाव अन्योन्याभाव है : वन में गृहत्व, नदी में स्त्रीत्व और मृगों में दायादत्व का अभाव है। यह अभाव विरक्त जन के मानसिक आनन्द के कारकहेतु के रूप में वर्णित हुआ है। अतः यहाँ **अन्योन्याभावरूप कारकहेतु** है।

अत्यन्तमसदार्याणामनालोचितचेष्टितम् ।
अतस्तेषां विवर्धन्ते[1] सततं सर्वसंपदः ॥२५०॥

चतुर्थमत्यन्ताभावहेतुमुदाहरति—**अत्यन्तमिति**। आर्याणां सत्पुरुषाणाम् अनालोचितचेष्टितम् अपरीक्षितकारित्वम् अत्यन्तं नितान्तम् असद् अविद्यमानम्। न कदापि तेऽपरीक्ष्य किमपि कुर्वन्तीत्यर्थः। अतः कारणात् तेषां सर्वाः संपदः विभूतयः सततं नित्यं विवर्धन्ते वृद्धिं प्राप्नुवन्ति। अत्रार्याणामविमृश्यकारिताया नितान्तमभावः अत्यन्ताभावरूपः, स चेह तेषां सर्वसंपद्विवृद्धौ कारकहेतुत्वेन वर्णितः।

सत्पुरुषों में बिना सोचे काम करने (की प्रवृत्ति) का नितान्त अभाव होता है। इसीलिए उनकी सभी संपदाएँ निरन्तर बढ़ती हैं।

---

१. विवर्तन्ते।

यहाँ आर्य पुरुषों में अविमृश्यकारिता का नितान्त (त्रैकालिक) अभाव अत्यन्ताभाव है जो यहाँ उनकी संपदाओं की वृद्धि के हेतु के रूप में वर्णित हुआ है। अतः यह **अत्यन्ताभावरूप कारकहेतु** का उदाहरण है। अभावहेतु के उक्त उदाहरण (२४७-५०) भोज (सरस्व० ३, उदा० ३१-४) द्वारा कुछ परिवर्तन के साथ अपनाए गए हैं।

उद्यानसहकाराणामनुद्भिन्ना न मञ्जरी।
देयः पथिकनारीणां सतिलः सलिलाञ्जलिः ॥२५१॥

अभावहेतूनुदाहृत्य संप्रति अभावाभावहेतुमुदाहरति—**उद्यानेति**। उद्यानसहकाराणाम् उपवनप्ररूढानाम् आम्रवृक्षाणां मञ्जरी कलिका अनुद्भिन्ना अनुदिता न, अर्थाद् उद्भिन्नैव वर्तते। अतः एवं स्थिते पथिकनारीणां प्रवासिजननारीणां प्रोषितभर्तृकाणां सतिलः तिलसहितः सलिलाञ्जलिः निवापजलाञ्जलिः देयः एव। आम्रेषु मञ्जर्युद्भेदात्तस्य च सातिशयोद्दीपकत्वात् प्रोषितपतिकानां मरणमुपस्थितमतश्च तासां जलाञ्जलिर्देय एव स्यादित्यर्थः। अत्र मञ्जर्या उद्भेदाभावस्य अभावः (अर्थाद् उद्भेदः) पान्थस्त्रीमरणं प्रति हेतुतयोपन्यस्तः, उद्भेदाभावश्चेह प्रागभावरूपः। एवमिदं प्रागभावाभावहेतोर्निदर्शनम्। प्रध्वंसाद्यभावाभावहेतूदाहरणानि अनयैव दिशा ऊह्यानि।

उपवनों में आम्रमञ्जरी अब अनुद्भिन्न (=अविकसित) नहीं रही (अर्थात् विरहिजनों के उद्दीपक आम्रवृक्ष अब बौरा गए हैं)। इसलिए प्रवासी पथिकों की (विरहिणी) स्त्रियों को (जिनकी मृत्यु अब निश्चित है) तिलसहित जलाञ्जलि देनी ही होगी।

यहाँ आम्रमञ्जरी के उद्भेद (=उदय) के अभाव के अभाव (अर्थात् उद्भेद) को प्रवासिजनों की विरहिणी स्त्रियों की मृत्यु के हेतु के रूप में वर्णित किया गया है। मञ्जरी के उदय का अभाव प्रागभाव है; इस प्रकार यह पद्य **प्रागभावाभावहेतु** को निदर्शित करता है (तु० सरस्व० ३, उदा० ३५)। ऐसे ही प्रध्वंसाभावाभाव आदि हेतुओं के भी उदाहरण हो सकते हैं जो यहाँ नहीं दिए गए हैं। रत्नश्रीज्ञान ने इनके क्रमशः निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किए हैं : **(१) अदृष्टया हरिणीदृष्टस्तस्यास्तत्तदनुस्मरन्। व्यर्थजीवितसंकल्पः सोऽयमञ्चति पञ्चताम्॥ (२) पद्मिनीयं न सा तन्वी पद्ममेतन्न तन्मुखम्। इन्दीवरमिदं चक्षुर्न तदित्यसवो गताः॥ (३) न कदाचिदभूत्तन्व्यास्तस्या विनयविभ्रमः। इति ध्यायन्नयं लोकः परैति परलोकताम्॥**

प्रागभावादिरूपस्य हेतुत्वमिह वस्तुनः ।
भावाभावस्वरूपस्य[1] कार्यस्योत्पादनं प्रति ॥२५२॥

अभावहेतुमुपसंहरन्नाह—**प्रागभावेति** । इह उपर्युदाहृतेषु पद्येषु भावाभावस्वरूपस्य भावरूपस्य अभावरूपस्य च कार्यस्य फलस्य उत्पादनं प्रति प्रागभावादिरूपस्य प्रागभावप्रध्वंसाभावान्योन्याभावात्यन्ताभावस्वरूपस्य वस्तुनः विषयस्य हेतुत्वं कारणत्वं, वर्तत इति शेषः । तत्र भावरूपस्य कार्यस्योत्पादनं प्रति चतुर्विधाभावरूपस्य वस्तुनो हेतुत्वं चतुर्भिः पद्यैः अभावरूपकार्योत्पत्तिं च प्रति अभावरूपवस्तुनो हेतुत्वमेकेन पद्येन प्रागभावाभावनिदर्शकेन उदाहृतम् ।

(उक्त पाँच पद्यों में) भावरूप और अभावरूप कार्य के उत्पादन के प्रति प्रागभाव आदि रूप विषय हेतु अथवा कारण के रूप में वर्णित किए गए हैं ।

पहले चार पद्यों (२४७-५०) में प्रागभाव आदि चार अभावों को भावरूप कार्य के हेतु के रूप में उपन्यस्त किया गया है। पाँचवें पद्य (२५१) में प्रागभाव का अभावात्मक कार्य के हेतु के रूप में उपन्यास किया गया है; इसके अन्य तीन अभावों के उदाहरण नहीं दिए गए हैं। रत्नश्रीज्ञान ने अपनी टीका में इनके उदाहरण प्रस्तुत किए हैं (द्र० पिछले पद्य पर टि०) ।

दूरकार्यस्तत्सहजः कार्यानन्तरजस्तथा ।
अयुक्तयुक्तकार्यौ[2] चेत्यसंख्याश्चित्रहेतवः ॥२५३॥

अथ चित्रहेतून् प्रस्तौति—**दूरकार्य** इति । दूरं हेतुव्यापारविषयान्तरगतं कार्यं फलं यस्य स दूरकार्यः, तेन कार्येण आत्मीयेन सह युगपद् जायते इति तत्सहजः, कार्याद् अनन्तरं जायते इति कार्यानन्तरजः, तथा अयुक्तं कारणविरुद्धं कार्यं यस्य स तादृशः अयुक्तकार्यः, युक्तं कारणानुसारि च कार्यं यस्य स युक्तकार्यः इति एतादृशाः असंख्याः असंख्याताः बहुविधाः चित्रहेतवः अपूर्वरूपाः हेतवः वर्तन्ते । ते चानुपदमेवोदाह्रियन्ते ।

दूरकार्य (=कारण के व्यापारक्षेत्र से दूरस्थित कार्य वाला), तत्सहज (=अपने कार्य के साथ उत्पन्न होने वाला), कार्यानन्तरज (=कार्य के अनन्तर उत्पन्न होने वाला), अयुक्तकार्य (=कारणविरुद्ध कार्य वाला) और युक्तकार्य (कारणानुसारी कार्य वाला)—ये (और इस प्रकार के) असंख्य चित्रहेतु हैं ।

लोक में हेतु (=कारण) अपने कार्य (=फल) से पूर्ववर्ती होता है, उसका सहजन्मा या उससे उत्तरवर्ती नहीं होता। इसी प्रकार, कार्य भी कारण के व्यापारक्षेत्र के संनिकृष्ट और तदनुसारी होता है, उससे दूरस्थित अथवा उसके विरुद्ध

---

१. –स्वभावस्य । २. –कारी, अयुक्तो युक्तकारी, युक्तकार्यश् ।

नहीं होता। काव्य में वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए, विशेष अभिप्राय से, इनका अन्यथा वर्णन होता है। अपने स्वरूप की इसी विचित्रता के कारण इन्हें चित्रहेतु कहा गया है। इनमें युक्तकार्य हेतु का भी परिगणन किया गया है जिसे वास्तव में चित्रहेतु नहीं कहा जा सकता। उत्तरवर्ती लक्षणग्रन्थों में ये चित्रहेतु विविध अलंकारों या अलंकारप्रकारों के रूप में आए हैं जिनका यथास्थान उल्लेख किया जाएगा।

तेऽमी प्रयोगमार्गेषु गौणवृत्तिव्यपाश्रयात्[1] ।
अत्यन्तसुन्दरा दृष्टास्तदुदाहृतयो यथा ॥२५४॥

पूर्वोक्तचित्रहेतूनां काव्ये हेतुत्वेनेष्टत्वं प्रतिपादयन्नाह—**तेऽमी** इति। ते अमी अनन्तरोक्ताः दूरकार्यादयश्चित्रहेतवः प्रयोगमार्गेषु कविप्रबन्धपद्धतिषु गौणवृत्तिव्यपाश्रयाद् गौण्याः प्रसिद्धिविषयविपरीतायाः समारोपितायाः वृत्तेः शब्दव्यापारस्य हेतुव्यापारस्य वा व्यपाश्रयाद् आलम्बनाद् हेतोः अत्यन्तसुन्दराः एकान्तहृद्याः दृष्टाः लक्षिताः भवन्ति। तदुदाहृतयः तेषामुदाहरणानि वक्ष्यन्ते। यथेति तदुपक्रमार्थम्।

ये पूर्वोक्त चित्रहेतु काव्यप्रयोग की पद्धतियों में अथवा काव्यप्रबन्धों में गौण (=समारोपित या लाक्षणिक) वृत्ति (=शब्दव्यापार अथवा हेतुव्यापार) के समाश्रयण से नितान्त मनोहारी रूप में संलक्षित किए जाते हैं। इनके उदाहरण अगले पद्यों में प्रस्तुत किए जाते हैं।

मुख्य हेतुव्यापार होने की स्थिति में दूरकार्य आदि हेतुओं का हेतुत्व भी बाधित हो जाएगा; ये हेतु वस्तुतः गौणवृत्ति अथवा लक्षणाव्यापार के आश्रयण से ही चमत्कार उत्पन्न करते हैं, और इसी रूप में ये काव्य में अभीष्ट हैं। **गौणवृत्तिव्यपाश्रय** इस प्रयोग के लिए १.९५ भी द्रष्टव्य है। भोज (**सरस्व०** ३.१६-७) ने इन कारिकाओं (२५३-४) को इसी संदर्भ में, कुछ परिवर्तन के साथ, उद्धृत किया है।

त्वदपाङ्गाह्वयं जैत्रमनङ्गास्त्रं[2] यदङ्गने ।
मुक्तं तदन्यतस्तेन सोऽस्म्यहं[3] मनसि क्षतः ॥२५५॥

चित्रहेतुषु दूरकार्यं हेतुमुदाहरति—**त्वदिति**। हे अङ्गने सुन्दरि, त्वदपाङ्गाह्वयं त्वदपाङ्गदर्शनं नाम यद् जैत्रं जगज्जयशीलम् अनङ्गास्त्रं कामदेवस्य आयुधं, तत् त्वया अन्यतः मदन्यस्मिन् जने मुक्तं क्षिप्तम्। परं तेन त्वदपाङ्गलक्षणेन

---

१. –व्यपाश्रयाः, –मार्ग–। २. –मङ्गलास्त्रं। ३. सोऽप्यहं।

कामास्त्रेण अहं तदलक्ष्यीकृतोऽप्यहं मनसि हृदये क्षतः विद्धः अस्मि। तदेतच्चित्रमित्यर्थः। अत्र हेतुभूतस्यानङ्गास्त्रस्य कार्यं (=फलं) हेतुव्यापारविषयं लक्ष्यभूतं जनमप्राप्य अलक्ष्यभूतं जनं प्राप्नोतीति तस्य दूरंगतत्वाद् दूरकार्यो हेतुः। अर्वाचीनैरयमसंगत्यलंकार इति व्याख्यातः।

हे सुन्दरी, अपनी तिरछी चितवन के रूप में जो तुम्हारे पास विश्वविजयी कामास्त्र है, उसे तुमने किसी दूसरी ओर फेंका था, परंतु उससे मेरा हृदय (जो उसका लक्ष्य नहीं था) आहत हो गया है!

यहाँ हेतुभूत कामास्त्र का फल उसके लक्ष्यभूत पदार्थ को प्राप्त न होकर अलक्ष्यभूत व्यक्ति को प्राप्त हुआ है; इस प्रकार यहाँ कार्य (=फल) अपने हेतु से दूर जा पड़ा है। अतः यहाँ **दूरकार्य** चित्रहेतु है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसकी असंगति अलंकार के रूप में व्याख्या की है जहाँ कार्य और कारण का भिन्नदेशत्व वर्णित होता है; तु० **साद० १०. ६९ : कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसंगतिः।**

आविर्भवति नारीणां वयः पर्यस्तशैशवम्।
सहैव विविधैः पुंसामङ्गजोन्मादविभ्रमैः ॥२५६॥

कार्यसहजं चित्रहेतुं निदर्शयति—**आविर्भवतीति**। नारीणां पर्यस्तशैशवं निराकृतबाल्यं वयः अवस्था यौवनं नाम पुंसां कामिजनानां विविधैः नानाप्रकारैः अङ्गजोन्मादस्य कामजनितमनोविकारस्य विभ्रमैः विलासैः दशाविशेषैर्वा सहैव सममेव आविर्भवति उदेति। अत्र हेतुभूतं नारीणां यौवनं कार्यभूतैः कामुकजनोन्मादविलासैः सह जायते इति वर्णितम्, अतश्चात्र कार्यसहजो नाम चित्रहेतुः। अर्वाचीनैरूवयमक्रमातिशयोक्तित्वेनोपात्तः।

स्त्रियों की, बाल्यावस्था का निराकरण करने वाली, यह अवस्था (अर्थात् यौवनावस्था) कामिजनों के कामोन्माद के अनेक प्रकार के विलासों के साथ ही प्रकट होती है।

यह **कार्यसहज** चित्रहेतु का उदाहरण है, क्योंकि यहाँ हेतुभूत स्त्रियों के यौवन को उसके कार्यरूप कामिजनमनोविकारों के **साथ ही** उत्पन्न बताया गया है। उत्तरवर्ती आचार्य ऐसी स्थिति में अक्रमातिशयोक्ति मानते हैं जो हेतु और कार्य की सहस्थिति में होती है; तु० **कुवलया० ४१ : अक्रमातिशयोक्तिः स्यात् सहत्वे हेतुकार्ययोः।**

पश्चात्पर्यस्य किरणानुदीर्णं चन्द्रमण्डलम् ।
प्रागेव हरिणाक्षीणामुदीर्णो रागसागरः ॥२५७॥

कार्यानन्तरजं चित्रहेतुमुदाहरति—**पश्चादिति**। किरणान् मयूखान् पर्यस्य परितः प्रसार्य चन्द्रमण्डलं (कर्तृ) पश्चाद् निजकार्यभूताद् रमणीरागसागरोदीरणाद् अनन्तरम् उदीर्णम् उदितं, परंतु हरिणाक्षीणां मृगलोचनानां रागसागरः अनुरागरूपः समुद्रः प्रागेव निजहेतुभूताद् चन्द्रोदयात् पूर्वमेव उदीर्णः उद्गतः। चन्द्रोदयो हि समुद्रोदीरणस्य हेतुः, हेत्वनन्तरमेव च कार्योत्पत्तिः। अत्र तु समुद्रोदीरणरूपकार्यानन्तरं चन्द्रोदयरूपहेतोर्जन्म वर्णितमिति कार्यानन्तरजश्चित्रहेतुः। अर्वाचीनैस्त्वयमत्यन्तातिशयोक्तित्वेन व्याख्यातः।

अपनी किरणों को चारों ओर फैलाकर चन्द्रमण्डल तो बाद में उदित हुआ, किंतु मृगनयनी रमणियों का अनुराग-सागर पहले ही उछालें लेने लगा।

यहाँ कार्यरूप समुद्रोद्वेलन का पहले होना एवं उसके हेतुरूप चन्द्रोदय का उस (कार्य) के बाद में होना वर्णित किया गया है; अतः यह **कार्यानन्तरज** चित्रहेतु का उदाहरण है (तु० **सरस्व० ३, उदा० ३९**)। उत्तरकाल के कतिपय आचार्य इसे अत्यन्तातिशयोक्ति मानते हैं जहाँ हेतु और कार्य का पौर्वापर्यव्यतिक्रम होता है; तु० **कुवलया० ४३ : अत्यन्तातिशयोक्तिस्तु पौर्वापर्यव्यतिक्रमे**। मम्मट (**काप्र० १०.१०१**) और विश्वनाथ (**साद० १०.४७**) ने अक्रम- और अत्यन्त- दोनों अतिशयोक्तिभेदों को पौर्वापर्यव्यतिक्रम के रूप में ग्रहण किया है। हेमचन्द्र (**काअनु०, पृ० ३१९**) ने दण्डी के प्रस्तुत उदाहरण को असंबन्ध में संबन्धकथन रूप अतिशयोक्ति के निदर्शन के रूप में उद्धृत किया है। अन्यत्र (पृ० २२३) उसने और भोज (**सरस्व० १, उदा० १८२**) ने इसे अदोषत्व में परिणत होने वाले अपक्रम दोष के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

राज्ञां हस्तारविन्दानि कुड्मली[1]कुरुते कुतः।
देव त्वच्चरणद्वन्द्वराग[2]बालातपः स्पृशन् ॥२५८॥

अयुक्तकार्यं चित्रहेतुमुदाहरति—**राज्ञामिति**। हे देव राजन्, त्वच्चरणद्वन्द्वस्य त्वदीयचरणयुगलस्य यः रागः रक्तिमा स एव बालातपः नवोदितसूर्यातपः राज्ञां शत्रुनृपतीनां सामन्तानां वा हस्तारविन्दानि करकमलानि स्पृशन् कुतः कस्मात् तानि कुड्मलीकुरुते मुकुलयति ? बालातपो हि कमलोन्मीलनहेतुः, अयं तु कमलानि निमीलयतीति अयुक्तमस्य कार्यम्। अतश्चेह अयुक्तकार्यश्चित्रहेतुः। सामन्ता नृपतयो मुकुलिताञ्जलयस्त्वच्चरणौ प्रणमन्तीति कश्चिद् राजाधिराजोऽत्र स्तूयते।

१. कुट्मली-। २. -रवि-।

हे देव, तुम्हारे चरणों की लाली रूपी नवोदित सूर्य की अरुण किरणें (सामन्त) राजाओं के कर-कमलों का स्पर्श करके उन्हें (उन्मीलित करने की बजाय) मुकुलित (=मुकुलाकार) क्यों कर देती हैं ?

'सामन्त राजा मुकुलित अञ्जलि से तुम्हें प्रणाम करते हैं'—यह कहना यहाँ अभिप्रेत है । बालातप कमलों के उन्मीलन का हेतु है, निमीलन का नहीं; परंतु यहाँ वह कमलों के निमीलन-रूप अयुक्त (=स्वस्वभावविरुद्ध) कार्य (=फल) के हेतु के रूप में वर्णित किया गया है; अतः यहाँ **अयुक्तकार्य** चित्रहेतु है । उत्तरवर्ती अलंकारशास्त्रियों के अनुसार यहाँ विषम अलंकार का वह प्रकार है जिसमें कार्य का गुण अथवा क्रिया हेतु के गुण अथवा क्रिया से विरुद्ध होती है; तु० साद० १०.६६ : **गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः ।**

पाणिपद्मानि भूपानां संकोचयितुमीशते ।
त्वत्पादनखचन्द्राणामर्चिषः कुन्दनिर्मलाः ॥२५६॥

युक्तकार्यं चित्रहेतुमुदाहरति—**पाणिपद्मानीति** । हे राजन्, त्वत्पादयोः तव चरणयोः नखाः ते एव चन्द्राः तेषां कुन्दनिर्मलाः कुन्दकुसुमधवलाः अर्चिषः किरणाः भूपानां सामन्तनृपतीनां पाणिपद्मानि करकमलानि संकोचयितुं मुकुलयितुम् ईशते प्रभवन्ति । चन्द्ररश्मयः कमलानि निमीलयन्तीति इह तेषां तन्निमीलनरूपं कार्यं युक्तम् । अतश्चात्र युक्तकार्यश्चित्रहेतुः । सामन्तास्त्वच्चरणप्रणामार्थम् अञ्जलिं मुकुलयन्तीति कस्यचिद्राज्ञः स्तुतिः ।

(हे राजन्,) तुम्हारे चरणों के नख-रूपी चन्द्रमा की, कुन्द के फूलों के समान शुभ्र, किरणें (सामन्त) राजाओं के कर-कमलों को बन्द करने में सर्वथा समर्थ हैं ।

चन्द्रमा की किरणें कमलों को बन्द करती हैं; अतः यहाँ उनका कमल-संकोचन रूप कार्य युक्त (=स्वस्वभावानुकूल) है । इसलिए यहाँ **युक्तकार्य** हेतु है । वर्णन में लाक्षणिक व्यापार (=गौणवृत्ति) का आश्रय लिए जाने से यहाँ इसकी चित्रहेतु के रूप में स्थापना की गई है । उत्तरकाल के अलंकारशास्त्री यहाँ सम अलंकार का एक प्रकार मानते हैं; तु० **कुवलया० ९२ : सारूप्यमपि कार्यस्य कारणेन समं विदुः ।** भोज (**सरस्व० ४, उदा० २५**) ने प्रस्तुत पद्य को समस्तरूपक के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है ।

इति हेतुविकल्पस्य[1] दर्शिता गतिरीदृशी ।
इङ्गिताकारलक्ष्योऽर्थः सौक्ष्म्यात्सूक्ष्म इति स्मृतः ॥२६०॥

हेतुमुपसंहरन् सूक्ष्मं च चतुर्दशमलंकारं प्रस्तुवन्नाह—**इतीति** । इति

---

१. -विकल्पानां ।

ईदृशी एवंप्रकारा हेतुविकल्पस्य हेत्वलंकारप्रभेदस्य गतिः पद्धतिः दर्शिता निदर्शिता। एवमन्येऽपि हेतुभेदा ऊहया इत्यर्थः। अथ सूक्ष्ममालक्षयति—इङ्गितम् अभिप्रायविशेषसूचकः चेष्टाविष्कारः, आकारः दशाविशेषव्यञ्जकः वदनविकारः, ताभ्यां लक्ष्यः गम्यः सामान्यतो दुर्ज्ञेयः अर्थः विषयः (तस्य वर्णनमिति भावः) सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मत्वाद् शब्दप्रयोगातिवर्तिनोऽर्थस्य सूक्ष्मेङ्गिताकारमात्रलक्ष्यत्वात् सूक्ष्ममतिवेद्यत्वाद्वा सूक्ष्मः इति स्मृतः कथितः।

इस प्रकार उक्त विधि से हेतु अलंकार के विकल्पों का दिग्दर्शन कराया गया। संकेतविशेष और आकृतिविकार से लक्षित होने वाले (निगूढ) अभिप्राय (के वर्णन) को (वस्तुवर्णन की) सूक्ष्मता के कारण सूक्ष्म अलंकार कहते हैं।

दण्डी द्वारा लक्षित हेतु अलंकार, जैसा हम देख चुके हैं, उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा विभिन्न अलंकारों अथवा अलंकारभेदों के रूप में गृहीत हुआ। दूसरी ओर, हेतु की एक नई, और दण्डी की हेतु-संकल्पना से सर्वथा भिन्न, संकल्पना का उदय हुआ जिसके अनुसार हेतु और हेतुमान् (=कार्य) का ऐक्य उक्त अलंकार का विषय बना; तु० **साद० १०.६३ : अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह।**

सूक्ष्म अलंकार, भामह द्वारा निराकृत होने के बावजूद, उत्तरवर्ती लक्षणग्रन्थों में अपने मूल स्वरूप के साथ कायम रहा; तु० **साद० १०. ९१ : संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन वा। कयापि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते।** कुछ आचार्यों (तु० **चन्द्रा० ५.१५४-५;** कुवलया० १५१-२) ने इसके विषयक्षेत्र को सूक्ष्म और पिहित इन दो अलंकारों में विभाजित कर दिया।

कदा नौ संगमो भावीत्याकीर्णे वक्तुमक्षमम्।
अवेत्य[1] कान्तमबला लीलापद्मं न्यमीलयत् ॥२६१॥

इङ्गितलक्ष्यार्थवर्णनरूपं सूक्ष्मं निदर्शयति—**कदेति**। कदा नौ आवयोः संगमः योगः भावी भविष्यति इति तद्वेलाविशेषम् आकीर्णे जनाकुले स्थाने वक्तुं शब्दप्रयोगेण प्रष्टुम् अक्षमम् असमर्थं कान्तं प्रियम् अवेत्य ज्ञात्वा लक्षयित्वा वा अबला स्त्री, नायिकेत्यर्थः, लीलापद्मं करधृतं विभ्रमकमलं न्यमीलयत् समकोचयत्। लीलाकमलसंकोचनरूपेणेङ्गितेन सा रात्रिं संगमकालम् असूचयत्।

अपने प्रिय को जनाकीर्ण स्थान में 'अब हम दोनों का मिलन कब होगा?' यह पूछने में असमर्थ जानकर नायिका ने (अपने हाथ में पकड़े) लीलाकमल को मुकुलित कर दिया।

---

१. अवेक्ष्य।

पद्मसंमीलनादत्र[1] सूचितो निशि संगमः ।
आश्वासयितुमिच्छन्त्या प्रियमङ्गजपीडितम् ॥२६२॥

उक्तमुदाहरणं विवृणोति—**पद्मेति**। अत्र अङ्गजेन कामदेवेन पीडितं संतप्तं प्रियम् आश्वासयितुं मिलनाशोत्पादनेन व्यवस्थापयितुम् इच्छन्त्या नायिकया पद्मसंमीलनात् कमलनिमीलनरूपेङ्गितकरणाद् निशि पद्मसंकोचवेलायां रात्रौ संगमः योगः सूचितः प्रकाशितः, रात्रौ तावदावयोः संगमो भावीति सूक्ष्मतया संसूचितः। अतश्चात्रेङ्गितलक्ष्यार्थवर्णनरूपः सूक्ष्मोऽलंकारः।

इस उदाहरण में अपने कामपीडित प्रियतम को (मिलन की आशा से) आश्वस्त करने की इच्छा से नायिका ने कमल को मुकुलित करके रात्रिवेला में (प्रिय से अपने) संगम को सूचित किया है।

रात्रि कमलों के मुकुलित होने का समय है, अतः कमलसंकोचन रूप इङ्गितकर्म रात्रि का सूचक है। इङ्गित द्वारा अभिप्रेत वस्तु का वर्णन होने से यहाँ **इङ्गितगत सूक्ष्म** अलंकार है (तु० सरस्व० ३, उदा० १४३)। अप्पय दीक्षित (कुवलया० १५१), विश्वनाथ (साद० १०.९१) आदि द्वारा प्रदत्त इस अलंकार का निम्नलिखित उदाहरण दण्डी के उक्त उदाहरण से तुलनीय है : **संकेत-कालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया। आसीन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम्॥** हेमचन्द्र (काअनु०, पृ० ४८) ने दण्डी के उदाहरण को इङ्गित द्वारा अर्थ-नियमन के निदर्शन के रूप में उद्धृत किया है।

मदर्पित[2]दृशस्तस्या गीतगोष्ठ्यामवर्धत ।
उद्दामरागतरला छाया कापि[3] मुखाम्बुजे ॥२६३॥

आकारलक्ष्यार्थवर्णनरूपं सूक्ष्ममुदाहरति—**मदर्पितेति**। गीतगोष्ठ्यां गीतपरिषदि मदर्पितदृशः मयि अर्पिता निहिता दृग् दृष्टिः यया सा तादृश्याः तस्याः मुखाम्बुजे वदनकमले, उद्दामेन अतिप्रवृद्धेन रागेण रक्तिम्ना (अनुरागेण वा) तरला उज्ज्वला कापि अनिर्वचनीयप्रकारा छाया कान्तिः अवर्धत व्यजृम्भत समुदैद् वा।

गीतगोष्ठी में मुझे एकटक निहार रही उस (प्रेयसी) के वदन-कमल पर अतिमात्र लाली (अथवा अनुराग) से उज्ज्वल एक अनिर्वचनीय आभा उमड़ गई।

---

१. पद्मस्य मीलनादत्र। २. त्वदर्पित-। ३. काचित्-।

इत्यनुद्भिन्न[1]रूपत्वाद् रत्युत्सवमनोरथः ।
अनुल्लङ्घ्यैव सूक्ष्मत्वमभूदत्र व्यवस्थितः ।।२६४।।

उक्तमुदाहरणं विशदयति—इतीति । इति एवम् अत्र पद्ये रत्युत्सवस्य रतरूपोत्सवस्य मनोरथः अभिलाषः अनुद्भिन्नरूपत्वात् स्फुटतयाऽव्यक्तत्वाद्, वदनविकारेणैव प्रतीयमानत्वादित्यर्थः, सूक्ष्मत्वम् अनुल्लङ्घ्य अनतिक्रम्य एव व्यवस्थितः वर्णितः । अतश्चेह आकारलक्ष्यार्थवर्णनात्मकः सूक्ष्मालंकारः ।

इस प्रकार प्रस्तुत उदाहरण में (प्रिया की) सुरतोत्सव की अभिलाषा का (शब्दप्रयोग द्वारा) स्फुट कथन न करके (वदनविकार के उल्लेख द्वारा) सूक्ष्मता से साथ वर्णन किया गया है ।

नायिका के वदन पर उद्दाम और उज्ज्वल लालिमा का छा जाना उसकी सुरतेच्छा का सूचक है। यहाँ आकारविशेष (=वदनविकार) के वर्णन द्वारा अभीष्ट वस्तु की अभिव्यक्ति होने से **आकारगत सूक्ष्म** अलंकार है (तु० सरस्व० ३, उदा० ५०) ।

लेशो लेशेन निर्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ।
उदाहरण[2] एवास्य रूपमाविर्भविष्यति ।।२६५।।

अथ पञ्चदशमलंकारं लेशं प्रस्तुवन्नाह—लेश इति । लेशेन केनचिद् व्याजेन, स्वल्पमात्रतया वा, निर्भिन्नस्य कुतश्चित् प्रकटीभूतस्य वस्तुरूपस्य (गोप्यस्य) वस्तुस्वरूपस्य निगूहनं गोपनं लेशः तदाख्योऽलंकारो लवापरपर्यायः । तथा च कारणविशेषोत्पन्नस्य प्रकटीभूतस्य गोप्यवस्तुनः कारणान्तरोत्पन्नत्वकथनेन तन्निगूहनं लेशः । उदाहरणे लक्ष्ये एव अस्य अलंकारस्य रूपं स्वरूपम् आविर्भविष्यति स्फुटीभविष्यति । नव्या इममलंकारं व्याजोक्तिमाहुः ।

किसी प्रकार प्रकट हो गई (गोप्य) बात को किसी बहाने (=लेश) से छिपाना लेश अलंकार का विषय है । उदाहरण द्वारा ही इसका स्वरूप (अत्यधिक) स्पष्ट होगा ।

लक्षण द्वारा पूर्णतः स्फुट न होने वाली बात को दण्डी लक्ष्य (=उदाहरण) द्वारा स्पष्ट करता है; उसकी यह प्रवृत्ति अन्यत्र भी द्रष्टव्य है (तु० २.३१५; ३.१७१) । उत्तरवर्ती आचार्यों ने लेश अलंकार को व्याजोक्ति के रूप में ग्रहण किया है; द्र० साद० १०.९२ : **व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः** । अपने अलंकारसमुद्देश में दण्डी ने लेश को लव (२.५) कहा है जिससे लेश का अभिप्राय 'किंचिन्मात्र' (=लव) भी लिया जा सकता है ।

---

१. इत्यसंभिन्न- । २. -वाक्येऽस्य, उदाहरणम् ।

राजकन्यानुरक्तं मां रोमोद्भेदेन रक्षकाः ।
अव[1]गच्छेयुरा ज्ञातमहो शीतानिलं वनम्[2] ॥२६६॥

लेशमुदाहरति—**राजकन्येति** । रक्षकाः राजान्तःपुररक्षिजनाः रोमोद्भेदेन मयि रोमाञ्चदर्शनेन ज्ञापकहेतुना मां राजकन्यानुरक्तं राजपुत्र्याम् अनुरागवन्तम् अवगच्छेयुः जानीयुः । आः स्मृतम् (स्मृतिप्रतिलम्भसूचकमव्ययम्), ज्ञातं दृष्टं, निगूहनप्रकारः कल्पितो मयेति भावः । किं तज्ज्ञातमित्याह—अहो, वनं प्रमदवनम् इदं शीतानिलं शीतलपवनयुतम्, शीतानिलसंपर्को मया रोमोद्भेदहेतुत्वेनोपन्यस्तव्य इति भावः । अत्र रोमोद्गमेन प्रकटीभूतस्य गोप्यस्य वस्तुरूपस्य राजकन्यानुरागस्य शीतानिललेशद्वारा अनिष्टवारणार्थं चतुरं गोपनं वर्णितमिति लेशोऽलंकारः ।

(अन्तःपुर के) रक्षकजन (मेरे शरीर पर) रोमाञ्च का उदय देखकर राजकन्या के प्रति मेरे (अनुचित) अनुरागभाव को भाँप जाएंगे । अच्छा, समझा ! (मैं कहूंगा—) 'इस (प्रमद-)वन में बड़ी ठंडी हवा चल रही है !'

यहाँ रोमाञ्च के उदय से प्रकट हो गई राजपुत्री से अनुरागरूप यथार्थ वस्तु को 'शीतल पवन इस रोमोद्गम का कारण है' इस लेशोपन्यास द्वारा चतुरतापूर्वक छिपाया गया है; अतः यहाँ लेश अलंकार है । भोज (**सरस्व० ४, उदा० ८२**) ने इस पद्य को अनौपम्या अपह्नुति के एक भेद के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है । हेतु, सूक्ष्म और लेश का अलंकारत्व न मानने वाले कुन्तक (३, पृ० २२१) ने दण्डी के प्रस्तुत उदाहरण को उद्धृत करके यहाँ स्वभाव मात्र को ही, जो 'अलंकार्य' है, रमणीय माना है ।

आनन्दाश्रु प्रवृत्तं मे कथं दृष्ट्वैव कन्यकाम् ।
अक्षि मे पुष्परजसा वातोद्धूतेन दूषितम् ॥२६७॥

अनिष्टवारणार्थं लेशोपन्यासमुदाहृत्य लज्जावारणार्थं लेशं निदर्शयति—**आनन्देति** । कन्यकां (विवाहमण्डपमुपागतां) बालां दृष्ट्वा एव तद्दर्शनसमनन्तरमेव मे मम आनन्दाश्रु हर्षाश्रुजलं कथं प्रवृत्तम् ? अनवसरेयं हर्षाश्रुप्रवृत्तिः लज्जाकारणमिति तन्निगूहनार्थं लेशमुपन्यस्यन्नाह—मे मम अक्षि नयनयुगम् वातोद्धूतेन पवनोत्क्षिप्तेन पुष्परजसा कुसुमरेणुना दूषितम् उपद्रुतं, तेन चाश्रु मे प्रवृत्तमिति भावः ।

'(विवाहमण्डप में आई) कन्या को देखकर ही मेरी आँखों में हर्ष के आंसू क्यों उमड़ आए ?' (—इस प्रकार अपनी अनवसर अश्रुप्रवृत्ति पर

---

१. प्राव- । २. -भिलम्बवनम् ।

लज्जित होकर वर उपस्थित बन्धुजनों को कहता है :) "मेरी आँखें पवन द्वारा उड़ाई गई पुष्पधूलि से अश्रुदूषित हो गई हैं!"

आँख में धूलिकण पड़ने से भी अश्रुप्रवृत्ति होती है। यहाँ कन्यादर्शन से प्रवृत्त आँसुओं से प्रकटीभूत हर्षानुभूति का 'पुष्पधूलि इस अश्रुप्रवृत्ति का कारण है' इस लेशोपन्यास द्वारा चतुरतापूर्वक गोपन किया गया है; अतः यहाँ लेश अलंकार है। भोज (सरस्व० ४, उदा० ८३) ने इस पद्य को भी अपह्नुति के भेदविशेष के निदर्शन के रूप में उद्धृत किया है।

इत्येवमादि[1]स्थानेऽयमलंकारोऽतिशोभते ।
लेशमेके विदुर्निन्दां स्तुतिं वा लेशतः कृताम् ॥२६८॥

उक्तरूपं लेशमुपसंहरन् प्रकारान्तरं च तस्य दर्शयन्नाह—**इत्येवमिति**। इति एवमादिस्थाने ईदृशेषु उदाहरणेषु अयम् अलंकारः लेशाख्यः अतिशोभते अतिमात्रं समुल्लसति, चमत्कारजननेनेत्यर्थः। अथ तद्व्याख्यान्तरोद्भूतं प्रकारान्तरं प्रस्तौति—एके केचिद् आचार्याः लेशतः व्याजेन च्छलेन वा कृतां विहितां निन्दां स्तुतिं वा लेशं तदाख्यमलंकारं विदुः। अर्वाचीनानां तु मतेनात्र व्याजस्तुत्यलंकारः।

इस प्रकार ऐसे उदाहरणों में यह (लेश) अलंकार अत्यधिक शोभा पाता है (अथवा उसका कारण बनता है)। कुछ आचार्य व्याजपूर्वक की गई निन्दा अथवा स्तुति को लेश अलंकार मानते हैं।

उत्तरवर्ती आचार्यों में भोज (**सरस्व**० ४.५८), अप्पय दीक्षित (**कुवलया**० १३८) आदि ने दोष और गुण की क्रमशः गुण और दोष के रूप में प्रकल्पना को लेश कहा है (तु० दण्डी २.२७२ भी)। दूसरी ओर, दण्डी द्वारा उल्लिखित लेश का प्रस्तुत प्रकार उत्तरकालीन व्याजस्तुति से तुलनीय है; द्र० **साद**० १०.५९-६० : **···उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः॥ निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः**। स्वयं दण्डी ने भी व्याजस्तुति का वर्णन किया है (तु० २.३४३-७), परंतु उसके अनुसार वाच्यभूत निन्दा से गम्य स्तुति ही इस अलंकार का विषय है, वाच्यभूत स्तुति से गम्य निन्दा नहीं।

युवैष[2] गुणवान् राजा योग्यस्ते पतिरूर्जितः ।
रणोत्सवे मनः सक्तं यस्य कामोत्सवादपि ॥२६९॥

स्तुतिव्याजेन निन्दारूपं लेशमुदाहरति—**युवैष इति**। एषः अयं राजा

---

१. इत्येवमादौ। २. युवेव।

युवा प्रथमे वयसि वर्तमानः गुणवान् विनयादिगुणसंपन्नः ऊर्जितः ओजस्वी सन् ते तव योग्यः अनुरूपः पतिः भर्ता भवेद्, यस्यास्य मनः चेतः कामोत्सवाद् रत्युत्सवाद् अपि रणोत्सवे समरमहोत्सवे सक्तं निरतम्, योऽयं रतिसुखापेक्षयापि युद्धे समधिकं रमते इत्यर्थः। कमपि राजानमुद्दिश्य स्वयंवरागतां कन्यां प्रति तत्सख्या उक्तिरियम्।

यह राजा, जो युवक, गुणसंपन्न और तेजस्वी है, पति के रूप में सर्वथा तुम्हारे अनुरूप है, क्योंकि इसका मन सुरतोत्सव से भी अधिक युद्धोत्सव में लगता है।

वीर्योत्कर्षस्तुतिर्निन्दैवास्मिन् भावनिवृत्तये[1] ।
कन्यायाः कल्पते भोगान्निर्विविक्षोर्निरन्तरान्[2] ॥२७०॥

उक्तमुदाहरणं विशदयति—**वीर्योत्कर्षेति**। अस्मिन् पद्ये वीर्योत्कर्षस्तुतिः राज्ञः विक्रमप्रकर्षप्रशंसा निरन्तरान् विच्छेदरहितान् भोगान् सुरतसुखानि निर्विविक्षोः भोक्तुमिच्छोः कन्यायाः पतिंवरायाः भावस्य मनोरागस्य तद्राजवरणाभिप्रायस्य वा निवृत्तये प्रशमाय कल्पते प्रभवति इति हेतोः सेयं तद्वीर्यस्तुतिः तत्त्वतो निन्दा एव। अतश्चात्र स्तुतिव्याजेन निन्दा विहितेति लेशस्य प्रथमः प्रभेदः।

इस पद्य में राजा के प्रकृष्ट पराक्रम की प्रशंसा निरन्तर विषयसुखों का भोग करने की इच्छुक कन्या की उस राजा के प्रति अनुरागभावना, अथवा उसे वरने की अभिलाषा, की समाप्ति का कारण बनती है; अतः उसकी यह (पराक्रम-प्रशंसा वस्तुतः उसकी) निन्दा ही है।

यहाँ स्तुति के व्याज (=लेश) से निन्दा की गई है; यह प्रस्तुत लेश का प्रथम रूप है।

चपलो निर्दयश्चासौ जनः किं तेन मे सखि ।
आगःप्रमार्जनायैव चाटवो येन शिक्षिताः ॥२७१॥

निन्दालेशेन स्तुतिरूपं लेशमुदाहरति—**चपल इति**। हे सखि, असौ जनः मत्प्रियः चपलः चञ्चलस्वभावः निर्दयः निष्ठुरः च अस्ति। तेन ईदृशेन प्रियेण मे मम मदीयस्य मानस्य वा किं प्रयोजनं येन खलु आगसाम् अपराधानां प्रमार्जनाय परिशोधनाय एव चाटवः प्रियालापप्रकाराः शिक्षिताः सम्यगभ्यस्ताः। चपलोऽपि निर्दयोऽपि चासौ प्रियः चाटुचतुर इति न तत्र मे भवत्योपदिष्टो मानो निरुह्यत इत्यर्थः।

---

१. -निवर्तने। २. निरन्तरम्।

वह व्यक्ति (=प्रियतम) चञ्चल और निष्ठुर है। हे सखी, उसके प्रति मेरे (मान करने का) क्या लाभ है जिसने कि केवल अपने अपराधों के परिशोधन के लिए (=उनके लिए क्षमा माँगने के लिए) ही चाटुकारिता सीखी है?

दोषाभासो गुणः कोऽपि[1] दर्शितश्चाटुकारिता।
मानं सखीजनोद्दिष्टं कर्तुं रागादशक्तया ॥२७२॥

उक्तमुदाहरणं विवृणोति—**दोषाभास** इति। रागात् प्रियानुरागवशात् सखीजनेन उद्दिष्टम् उपदिष्टं मानं प्रणयकोपं, तन्निर्वाहमित्यर्थः, कर्तुम् अशक्तया असमर्थया नायिकया चाटुकारिता चाटूक्तिचातुर्यं नाम दोषाभासः दोषवदाभासमानः (न तु तत्त्वतो दोषः) कोऽपि नागरकजनोचितः गुणः इति दर्शितः व्यञ्जितः। अतश्च निन्दाव्याजेन स्तुतिरियमिति लेशस्य द्वितीयः प्रभेदः।

(प्रिय से) अनुराग के कारण सखियों द्वारा उपदिष्ट प्रणयकोप को (प्रिय के प्रति) निभाने में असमर्थ नायिका ने यहाँ चाटुकारिता को आपाततः दोष के समान लगने वाले (परंतु अन्ततः) गुण के रूप में प्रस्तुत किया है।

यहाँ निन्दा के लेश (=वहाने) से वस्तुतः स्तुति अभिप्रेत है; अतः यह लेश का दूसरा रूप है। भोज (सरस्व० ४, उदा० १२३-४) ने प्रस्तुत पद्यों (२६६,२७१) को अपने लेश के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। अप्पय दीक्षित (कुवलया० १३८ वृत्ति) ने उक्त पद्यों को उद्धृत करके लेश का व्याजस्तुति से अन्तर दिखाते हुए लिखा है : **राजप्रकोपादिपरिहारार्थमिह निन्दास्तुत्योरन्याविदिततया लेशत एवोद्घाटनेन ततो [=व्याजस्तुतेः] विशेषादिति। वस्तुतस्त्विह व्याजस्तुतिसद्भावेऽपि न दोषः। न ह्येतावता लेशमात्रस्य व्याजस्तुत्यन्तर्भावः प्रसज्जते...। नापि व्याजस्तुतिमात्रस्य लेशान्तर्भावः प्रसज्जते।**

उद्दिष्टानां[2] पदार्थानामनूद्देशो[3] यथाक्रमम्।
यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं[4] क्रम इत्यपि ॥२७३॥

क्रमप्राप्तं षोडशमलंकारं यथासंख्यमाह—**उद्दिष्टानामिति**। उद्दिष्टानां पूर्वं कथितानां पदार्थानां वस्तूनां यथाक्रमं तेनैव क्रमेण अनूद्देशः अनुकथनं यथासंख्यम् इति प्रोक्तम्। संख्यानं क्रमः इत्यपि तदभिधाने स्तः। कैश्चित्तत् संख्यानपदेन क्रमपदेन वाप्यभिधीयत इत्यर्थः।

पूर्व कथित अथवा वर्णित पदार्थों का पुनः (आवश्यकता पड़ने पर) उसी क्रम से कथन करना यथासंख्य अलंकार है; इसे संख्यान और क्रम भी

---

१. गुणायैव। २. निर्दिष्टानां। ३. अनुदेशो। ४. संख्यातं।

कहा जाता है।

स्वयं दण्डी ने अलंकारसमुद्देश में इसे क्रम (२.५) कहा है। इसका 'संख्यान' यह नाम मेधावी को अभिप्रेत था (तु० भामह २.८८)। इस अलंकार की संकल्पना प्रायः अन्त तक इसी रूप में रही (तु० साद० १०.७६ : **यथासंख्य-मनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्**); हाँ, वामन (४.३.१७) ने इसमें औपम्य-तत्त्व का संनिवेश करने का प्रयत्न अवश्य किया; उसके अनुसार, उपमेयों और उपमानों का क्रमसंबन्ध इस अलंकार का विषय है। दण्डी का उदाहरण (२.२७४), जहाँ संयोगवश ऐसा क्रमसंबन्ध मिलता है, संभवतः उसकी प्रेरणा का कारण बना हो; स्वयं उसका यह उदाहरण भी दण्डी के वक्ष्यमाण उदाहरण से तुलनीय है : **तस्याः प्रबन्धलीलाभिरालापस्मितदृष्टिभिः। जीयन्ते वल्लकीकुन्दकुसुमेन्दीवरस्रजः।**

ध्रुवं ते चोरिता तन्वि स्मितेक्षणमुखद्युतिः।
स्नातुमम्भःप्रविष्टायाः कुमुदोत्पलपङ्कजैः ॥२७४॥

यथासंख्यमुदाहरति—**ध्रुवमिति**। हे तन्वि सुतनु, स्नातुम् अम्भःप्रविष्टायाः सरोवरजलावतीर्णायाः ते तव स्मितस्य, ईक्षणस्य दृशः, मुखस्य च द्युतिः छविः कुमुदैः, उत्पलैः इन्दीवरैः, पङ्कजैः च ध्रुवं निश्चयेन चोरिता अंशेन अपहृता, अन्यथा कुतस्तेषां त्वदीयस्मितादीनामिव चारुत्वमिति भावः। अत्र स्मितद्युतिः श्वेतैः कुमुदैः, ईक्षणद्युतिर्नीलैरुत्पलैः, मुखद्युतिश्चारक्तैः पङ्कजैर्मुषितेति क्रमेणान्वयाद् यथासंख्यमलंकारः।

हे तन्वङ्गी, (श्वेत) कुमुदों, नीलोत्पलों और (आरक्त) कमलों ने, निश्चय से, स्नान करने के लिए (सरोवर के) जल में प्रविष्ट तुम्हारी मुस्कराहट की, तुम्हारी आँखों की और तुम्हारे वदन की छवि चुराई है। (अन्यथा उनमें यह चारुता कैसे संभव है?)

रत्नश्री के अनुसार, **ध्रुवम्** यहाँ उत्प्रेक्षावाचक शब्द है, और यथासंख्य यहाँ उत्प्रेक्षा (एवं उपमा) के साथ आया है। मुख्यतया विवक्षित होने से यहाँ यथासंख्य की प्रधानता है। **अलंकारशेखर**, पृ० ४८, में यह उदाहरण (भिन्न संदर्भ में) उद्धृत है।

प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद्रसपेशलम्।
ऊर्जस्वि रूढाहंकारं युक्तोत्कर्षं च तत्त्रयम् ॥२७५॥

प्रेयोरसवदूर्जस्वीति अलंकारत्रयं युगपद् लक्षयति—**प्रेय** इति। प्रियतरस्य प्रेयसः कस्यचिद् अर्थस्य आख्यानं तस्य वा प्रियतरं प्रीत्यतिशयजनकम् आख्यानं

प्रेयः तन्नामालंकारः। रसैः श्रृङ्गारादिभिः पेशलं रमणीयम् आख्यानं वर्णनं वा रसवदलंकारः। रूढाहंकारम् अभिव्यक्तगर्वभावं च आख्यानम् ऊर्जस्वि तदभिधोऽलंकारः। तद् उक्तं त्रयम् अलंकारत्रितयम् अपि युक्तोत्कर्षं युक्तः संगतः उत्कर्षः वर्णनप्रकर्षः येन तादृशं स्यात्। एतेनात्यन्तप्रियमेकान्तरसवद् भृशमूर्जस्वि च क्रमेण प्रेयो रसवद् ऊर्जस्वि च स्युरिति भावः।

किसी प्रियतर वस्तु का वर्णन (अथवा किसी वस्तु का अत्यन्त प्रीतिकर वर्णन) प्रेयः अलंकार है, (शृङ्गार आदि) रसों से रमणीय वर्णन रसवत् है तथा गर्व की अभिव्यक्ति से पूर्ण उक्ति ऊर्जस्वी अलंकार है। ये तीनों अलंकार वर्णनप्रकर्ष से युक्त होने चाहिएं।

वर्ण्यवस्तु अथवा वर्णन की प्रीतिकरता प्रेयः अलंकार का विषय है; यहाँ प्रीति, जो एक प्रकार से प्रेयः का 'स्थायिभाव' है, देवता अथवा गुरुजन आदि के प्रति प्रेमभाव है (तु० तरुणवाचस्पति)। इस रूप में दण्डी ने इसे रति, श्रृङ्गारपर्यवसायी भाव, से पृथक् रखा है (तु० २.२८१)। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसे स्थायी अथवा संचारी भावों का गौण रूप माना है (तु० साद० १०.६५-६)। आठ रसों (द्र० आगे) के आधार पर दण्डी ने रसवत् के आठ भेदों का वर्णन किया है। इसके संदर्भ में उसने विभाव, अनुभाव, संचारिभाव और स्थायिभाव का उल्लेख न करते हुए भी 'रूपबाहुल्ययोग' (२.२८१) से रसपरिपाक का वर्णन करके उनका परोक्ष संकेत किया है। दण्डी ने परंपराप्राप्त (नाट्य-)रसों को अपनी अलंकारयोजना में अलंकारवादी दृष्टिकोण के अनुरूप स्थान दिया है; तु० भामह (३.६) भी। उत्तरकालीन रसवादी आचार्यों ने यह कहकर स्थिति से समझौता किया है कि जहाँ वाक्यार्थ के प्रधान होने पर रस आदि अङ्गमात्र के रूप में आएँ वहाँ वे अलंकार बनकर आते हैं, एवं जहाँ वे प्रधान रूप से स्थित होते हैं वहाँ वे अलंकार्य होते हैं; तु० ध्वन्या० २.५ : **प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः। काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः॥** (तु० **काप्र० ४.२६, वृत्ति**)। जिस प्रकार गौण रूप में आने वाला भाव उत्तरकाल में प्रेयः बना और रस रसवत् बना, उसी प्रकार गुणीभूत रसाभास और भावाभास ऊर्जस्वी अलंकार बने; द्र० **काप्र० ४.२६; साद० १०.६५-६**। कुन्तक (३.११-२ **वृत्ति**) ने रसवत् आदि तीनों अलंकारों का खण्डन किया है। इस संदर्भ में उसने दण्डी की प्रस्तुत कारिका के पूर्वार्ध को अलग-अलग उद्धृत करके उसका खण्डन किया है। उसके अनुसार, ये तीनों 'अलंकार' न होकर 'अलंकार्य' हैं। आगे चलकर उसने रसवत् की अपनी नई व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है : **रसेन वर्तते तुल्यं रसवत्त्वविधानतः। योऽलंकारः स रसवत्तद्विदाह्लादनिर्मितेः॥** (पृ० १७५)

भोज (**सरस्व० ५.१७२ वृत्ति**) ने दण्डी की प्रस्तुत कारिका को उद्धृत करके **युक्तोत्कर्षं तु तत्त्रयम्** पर टिप्पणी देते हुए कहा है कि जब प्रेयः आदि युक्तोत्कर्ष होते हैं तब वे अलंकार होते हैं, परंतु जब वे युक्तोत्कर्ष नहीं होते तब वे गुण (क्रमशः प्रेयः, भाविक और और्जित्य) बन जाते हैं। रङ्गाचार्यशास्त्री ने इस कारिकांश की व्याख्या इस प्रकार की है : **युक्तः अलंकारव्यपदेशोपयुक्तः उत्कर्षः वाच्यशोभा यस्मात् तत्। तत्त्रयं तेषां प्रेयःप्रभृतीनां त्रयमलंकार-व्यपदेशार्हं भवतीत्यर्थः। सादृश्यादयो वाच्यार्थशोभाजनकत्वाद्यथा उपमा-लंकारादयो भवन्ति तथा भावादयोऽपि तेनैव कारणेन अलंकारव्यवहार्या भवितुं युक्ता इत्यर्थः।**

अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ।
कालेनैषा[1] भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः ॥२७६॥

उक्तेषु त्रिष्वलंकारेषु प्रथमम्, आदितः सप्तदशम्, अलंकारं प्रेय उदा-हरति—**अद्येति**। हे गोविन्द कृष्ण, अद्य त्वयि गृहागते मदीयं गेहं प्राप्ते या मम प्रीतिः आनन्दानुभूतिः जाता, एषा सा कालेन समयान्तरेण तव एव पुनः अत्र आगमनाद् भवेत् संभवेत्, नान्यस्य कस्यचिदत्रागमनेन सा प्रीतिः स्यादित्यर्थः। गृहागतं कृष्णं प्रति विदुरस्योक्तिरियम्।

हे गोविन्द, आज तुम्हारे मेरे घर पधारने पर मुझे जो आनन्दानुभूति हुई है वह कालान्तर में तुम्हारे ही पुनः यहाँ आने से संभव होगी।

भोज (**सरस्व० ५.१३८**) ने प्रीति की निम्नांकित परिभाषा की है : **मनोनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनं रतिः। असंप्रयोगविषया सैव प्रीतिर्निगद्यते।।** (तु० दण्डी २.२८० पर तरुणवाचस्पति भी। प्रेयः के प्रस्तुत (**अद्य या** इत्यादि) उदा-हरण को भामह (३.५) ने भी इसी अलंकार के निदर्शन के रूप में उद्धृत किया है। यह उदाहरण **महाभारत** (उद्योगपर्व, ८९.२४) के इस पद्य का रूपान्तर है : **या मे प्रीतिः पुष्कराक्ष त्वद्दर्शनसमुद्भवा। सा किमाख्यायते तुभ्यमन्तरात्मासि देहिनाम्।।**

इत्याह युक्तं[2] विदुरो नान्यतस्तादृशी धृतिः ।
भक्तिमात्रसमाराध्यः सुप्रीतश्च ततो हरिः ॥२७७॥

उक्तमुदाहरणं व्याचष्टे—**इत्याहेति**। इति उक्तरूपं वचनं विदुरः युक्तं प्राप्तकालम् आह, यतः अन्यतः गोविन्दागमनाद् ऋतेऽन्यतः कुतश्चिदपि तादृशी धृतिः प्रीतिः न स्यात्। ततः च विदुरोक्तं भक्तिपूर्णं वचो निशम्य भक्तिमात्रेण

---

१. नैषा काले। २. वाक्यं।

समाराध्यः हरिः विष्णुः सुप्रीतः सुतरां प्रीतः प्रसन्नः अभूत्। एवमत्र हरिप्रीत्यतिशयजनकमाख्यानं प्रेयोलंकारविषयः।

इस प्रकार विदुर ने (कृष्ण के स्वागत में) समुचित वचन कहे, (क्योंकि कृष्ण से भिन्न) किसी अन्य से उसे ऐसी प्रीति नहीं मिल सकती थी; और तब भक्तिमात्र से समाराध्य विष्णु (=कृष्ण) भलीभाँति प्रसन्न हो गए।

यहाँ हरि के प्रति अत्यन्त प्रीतिकर वचन का आख्यान प्रेयः अलंकार का विषय है। कुन्तक (३.११ वृत्ति) ने दण्डी के आलोच्य उदाहरण को उद्धृत करके यहाँ प्रेयः के अलंकारत्व का खण्डन किया है। उसके अनुसार, कालेन आदि से जो बात कही गई है वह वर्ण्यमान होने से वस्तु का स्वभाव (अर्थात् अलंकार्य) है।

सोमः सूर्यो मरुद् भूमिर्व्योम होतानलो जलम्।
इति मूर्तीरति[1]क्रम्य त्वां द्रष्टुं देव के वयम् ॥२७८॥

पूर्वं बोद्धुः प्रीतिमुदाहृत्य संप्रति वक्तुः प्रीतिं निदर्शयन्नाह—**सोम** इति। सोमः चन्द्रमाः, सूर्यः, मरुद् वायुः, भूमिः पृथिवी, व्योम आकाशं, होता यजमानः, अनलः अग्निः, जलम् इति अष्टौ मूर्तीः रूपाणि अतिक्रम्य विलङ्घ्य, त्यक्त्वेत्यर्थः, (ताः निजमूर्तीः अतीत्य वा स्थितं) त्वां, हे देव महेश्वर, द्रष्टुं साक्षात्कर्तुं वयं के? न वयं योग्याः, तदपि च ते साक्षात्कारो जात इति प्रीत्यतिशयकारणम्।

चन्द्रमा, सूर्य, वायु, पृथिवी, आकाश, होता, अग्नि और जल—तुम्हारी इन (आठ) मूर्तियों का अतिक्रमण करके, हे महादेव, तुम्हारा दर्शन करने में हम कैसे समर्थ हो सकते हैं? (अतः तुम्हारा यह साक्षात्कार तुम्हारे अनुग्रह-विशेष का फल है।)

अतिक्रम्य के बाद **स्थितम्** का अध्याहार करने पर इसका अर्थ होगा: 'अपनी इन आठ मूर्तियों का अतिक्रमण करके सूक्ष्म रूप में वर्तमान तुम्हारा…।' शिव की आठ मूर्तियों के लिए, तु० **अभिज्ञानशाकुन्तल** १.१; **हर्षचरित**, पृ २०; आदि।

इति साक्षात्कृते देवे राज्ञो यद्[2] राजवर्मणः[3]।
प्रीतिप्रकाशनं तच्च प्रेय इत्यवगम्यताम्[4] ॥२७९॥

उक्तमुदाहरणं विश्लेषयति—इतीति। इति अत्रोदाहरणे देवे देवदेवे

---

१. रूपाण्यति-। २. राज्ञोऽभूद्। ३. रात-। ४. इत्यनु-।

शिवे साक्षात्कृते प्रत्यक्षं दृष्टे सति राजवर्मणः तदाख्यस्य राज्ञः यत् प्रीति-प्रकाशनं देवविषयायाः प्रीतेरभिव्यक्तिः, प्रियतरमाख्यानं, तद् चापि प्रेयः इति अवगम्यतां ज्ञायताम् ।

इस उक्त उदाहरण में महादेव शिव का साक्षात्कार प्राप्त होने पर महाराज राजवर्मा द्वारा जो (तद्देवविषयक) प्रीति का (प्रियतर) आख्यान किया गया है, उसे भी प्रेयः अलंकार समझना चाहिए ।

यहाँ उल्लिखित राजवर्मा की पहचान पल्लवनरेश नरसिंहवर्मा द्वितीय (लगभग ६८० या ६९५ से ७२२ ई० तक) से, जिसका एक विरुद **राजसिंह** था, की जाती है । रत्नश्रीज्ञान ने यहाँ **रातवर्मणः** पाठ माना है, और रातवर्मा को रघुवंशी नृपविशेष कहा है ।

मृतेति[1] प्रेत्य संगन्तुं यया मे मरणं मतम्[2] ।
सैवावन्ती[3] मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि ॥२८०॥

अथाष्टादशं रसवदलंकारं निदिदर्शयिषुस्तत्र रसेषु प्रथमं शृङ्गारमुदा-हरति—**मृतेति** । मृता पञ्चत्वं गता इति निश्चित्य, प्रेत्य परलोकम् उपेत्य (स्वयमपि मृत्वेति भावः) यया प्रेयस्या वासवदत्तया संगन्तुं मिलितुं मे मम मरणं मतम् इष्टं, सा एव आवन्ती अवन्तिराजपुत्री वासवदत्ता कथम् अत्र अस्मिन् एव जन्मनि मया (उदयनेन) लब्धा प्राप्ता इति हर्षकरमाश्चर्यमिदमिति भावः ।

'(वह प्रिया) मर चुकी है'—ऐसा सोचकर स्वयं भी परलोक जाकर जिस (अपनी प्रेयसी) से मिलने के लिए मैंने मरना चाहा था, वही अवन्तिराज-पुत्री (वासवदत्ता) मुझे इसी जन्म (अथवा लोक) में प्राप्त हो गई—यह सुख-कर आश्चर्य है ।

यह पद्य उदयन और वासवदत्ता की प्रेमकथा से संबन्धित है (तु० **रत्नश्री, हृदयंगमा,** तरुणवाचस्पति, एवं **सरस्व० ५, उदा० ६६**); संभवतः यह किसी काव्य अथवा नाटक से उद्धृत अथवा रूपान्तरित हो । भास के **स्वप्नवासवदत्त** में ६.१७ के बाद इस पद्य को आसानी से व्यवस्थापित किया जा सकता है । जीवानन्द विद्यासागर के अनुसार यहाँ **सैषा तन्वी** पाठ है; और यह मृत मदालसा को नागों की कृपा से पुनः प्रत्युज्जीवित पाकर हर्षित हुए कुवलयाश्व की उक्ति है । कुन्तक (**३.११ वृत्ति, उदा० ३६**) ने इस पद्य में अलंकारत्व का खण्डन करके इसकी अलंकार्यता प्रतिपादित की है : **अत्र रतिपरिपोषलक्षण-वर्णनीयशरीरभूतायाश्चित्तवृत्तेरतिरिक्तमन्यद् विभक्तं वस्तु न किंचिद् विभा-**

---

१. मृतेऽभि– । २. वृतम् । ३. सैषा–, सैषा तन्वी ।

व्यते। तस्मादलंकार्यतैव युक्तिमती।

प्राक्प्रीतिर्दशिता सेयं रतिः शृङ्गारतां गता।
रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः ॥२८१॥

उक्तमुदाहरणं विशदयति—**प्रागिति**। प्राक् पूर्वम् उदाहरणद्वयेन प्रीतिः असंप्रयोगविषया देवादिरतिः दर्शिता निदर्शिता, प्रेयोलंकारत्वेनेति शेषः। अथ सा इयम् अनन्तरोक्ते पद्ये प्रदर्शिता उदयननिष्ठा वासवदत्तासंप्रयोगविषया रतिः सुखसंवेदनं स्थायिभावरूपं रूपाणाम् अङ्गानां, रसाङ्गभूतानां विभावानुभावसंचारिभावानां, यद् बाहुल्यं विस्तारः तस्य योगेन संयोगेन शृङ्गारतां शृङ्गाररसत्वं गता। तथा ह्यत्र वासवदत्ता विभावः, उदयनसंबन्धिनः स्तम्भरोमाञ्चादयोऽनुभावाः, हर्षधृत्यौत्सुक्यादयश्च संचारिभावाः। तदिदं शृङ्गाररसपेशलं वचः उक्तिः रसवत् तदाख्योऽलंकारः।

पहले (उदाहरणों—अद्य या मम और सोमः सूर्यः—में) प्रीति (=असंप्रयोगविषक देवप्रीति) का निरूपण किया गया था। यहाँ प्रस्तुत पद्य में यह रतिभाव है जो रूपों (=रस के अङ्गों) के विस्तार के योग से शृङ्गार रस बनता है। (शृङ्गार रस से रमणीय) ऐसी उक्ति रसवत् अलंकार (का विषय) है।

रूपबाहुल्ययोग का अर्थ 'विभाव, अनुभाव और संचारिभाव का योग' है। इस संबन्ध में अभिनवगुप्त (**अभिनवभारती**, काव्यमाला सं०, पृ० ६२) का यह कथन अवधेय है : **तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः, स्थायी भवत्यनुपचितः। स चोभयोऽप्यनुपकार्येऽनुपकर्तर्यपि विचारानुसंधानबलादिति चिरंतनानां चायमेव पक्षः। तथा हि दण्डिनाप्यलंकारलक्षणेऽभ्यधायि—'रतिः शृङ्गारतां गता॥ रूपबाहुल्ययोगेने'ति, 'अधिरुह्य परां कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गत' इत्यादि च।** उक्त प्रकार से व्याख्यात दण्डी का यह मत भट्ट लोल्लट के रसोत्पत्तिसिद्धान्त से मेल खाता है। रत्नश्रीज्ञान ने **रूपबाहुल्ययोगेन** की व्याख्या इस प्रकार की है : **रूपस्य स्वभावस्यात्मीयस्य संकल्पविशेषलक्षणस्य बाहुल्येन उदीर्णतया अत्युपचयेन सह योगेन संबन्धेन हेतुना।** तु० रङ्गाचार्यशास्त्री भी : **रूपस्य स्वरूपस्य बाहुल्यं विभावानुभावव्यभिचारिभावादिभिः परिपोषस्तस्य योगेन संबन्धेन।**

प्रस्तुत उदाहरण में वासवदत्ताविषयक उदयननिष्ठ रति (तु० **साद० ३. १७६ : रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्**) स्थायिभाव है, जो वासवदत्तारूप आलम्बनविभाव, तत्कृतचेष्टारूप उद्दीपनविभाव, स्तम्भ, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावों के रूप में अनुभावों और हर्ष, धृति, औत्सुक्य आदि संचारिभावों से

उद्बुद्ध होकर शृङ्गार रस के रूप में आस्वाद्य होता है। यहाँ शृङ्गार का संभोग-पक्ष वर्णित है जो विप्रलम्भ से भलीभाँति परिपुष्ट है। रस और शृङ्गार रस संबन्धी विस्तार के लिए **काव्यप्रकाश** का चतुर्थ उल्लास एवं **साहित्यदर्पण** का तृतीय परिच्छेद द्रष्टव्य हैं।

निगृह्य केशेष्वाकृष्टा कृष्णा येनाग्रतो मम ।
सोऽयं दुःशासनः पापो लब्धः[1] किं जीवति क्षणम् ॥२८२॥

द्वितीयं रसं रौद्रमुदाहरति—**निगृह्येति**। येन मम भीमस्य अग्रतः, उपस्थितं मामनादृत्य, कृष्णा द्रौपदी मम प्रिया केशेषु निगृह्य अवष्टभ्य आकृष्टा आक्षिप्ता सः अयं पापः दुरात्मा दुःशासनः मया लब्धः प्राप्तः किं क्षणम् अपि जीवति जीवितुं लभते ? नैव, यतो हि अयमहमधुनैव तं हन्मीत्यर्थः।

जिसने मेरी आँखों के आगे (मेरी प्रिया) कृष्णा (=द्रौपदी) को बालों से पकड़कर घसीटा था वह यह पापी दुःशासन अब मेरे हाथ आ लगा है। क्या वह अब क्षणमात्र के लिए भी जी सकता है ?

यह महाभारत-युद्ध में दुःशासन को पाकर क्रोधोन्मत्त हुए भीम की उक्ति है। भोज (**सरस्व० ५, उदा० ६६**) ने इस पद्य को रौद्र रस के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

इत्यारुह्य[2] परां कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गतः[3] ।
भीमस्य पश्यतः शत्रुमित्येतद्रसवद्वचः ॥२८३॥

उक्तमुदाहरणमुपपादयति—**इत्यारुह्येति**। इति अत्र शत्रुं दुःशासनं पश्यतः भीमस्य क्रोधः तन्निष्ठः स्थायिभावरूपः परां कोटिम् आरुह्य विभावादिभिः प्रकर्षनिष्ठामवाप्य रौद्रात्मतां रौद्ररसस्वरूपत्वं गतः प्राप्तः। तथा ह्यत्र दुःशासन आलम्बनविभावः। तद्द्वारा कृष्णाकेशकर्षणमुद्दीपनविभावः। भीमस्य पाप इत्यधिक्षेपवचनमनुभावः, प्रतीयमानाश्च गर्वादयः संचारिभावाः। इत्येवम् एतद् रौद्ररसपेशलं वचः रसवत् तदाख्यालंकारः, तत्प्रभेद इति यावत्।

इस पद्य में अपने शत्रु को (समक्ष) देख रहे भीम का क्रोधरूप (स्थायी) भाव अपने चरम प्रकर्ष को प्राप्त करके रौद्र रस के रूप में परिणत हुआ है; इस प्रकार यह (रौद्र रस से पेशल) उक्ति रसवत् अलंकार (का प्रभेद) है।

यहाँ दुःशासनविषयक भीमनिष्ठ क्रोध (**तु० साद० ३.१७७ : प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते**) स्थायिभाव है। दुःशासन यहाँ आलम्बन-

---

१. दृष्टः। २. अधिरुह्य (तु० अभिनवभारती, पृ० ६२)। ३. रौद्रत्वमागतः।

विभाव है; उसके द्वारा कृष्णा का केशकर्षण उद्दीपनविभाव है। भीम की उसके लिए 'पापी' यह अधिक्षेपोक्ति अनुभाव है, एवं प्रतीयमान गर्व, उग्रता आदि संचारिभाव हैं।

अजित्वा सार्णवामुर्वीमनिष्ट्वा विविधैर्मखैः ।
अदत्वा चार्थमर्थिभ्यो भवेयं पार्थिवः कथम् ॥२८४॥

तृतीयं रसं वीरं निदर्शयति—**अजित्वेति**। सार्णवां ससागरां चतुःसमुद्रपर्यन्ताम् उर्वीं पृथिवीम् अजित्वा अनिर्जित्य, विविधैः मखैः अश्वमेधादिभिर्यज्ञैः अनिष्ट्वा यजनम् अकृत्वा, अर्थिभ्यः याचकेभ्यः च अर्थं धनम् अदत्वा अहं पार्थिवः पृथिवीपतिः सम्राट् कथं भवेयम्? राजकृत्यानीमानि संपाद्यैव पार्थिवत्वं स्वीकुर्यामिति कस्यापि विजिगीषोरुक्तिरियम्।

समुद्रपर्यन्त फैली पृथ्वी को जीते बिना, (अश्वमेध आदि) विविध यज्ञों से यजनकर्म किए बिना एवं याचकों को (यथेष्ट) धन दिए बिना मैं पृथ्वीपति (सम्राट्) कैसे बन सकता हूँ?

भोज (सरस्व० ५, उदा० ६७) और हेमचन्द्र (काअनु०, पृ० ६३) ने इस पद्य को वीर रस के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

इत्युत्साहः प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना ।
रसवत्त्वं गिरामासां[1] समर्थयितु[2]मीश्वरः ॥२८५॥

उक्तमुदाहरणं विवृणोति—**इत्युत्साह इति**। इति अत्र उत्साहः विजिगीषुनिष्ठश्चरणत्रयेऽभिव्यक्तः युद्धधर्मदानविषयकः स्थायिभावः प्रकृष्टात्मा विभावादिभिः प्रकर्षमुन्नीतः परिपुष्टस्वरूपः सन् वीररसात्मना वीररसत्वेन तिष्ठन् उल्लसन् आसां गिराम् अनन्तरोक्तस्य पद्यस्य रसवत्त्वं रसवदलंकारयुक्तत्वं समर्थयितुम् उपपादयितुम् ईश्वरः क्षमः। अत्र हि युद्धे विजेतव्याः शत्रवः, अथ च यज्ञा याचकाश्च आलम्बनविभावाः। सहायान्वेषणादयो गम्या अनुभावाः, हर्षधृतिसंवेगादयश्च संचारिभावाः।

इस उदाहरण में (विजिगीषुनिष्ठ स्थायी भाव) उत्साह (विभाव आदि से) परिपुष्टि प्राप्त करके वीर रस के रूप में परिणत होकर इस उक्ति (=पद्य) के रसवत् अलंकार से युक्त होने का उपपादन करने में समर्थ है।

उत्साह की परिभाषा इस प्रकार है: **कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते (साद० ३.१७८)**। यहाँ युद्ध में विजेतव्य शत्रु एवं यज्ञकर्म तथा याचक-

---

१. गिरां तासां। २. समर्प-।

गए आलम्बनविभाव हैं। सहायक राजवर्ग का अन्वेषण आदि, जो गम्य हैं, अनुभाव हैं। हर्ष, धृति, संवेग आदि संचारिभाव हैं।

यस्याः कुसुमशय्यापि कोमलाङ्ग्या रुजाकरी ।
साधिशेते कथं देवी[1] हुताशनवतीं चिताम् ॥२८६॥

चतुर्थं रसं करुणं निदर्शयति—**यस्या** इति। यस्याः कोमलाङ्ग्याः सुकुमारगात्र्याः कुसुमशय्या पुष्पमयी शय्या अपि रुजाकरी पीडाहेतुः भवति स्म सा देवी हुताशनवतीम् अनलज्वालाकरालां चितां कथं नाम अधिशेते अधिरोहेत् ? पुष्पतल्पेऽपि दूयमानशरीरा सा ज्वलदग्निचितामाशयीतेति शोकातिशयजनकमिदमित्यर्थः।

जिस सुकुमारी को फूलों की सेज भी पीड़ा देने वाली होती थी वह देवी आज आग की ज्वाला से युक्त चिता पर कैसे सोएगी ?

तु० रघुवंश ८. ५७ : **नवपल्लवसंस्तरेऽपि ते मृदु दूयेत यदङ्गमर्पितम् । तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु चिताधिरोहणम् ॥**

इति कारुण्यमुद्रिक्तमलंकारतया स्मृतम् ।
तथापरेऽपि[2] बीभत्सहास्याद्भुतभयानकाः ॥२८७॥

उक्तमुदाहरणं विवृण्वन्नपराणि च रसवद्रूपाणि निर्दिशन्नाह—**इतीति**। इति अत्रोदाहरणे कारुण्यं करुणरसस्थायिभावः शोकः उद्रिक्तं विभावादिभिः परिपुष्टं करुणरसत्वं चाप्तम् अलंकारतया रसवदलंकारत्वेन स्मृतं मतम्। अत्र हि गतप्राणा देवी आलम्बनविभावः, कुसुमशय्यादय उद्दीपनविभावः, राज्ञः करुणवचनमनुभावः, कथमित्यनेन प्रतीयमानाश्चिन्ताग्लान्यादयश्च संचारिभावाः। तथा एवमेव अपरे अपि उदाहरिष्यमाणाः बीभत्सादयश्चत्वारः रसवदलंकारत्वं यान्ति।

इस उदाहरण में (स्थायी भाव) कारुण्य (=शोक) विभाव आदि से परिपुष्ट होकर (एवं करुण रस में परिणत होकर रसवत्) अलंकार के रूप में माना गया है। इसी प्रकार बीभत्स, हास्य, अद्भुत और भयानक—ये अन्य (चार रस) भी (रसवत् अलंकार बनते हैं)।

इनके उदाहरण क्रमशः आगे दिए गए हैं। पूर्वोक्त करुण रस के उदाहरण में गतप्राण देवी आलम्बनविभाव, कुसुमशय्या आदि का स्मरण उद्दीपनविभाव, विलाप कर रहे राजा के शोकपूर्ण शब्द अनुभाव एवं देवी द्वारा चिता-

---

१. तन्वी। २. अथा-।

धिरोहण की संभावना से उदित चिन्ता, ग्लानि आदि संचारिभाव हैं, जिनसे परिपुष्ट होकर राजा का कारुण्य अथवा शोक (तु० साद० ३.१७७ : **इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक्**) करुण रस में परिणत हुआ है।

पायं पायं तवारीणां शोणितं पाणिसंपुटैः ।
कौणपाः सह नृत्यन्ति कबन्धैरन्त्रभूषणाः ॥२८८॥

पञ्चमं रसं बीभत्समुदाहरति—**पायं पाय**मिति । अन्त्रभूषणाः पुरीतदलंकृताः कौणपाः राक्षसाः तव अरीणां शत्रूणां त्वया हतानां शोणितं रक्तं पाणिसंपुटैः अञ्जलिभिः पायं पायम् अभीक्ष्णं पीत्वा कबन्धैः विशिरोभिः सक्रियैः शरीरैः सह नृत्यन्ति आनन्दनृत्तं विदधति । अत्र राक्षसा आलम्बनं तेषां च शोणितपानम् उद्दीपनम्, अनुभूयमानं निष्ठीवनादिकमनुभावः, अपस्मारग्लानिचिन्तादयः संचारिभावाः । एतैश्च परिपुष्टो जुगुप्सारूपः स्थायिभावः अत्र बीभत्सरसत्वं गतः ।

आँतों को आभूषण के रूप में धारण किए हुए ये राक्षस तुम्हारे (द्वारा युद्ध में निहत) शत्रुओं के रक्त को अपनी अञ्जलियों से पी-पीकर कबन्धों (=बिना सिर के सप्राण धड़ों) के साथ (मस्ती में) नाच रहे हैं।

यहाँ राक्षस आलम्बनविभाव हैं; उनके द्वारा रक्तपान उद्दीपनविभाव है; घृणाजन्य निष्ठीवन आदि, जो गम्य हैं, अनुभाव हैं, एवं अपस्मार, ग्लानि आदि संचारिभाव हैं। इन विभाव आदि से परिपुष्ट होकर जुगुप्सा अथवा घृणा स्थायिभाव (तु० साद० ३.१७६ : **दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विस्मयोद्भवा**) बीभत्स रस में परिणत हुआ है। भोज (सरस्व० ५, उदा० ७२) ने इस पद्य को इसी संदर्भ में उद्धृत किया है।

इदमम्लानमालाया[1] लग्नं स्तनतटे तव ।
छाद्यतामुत्तरीयेण नवं[2], नखपदं सखि ॥२८९॥

षष्ठं रसं हास्यमुदाहरति—**इदमिति** । हे सखि, अम्लानमालायाः अम्लानाः प्रत्यग्राः विवाहोत्सवावसरविनिवेशिताः मालाः कुसुमदामानि यस्याः तादृश्याः तव स्तनतटे स्तनैकभागे लग्नम् इदं नवम् अभिनवं नखपदं नखक्षतचिह्नम् उत्तरीयेण संव्यानेन छाद्यतां संव्रियताम् । प्रियेण सह कृतविहारां सद्यःपरिणीतां कांचित्प्रति तत्सख्याः परिहासोक्तिरियम् । अत्र उक्तलक्षणा नायिका आलम्बनविभावः, नखपदमुद्दीपनविभावः, तादृशवचनान्यनुभावाः, मदावहित्था-

१. –मानाया। २. द्रवं।

लज्जाहर्षादयः संचारिभावाः। एतैश्च परिपुष्टोऽत्र हासः स्थायिभावः हास्यरसत्वमितः रसवदलंकारत्वेन मतः।

हे सखी, (विवाहोत्सव के) तुम्हारे फूलों के हार अभी मुरझाए भी नहीं हैं, और तुम्हारे उरोजतट पर यह नखक्षत का ताज़ा चिह्न लगा हुआ है। इसे तुम (शीघ्र ही) अपने दुपट्टे से ढाँप लो!

यहाँ सद्यःपरिणीता नायिका आलम्बनविभाव है, नखक्षत का चिह्न उद्दीपनविभाव है, सखी के परिहासवचन अनुभाव हैं, नायिका की अवहित्था (=भावगोपन), लज्जा, हर्ष आदि संचारिभाव हैं। इनसे परिपुष्ट हास (तु० **साद० ३.१७६ : वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते**) स्थायिभाव यहाँ **हास्य रस** में परिणत हुआ है जो रसवत् अलंकार का एक रूप है। **अम्लानमानायाः** यह पाठ मानने पर इसका अर्थ होगा : 'तुम्हारा मान (=प्रणयकोप) तो अभी मिटा नहीं और तुम्हारे स्तनतट पर यह ताज़ा नखक्षतचिह्न दीख पड़ रहा है; तुम इसे दुपट्टे से ढाँप लो।' भोज (**सरस्व० ५, उदा० ७३**) ने इसी पाठ को ग्रहण किया है।

अंशुकानि प्रवालानि पुष्पं हारादिभूषणम्।
शाखाश्च मन्दिराण्येषां चित्रं नन्दनशाखिनाम्॥२९०॥

सप्तमं रसमद्भुतमुदाहरति—**अंशुकानीति**। अंशुकानि वसनानि एव नन्दनशाखिनां नन्दनवनवृक्षाणां प्रवालानि पल्लवानि, हारादिरूपं भूषणम् एव एषां पुष्पं कुसुमजातं, मन्दिराणि संनिवेशविशेषाः एव च एषां शाखाः विटपाः इति सर्वम् एषां चित्रं विस्मयावहम्। अत्र हि नन्दनशाखिन आलम्बनविभावाः, तेषामंशुकादिमत्त्वगुणमहिमा उद्दीपनविभावः, प्रतीयमानाः स्तम्भरोमाञ्चादयोऽनुभावाः, वितर्कहर्षादयश्च संचारिभावाः। एभिः परिपुष्टोऽत्र विस्मयः स्थायिभावः अद्भुतरसात्मा रसवदलंकारत्वं भजते।

(लाल) वस्त्र ही इस (स्वर्गवाटिका) नन्दनवन के वृक्षों की कोंपलें हैं, हार आदि आभूषण ही इनके विविध पुष्प हैं और निवासभवन ही इनकी शाखाएँ हैं—यह कितनी विचित्र बात है!

यहाँ नन्दनवन के वृक्ष आलम्बनविभाव हैं; **अंशुकानि** इत्यादि से वर्णित उनकी गुणमहिमा उद्दीपनविभाव है; स्तम्भ, रोमाञ्च आदि, जो गम्य हैं, अनुभाव हैं तथा वितर्क, हर्ष आदि संचारिभाव हैं। स्वर्गयात्रिनिष्ठ विस्मय का भाव यहाँ स्थायिभाव है जो उक्त विभाव आदि से परिपुष्ट होकर **अद्भुत रस** में परिणत हुआ है। यहाँ विस्मयभाव की उपस्थिति का कारण बताते हुए भोज (**सरस्व० ५, उदा० ७०**) ने लिखा है : **अत्र शाखिनां प्रवालपुष्पफलशाखासंपन्नं**

निजं रूपम् । **नन्दनशाखिनां पुनः प्रवालादिस्थानेऽशुकहारमधुमन्दिराणि, तदेतदाश्चर्यम्**… । भोज द्वारा उद्धृत इस पद्य की दूसरी पंक्ति इस प्रकार है : **फलं मधूनि हर्म्याणि शाखा नन्दनशाखिनाम्** ।। विस्मयभाव की परिभाषा इस प्रकार है : **विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ।। विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः** । (साद० ३.१७९-८०) ।

इदं मघोनः कुलिशं धारासंनिहितानलम् ।
स्मरणं यस्य दैत्यस्त्रीगर्भपाताय कल्पते[1] ।।२९१।।

अष्टमं रसं भयानकं निदर्शयति—**इदमिति** । मघोनः इन्द्रस्य इदं कुलिशं वज्रं धारासंनिहितानलम् अग्रभागावस्थिताग्निकं ज्वलद्धारं वर्तते यस्य हि स्मरणम् संस्मृतिमात्रम् अपि दैत्यस्त्रीणाम् असुरनारीणाम् अतिमात्रभयग्रस्तानां गर्भपाताय कल्पते प्रभवति । अत्र मघवा आलम्बनविभावः, तत्कुलिशमुद्दीपनविभावः, गर्भपातोऽनुभावः, प्रतीयमाना आवेगसंमोहादयश्च संचारिभावाः । एभिः परिपुष्टो भयाख्यः स्थायिभावोऽत्र भयानकरसत्वेन परिणतः, तद्रसपेशलं चात्र वचो रसवदलंकारोपेतम् ।

इन्द्र के इस वज्र की धार पर अग्नि संनिहित है; इसके स्मरणमात्र से दैत्यों की स्त्रियों का गर्भपात हो जाता है ।

यहाँ इन्द्र आलम्बनविभाव है, उसका वज्र(प्रहार) उद्दीपनविभाव है, गर्भपात अनुभाव है एवं आवेग, संमोह आदि संचारिभाव हैं । इनसे परिपुष्ट होकर दैत्यस्त्रीनिष्ठ भय नामक स्थायिभाव यहाँ **भयानक रस** बनता है (तु० **सरस्व० ५, उदा० ७१** और उस पर वृत्ति भी) । भय की परिभाषा इस प्रकार है : **रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यदं भयम्** (साद० ३.१७८) ।

वाक्यस्या[2]ग्राम्यतायोनिर्माधुर्ये[3] दर्शितो रसः ।
इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् ।।२९२।।

रसवच्चक्रमुपसंहरन्नाह—**वाक्यस्येति** । वाक्यस्य पदसमुच्चयस्य अग्राम्यतायाः सभ्यत्वस्य योनिः प्रभवः रसः अर्थरसः माधुर्ये माधुर्यगुणप्रस्तावे प्राग् दर्शितः निदर्शितः । इह अलंकारप्रसङ्गे तु गिरां वाचां, वाक्यानामित्यर्थः, रसवत्ता रसवदलंकारवत्त्वम् अष्टरसायत्ता उक्तेषु अष्टसु रसेषु आयत्ता प्रतिबद्धा स्मृता अभिमता । प्राग्व्याख्यातो रसोऽर्थमाधुर्यरूपः, अत्र च निरूपितो रसः शृङ्गारादिरसनिर्भर इति उभयत्र रससंकल्पनायाः स्फुटोऽन्योन्यभेदः ।

---

१. जायते । २. वाच्यस्या- । ३. -योनेर्, माधुर्यं ।

वाक्य की अग्राम्यता के हेतुभूत रस का निरूपण (पहले) माधुर्यगुण के प्रसङ्ग (१.६२-८) में किया गया है; परंतु यहाँ (उपर्युक्त शृङ्गार आदि) आठ रसों पर निर्भर वाक्य की रसवत्ता (=रसवत् अलंकार से संपन्नता) का वर्णन अभिमत है।

दण्डी के उपरिवर्णित आठ रसों का आधार भरत का **नाट्यशास्त्र** है जिसमें नाटक के संदर्भ में इनका निरूपण किया गया है; तु० ६.१५ : **शृङ्गार-हास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः । बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥** इन रसों के स्थायिभावों का उल्लेख भी दण्डी ने भरत (६.१७) के अनुसार किया है। दण्डी के बाद शान्तरस (स्थायिभाव : निर्वेद) को मिलाकर नौ रसों की व्याख्या की गई; तु० उद्भट ४.४; **काप्र० ४.३५; साद० ३.१८२;** आदि।

तरुणवाचस्पति ने इस पद्य पर टिप्पणी देते हुए कहा है : **एवं शृङ्गारादिभिरष्टभी रसैः पूर्वदर्शितेन चाग्राम्यतारूपेण रसेन नवधा रसत्वम्…।** उक्त टीकाकार का यह मत उपयुक्त नहीं है; द्र० प्रस्तुत व्याख्याकार का ग्रन्थ : **ए क्रिटिकल स्टडी आफ़ दण्डिन् एंड हिज़ वर्क्स, पृ० १५१, २४५, टि०।**

अपकर्ताहमस्मीति हृदि ते मा स्म भूद् भयम् ।
विमुखेषु न मे खड्गः प्रहर्तुं जातु वाञ्छति ॥२६३॥

नवदशमलंकारमूर्जस्विनामकं निदर्शयति—**अपकर्तेति**। अहम् अस्य अपकर्ता प्रतिकूलवर्ती शत्रुः अस्मि (प्राप्तश्चेदानीमनेन) इति कारणात् ते तव हृदि भयं त्रासः मा स्म भूत् न भवतु, यतः मे मम खड्गः असिः जातु कदाचिदपि विमुखेषु युद्धपराङ्मुखेषु प्रहर्तुं प्रहारं कर्तुं न वाञ्छति।

'मैं इसका अपकारी (शत्रु) हूँ' यह सोचकर तुम्हारे हृदय में मुझसे भय नहीं होना चाहिए, (क्योंकि) मेरी तलवार कभी भी (युद्ध से) विमुख शत्रुओं पर प्रहार करना नहीं चाहती।

इति मुक्तः[1] परो युद्धे निरुद्धो दर्पशालिना ।
पुंसा केनापि तज्ज्ञेयमूर्जस्वीत्येवमादिकम् ॥२६४॥

उक्तमुदाहरणं विशिनष्टि—**इतीति**। इति पूर्वोक्तम् उक्त्वा केनापि दर्पशालिना अहंकारवता पुंसा पुरुषेण युद्धे निरुद्धः अवरुद्धः प्राप्तो वा परः शत्रुः मुक्तः त्यक्तः न च निहतः। एवमादिकं पूर्वोक्तप्रकारकं तद् रूढाहंकारत्वाद्

---

१. एवमुक्त्वा।

गर्वस्य प्राधान्येनाभिव्यक्तेः ऊर्जस्वि तन्नामाऽलंकारः इति ज्ञेयम् ।

यह कहते हुए किसी दर्पशाली पुरुष ने युद्ध में हाथ आ गए अपने शत्रु को छोड़ दिया। उक्त प्रकार की यह उक्ति (यहाँ गर्व की प्रधानरूप से अभिव्यक्ति होने के कारण) ऊर्जस्वी (अलंकार का उदाहरण) है।

कुन्तक (३.१२; पृ० १७०) ने दण्डी के इस अलंकार के उदाहरण (२.२९३) को उद्धृत करके इसके भी अलंकारत्व का खण्डन किया है। उसे इसकी अलंकार्यता अभीष्ट है। भोज (**सरस्व० ५, उदा० ७८**) ने उक्त पद्य को उद्धत रस के निदर्शन के रूप में उद्धृत किया है। उद्भट (४. ५) की ऊर्जस्वी की संकल्पना दण्डिकृत परिभाषा से भिन्न है; उसके अनुसार, काम, क्रोध आदि के कारण से उद्भूत अनौचित्यपूर्ण भावों और रसों का वर्णन इस अलंकार का विषय है: **अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्। भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥** उत्तरवर्ती युग में गुणीभूत रसाभास और भावाभास को ऊर्जस्वी मानने (तु० **साद० १०.९५-६**) का कारण उद्भटकृत यही व्याख्या है।

इष्टमर्थ[1]मनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये ।
यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते[2] ॥२९५॥

विंशमलंकारं पर्यायोक्तं लक्षयति—**इष्टमिति**। इष्टम् अभिमतम् अर्थं वस्तु साक्षाद् अञ्जसा (वाचकशब्देन) अनाख्याय अनुक्त्वा तस्य एव अभिमतार्थस्य सिद्धये निष्पत्तये यत् प्रकारान्तरेण पर्यायेण, अन्येन विधिना (भङ्गीविशेषेण व्यञ्जनया वा) तदाख्यानं द्योतनं तत् पर्यायोक्तं तन्नामाऽलंकारः इष्यते ।

अभिलषित अर्थ का स्पष्ट (शब्दों द्वारा) कथन न करके उसी अर्थ की सिद्धि के लिए प्रकारान्तर (=अन्य विधि) से जो उसका द्योतन किया जाता है उसे पर्यायोक्त अलंकार कहते हैं।

उत्तरवर्ती युग में प्रकारान्तर अथवा भङ्गी से गम्य अर्थ के कथन को पर्यायोक्त माना गया; तु० **चन्द्रा० ५. ६५ : पर्यायोक्तं तु गम्यस्य वचो भङ्ग्यन्तराश्रयम्** (तु० **साद० १०. ६०** भी)। वस्तुतः दण्डी की प्रस्तुत कारिका की भी यही व्याख्या होनी चाहिए, परंतु उसके द्वारा प्रदत्त उदाहरण (२.२९६) इस व्याख्या का समर्थन नहीं करता। दूसरी ओर, उसके द्वारा अभिप्रेत पर्यायोक्त को उत्तरकाल में कुछ आचार्यों ने किसी बहाने से इष्टार्थसाधन-रूप पर्यायोक्त-प्रकार के रूप में स्वीकार किया; द्र० **चन्द्रा० ५.६६ : पर्यायोक्तं तदप्याहुर्यद्व्याजेनेष्टसाधनम्। यामि चूतलतां द्रष्टुं युवाभ्यामास्यतामिह ॥** (यह उदा-

---

१. मर्थमिष्टम्। २. तदीदृशम्।

हरण दण्डि-प्रदत्त उदाहरण से तुलनीय है ; द्र० कुवलया० ६८–६ भी)।

दशत्यसौ परभृतः सहकारस्य मञ्जरीम् ।
तमहं वारयिष्यामि युवाभ्यां स्वैरमास्यताम् ॥२६६॥

पर्यायोक्तमुदाहरति—**दशतीति**। असौ पुरतो दृश्यमानः परभृतः कोकिलः सहकारस्य आम्रवृक्षस्य मञ्जरीं दशति भिनत्ति, तम् अहं वारयिष्यामि तत्कर्मतो निवारयिष्यामि, अतश्चेतो गच्छामीत्यर्थः। युवाभ्यां (कान्तकामिनीभ्यां) तु स्वैरं स्वच्छन्दम् अत्रैव आस्यतां स्थीयताम्। सुरतोत्सवो युवाभ्यां रहसि निर्वर्त्यतामित्यत्र सख्यभीष्टोऽर्थः।

वह कोकिल आम की बौर को कुतर रहा है। मैं उसे (ऐसा करने से) रोकती हूँ; तुम दोनों यहाँ स्वच्छन्दतापूर्वक बैठो।

नायिका और उसके प्रिय का सुरतोत्सव-संपादन यहाँ सखी का अभीष्ट अर्थ है जिसकी सिद्धि के लिए वह उक्त विधि का आश्रय लेती है। भोज (**सरस्व० ४, उदा० २१४**) ने इस पद्य को साकाङ्क्ष पर्याय के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। दुष्यन्त और उसकी प्रेयसी शकुन्तला को एकान्तमिलन का अवसर देने के लिए ऐसे 'पर्यायोक्त' का आश्रय अनसूया और प्रियंवदा भी लेती हैं (तु० **अभिज्ञानशाकुन्तल** ३.२४ से आगे)।

संगमय्य सखीं यूना संकेते तद्रतोत्सवम् ।
निर्वर्तयितु[1]मिच्छन्त्या कयाप्यपसृतं ततः[2] ॥२६७॥

उक्तमुदाहरणं विशदयति—**संगमय्येति**। सखीं निजवयस्यां यूना केनापि अभिमतेन नायकेन संकेते संकेतस्थानविशेषे संगमय्य संगतां कृत्वा तद्रतोत्सवं तयोः सुरतोत्सवं रहसि निर्वर्तयितुं साधयितुम् इच्छन्त्या कयापि विदग्धया नायिकासहचर्या ततः स्थानात् परभृतवारणापदेशेन अपसृतम्। अत्र नायकनायिकयोः रतोत्सवनिर्वर्तनरूपोऽभीष्टोऽर्थः प्रकारान्तरेण द्योतित इति पर्यायोक्तालंकारः।

अपनी सखी (=नायिका) का किसी युवक (प्रेमी) से संकेतस्थान में मेल कराके वहाँ उन दोनों का सुरतोत्सव संपादित करने की इच्छा से उसकी कोई सहचरी (उक्त शब्द कहकर) उस स्थान से हट गई।

यहाँ नायक और नायिका के रतोत्सव का संपादन रूप अभीष्ट अर्थ नायिका की सखी द्वारा प्रकारान्तर से द्योतित किया गया है; अतः यहाँ पर्यायोक्त

१. प्रवर्त-। २. तथा।

अलंकार है ।

किंचिदारभमाणस्य कार्यं दैववशात्[1] पुनः ।
तत्साधनसमापत्तिर्या तदाहुः समाहितम् ॥२९८॥

एकविंशमलंकारं समाहितं लक्षयति—**किंचिदिति** । किंचित् कार्यं कर्म आरभमाणस्य कर्तुमुपक्रममाणस्य नरस्य दैववशाद् विधिबलात्, न तु कर्तुः सामर्थ्यात्, पुनः या तत्साधनस्य तत्कार्यसाधकसाधनान्तरस्य समापत्तिः समुपस्थितिः तत् समाहितं दैवकृतसमाधानत्वात् तदाख्यमलंकारम् आहुः ।

कोई कार्य आरम्भ कर रहे किसी व्यक्ति के (समक्ष) दैववश उस कार्य को सिद्ध करने में समर्थ (अन्य) साधन की जो समुपस्थिति हो जाती है उसे अर्थात् उसके कथन को समाहित कहते हैं ।

उत्तरवर्ती युग में इस अलंकार का भाग्य प्रेयः, रसवत् और ऊर्जस्वी के साथ जुड़ गया, और इसे भावप्रशम का गुणीभूत रूप माना गया (तु० साद० १०. ९५-६ वृत्ति) । इसकी इस नितान्त भिन्न संकल्पना का कारण उद्भटकृत इसकी यह परिभाषा है : **रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम् । अन्यानुभावनिःशून्यरूपं यत्तत्समाहितम् ॥** (४.७) । दूसरी ओर, दण्डी के समाहित की संकल्पना को बाद के कतिपय आचार्यों ने एक नये समाधि अलंकार के रूप में प्रस्तुत किया; द्र० साद० १०.८५ : **समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद् वस्त्वन्तरागमात्** । यह बात विशेष महत्त्वपूर्ण है कि मम्मट (१०.१२५), रुय्यक (६८, वृत्ति), शोभाकरमित्र (अलंकाररत्नाकर ७५), विश्वनाथ (१०.८५) और अप्पय दीक्षित (कुवलया० ११८ वृत्ति) आदि ने समाधि के उदाहरण के रूप में दण्डी के वक्ष्यमाण उदाहरण (२.२९९) को उद्धृत किया है ।

मानमस्या[2] निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः[3] ।
उपकाराय दिष्ट्यैतदुदीर्णं[4] घनगर्जितम् ॥२९९॥

समाहितमुदाहरति—**मानमिति** । अस्याः मम प्रेयस्याः मानं प्रणयकोपं निराकर्तुम् अपाकर्तुं पादयोः तच्चरणयोः पतिष्यतः प्रणिपतिष्यतः मे मम उपकाराय मदारब्धकार्यानुग्रहार्थं दिष्ट्या दैवयोगाद् एतद् घनगर्जितं मेघगर्जनम् उदीर्णम् उत्थितम् । अत्र मानिनीमाननिराकरणमुपक्रममाणस्य नायकस्य विधिवशाद् घनगर्जितरूपमपरं साधनं समापन्नमिति समाहितमलंकारः ।

इस (अपनी प्रेयसी) के प्रणयकोप को दूर करने के लिए मैं इसके

---

१. –बलात् । २. मानं तस्याः । ३. नमस्यतः । ४. दिष्ट्येदम् ।

चरणों पर गिरने ही वाला था कि दैवयोग से मेरा उपकार करने के लिए (=मेरे कार्य में मेरी सहायता करने के लिए) मेघगर्जन का यह शब्द सुनाई दे गया।

मेघगर्जन के कामोद्दीपक होने से उसके द्वारा मानिनी के मान का सहज अपनोदन हो गया। इस प्रकार यहाँ मेघगर्जन मानिनी के मनुहार के दैवप्रदत्त साधन के रूप में समुपस्थापित है; अतः यहाँ समाहित अलंकार है (तु० **सरस्व० ३, उदा० १०२** भी)। हेमचन्द्र (**काअनु०, पृ० ३४३**) ने इस पद्य को समुच्चय के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

आशयस्य विभूतेर्वा यन्महत्त्वमनुत्तमम्[1]।
उदात्तं नाम तं प्राहुरलंकारं मनीषिणः ॥३००॥

द्वाविंशमलंकारमुदात्तं लक्षयति—**आशयस्येति**। आशयस्य अभिप्रायस्य मनःसंकल्परूपस्य विभूतेः संपदः वा यद् अनुत्तमं परां कोटिं गतम् अलौकिकं वा महत्त्वं महिमा गौरवं वा, तं तद्वर्णनस्वरूपम् अलंकारं मनीषिणः काव्यविदः आशयस्य विभूतेर्वा उदात्तत्ववर्णनाद् अन्वितार्थम् उदात्तं नाम प्राहुः। तथा हि प्रस्तुतस्य अलौकिकं महाशयत्वं विभूतिमत्त्वं वा यद् वर्ण्यते तदुदात्तालंकारविषय इत्यर्थः।

किसी आशय (=अभिप्राय) अथवा विभूति (=ऐश्वर्य) के अलौकिक गौरव के वर्णन को मनीषी आचार्य उदात्त अलंकार कहते हैं।

यह अलंकार दण्डी के अपने गुण उदारत्व (१.७६-८) से तुलनीय है। इस अलंकार की संकल्पना में अन्त तक कोई विशेष अन्तर नहीं आया; तु० **काप्र० १०.११५ : उदात्तं वस्तुनः संपन्महतां चोपलक्षणम्**।; सादं० १०.९४। कुन्तक (३.२२; पृ० १७०-१) ने रसवत् आदि तीन अलंकारों के साथ इसके अलंकारत्व का भी खण्डन किया है। उसे इसकी अलंकार्यता अभीष्ट है।

गुरोः शासनमत्येतुं न शशाक स राघवः।
यो रावणशिरश्छेदकार्यभारेऽप्यविक्लवः ॥३०१॥

आशयमहत्त्वविषयमुदात्तमुदाहरति—**गुरोरिति**। यः रावणस्य लङ्काधिपतेः वशीकृतत्रैलोक्यस्य शिरसां छेदः निकृन्तनं तस्य कार्यभारे दुर्वहे अपि अविक्लवः अव्यग्रः, स राघवः रामः गुरोः पितुर्दशरथस्य शासनं वनगमनरूपम् आदेशम् अत्येतुम् अतिक्रमितुं न शशाक प्रबभूव। अत्र असाधारणशौर्यवतो रामस्य

---

१. अनुत्तरम्।

विनयोत्कर्षराज्यलोभानभिभवादिलक्षणमलौकिकमाशयमाहात्म्यं वर्णितम् ।

जो (अतिपराक्रमी लङ्काधिपति) रावण के सिरों के उच्छेद के कार्य का भार वहन करने में भी व्याकुल नहीं हुआ वही राम अपने पिता (दशरथ) के (वनगमन संबन्धी) आदेश का अतिक्रमण नहीं कर सका ।

यहाँ असाधारण पराक्रम वाले राम की, विनयोत्कर्ष, एवं राज्यलोभ के अभाव के रूप में, लोकोत्तर आशयगरिमा का वर्णन हुआ है ।

रत्नभित्तिषु[1] संक्रान्तैः[2] प्रतिबिम्बशतैर्वृतः ।
ज्ञातो लङ्केश्वरः कृच्छ्रादाञ्जनेयेन तत्त्वतः ॥३०२॥

विभूतिमहत्त्वविषयमुदात्तं निदर्शयति—रत्नभित्तिष्विति । आञ्जनेयेन अञ्जनासुतेन हनुमता रत्नभित्तिषु मणिखचितकुड्येषु संक्रान्तैः प्रतिफलितैः प्रतिबिम्बशतैः बहुभिः स्वप्रतिमूर्तिभिः वृतः परिवृतः लङ्केश्वरः कृच्छ्राद् यत्नेन निपुणं निरूपयता, नाक्लेशमिति भावः, तत्त्वतः यथार्थतः अयं रावणः प्रतिबिम्बानि चैतानीति सम्यग् ज्ञातः अभिज्ञातः । अत्र रावणस्य अलौकिकविभूतेर्महिमा वर्णितः ।

रत्नों से खचित दीवारों में प्रतिफलित सैकड़ों प्रतिबिम्बों से घिरे हुए लङ्काधिप (रावण) को हनुमान ने (यह रावण है और ये इसके प्रतिबिम्ब मात्र हैं—इस) यथार्थ रूप में बड़ी कठिनाई से जाना ।

यहाँ रावण के अलौकिक ऐश्वर्य की महिमा का वर्णन किया गया है (तु० कुवलया० १६२; अन्यत्र, १४७ वृत्ति में, सामान्य के उदाहरण के रूप में उद्धृत) । भामह ने, संभवतः दण्डी के उक्त उदाहरणों को मन में रखकर, उदात्त को इस प्रकार वर्णित किया है : **उदात्तं शक्तिमान् रामो गुरुवाक्यानुरोधकः । विहायोपवनं राज्यं यथा वनमुपागमत् ॥ एतदेवापरेऽन्येन व्याख्यानेनान्यथा विदुः । नानारत्नादियुक्तं यत्तत्किलोदात्तमुच्यते ॥** (३.११-२) । दण्डी का उदाहरण शिशुपालवध, २.४, से तुलनीय है : **रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे । एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव ॥**; तु० कादम्बरी, अनुच्छेद ८५, भी : **अमलमणिभूमिसंक्रान्तमुखनिवहप्रतिबिम्बतया विकचकमलपुष्पप्रकरमिव संपादयता···वारविलासिनीजनेन··** ।

पूर्वत्राशयमाहात्म्यमत्राभ्युदयगौरवम् ।
सुव्यञ्जितमिति प्रोक्त[3]मुदात्तद्वयमप्यदः[4] ॥३०३॥

---

१. –स्तम्भेषु । २. संक्रान्त– । ३. व्यक्तम्, अतिव्यक्तम् । ४. –द्वितयं पुनः ।

उक्तमुदाहरणद्वयं विश्लेषयन्नुपसंहरति—**पूर्वत्रेति**। पूर्वत्र पूर्वस्मिन् **गुरो-** रित्यादिश्लोके रामगतम् आशयमाहात्म्यम् अभिप्रायगौरवम् अत्र च अनन्तरोक्ते **रत्नेत्यादिपद्ये** रावणसंबन्धि अभ्युदयगौरवम् ऐश्वर्यमहिमा सुव्यञ्जितं सम्यक् प्रकाशितम् इति अदः तद् उदात्तद्वयं द्विविधम् उदात्तम् अपि प्रोक्तं वर्णितम्। विषयद्वैविध्येन वैचित्र्यद्वैविध्याद् द्विप्रकारः स उदात्तालंकारो दर्शित इत्यर्थः।

पहले (गुरोः शासनम् इत्यादि) पद्य में (राम के) आशय की महिमा की एवं इस (रत्नभित्तिषु इत्यादि) पद्य में (रावण के) ऐश्वर्य की गरिमा की सम्यक् अभिव्यक्ति हुई है; इस प्रकार उदात्त के इन दो प्रकारों का भी वर्णन कर दिया गया।

अपह्नुतिरपह्नुत्य किंचिदन्यार्थदर्शनम्।
न पञ्चेषुः स्मरस्तस्य सहस्रं पत्रिणामिति ॥३०४॥

त्रयोविंशमलंकारमपह्नुतिमाह—**अपह्नुतिरिति**। किंचित् प्रकृतं वस्तुरूपम् अपह्नुत्य नेदं नेदृशमिदमिति वा तद् निराकृत्य अन्यार्थस्य अन्यस्य वस्तुनः दर्शनं तत्र व्यवस्थापनम् अपह्नुतिः। तदुदाहरति—स्मरः कामदेवः पञ्चेषुः पञ्च इषवः बाणाः यस्येति तादृशः नास्ति, तस्य तु पत्रिणां बाणानां सहस्रं सहस्रसंख्यता वर्तते।

किसी (प्रकृत) वस्तुरूप को छिपाकर (उसके स्थान पर किसी) अन्य (वस्तुरूप) को दिखाना अपह्नुति अलंकार है; जैसे—'कामदेव पाँच बाणों वाला नहीं है, उसके तो हजारों बाण हैं।'

अपनी अपह्नुति-संकल्पना में दण्डी ने औपम्य-तत्त्व को स्वीकार नहीं किया है, जैसा कि उसके वक्ष्यमाण उदाहरणों से भी स्पष्ट है। उसके बाद, भामह (३.२१), उद्भट (५. ३) आदि से यह तत्त्व इस अलंकार का अङ्ग बना; फलस्वरूप अन्ततोगत्वा प्रकृत का निषेध करके तत्समान अन्य, अप्रस्तुत, की स्थापना अपह्नुति का विषय बनी; तु० **साद० १०.३८ : प्रकृतं प्रतिषिध्यान्य-स्थापनं स्यादपह्नुतिः**। कुछ आचार्यों ने अपह्नुति के औपम्यवती और अनौपम्या ये दो भेद किए (तु० **सरस्व० ४.४१-३**)। **अग्निपुराण** (३४५.१८) के लेखक ने इस अलंकार की दण्डि-प्रदत्त परिभाषा को ग्रहण किया। दण्डी के पूर्वोक्त तत्त्वापह्नवरूपक (२.९४-५) से इस अलंकार के विषय को पृथक् करने के लिए रङ्गाचार्यशास्त्री ने **किंचित्** का अर्थ 'गुण, क्रिया आदि रूप पदार्थ' लिया है, एवं निम्नलिखित शब्दों में दोनों का अन्तर स्थापित किया है : **प्रकृतं धर्मिणं निषिध्य धर्म्यन्तरारोपस्तत्त्वापह्नवरूपकं, गुणक्रियादिरूपं धर्ममपलप्य धर्मान्तरा-रोपेऽपह्नुतिरित्यनयोर्भेदः।**

न पञ्चेषुः इत्यादि उदाहरण में कामदेव के प्रकृत पञ्चबाणत्व रूप धर्म का अपह्नव करके अन्य धर्म, सहस्रबाणत्व, की स्थापना की गई है। इस प्रकार यहाँ **धर्मापह्नुति** है।

चन्दनं चन्द्रिका मन्दो गन्धवाहश्च[1] दक्षिणः ।
सेयमग्निमयी सृष्टिः शीता किल[2] परान् प्रति ॥३०५॥

द्वितीयं प्रकारं विषयापह्नुतिमुदाहरति—**चन्दनमिति**। चन्दनं मलयजरसः, चन्द्रिका ज्योत्स्ना, अथ च मन्दः मृदुः दक्षिणः गन्धवाहः दक्षिणदिशः प्रवृत्तो मलयानिलः इति सा इयं सृष्टिः अग्निमयी दहनस्वभावा अस्ति, किंतु सा परान् मदितरान् (प्रियसंयोगवतः) जनान् प्रति शीता शीतलप्रकृतिः किल (किलेति चन्दनादीनां शैत्यस्य श्रुतिपरंपरागम्यत्वं स्वासंमतत्वं च बोधयति)। कस्यापि विरहिणः कामार्तस्योक्तिरियम्।

चन्दनरस, चाँदनी और मन्द मलय-समीर—यह सब अग्निमयी (=दाहक स्वभाव वाली) सृष्टि है; शायद दूसरे (सौभाग्यशाली) जनों के लिए ये पदार्थ शीतल हैं।

शैशिर्यमभ्युपेत्यैव परेष्वात्मनि कामिना ।
औष्ण्यप्रदर्शनात्[3] तस्य सैषा[4] विषयनिह्नुतिः ॥३०६॥

उक्तमुदाहरणं विश्लेषयति—**शैशिर्यमिति**। तस्य चन्दनादेः वस्तुनः परेषु अन्येषु सुखिषु विषये शैशिर्यं शैत्यम् अभ्युपेत्य अङ्गीकृत्य कामिना प्रियावियुक्तेन प्रणयिना जनेन आत्मनि विषये तस्य एव वस्तुजातस्य औष्ण्यप्रदर्शनाद् उष्णत्वप्रकाशनात् (अर्थात् शैत्यप्रतिषेधात्) सा एषा अपह्नुतिः विषयनिह्नुतिः नाम, विषयविशेषे एव (न तु सर्वत्र) प्रसिद्धधर्मापलापाद् हेतोरित्यर्थः।

यहाँ (उक्त उदाहरण में) किसी विरहातुर प्रेमी ने उस (चन्दन आदि वस्तुरूप) की दूसरों के प्रति शीतलता को स्वीकार करते हुए अपने प्रति उसकी दाहकता का वर्णन किया है; इस प्रकार यहाँ (चन्दन आदि के वास्तविक धर्म—शैत्य—का निषेध सर्वत्र न होकर किसी विषयविशेष—केवल विरही प्रेमी—में होने से) विषयापह्नुति है।

अमृतस्यन्दिकिरणश्चन्द्रमा नाम नो मतः[5] ।
अन्य एवायमर्थात्मा विषनिष्यन्दिदीधितिः ॥३०७॥

---

१. -वाही च। २. सृष्टिर्मयि शीता। ३. -प्रकाशनात्। ४. सेयं।
५. नामतो मतः, नाम नामतः।

तृतीयं प्रकारं स्वरूपापह्नुतिमुदाहरति—**अमृतेति**। अमृतं सुधां स्यन्दन्ते किरणाः यस्येति स तादृशः सुधाकरकिरणः चन्द्रमाः नाम नः अस्माकं मतः। अयं तु पुरो दृश्यमानः विषनिष्यन्दिदीधितिः अमृतविरुद्धं विषं निष्यन्दन्ते दीधितयः किरणाः यस्य तादृशः अन्यः चन्द्रभिन्नः कश्चिदपर एव अर्थात्मा पदार्थः। कस्यचिद्विरहिणश्चन्द्रोपालम्भोक्तिरियम्।

चन्द्रमा अमृतवर्षी किरणों वाला है—ऐसा हम जानते हैं; यह (दृश्यमान) विषवर्षी किरणों वाला (द्रव्य) तो कोई अन्य ही पदार्थ है।

इति चन्द्रत्वमेवेन्दो[1]र्निवर्त्या[2]र्थान्तरात्मना[3]।
उक्तः[4] स्मरार्तेनेत्येषा[5] स्वरूपापह्नुतिर्मता ॥३०८॥

उक्तमुदाहरणं व्याचष्टे—**इतीति**। इति उक्तोदाहरणे स्मरार्तेन कामार्तेन विरहिणा केनचिद् इन्दोः चन्द्रमसः चन्द्रत्वम् चन्द्रभावम् एव निवर्त्य अपह्नुत्य स इन्दुः अर्थान्तरात्मना पदार्थान्तरत्वेन (विषस्वरूपत्वेन) उक्तः उद्भावितः स्थापितः वा। इति एषा स्वरूपस्यैवापह्नवात् स्वरूपापह्नुतिः मता।

इस (उक्त उदाहरण) में किसी विरही प्रेमी ने चन्द्रमा के चन्द्रत्व (=चन्द्र स्वरूप) का ही निषेध करके उसे किसी अन्य पदार्थ के रूप में स्थापित किया है। इस प्रकार यहाँ (पदार्थ के स्वरूप—तत्पदार्थत्व—का ही निषेध होने के कारण) स्वरूपापह्नुति है।

चन्द्र शब्द **चदि** आह्लादे ('आह्लादित करना') धातु से निष्पन्न है, अतः आह्लादकत्व, दूसरे शब्दों में, अमृतवर्षी किरणों वाला होना, उसका स्वरूप है। यहाँ उसका निषेध करके उस चन्द्र का अर्थान्तरत्व—विषवर्षी किरणों वाला पदार्थ होना—स्थापित किया गया है।

उपमापह्नुतिः पूर्वमुपमास्वेव दर्शिता।
इत्यपह्नुतिभेदानां लक्ष्यो लक्ष्येषु विस्तरः ॥३०९॥

अपह्नुतिमुपसंहरति—**उपमापह्नुतिरिति**। उपमापह्नुतिः तन्नामापह्नुतिभेदः पूर्वम् उपमासु एव प्रतिषेधोपमेति उपमाप्रभेदत्वेन दर्शिता निदर्शिता **न जातु शक्तिरित्यादिना**। औपम्यचारुता तत्र प्रधानमिति सा उपमाभेदेषु परिगणितेत्यर्थः। इति उक्तप्रकारेण अपह्नुतिभेदानां विस्तरः प्रपञ्चः लक्ष्येषु काव्यप्रयोगेषु लक्ष्यः लक्षणीयः।

उपमापह्नुति (नामक अपह्नुतिभेद) पहले उपमाप्रसङ्ग में ही निर्दशित

---

१. एवेन्दो। २. निह्नुत्या-। ३. -त्मता। ४. उक्ता, उक्तं। ५. -नेत्यादि।

कर दिया गया। इस (उक्त) प्रकार से अन्य अपह्नुतिभेदों का प्रपञ्च भी काव्यप्रयोगों में देखा जाना चाहिए।

यहाँ उपमापह्नुति से अभिप्राय पूर्वनिदर्शित प्रतिषेधोपमा (२.३४) है जो अपनी औपम्यचारुता के कारण उपमाभेदों में परिगणित की गई है। रूपक-प्रभेद के रूप में पहले तत्त्वापह्नवरूपक (२.६४-५) का उल्लेख किया गया है, जो वास्तव में उत्तरवर्ती आचार्यों की अपह्नुति है (तु० २.६५ पर टि०)। इसी प्रकार दण्डी की तत्त्वाख्यानोपमा (२.३६) अप्पय दीक्षित (कुवलया० २६) के अनुसार भ्रान्तापह्नुति है, एवं दण्डी के लेश का प्रथम प्रकार (२.२६५-६) भोज (**सरस्व०** ४.४१-३) की दृष्टि में अनौपम्या अपह्नुति का एक प्रभेद है (तु० उक्त पर टि०)।

रत्नश्रीज्ञान ने यहाँ सर्व–, हेतु– और चटुप्रधान– अपह्नुति को एवं प्रेमचन्द्र तर्कवागीश ने उत्प्रेक्षापह्नुति को उदाहृत किया है।

श्लिष्टमिष्टमनेकार्थमेकरूपान्वितं वचः ।
तदभिन्नपदं भिन्नपदप्रायमिति द्विधा ॥३१०॥

चतुर्विंशमलंकारं श्लिष्टमाह—**श्लिष्टमिति**। एकरूपान्वितं समान-शब्दरूपनिबद्धम् अनेकार्थम् अभिधावृत्त्या अनेकार्थप्रतिपादकं वचः वचनं श्लिष्टं श्लेषः इष्टं मतम्। तद् च अभिन्नपदम् अविकृतशब्दरूपं पदभङ्गं विनापि निष्पाद्यं, भिन्नपदप्रायं प्रायेण पदभङ्गनिष्पाद्यम् इति द्विधा द्विप्रकारम् अस्ति। अर्वाचीनैस्त्विदं प्रकारद्वयं क्रमशः अभङ्गं सभङ्गं चेति नामभ्यां व्याख्यातम्।

समान शब्दरूप से युक्त किंतु भिन्न अर्थ वाली उक्ति को श्लिष्ट अथवा श्लेष कहते हैं। यह अभिन्नपद और भिन्नपदप्राय इन भेदों से दो प्रकार का होता है।

अनेक (अथवा भिन्न) अर्थ पाने के लिए जहाँ पद का भङ्ग अपेक्षित न हो उसे अभिन्नपद एवं इसके विपरीत रूप को भिन्नपद(प्राय) कहते हैं। उत्तर-वर्ती आचार्यों ने श्लिष्ट पदों से और स्वभावतः एकार्थक पदों से अनेक अर्थ के कथन को क्रमशः शब्द– और अर्थ-श्लेष कहकर दण्डी के अभिन्नपद और भिन्नपद को शब्दश्लेष के क्रमशः अभङ्ग और सभङ्ग प्रकार के रूप में माना है, एवं इनके अतिरिक्त एक उभयात्मक प्रकार का भी प्रस्ताव किया है; तु० **साद०** १०.११-२,५७ : (क) **श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते। ···पुनस्त्रिधा सभङ्गोऽथाभङ्गस्तदुभयात्मकः॥**, (ख) **शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थ-वाचनम्॥**

असावुदयमारूढः कान्तिमान् रक्तमण्डलः ।
राजा हरति लोकस्य[1] हृदयं मृदुभिः करैः ॥३११॥

अभिन्नपदं श्लिष्टमुदाहरति—**असाविति** । उदयम् अभ्युन्नतिम् आरूढः प्राप्तः कान्तिमान् कमनीयाकृतिः रक्तमण्डलः अनुरक्तप्रकृतिमण्डलः च असौ राजा नृपतिः मृदुभिः अनुद्वेगकरैः सुखप्रदेयैः करैः राजग्राह्यैः अर्थभागैः लोकस्य प्रजानां हृदयं हरति वशीकरोति । इदं चात्र वचः अभिन्नपदत्वेन (पदभङ्गं विनैव) राजपदवाच्यं चन्द्रमसमप्रकृतमप्यन्वेति । तद्यथा—उदयम् उदयपर्वतम् आरूढः कान्तिमान् तेजस्वी रक्तमण्डलः अचिरोदितत्वाद् अरुणाभमण्डलः चासौ राजा चन्द्रमाः मृदुभिः शीतलैः निजैः करैः किरणैः लोकस्य चेतो हरतीति ।

अभ्युदयशाली, रूपसंपन्न, तथा अनुरक्त प्रकृतिमण्डल वाला यह राजा कोमल अर्थात् हल्के (=बिना किसी कठिनाई के दिए जा सकने योग्य) करों से (दूसरे शब्दों में, थोड़ी मात्रा में कर वसूल करके) अपनी प्रजा के मन को हरता है। [चन्द्रमा के पक्ष में : **उदयपर्वत पर आरूढ, तेजोमय और अरुणाभ मण्डल वाला यह चन्द्रमा अपनी कोमल अर्थात् शीतल किरणों से समस्त संसार का हृदय हरता है।**]

विभिन्न पदों को तोड़े बिना दो अर्थ प्राप्त होने से यहाँ **अभिन्नपद** अर्थात् **अभङ्ग श्लेष** है (तु० सरस्व० ४, उदा० २२७; हेमचन्द्र : काअनु०, पृ० २७७ भी) । अप्पय दीक्षित (कुवलया० ६५) ने इस पद्य को उद्धृत करके इसमें चन्द्र को प्रस्तुत और राजा को अप्रस्तुत माना है। ऐसे प्रकृत और अप्रकृत श्लेष के उदाहरणों में उसने ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा अभिमत शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का खण्डन किया है; उसके अनुसार, शब्दशक्ति से प्रतिपाद्य अप्रकृत अर्थ के भी वाच्य ही होने के कारण यहाँ व्यञ्जना का कोई अवसर नहीं है।

दोषाकरेण संबध्नन्नक्षत्रपथवर्तिना ।
राज्ञा प्रदोषो मामित्थमप्रियं किं न बाधते ॥३१२॥

द्वितीयं भिन्नपदं श्लिष्टमुदाहरति—**दोषाकरेणेति** । नक्षत्रपथवर्तिना आकाशवर्तिना दोषाकरेण दोषां रात्रिं करोतीति तादृशेन रजनीकरेण राज्ञा चन्द्रमसा संबध्नन् संबन्धं प्राप्नुवन् प्रदोषः निशारम्भकालः अप्रियं प्रियारहितं माम् इत्थम् एवम्, अतिमात्रमित्यर्थः, किं न बाधते संतापयति, अवश्यं भृशं संतापयतीति भावः । इदं हि वचः पदभङ्गेन राजानमप्रकृतमप्यन्वेति । तद्यथा—न क्षत्रपथे क्षत्रियोचिते पथि वर्तते इति तादृशेन दोषाकरेण दोषाणाम् आकरेण

---

[1] सर्वस्य ।

निधिना दुर्गुणनिधानेन राज्ञा भूपतिना संबध्नन् अयं प्रदोषः प्रकृष्टदोषः दुष्टः पुरुषः अप्रियं द्वेष्यं शत्रुभूतं माम् इत्थं भृशं किं न बाधते पीडयति, पीडयत्येवेत्यर्थः। अत्र **दोषाकरनक्षत्रपदयोर्भङ्गेन** द्वितीयस्य अप्रकृतस्यार्थस्याभिधानमस्तीति भिन्नपदं श्लिष्टं, **राज्ञे**त्यत्र त्वभिन्नपदं श्लिष्टम्। तदपि भिन्नपदश्लेषबाहुल्यादत्र भिन्नपदं भिन्नपदप्रायं वा श्लिष्टम्।

नक्षत्रपथ (=आकाश) में विचरण करने वाले रजनीकर चन्द्रमा से संबन्ध स्थापित करने वाला यह निशारम्भकाल क्या मुझ प्रियारहित (=विरही) को अत्यधिक उत्तप्त नहीं करता? [दुष्ट पुरुष के पक्ष में : क्षत्रियोचित मार्ग का अनुसरण न करने वाले एवं (समस्त) दोषों के निधानभूत राजा के साथ मिला हुआ यह दुष्ट पुरुष क्या अपने शत्रुरूप मुझे इस प्रकार अत्यधिक दुःखी नहीं करता?]

यहाँ **दोषाकर** और **नक्षत्र** इन पदों के भेद (=भङ्ग) से दूसरे अप्रकृत, अथवा अप्राकरणिक, अर्थ का अभिधान होने से **भिन्नपद** अर्थात् **सभङ्ग श्लेष** है (तु० सरस्व० ४, उदा० २२६)। **राजा** पद में अभिन्नपद श्लेष की स्थिति है, तथापि यहाँ भिन्नपद श्लेष का बाहुल्य होने से भिन्नपद अथवा भिन्नपदप्राय श्लेष माना गया है। कारिका (२.३१०) में **प्रायः** शब्द का ग्रहण इसीलिए किया गया प्रतीत होता है (तु० **रत्नश्री** भी)।

उपमारूपकाक्षेपव्यतिरेकादिगोचराः ।
प्रागेव दर्शिताः श्लेषा दर्श्यन्ते केचनापरे ॥३१३॥

अलंकारान्तरगोचरान् तदितरांश्च श्लेषप्रकारान् कांश्चिन्निर्दिशन्नाह—**उपमेति**। उपमागोचरौ श्लेषोपमा समानोपमा चेति द्वौ, रूपकगोचरः श्लिष्टरूपकम्, आक्षेपगोचरः श्लिष्टाक्षेपः, व्यतिरेकगोचरः च सश्लेषव्यतिरेकः, आदिपदेन दीपकार्थान्तरन्याससमासोक्तिप्रभृतिगोचराः, इति श्लेषाः श्लेषप्रकाराः प्राक् पूर्वम् एव दर्शिताः निदर्शिताः। अपरे अन्ये केचन श्लेषप्रकाराः अत्र दर्श्यन्ते उदाह्रियन्ते।

उपमा, रूपक, आक्षेप, व्यतिरेक आदि अलंकारों में दीख पड़ने वाले (=के साथ आने वाले) श्लेषप्रकारों का वर्णन पहले ही किया जा चुका है; कुछ अन्य (श्लेषप्रकार) यहाँ निर्दिशित किए जाते हैं।

उपमा के अन्तर्गत श्लेषोपमा और समानोपमा (२.२८-९), रूपक के अन्तर्गत श्लिष्टरूपक (२.८७), आक्षेप के अन्तर्गत श्लिष्टाक्षेप (२.१६०) और व्यतिरेक के अन्तर्गत सश्लेषव्यतिरेक (२.१८६) का उल्लेख पहले हो चुका है। इनके अतिरिक्त द्रष्टव्य हैं श्लिष्टार्थदीपक (२.११४), श्लेषाविद्ध अर्थान्तर-

न्यास (२.१७०, १७४) एवं श्लेषमूला व्याजस्तुति (२.३४५-६)। वस्तुतः श्लेष, जैसा कि स्वयं दण्डी ने आगे (२.३६३ में) कहा है, सभी वक्रोक्तिमूलक अलंकारों में उपस्थित होकर उनकी शोभा बढ़ाता है : **श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।**

अस्त्यभिन्नक्रियः कश्चिदविरुद्धक्रियोऽपरः ।
विरुद्धकर्मा[1] चास्त्यन्यः[2] श्लेषो नियमवानपि ॥३१४॥
नियमाक्षेपरूपोक्तिरविरोधी विरोध्यपि ।
तेषां निदर्शनेष्वेव रूपमावि[3]र्भविष्यति ॥३१५॥

श्लेषप्रकारान् निदर्शयिष्यमाणान्नामत आह—अस्तीति। अभिन्नक्रियः, अविरुद्धक्रियः (? भिन्नक्रियः), विरुद्धकर्मा विरुद्धक्रियः, नियमवान्, नियमाक्षेपरूपोक्तिः, अविरोधी, विरोधी चेति ते श्लेषप्रकाराः। तेषां रूपं स्वरूपं निदर्शनेषु वक्ष्यमाणेषु उदाहरणेषु एव आविर्भविष्यति स्फुटीभविष्यति।

अभिन्नक्रिय, अविरुद्धक्रिय (? भिन्नक्रिय), विरुद्धकर्मा अथवा विरुद्धक्रिय, नियमवान्, नियमाक्षेपरूपोक्ति, अविरोधी और विरोधी—ये (सात) अन्य श्लेषप्रकार हैं। इनका स्वरूप उदाहरणों द्वारा ही स्पष्ट होगा।

पहली कारिका में **अविरुद्धक्रियोऽपरः** के स्थान पर **अथ भिन्नक्रियोऽपरः** ऐसा पाठ अपेक्षित है, क्योंकि २.३१७ द्वारा उदाहृत श्लेष भिन्नक्रिय है, अविरुद्धक्रिय नहीं (तु० उक्त पर टि०)।

स्वभावमधुराः स्निग्धाः[4] शंसन्त्यो रागमुल्बणम् ।
दृशो दूत्यश्च कर्षन्ति कान्ताभिः प्रेषिताः प्रियान्[5] ॥३१६॥

अभिन्नक्रियं श्लेषमुदाहरति—स्वभावेति। कान्ताभिः प्रियाभिः प्रेषिताः प्रक्षिप्ताः स्वभावमधुराः स्वभावेन मनोहारिण्यः स्निग्धाः प्रेमरसभाविताः उल्बणं प्ररूढम् अधिकमात्रं रागं लौहित्यं शंसन्त्यः प्रकटयन्त्यः दृशः दृष्टयः, अथ च कान्ताभिः प्रेषिताः प्रहिताः स्वभावेन मधुरभाषिण्यः स्निग्धाः स्नेहमय्यः उल्बणम् अतिप्रवृद्धं रागम् (प्रेयसीनां तत्प्रियान् प्रति) अनुरागं शंसन्त्यः निवेदयन्त्यः दूत्यः, प्रियान् कर्षन्ति आवर्जयन्ति। अत्र **कर्षन्तीति** अभिन्नयैव क्रियया श्लिष्टैः पदैरभिहितानां दृशां दूतीनां च संबन्धादभिन्नक्रियः श्लेषः।

प्रेयसियों द्वारा फेंकी गई, स्वभाव से मनोहारी, स्नेहपूर्ण, एवं अनुराग

---

१. -धर्मा। २. वा-। ३. रूपव्यक्तिर्। ४. वक्राः स्वभावमधुराः, यत्र स्व-, वक्र-। ५. प्रियम्।

की लालिमा को प्रकट करने वाली नजरें और प्रेयसियों द्वारा भेजी गई, मधुर स्वभाव वाली, स्नेहमयी तथा (उनके) अतिप्रवृद्ध अनुरागभाव को निवेदित करने वाली दूतियाँ प्रेमियों को आकर्षित कर लेती हैं।

यहाँ 'आकर्षित कर लेती हैं' इस अभिन्न अर्थात् एक ही क्रिया से, श्लिष्ट पदों द्वारा अभिहित दृष्टियों और दूतियों का संबन्ध प्रदर्शित होने से **अभिन्नक्रिय श्लेष** है (तु० सरस्व० ४, उदा० २२६)। यहाँ दीपक की स्थिति भी स्पष्ट है, एवं यह पद्य श्लिष्टार्थदीपक के इस उदाहरण (२.११३) से तुलनीय है : **हृद्यगन्धवहास्तुङ्गास्तमालश्यामलत्विषः। दिवि भ्रमन्ति जीमूता भुवि चैते मतङ्गजाः॥** रङ्गाचार्यशास्त्री ने श्लेष को यहाँ तुल्ययोगिता का निर्वाहक, अतश्च अङ्ग, माना है।

मधुरा रागवर्धिन्यः कोमलाः कोकिलागिरः।
आकर्ण्यन्ते मदकलाः श्लिष्यन्ते चासितेक्षणाः॥३१७॥

भिन्नक्रियं श्लेषं निदर्शयति—**मधुरा** इति। मधुराः मनोहारिण्यः, रागवर्धिन्यः उद्दीपकत्वाद् रागम् अनुरागं वर्धयन्तीति तादृश्यः, कोमलाः अपरुषाः, मदकलाः मदसुभगाः च कोकिलागिरः कोकिलानां वाचः आकर्ण्यन्ते श्रूयन्ते। अथ च मधुराः माधुर्यवत्यः, अनुरागवर्धिन्यः कोमलाः कोमलावयवाः मदकलाः सौभाग्यजनितगर्वयुताः मधुपानजनितमदविह्वलाः वा असितेक्षणाः नीलाभनयनाः रमण्यः श्लिष्यन्ते आलिङ्ग्यन्ते। अत्र **आकर्ण्यन्ते**‍**श्लिष्यन्ते** इति भिन्नाभ्यां क्रियाभ्यां श्लिष्टपदाभिहितानां कोकिलागिरामसितेक्षणानां च संबन्धाद् भिन्नक्रियः श्लेषः।

कोकिलाओं की मधुर, अनुरागवर्धक, कोमल तथा हर्षोन्मत्त कुहू-कुहू की ध्वनि सुनाई पड़ रही है और माधुर्यवती, अनुरागवर्धक, कोमलाङ्गी एवं सौभाग्यमद से (अथवा मधुपानजनित मद से) सुभग श्यामनयना कामिनियों का आलिङ्गन किया जा रहा है।

यहाँ **आकर्ण्यन्ते** और **आलिङ्ग्यन्ते** इन भिन्न क्रियाओं से, श्लिष्टपदों द्वारा अभिहित कोकिलाध्वनियों और असितेक्षणाओं का संबन्ध प्रदर्शित होने से **भिन्नक्रिय श्लेष** है। भोज (सरस्व० ४, उदा० २२८) ने इस पद्य को इसी (भिन्नक्रिय) के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। विभिन्न व्याख्याकारों ने ऊपर संकेतित अपपाठ के आधार पर यहाँ **अविरुद्धक्रिय श्लेष** माना है। रङ्गाचार्यशास्त्री ने इसकी संगति इस प्रकार दिखाई है : **अत्राकर्णनाश्लेषणक्रिययोरेककालीनत्वसंभवेनाविरोधः। श्लेषस्याविरुद्धक्रियासंबन्धश्च स्वाश्रयविशेषणविशेष्ययोः कोकिलालापासितेक्षणयोः कर्मत्वेन संबन्धात् तत्संबन्धेन परंपरया**

बोध्यः। परंतु यह व्याख्या समीचीन नहीं प्रतीत होती।

रागमादर्शयन्नेष वारुणीयोगवर्धितम्।
पराभवति[1] घर्मांशुरङ्गजस्तु[2] विजृम्भते ॥३१८॥

विरुद्धक्रियं श्लेषमुदाहरति—**रागमिति।** एष घर्मांशुः सूर्यः वारुणीयोगेन पश्चिमदिक्संबन्धेन वर्धितं समेधितं रागम् अरुणिमानम् आदर्शयन् प्रकाशयन् पराभवति अस्तंगच्छति। एषः अङ्गजः कामदेवः तु वारुण्याः तदाख्यसुरायाः योगेन सेवनेन वर्धितं रागम् अनुरागं रक्तिमानं वा आदर्शयन् प्रकटयन् विजृम्भते समुदेति समुद्दीप्तो भवति। अत्र श्लिष्टपदाभिहितसूर्यकामदेवयोः पराभवन-विजृम्भणरूपविरुद्धक्रियाभ्यां संबन्धाद्विरुद्धक्रियः श्लेषः।

यह सूर्य पश्चिमदिशा के संपर्क से बढ़ी हुई अपनी लाली को बिखेरता हुआ अस्त हो रहा है; दूसरी ओर, यह कामदेव वारुणी (नामक मदिरा) के सेवन से बढ़ी आसक्ति (अथवा लाली) को प्रकट करता हुआ प्रबल रूप में उदित हो रहा है।

यहाँ श्लिष्ट पदों द्वारा अभिहित सूर्य और कामदेव का परस्पर विरुद्ध क्रियाओं—क्रमशः 'अस्त होना' और 'उदित होना'—से संबन्ध प्रदर्शित होने से **विरुद्धक्रिय श्लेष** है।

निस्त्रिंशत्वमसावेव धनुष्येवास्य वक्रता।
शरेष्वेव नरेन्द्रस्य मार्गणत्वं च वर्तते ॥३१९॥

नियमवन्तं श्लेषमुदाहरति—**निस्त्रिंशत्वमिति।** अस्य नरेन्द्रस्य राज्ञः असौ खड्गे एव निस्त्रिंशत्वं त्रिंशदङ्गुल्यधिकपरिमाणत्वं तदाख्यखड्गविशेषत्वं वा वर्तते, न त्वस्य मनसि निस्त्रिंशत्वं निर्दयत्वम् अस्ति। अस्य धनुषि कार्मुके एव वक्रता भुग्नता, न त्वस्य स्वभावे वक्रता कुटिलत्वम् अस्ति। अथ च अस्य शरेषु बाणेषु एव मार्गणत्वं बाणत्वम् अस्ति, न त्वस्य प्रजासु मार्गणत्वं याचकत्वं वर्तते। अत्र प्रत्येकमेवकारेण अस्यादिष्वेव निस्त्रिंशत्वादीनां श्लिष्टपदाभिहितानां नियमनाद् नियमवान् श्लेषः। अर्वाचीनैस्त्वयं परिसंख्येति व्याख्यातः।

इस राजा की तलवार में ही निस्त्रिंशता (=निस्त्रिंश—तीस अंगुलियों से अधिक परिमाण वाला अथवा निस्त्रिंश नामक तलवार—होने का गुण) है (इसके हृदय में निस्त्रिंशता—निर्दयता—नहीं है); इसके धनुष में ही वक्रता —टेढ़ापन—है (इसके स्वभाव में वक्रता—कुटिलता—नहीं है); और इसके

---

१. -पतति, तिरो-। २. -जश्च।

बाणों में ही मार्गणत्व—बाणत्व—है (इसकी प्रजा में मार्गणत्व—याचकत्व —नहीं है)।

यहाँ श्लिष्ट पदों से अभिहित निस्त्रिंशत्व आदि का तलवार आदि में ही नियमन होने से **नियमवान् श्लेष** है। उत्तरवर्ती आलंकारिकों के अनुसार यह श्लेषमूलक परिसंख्या अलंकार है। परिसंख्या की परिभाषा इस प्रकार है : **परिसंख्या निषिध्यैकमेकस्मिन् वस्तुयन्त्रणम्** (कुवलया० ११३)।

पद्मानामेव दण्डेषु कण्टकस्त्वयि रक्षति।
अथवा दृश्यते रागिमिथुनालिङ्गनेष्वपि ॥३२०॥

नियमाक्षेपरूपोक्तिं श्लेषं निदर्शयति—**पद्मानामिति**। त्वयि राजनि रक्षति भुवं पालयति पद्मानां कमलानाम् एव दण्डेषु नालेषु कण्टकः तीक्ष्णाग्रावयवः दृश्यते, अथवा स कण्टकः रोमाञ्चलक्षणः रागिमिथुनस्य अनुरक्तस्त्रीपुंसयुगलस्य आलिङ्गनेषु परिरम्भेषु अपि दृश्यते। नोक्तद्वयेतरस्मिन् पदार्थे तव प्रजाजने राज्ये वा कोऽपि कण्टकः शत्रुलक्षणोऽस्तीत्यर्थः। अत्र **पद्मानामेवेति** नियमस्य **अथवेत्यादिना** आक्षेपः, तद्रूपा चेयं श्लिष्टोक्तिरिति अत्र नियमाक्षेपरूपोक्तिश्लेषः।

(हे राजन्,) आपके (पृथ्वी के) रक्षक होने पर कमल-नालों में ही कण्टक—काँटे—दीख पड़ते हैं, अथवा (रोमाञ्च के रूप में) वे कण्टक प्रेमी युगल के आलिङ्गनों में भी लक्षित होते हैं (इनसे भिन्न, आपके प्रजाजन अथवा राज्य में कहीं कण्टक—शत्रु—नहीं हैं)।

यहाँ 'कमल-नालों में ही' कहकर (श्लिष्ट पद) कण्टक की विद्यमानता का पहले नियमन करके पुनः उसका 'प्रेमी युगल के आलिङ्गनों में भी' कहकर आक्षेप किया गया है, अतः **नियमाक्षेपरूपोक्ति श्लेष** है। उत्तरकालीन आचार्यों के अनुसार यहाँ आक्षेप अलंकार से संकीर्ण परिसंख्या है।

महीभृद् भूरिकटकस्तेजस्वी नियतोदयः।
दक्षः प्रजापतिश्चासीत् स्वामी शक्तिधरश्च सः ॥३२१॥

अविरोधिश्लेषमुदाहरति—**महीभृदिति**। स महीभृद् राजा (पक्षे पर्वतः) भूरिकटकः विशालस्कन्धावारः सुवर्णवलयहस्तश्च (पर्वतपक्षे विपुलनितम्बः), तेजस्वी प्रतापवान् शूरश्च (पक्षे सूर्यः), नियतोदयः प्रतिदिवसजायमानाभ्युदयः सततसमृद्धिश्च (सूर्यपक्षे प्रतिदिवसजायमानोदयः), दक्षः निपुणः (पक्षे तदाख्यः प्रजापतिः) प्रजापतिः प्रजापालकः (पक्षे प्रजापतिर्ब्रह्मा), स्वामी प्रभुः (पक्षे कार्त्तिकेयः) शक्तिधरः शक्तिमान् प्रभावमन्त्रोत्साहशक्तिसंपन्नश्च (पक्षे शक्त्या-

ख्यायुधविशेषधरः कार्त्तिकेयः) आसीत् । अत्र श्लिष्टानां **महीभृदादिपदानां** परस्परार्थसंबन्धे विरोधाभावादविरोधी श्लेषः ।

वह राजा भूरिकटक (=विशाल स्कन्धावार अथवा छावनी से युक्त एवं हाथ में सोने का कड़ा धारण किए हुए) था। वह तेजस्वी (=तेजोदीप्त और शूरवीर) एवं नियतोदय (=नियमित रूप से अभ्युदयशाली और निरन्तर समृद्धि से संपन्न) था। वह दक्ष प्रजापति (=निपुण प्रजापालक) था। वह स्वामी (=भूमि का स्वामी) और शक्तिधर (=शक्तिमान्, अथवा प्रभाव, मन्त्र और उत्साह नामक राजशक्तियों को धारण करने वाला) था। [अन्य अर्थ : वह महीभृत् (=पहाड़) भूरिकटक (=विशाल मध्यभाग वाला) है। तेजस्वी (=सूर्य) नियतोदय (=प्रतिदिन उदित होने वाला) है। दक्ष सृष्टिकर्ता प्रजापति-विशेष था। स्वामी (=कार्त्तिकेय) शक्तिधर (=शक्ति नामक अपने आयुध-विशेष को धारण करने वाला) है।]

यहाँ **महीभृत्** आदि सभी शब्द श्लिष्ट हैं। इन श्लिष्ट पदों के परस्पर अर्थसंबन्ध में कहीं भी विरोध उपस्थित नहीं होता। अतः यहाँ **अविरोधी श्लेष** है। भूरि के 'सुवर्ण' अर्थ के लिए, द्र० **अमरकोश : स्वर्णेऽपि भूरिचन्द्रौ द्वौ।** प्रस्तुत उदाहरण की दूसरी पंक्ति उत्तरकालीन पुनरुक्तवदाभास अलंकार (तु० **साद० १०.२**) की प्रेरणा का मूल प्रतीत होती है।

अच्युतोऽप्यवृषोच्छेदी[1] राजाप्यविदितक्षयः।
देवोऽप्यविबुधो जज्ञे शंकरोऽप्यभुजङ्गवान् ॥३२२॥

विरोधिश्लेषमुदाहरति—**अच्युत** इति। अच्युतः विष्णुः अपि अवृषोच्छेदी वृषाख्यस्य असुरस्य अहन्ता, राजा चन्द्रमाः अपि अविदितक्षयः अज्ञातापचयः अक्षीयमाणः, देवः सुरः अपि अविबुधः सुरभिन्नः, शंकरः शिवः अपि अभुजङ्गवान् सर्परहितः कोऽपि स स्तूयमानो राजा जज्ञे। इत्येवमर्थे अच्युतोऽपि न कथं वृषोच्छेदीत्यादिरूपो विरोधः, यतो विष्णुर्हि वृषोच्छेदी, चन्द्रमाः क्षयी, देवो विबुधः, शंकरश्च भुजङ्गवान् विदितः। तात्त्विकोऽर्थस्त्वत्रायम्—स पुरुषः न्यायमार्गाद् अच्युतः अभ्रष्टः, अवृषोच्छेदी न धर्मोच्छेदकरः अधर्मोच्छेदकरो वा, राजा च सन् सः अविदितक्षयः अज्ञातक्षयरोगः अज्ञातसंपत्क्षयो वा, देवः दिव्यप्रभावः सः अविबुधः न विद्वज्जनसंपर्करहितः (अर्थाद् बुधजनोपेतः), शंकरः कल्याणकारी च सः अभुजङ्गवान् न भुजङ्गैः खलैः सेवितः अजायत अज्ञायत वा। आभासमानेऽर्थे विरोधसद्भावाद्विरोधी श्लेषोऽयम्।

---

१. -वृषच्छेदी।

(आभासमान विरोधयुक्त अर्थ :) वह अच्युत (=विष्णु) होते हुए भी वृष (नामक राक्षस) का उच्छेदक नहीं था, राजा (=चन्द्रमा) होते हुए भी वह क्षयरहित था, देव (=सुर) होते हुए भी वह विबुध (=सुर) नहीं था, एवं शंकर होते हुए भी वह सर्पों से युक्त न था। [वास्तविक विरोधरहित अर्थ : वह न्यायमार्ग से अविचलित तथा अधर्म का उच्छेदक था, वह नृपति था एवं सतत उत्थानशील (अथवा क्षयरोगरहित) था, वह दिव्य प्रभाव वाला था एवं विद्वज्जन से संपृक्त था, और वह कल्याणकारी था एवं भुजङ्गों (=दुष्टों) से सेवित न था।]

यहाँ **अच्युत** आदि श्लिष्ट पदों के प्रथम (आभासमान) अर्थ के परस्परविरोधी होने के कारण **विरोधी श्लेष** है। वस्तुतः यहाँ विरोध (तु २.३३३-४०) या विरोधाभास अलंकार है; श्लेष उसके अङ्ग अथवा शोभापोषक तत्त्व के रूप में आया है।

गुणजातिक्रियादीनां यत्तु[1] वैकल्यदर्शनम्।
विशेषदर्शनायैव सा विशेषोक्तिरिष्यते ॥३२३॥

पञ्चविंशमलंकारं विशेषोक्तिं लक्षयति—**गुणेति**। विशेषस्य कार्योत्पत्तिरूपस्य विशेषस्य कार्यविषयस्य वा अतिशयस्य दर्शनाय प्रतिपत्तये गुणजातिक्रियादीनाम् (आदिना द्रव्यपरिग्रहः) यद् वैकल्यस्य अभावस्य असमग्रभावस्य वा दर्शनं प्रकाशनं सा तद्रूपा उक्तिः विशेषोक्तिः इष्यते, विशेषप्रतिपत्तिमूलत्वादित्यर्थः।

कार्योत्पत्तिरूप विशेष (अथवा कार्यविषयक अतिशय) का प्रतिपादन करने के लिए गुण, जाति, क्रिया आदि (=और द्रव्य) के अभाव या असमग्रभाव के वर्णन को (विशेषप्रतिपादनात्मक उक्ति होने के कारण) विशेषोक्ति कहते हैं।

कुछ व्याख्याकारों ने **वैकल्यदर्शन** का अर्थ 'कार्यसिद्धि में अनुपयोगित्व (तु० जीवानन्द विद्यासागर, नृसिंहदेवशास्त्री) अथवा निष्फलत्व (तु० रङ्गाचार्यशास्त्री) का प्रतिपादन' किया है। यह अर्थ वक्ष्यमाण उदाहरणों से पुष्ट नहीं होता। रत्नश्रीज्ञान ने **वैकल्य** का अर्थ 'अभाव' किया है जो अधिक उपयुक्त है। 'अभाव' के साथ यहाँ 'असमग्रभाव' का ग्रहण भी अभीष्ट है। दण्डी की विशेषोक्ति उत्तरकालीन विशेषोक्ति, जिसमें कारण के रहते हुए भी कार्य के अभाव का वर्णन होता है (तु० **साद० १०.६७ : सति हेतौ फलाभावो विशेषोक्तिः**), से सर्वथा भिन्न है। दूसरी ओर, यह बाद के विषम (तु० **साद० १०.**

---

१. यत्र, यत्तद्।

६६ : गुणौ क्रिये वा चेत् स्यातां विरुद्धे हेतुकार्ययोः) से अंशतः तुलनीय है। जयदेव (५.७५) की विभावना के निम्नलिखित प्रभेद से इसका पर्याप्त साम्य है : **हेतूनामसमग्रत्वे कार्योत्पत्तिश्च सा मता । अस्त्रैरतीक्ष्णकठिनैर्जगज्जयति मन्मथः ॥** (तु० दण्डी का वक्ष्यमाण उदाहरण **न कठोरं** इत्यादि)। इसकी व्याख्या करते हुए अप्पय दीक्षित (**कुवलया० ७८ वृत्ति**) ने लिखा है : **इमां विशेषोक्तिरिति दण्डी व्याजहार।···अस्माभिस्तु तीक्ष्णत्वादिवैकल्यमपि कारण-विशेषाभावरूपमिति विभावना प्रदर्शिता।** स्पष्टतः दीक्षित के अनुसार 'हेतुओं का असमग्रत्व' ही गुण, जाति आदि का 'वैकल्य' है। भोज (**सरस्व० ४.७०**), **अग्निपुराण** (३४४.२६-७) के लेखक और विश्वेश्वर (**चम०, पृ० २३५**) ने इस अलंकार की दण्डि-प्रदत्त परिभाषा को ग्रहण किया है।

न कठोरं न वा तीक्ष्णमायुधं पुष्पधन्वनः ।
तथापि जितमेवासीदमुना भुवनत्रयम् ॥३२४॥

गुणवैकल्यदर्शनरूपां विशेषोक्तिमुदाहरति—**न कठोरमिति**। पुष्पधन्वनः कामदेवस्य आयुधं प्रहरणं न कठोरं कठिनं, न वा तीक्ष्णं निशितम्, तथापि अमुना देवेन भुवनत्रयं त्रिभुवनं जितम् एव आसीत्। अत्र कामदेवास्त्रे कठोरत्वतीक्ष्णत्वयोर्गुणयोर्वैकल्यं (अभावः) दर्शितं, तच्च वैकल्यदर्शनं त्रिभुवनजयकार्यविषयस्यातिशयस्य दर्शनायेति गुणवैकल्यवती विशेषोक्तिः।

कामदेव का अस्त्र न कठोर है और न ही तीक्ष्ण है, फिर भी उसने तीनों लोकों को जीत ही लिया।

यहाँ कामदेव के अस्त्र में कठोरता और तीक्ष्णता—इन गुणों का वैकल्य (=अभाव) दिखाया गया है, और यह उसके द्वारा त्रिभुवनविजयकार्य-विषयक अतिशय का प्रतिपादन करने के लिए किया गया है। इस प्रकार यहाँ **गुणवैकल्यवती विशेषोक्ति** है (तु० **सरस्व० ४, उदा० १६५**)।

न देवकन्यका नापि गन्धर्वकुलसंभवा ।
तथाप्येषा तपोभङ्गं विधातुं वेधसोऽप्यलम् ॥३२५॥

जातिवैकल्यदर्शनरूपां विशेषोक्तिं निदर्शयति—नेति। एषा स्त्री देवकन्यका न अस्ति, नापि गन्धर्वकुलसंभवा गन्धर्वाणां कुले जाता, अप्सराः इत्यर्थः। तथापि एषा वेधसः ब्रह्मणः अपि तपोभङ्गं विधातुं तपो विहन्तुम् अलं समर्था अस्ति। अत्र मानुषीविशेषे देवगन्धर्वजात्योर्वैकल्यं प्रदर्शितं, तच्च वैकल्यप्रदर्शनं तस्या मानुष्याः सौन्दर्यातिशयरूपं विशेषं दर्शयितुं कृतमिति जातिवैकल्यवती विशेषोक्तिः।

यह स्त्री न देवकन्या है और न गन्धर्वकुल में उत्पन्न (कोई अप्सरा) है, फिर भी यह ब्रह्मा की भी तपस्या को भङ्ग करने में समर्थ है।

यहाँ किसी मानुषी में देवजाति और गन्धर्वजाति का अभाव दिखाया गया है, और ऐसा उस स्त्री के रूपसौन्दर्य के अतिशय का प्रतिपादन करने के लिए किया गया है; अतः यह **जातिवैकल्यवती विशेषोक्ति** का उदाहरण है (तु० सरस्व० ४, उदा० १६६)।

न बद्धा भ्रुकुटि[1]र्नापि स्फुरितो दशनच्छदः ।
न च रक्ताभवद् दृष्टिर्जितं[2] च[3] द्विषतां बलम्[4] ॥३२६॥

क्रियावैकल्यवतीं विशेषोक्तिं निदर्शयति—**न बद्धेति**। कस्यापि जगज्जयिनो राज्ञो वर्णनमिदम्। तस्य भ्रुकुटिः भ्रूभङ्गः न बद्धा रचिता, नापि दशनच्छदः अधरः स्फुरितः कम्पितः, न च तस्य दृष्टिः रक्ता रोषारुणा अभवत्। अथ च तदपि द्विषतां शत्रूणां बलं सैन्यं जितं तेन परास्तम्। अत्राखिलजये भ्रुकुटिबन्धनादिक्रियाणां वैकल्यं वर्णितं, तद्वर्णनं च प्रकृतनृपतिप्रतापातिशयरूपविशेषस्य प्रतिपादनार्थमिति क्रियावैकल्यवती विशेषोक्तिः।

(उस राजा की) न भौंहें टेढ़ी हुईं, न होंठ फड़के और न उसकी आँखें लाल हुईं, फिर भी उसने शत्रुओं की सेना को जीत लिया।

यहाँ शत्रुसेना की विजय में भ्रूभङ्गरचना आदि क्रियाओं का अभाव दिखाया गया है, और यह अभावप्रदर्शन राजा के प्रतापातिशय-रूप विशेष अर्थ का प्रतिपादन करने के लिए किया गया है। अतः यहाँ **क्रियावैकल्यवती विशेषोक्ति है (तु० सरस्व० ४, उदा० १६७)**। वस्तुतः यहाँ नेत्ररक्तत्व का अभाव क्रियावैकल्य न होकर गुणवैकल्य है। इस प्रकार इसे क्रियागुणवैकल्यवती विशेषोक्ति का उदाहरण मानना अधिक समीचीन है।

न रथा न च मातङ्गा न हया न च पत्तयः ।
स्त्रीणामपाङ्गदृष्टयैव जीयते जगतां त्रयम् ॥३२७॥

द्रव्यवैकल्यवतीं विशेषोक्तिमुदाहरति—**न रथा** इति। न रथाः स्यन्दनाः, न च मातङ्गाः हस्तिनः, न हयाः अश्वाः, न च पत्तयः पदातयः। एषामभावेऽपि स्त्रीणां रमणीनाम् अपाङ्गदृष्ट्या कटाक्षैः एव जगतां त्रयं भुवनत्रयं जीयते वशीक्रियते। अत्र जगज्जये रथादिद्रव्याणां वैकल्यप्रदर्शनं स्त्रीकटाक्षाणां त्रिभुवनवशीकरणसामर्थ्यविशेषस्य प्रतिपादनाय कृतमिति द्रव्यवैकल्यवती विशेषोक्तिः।

---

१. भ्रू-। २. ध्वस्तं। ३. तद्। ४. कुलम्।

न रथ हैं, न हाथी और घोड़े हैं, और न ही पैदल सैनिक हैं; फिर भी स्त्रियों के कटाक्ष से ही तीनों लोक जीत लिए जाते हैं, अर्थात् स्त्रियाँ अपने कटाक्ष से ही तीनों लोकों को जीत लेती हैं।

यहाँ त्रिभुवनविजय में तदर्थ अपेक्षित रथ आदि द्रव्यों का अभाव दिखाया गया है। उक्त प्रकार का वर्णन विश्व के वशीकरण में स्त्रियों की कनखियों की विशेष शक्ति का प्रतिपादन करने के लिए किया गया है। इस प्रकार यहाँ **द्रव्यवैकल्यवती विशेषोक्ति** है (तु० सरस्व० ४, उदा० १६८)।

एकचक्रो रथो यन्ता विकलो विषमा हयाः।
आक्रामत्येव तेजस्वी तथाप्यर्को[1] जगत्त्रयम्[2] ॥३२८॥

विशेषोक्तेर्विकल्पान्तरमुदाहरति—**एकचक्र** इति। सूर्यस्य रथः एकचक्रः, यन्ता सारथिः अरुणाख्यः विकलः ऊरुहीनः, हयाः अश्वाः च विषमाः सप्तेति विषमसंख्याकाः सन्ति, तथापि साधनसामग्रीवैकल्येऽपि तेजस्वी प्रतापविशेषयुक्तः अर्कः सूर्यः जगत्त्रयं भुवनत्रयम् आक्रामति एव। तदीयं तेजोऽत्र हेतुरित्यर्थः।

(सूर्य का) रथ एक पहिये वाला है, उसका सारथि (अरुण) अङ्गविकल है (=जाँघ से रहित है), और उसके घोड़े विषम संख्या वाले अर्थात् सात हैं; फिर भी तेजस्वी (होने से) वह सूर्य तीनों लोकों में छा जाता है।

सैषा हेतुविशेषोक्तिस्तेजस्वीति विशेषणात्।
अयमेव क्रमोऽन्येषां भेदानामपि कल्पने[3] ॥३२९॥

उक्तमुदाहरणं विश्लेषयन् विशेषोक्तिं चोपसंहरन्नाह—**सैषेति**। सा एषा अनन्तरोदाहृता **तेजस्वीति विशेषणाद्**, हेतुगर्भविशेषणादित्यर्थः, विकलस्याप्यर्कस्य जगत्त्रयाक्रमणसामर्थ्ये तदीयं तेजो हेतुरिति तेजस्विपदेन तद्विशेषकथनाद् हेतुविशेषोक्तिः। अन्येषां भेदानां कल्पने विकल्पानुसंधाने अपि अयमेव पूर्वोक्तः क्रमः अनुगन्तव्यः।

(यहाँ सूर्य के लिए) तेजस्वी यह (हेतुगर्भ) विशेषण देने से, अर्थात् साधनविकल सूर्य के त्रिभुवन में छा जाने के हेतु के रूप में उसके तेज का कथन करने से, यह हेतुविशेषोक्ति (नामक विशेषोक्तिप्रभेद) है। अन्य विशेषोक्तिप्रभेदों की कल्पना में भी इसी क्रम का अनुसरण करना चाहिए।

भोज (सरस्व० ४, उदा० १६९) ने उक्त उदाहरण की अभिधेयविशेषहेतु वैकल्यवद्द्रव्या के रूप में व्याख्या की है। रत्नश्रीज्ञान ने अन्य

१. -प्येको। २. नभस्तलम्। ३. कल्प्यते।

विशेषोक्तिभेदों में अविरुद्धक्रिया-, विरुद्धक्रिया- और चाटु-विशेषोक्ति को निदर्शित किया है।

विवक्षितगुणोत्कृष्टैर्यत्समीकृत्य कस्यचित्।
कीर्तनं स्तुतिनिन्दार्थं सा मता[2] तुल्ययोगिता ॥३३०॥

षड्विंशमलंकारं तुल्ययोगितां परिभाषते—**विवक्षितेति**। विवक्षितः प्रस्तुतगतत्वेन वक्तुमिष्टः यः कश्चिद् गुणः धर्मः साधुरसाधुर्वा तेन उत्कृष्टैः अधिमात्रैः अप्रस्तुतैः (बहुवचनमत्राविवक्षितम्) समीकृत्य तुल्ययोगीकृत्य कस्यचित् प्रस्तुतस्य स्तुतिनिन्दार्थं स्तुत्यर्थं निन्दार्थं वा यत् कीर्तनं सा तल्लक्षणा उक्तिः तुल्ययोगिता नाम मता।

(प्रस्तुत के संबन्ध में) विवक्षित गुण (=अच्छे या बुरे धर्म) में बढ़े-चढ़े (किन्हीं अप्रस्तुतों) से किसी (प्रस्तुत) की तुलना करके, उस प्रस्तुत की स्तुति अथवा निन्दा के प्रयोजन से, उसका वर्णन करना तुल्ययोगिता है।

यह अलंकार दण्डी के अपने तुल्ययोगोपमा नामक उपमाभेद (२.४८-९) से तुलनीय है। उक्त उपमाभेद में **स्तुतिनिन्दार्थत्व** का ग्रहण नहीं है—यही दोनों में अन्तर है। इस संबन्ध में रङ्गाचार्यशास्त्री का यह मत है कि तुल्ययोगोपमा में सादृश्य वृत्तिवेद्य होता है और तुल्ययोगिता में वह वृत्तिवेद्य न होकर पर्यवसानगम्य होता है—यही इन दोनों में अन्तर है (**तुल्ययोगोपमायाम्··· व्यञ्जनयोपस्थितस्यापि सादृश्यस्य वृत्तिवेद्यत्वेन शाब्दबोधाभ्युपगमात्। व्यञ्जनाया वृत्तित्वं च सर्वालंकारिकसंमतम्। तुल्ययोगितायां तु साम्यं न वृत्तिवेद्यं किंतु पर्यवसानगम्यम्। तेन नोभयोः संमर्दः।**)। परंतु यह मत अंशतः ही ग्राह्य प्रतीत होता है।

उत्तरवर्ती आलंकारिकों में इस अलंकार की सीमा संकुचित हो गई। उनके अनुसार, केवल प्रस्तुतों अथवा केवल अप्रस्तुतों की एक धर्म से संबन्धोक्ति तुल्ययोगिता बनी; तु० साद० १०.४७-८ : **पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्॥ एकधर्माभिसंबन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता।** जयदेव (५.४४) ने दण्डी की तुल्ययोगिता को भी तुल्ययोगिता के एक प्रकारविशेष के रूप में यह कहकर ग्रहण किया है : **गुणोत्कृष्टैः समीकृत्य वचोऽन्या तुल्ययोगिता। लोकपालो यमः पाशी श्रीदः शक्रो भवानपि॥** दूसरी ओर, दण्डी की तुल्ययोगिता दीपक की सीमा में प्रवेश कर गई (तु० साद० १०.४८); स्वयं उसकी तुल्ययोगिता के उदाहरण उसके अपने क्रियादीपक (२.९९) के उदाहरण बनने की क्षमता

---

१. -गुणोत्कर्षैर्। २. स्मृता।

रखते हैं (तु० कुवलया० ४७ वृत्ति)।

यमः कुबेरो वरुणः सहस्राक्षो भवानपि ।
बिभ्रत्य[1]नन्यविषयां लोकपाल इति श्रुतिम् ॥३३१॥

स्तुत्यर्थां तुल्ययोगितामुदाहरति—**यम** इति । यमः जीवितेशः दक्षिण-दिक्पतिः, कुबेरः धनपतिः उत्तरदिक्पालः, वरुणः जलेशः पश्चिमदिगधिपतिः, सहस्राक्षः देवराजः इन्द्रः पूर्वदिगीशः अथ च भवान् अपि पृथिवीपतिः अनन्य-विषयाम् अनन्यगामिनीं लोकपालः इति श्रुतिं नाम बिभ्रति धारयन्ति । अत्र प्रस्तुते राजनि लोकपालत्वरूपो गुणो विवक्षितस्तेन च गुणेनोत्कृष्टैर्यमादिभिर्लोक-पालैः समीकृत्य राज्ञः स्तुत्यर्थं कीर्तनं कृतमिति स्तुत्यर्था तुल्ययोगिता ।

यम, कुबेर, वरुण, इन्द्र और, हे राजन्, आप 'लोकपाल' इस अनन्य-विषयक नाम को धारण करते हैं।

यहाँ प्रस्तुत राजा के संवन्ध में लोकपालत्व-रूप गुण विवक्षित है। उक्त गुण में, राजा की अपेक्षा, बढ़े-चढ़े यम आदि देवों से उस राजा की तुलना करने के माध्यम से यहाँ उसका स्तुतिपूर्ण कथन किया गया है, अतः यहाँ **स्तुत्यर्था तुल्ययोगिता** है (तु० सरस्व० ४, उदा० ११६)। इस अलंकार का भामह-प्रदत्त निम्नलिखित उदाहरण (३.२८) दण्डी के उदाहरण से तुलनीय है : **शेषो हिमगिरिस्त्वं च महान्तो गुरवः स्थिराः । यदलङ्घितमर्यादाश्चलन्तीं बिभृथ क्षितिम् ॥**

संगतानि मृगाक्षीणां तडिद्विलसितानि च[2] ।
क्षणद्वयं न तिष्ठन्ति घनारब्धान्यपि स्वयम् ॥३३२॥

निन्दार्थां तुल्ययोगितां निदर्शयति—**संगतानीति** । मृगाक्षीणां रमणीनां स्वयं घनारब्धानि गाढानुरागप्रवृत्तानि अपि संगतानि संगमाः अथ च तडितां विद्युतां स्वयं घनारब्धानि घनैः मेघैः प्रारब्धानि अपि विलसितानि उन्मेषाः क्षणद्वयं द्वौ क्षणौ अपि न तिष्ठन्ति जीवन्ति । अत्र प्रस्तुते मृगाक्षीसंगमे क्षणिकत्वरूपो धर्मो विवक्षितस्तेन चोत्कृष्टेन विद्युद्विलसितेन तस्य निन्दार्थ-स्तुल्ययोगः कथित इति निन्दार्था तुल्ययोगिता ।

मृगनयनियों (=रमणियों) का संगम, चाहे वह उन्हीं के द्वारा प्रगाढ़ (अनुरागभाव से) प्रवर्तित हो, और बिजली की चमक, चाहे वह स्वयं मेघ द्वारा आरब्ध हो,—(ये दोनों) दो क्षण भी नहीं टिकते।

---

१. बिभर्त्य- । २. -तान्यपि ।

यहाँ प्रस्तुत रमणी-संगम में क्षणिकत्व-रूप धर्म विवक्षित है; इस धर्म में उससे भी बढ़ी-चढ़ी बिजली की चमक से तुलना करके उसका निन्दार्थ वर्णन होने से यहाँ **निन्दार्था तुल्ययोगिता** है (**तु० सरस्व० ४, उदा० ११८; कुवलया०** ४७ वृत्ति भी)।

विरुद्धानां पदार्थानां यत्र संसर्गदर्शनम् ।
विशेषदर्शनायैव[1] स विरोधः स्मृतो यथा ॥३३३॥

सप्तविंशमलंकारं विरोधं लक्षयति—**विरुद्धानामिति**। विशेषस्य प्रस्तुतगतोत्कर्षरूपस्य विशेषस्य दर्शनाय बोधनाय एव यत्र उक्तौ विरुद्धानां परस्परप्रतिद्वन्द्विनां सहानवस्थानवतां पदार्थानां क्रियागुणादीनां संसर्गदर्शनं सहावस्थानवर्णनं स्यात्, सः अलंकारः विरोधः तन्नामा स्मृतः कथितः। यथेत्युदाहरणोपक्रमार्थम्।

(प्रस्तुतगत उत्कर्ष रूप) विशेष का प्रतिपादन करने के लिए जहाँ परस्परविरोधी (क्रिया, गुण आदि) पदार्थों के सांनिध्य अथवा सहावस्थान का वर्णन हो, वहाँ विरोध अलंकार माना जाता है।

दण्डी की विरोधसंकल्पना में आभास-तत्त्व की स्पष्ट स्थिति नहीं है, यद्यपि उसके द्वारा प्रदत्त इसके उदाहरणों में विरोध का आभासमानत्व है। वामन (४.३.१२) और उसके बाद के आलंकारिकों में इस तत्त्व का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। फलतः अन्ततोगत्वा विरोध का यह लक्षण प्रायः सर्वमान्य हुआ: **विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः (काप्र० १०.११०)**। विरोध का उक्त लक्षण दण्डी के विरोधिश्लेष के उदाहरण (२.३२२) एवं विरोध के अन्तिम उदाहरण (२.३३९) पर ही पूर्णतः लागू होता है।

कूजितं राजहंसानां वर्धते मदमञ्जुलम् ।
क्षीयते च मयूराणां रुतमुत्क्रान्तसौष्ठवम् ॥३३४॥

क्रियाविरोधमुदाहरति—**कूजितमिति**। राजहंसानां मदमञ्जुलं हर्षोन्मादमधुरं कूजितं कूजितध्वनिः वर्धते उपचीयते, मयूराणां च उत्क्रान्तसौष्ठवम् अपगतमाधुर्यं रुतं केकाशब्दः क्षीयते अपचीयते। अत्र वृद्धिक्षयरूपयोर्विरुद्धयोः क्रिययोः एकस्मिन् काले शरदि सहावस्थानवर्णनाद्विरोधः, संबन्धिभेदेन च तत्प्रशमनम्। वर्णनं चेदं शरत्कालस्यैकजातीययोरपि हंसमयूरयोरेवंविधवलावलकारित्वरूपं विशेषं दर्शयितुं प्रवृत्तम्।

---

१. विरोध–, विरोधसाधना–।

राजहंसों का हर्षोन्माद से मधुर कूजन बढ़ रहा है, और मयूरों की माधुर्यहीन केकाध्वनि घट रही है।

यहाँ एक ही समय में 'बढ़ना' और 'घटना' रूप विरुद्ध क्रियाओं के सहावस्थान का वर्णन होने से विरोध है जिसका प्रशमन संबन्धिभेद से (=कूजन का संबन्ध भिन्न पक्षियों के साथ होने से) होता है। उक्त प्रकार का वर्णन शरद् ऋतु के उत्कर्षरूप विशेष का प्रतिपादन करने के लिए है। इस प्रकार यह क्रियाविरोध का उदाहरण है।

प्रावृषेण्यैर्जलधरैरम्बरं दुर्दिनायते ।
रागेण पुनराक्रान्तं[1] जायते जगतां मनः ॥३३५॥

गुणविरोधमुदाहरति—**प्रावृषेण्यैरिति**। प्रावृषेण्यैः वर्षाकालभवैः जलधरैः मेघैः कारणैः अम्बरम् आकाशं दुर्दिनायते मेघाच्छन्नत्वाद् श्यामलं भवति, जगतां जगति वसतां मनुष्याणां मनः पुनः तैरेव मेघैः कारणैः रागेण लौहित्येन (पक्षे अनुरागेण) आक्रान्तं व्याप्तं जायते। अत्र अभिन्नकारणजातयोः श्यामलत्वलौहित्ययोर्विरुद्धयोर्गुणयोः एकत्रैव काले (प्रावृषि) संसर्गवर्णनाद्विरोधः, रागस्यानुरागरूपार्थान्तरेण च तत्परिहारः। वर्णनं चेदं वर्षाकालस्य प्रभावातिशयरूपं विशेषं प्रतिपादयितुं प्रवृत्तम्।

वर्षाकालीन इन बादलों से आकाश तो (मेघाच्छन्न होकर) श्यामल हो रहा है, परंतु सांसारिक लोगों का हृदय (अनुराग की) लाली से भर रहा है।

यहाँ अभिन्नकारणरूप मेघों से संजात श्यामलता और रक्तता गुणों का एक ही काल में संसर्गदर्शन होने से विरोध है जिसका परिहार **राग** का अर्थ 'अनुराग' करने से होता है। यह वर्णन वर्षाकाल की प्रभावातिशय-रूप विशेषता का बोध कराता है। इस प्रकार यह गुणविरोध का उदाहरण है।

तनुमध्यं पृथुश्रोणि रक्तौष्ठ[2]मसितेक्षणम् ।
नतनाभि वपुः स्त्रीणां कं न हन्त्युन्नतस्तनम् ॥३३६॥

गुणविरोधे निदर्शनान्तरमाह—**तनुमध्यमिति**। स्त्रीणां तनुमध्यं कृशकटिप्रदेशं, पृथुश्रोणि विपुलनितम्बं, रक्तौष्ठं रक्तवर्णाधरयुतम्, असितेक्षणं श्यामनयनं, नतनाभि निम्ननाभिदेशम्, तथा च उन्नतस्तनं तुङ्गपयोधरं वपुः शरीरं (कर्तृ) कं पुमांसं न हन्ति पीडयति, सर्वमपि जनं पीडयतीत्यर्थः। अत्र

---

१. पुनरुत्सिक्तं। २. रक्तोष्ठम्।

स्त्रीशरीरे तनुत्वपृथुत्वयोः रक्तत्वासितत्वयोः नतत्वोन्नतत्वयोश्चेति परस्परविरुद्धानां गुणानां सहावस्थानवर्णनाद् विरोधः, आश्रयीभूतावयवभेदेन च तत्परिहारः। वर्णनं चेदं नायिकागतं लावण्यातिशयरूपं विशेषं ख्यापयितुं प्रवृत्तमिति गुणविरोधालंकारः।

रमणियों का कृश कटि परंतु विपुल नितम्बभाग वाला, लाल होठों परंतु श्यामलवर्ण आँखों से युक्त तथा गहरी नाभि परंतु उठे उरोजों वाला (सुगठित-सुन्दर) शरीर किस पुरुष को कामपीडित नहीं कर देता ?

यहाँ स्त्रियों के शरीर में कृशता-विपुलता, रक्तता-श्यामलता और नतता-उन्नतता—इन परस्परविरोधी गुणों के सहावस्थान का वर्णन होने से विरोध है। इन गुणों के आश्रयभूत अङ्गों के भेद से विरोध का प्रशमन होता है। उक्त प्रकार का वर्णन रमणियों के लावण्यातिशय-रूप विशेष का प्रतिपादन करने के लिए हुआ है। इस प्रकार यह गुणविरोध का उदाहरण है।

मृणालबाहु रम्भोरु पद्मोत्पलमुखेक्षणम् ।
अपि ते रूपमस्माकं तन्वि तापाय कल्पते ॥३३७॥

उदाहरणान्तरमाह—**मृणालेति**। हे तन्वि कृशाङ्गि, मृणालबाहु कमलनालकोमलभुजं, रम्भोरु कदलीस्तम्भसदृशवृत्तजङ्घाकाण्डं, पद्मोत्पलमुखेक्षणं पद्मम् इव विकसितं मुखं नीलोत्पले इव चासिते लोचने यत्र तत् तादृशम् अपि मृणालरम्भापद्मोत्पलादिशीतलवस्तुसरूपम् अपि ते तव रूपं रूपवद् शरीरम् अस्माकं त्वत्संगमविरहितानां तापाय संतापाय कल्पते प्रभवति। अत्र शीतलवस्तुसारूप्यगम्यनायिकाङ्गशैत्यस्य धर्मस्य तद्विरुद्धस्य च तापकत्वस्य धर्मस्य सहावस्थानवर्णनाद् विरोधः, मृणालरम्भादीनां बाहूर्वादीनां च समानधर्मत्वेन शैत्यस्याविवक्षितत्वाच्च तत्परिहारः। वर्णनं चेदं नायिकाङ्गलावण्यविशेषप्रतिपत्तये प्रवृत्तमित्यत्र गुणविरोधालंकारः।

हे सुन्दरी, कमलनाल के समान (कोमल) बाँहों वाला, कदलीस्तम्भ के समान (गोल और भरी) जाँघों वाला, कमलसदृश (सुन्दर) वदन से युक्त तथा नीलोत्पल के समान (श्यामल) नयनों वाला (होता हुआ) भी तेरा यह रूप (=सुन्दर शरीर) हमें संतापित करता है।

यहाँ कमलनाल, कदलीस्तम्भ आदि शीतल द्रव्यों से उपमित होने वाले नायिकाशरीर के शीतलता-रूप प्रतीयमान धर्म और उसके तापकत्व-रूप धर्म के सहावस्थान का वर्णन होने से विरोध है, परंतु वस्तुतः कमलनाल, कदलीस्तम्भ आदि और बाँह, जाँघ आदि के बीच समानधर्म के रूप में शीतलता का ग्रहण यहाँ अभिप्रेत नहीं है—यह यहाँ विरोधपरिहार का कारण

है। उक्त प्रकार का वर्णन नायिका के लावण्यातिशय का प्रतिपादन करने के लिए है। इस प्रकार यह गुणविरोध का उदाहरण है।

उद्यानमारुतोद्धूताश्चूतचम्पकरेणवः।
उदश्रयन्ति[1] पान्थानामस्पृशन्तोऽपि लोचने[2] ॥३३८॥

क्रियाविरोधे उदाहरणान्तरमाह—**उद्यानेति**। उद्यानमारुतेन उपवनपवनेन उद्धूताः उन्नीताः चूतानाम् आम्राणां चम्पकानां च रेणवः परागाः पान्थानां प्रवासिनां विरहिणां लोचने नयने अस्पृशन्तः अपि ते उदश्रयन्ति अश्रुपूर्णे कुर्वन्ति। अत्र अस्पर्शोदश्रयणयोः विरुद्धक्रिययोः अभिन्नाधिकरणत्वेन सहावस्थानवर्णनाद् विरोधः, आम्रचम्पकपरागाणां चोद्दीपकत्वकल्पनया तत्परिहारः। वर्णनं चेदृशं वसन्तागमे वियोगिनामुत्कण्ठातिशयं सूचयितुं प्रवृत्तमित्यत्र क्रियाविरोधोऽलंकारः।

उपवन की पवन से उड़ाई गई आम्र और चम्पक की पुष्पधूलि (विरही) पथिकजनों की आँखों को, उनका स्पर्श किए बिना ही, अश्रुपूर्ण कर देती है।

यहाँ आँखों को न छूना और उन्हें अश्रुपूर्ण कर देना—इन विरुद्ध क्रियाओं के सहावस्थान का वर्णन होने से विरोध है जिसका परिहार आम्र और चम्पक की पुष्पधूलि के, विरहिजनों के लिए, उद्दीपक होने की कल्पना से होता है। उक्त प्रकार का वर्णन वसन्त के आगमन पर प्रवासी विरहियों के उत्कण्ठातिशय को सूचित करने के लिए है। इस प्रकार यह क्रियाविरोध का उदाहरण है। अप्पय दीक्षित (कुवलया० ७८ वृत्ति) ने इस पद्य को हेतु की असमग्रता में कार्योत्पत्तिवर्णन-रूप विभावना के उदाहरण के रूप में उद्धृत करके लिखा है : **अत्र बाष्पोद्गमनहेतूनामसमग्रत्वं स्पर्शनक्रियावैकल्यम्। इमां विशेषोक्तिरिति दण्डी व्याजहार। यतः···[अत्र] चम्पकरेणूनामुद्दीपकतारूपातिशयरूपः···विशेषः ख्याप्यत इति। अस्माभिस्तु···[स्पर्शनक्रियावैकल्यमपि] कारणविशेषाभावरूपमिति विभावना प्रदर्शिता।** संभव है, काव्यादर्श में इस पद्य की स्थिति विशेषोक्तिप्रकरण (२. ३२३-६) में रही हो।

कृष्णार्जुनानुरक्तापि दृष्टिः कर्णावलम्बिनी।
याति विश्वसनीयत्वं कस्य ते कलभाषिणि ॥३३९॥

द्रव्ये विरोधमाह—**कृष्णेति**। हे कलभाषिणि मधुरभाषिणि, कृष्णे वासु-

---

१. उदस्र-। २. लोचनम्।

देवे अर्जुने पार्थे च अनुरक्ता कृतप्रणया अपि कर्णावलम्बिनी तद्विपक्षम् अङ्ग-राजं कर्णम् अवलम्बते इति सा तादृशी ते दृष्टिः कस्य जनस्य विश्वसनीयत्वं विश्वासपात्रत्वं याति ? विरुद्धपक्षद्वयपातित्वाद् अविश्वास्या खलु ते दृष्टिरित्यर्थः। अत्र कृष्णार्जुनानुरक्तत्वकर्णावलम्बित्वयोर्विरोधः आभासते। वस्तुतस्तु कृष्णा श्यामा क्वचिच्च अर्जुना धवला अनुरक्ता ईषद्रक्ता च अथ च कर्णं श्रोत्रप्रदेशं यावद् अवलम्बते इति तादृशी आकर्णगामिनी तव दृष्टिरिति कृष्णादिश्लिष्ट-पदानामर्थान्तरोद्भावनया अविरोधः। वर्णनं चेदं नायिकादृष्टेः सौन्दर्यातिशय-मायतत्वं च बोधयितुं प्रवृत्तमित्यत्र द्रव्यविरोधोऽलंकारः।

कृष्ण और अर्जुन के प्रति अनुरागपूर्ण होती हुई भी (उनके विरोधी) कर्ण का आश्रय लेने वाली [परिहारपक्ष में : कृष्ण (=श्यामल) तथा कहीं अर्जुन (=धवल) एवं कुछ रक्तिमायुक्त और कानों तक फैली हुई] तुम्हारी दृष्टि, हे मधुरभाषिणी, किसका विश्वास पा सकती है ?

यहाँ परस्परविरोधी द्रव्यरूप कृष्ण-अर्जुन और कर्ण का संसर्गवर्णन होने से द्रव्यविरोध है। यह विरोध वास्तविक न होकर आभासमान है। यह पद्य उत्तरवर्ती आचार्यों के विरोध अलंकार को पूर्णतः निदर्शित करता है। इस दृष्टि से यह स्वयं दण्डी के विरोधिश्लेष के उदाहरण (२.३२२) से भी तुलनीय है; तु० हेमचन्द्र: **काअनु०, पृ० ३४६,** एवं **सरस्व० ४, उदा० २४१,** जहाँ यह पद्य विरोध और श्लेष के संकर के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है।

इत्यनेकप्रकारोऽयमलंकारः प्रतायते[1] ।
अप्रस्तुतप्रशंसा स्यादप्रक्रान्तेषु या[2] स्तुतिः ॥३४०॥

विरोधमुपसंहरन्नप्रस्तुतप्रशंसां चाष्टाविंशमलंकारं प्रस्तुवन्नाह—**इतीति**। इति एवम् अयम् अलंकारः विरोधाख्यः अनेकप्रकारः प्रतायते प्रसरति। अथ अप्रक्रान्तेषु (बहुवचनमत्राविवक्षितम्) अप्रस्तुतेषु, अप्रस्तुतानामप्रस्तुतस्य वेति भावः, या स्तुतिः प्रस्तुतनिन्दार्था प्रशंसा सा तल्लक्षणा अप्रस्तुतप्रशंसा तन्नामा-ऽलंकारः स्यात्।

इस प्रकार अनेक विकल्पों वाला यह (विरोध) अलंकार प्रसार पाता है। अप्रस्तुत पदार्थ अथवा पदार्थों की (प्रस्तुत की निन्दा करने की दृष्टि से की गई) स्तुति को अप्रस्तुतप्रशंसा कहते हैं।

अप्रस्तुतप्रशंसा की यह संकल्पना उत्तरवर्ती युग में व्याजस्तुति की व्यापक-तर सीमा में समाविष्ट हो गई (तु० २.३४२, ३४३ पर टि०)। दूसरी ओर,

---

१. प्रतीयते, –कारोऽतिशोभते। २. अप्रक्रान्तेप्सिता, –प्सित–, अप्रकाण्डे-तु (तु० कुवलया० ७०-१ वृत्ति)।

इसकी नई संकल्पना का उदय हुआ जिसके अनुसार अप्रस्तुत के **वर्णन** (**प्रशंसा** नहीं) से प्रस्तुत की प्रतीति इसका विषय बनी; द्र० **अलंसर्व० ३४ : अप्रस्तुतात् सामान्यविशेषभावे कार्यकारणभावे सारूप्ये च प्रस्तुतप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसा** ।; तु० साद० १०.५८-६ भी । इस अलंकार की यह संकल्पना दण्डी की समासोक्ति (२.२०५-१३) से मेल खाती है ।

सुखं जीवन्ति हरिणा वनेष्वपरसेविनः ।
अन्नै[1]रयत्नसुलभैस्तृण[2]दर्भाङ्कुरादिभिः ॥३४१॥

अप्रस्तुतप्रशंसामुदाहरति—सुखमिति । वनेषु अरण्येषु अपरसेविनः परं कंचिदन्यं न सेवन्ते इति तादृशाः, स्वतन्त्रा इत्यर्थः, अयत्नसुलभैः यत्नविशेषं विनापि प्राप्यैः सुखलभ्यैः तृणदर्भाङ्कुरादिभिः अन्नैः भोज्यद्रव्यैः सुखलभ्यैः सुखं सुखपूर्वकं जीवन्ति जीवनं यापयन्ति ।

जंगलों में, दूसरों की सेवा न करने वाले अर्थात् स्वतन्त्र मृग, बिना प्रयास के सुलभ तिनके, दाभ के अंकुर आदि भोज्यवस्तुओं से सुखपूर्वक अपना जीवन बिताते हैं ।

सेयमप्रस्तुतैवात्र मृगवृत्तिः प्रशस्यते ।
राजानुवर्तनक्लेशनिर्विण्णेन मनस्विना ॥३४२॥

उक्तमुदाहरणं व्याचष्टे—सेयमिति । राजानुवर्तनं नृपतिपरिचरणं तदेव क्लेशः दुःखं ततः निर्विण्णेन निर्वेदम् अतिविरक्तिं गतेन केनापि मनस्विना स्वाभिमानवता जनेन सा इयम् अत्र अप्रस्तुता एव मृगवृत्तिः हरिणजीवनपद्धतिः प्रशस्यते, तत्प्रशंसाद्वारा च तेनात्मजीवनवृत्तिरधिक्षिप्यत इति शेषः । एवं चात्राप्रस्तुतप्रशंसा ।

यहाँ (उक्त उदाहरण में) राजसेवा-रूप क्लेश से तंग आ गए किसी स्वाभिमानी व्यक्ति ने अप्रस्तुत मृगवृत्ति की प्रशंसा की है (एवं तद्द्वारा अपनी जीवनवृत्ति को कोसा है) ।

अप्पय दीक्षित (कुवलया० ७०-१ वृत्ति) ने व्याजस्तुति के प्रसङ्ग में उक्त २.३४० (उत्तरार्ध), ३४१-२ को उद्धृत करके लिखा है : **वस्तुतस्त्वत्र व्याजस्तुतिरित्येव युक्तं, स्तुत्या निन्दाभिव्यक्तिरित्यप्रस्तुतप्रशंसातो वैचित्र्यविशेषसद्भावात् । अन्यथा प्रसिद्धव्याजस्तुत्युदाहरणेष्वप्यप्रस्तुताभ्यां निन्दास्तुतिभ्यां प्रस्तुते स्तुतिनिन्दे गम्येते इत्येतावता व्याजस्तुतिमात्रमप्रस्तुतप्रशंसा**

१. अर्थैः, जलैः । २. –भैर्जल– ।

स्यात् । एवं चानया प्रक्रियया यत्रान्यगतस्तुतिविवक्षयान्यस्तुतिः क्रियते तत्रापि व्याजस्तुतिरेव…।

यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ मता[1] ।
दोषाभासा गुणा एव लभन्ते ह्यत्र[2] संनिधिम् ॥३४३॥

अथैकोनत्रिंशमलंकारं व्याजस्तुतिं लक्षयति—यदीति । यदि कश्चित् कविः निन्दन् इव स्तौति तदा असौ तदुक्तिः व्याजस्तुतिः मता । एवं हि अत्र दोषाभासाः दोषवद् आभासमानाः गुणाः एव संनिधिम् अवस्थानं लभन्ते, दोषत्वेन प्रतीयमाना गुणा एवात्र वर्ण्यन्त इत्यर्थः ।

यदि कोई (कवि) निन्दा करता हुआ-सा स्तुति करता है तो वह (उसकी उक्ति) व्याजस्तुति मानी जाती है। इस प्रकार यहाँ दोषों के समान प्रतीत होने वाले गुणों का ही वर्णन किया जाता है।

व्याजस्तुति की यह संकल्पना दण्डी द्वारा व्याख्यात लेश अलंकार के द्वितीय रूप (२.२६८-७२) से मेल खाती है, यद्यपि लेश के उक्त रूप में गुणों के समान प्रतीत होने वाले दोषों का वर्णन भी समाविष्ट है। उत्तरवर्ती आलंकारिकों ने लेश के इस व्यापक रूप को व्याजस्तुति के रूप में प्रस्तुत किया है; द्र० काप्र० १०.११२ : **व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा** । भोज (सरस्व० ४.५६) और विश्वेश्वर (चम०, पृ० २२५) ने तो लेश और व्याजस्तुति का एकीकरण ही कर दिया है। अप्पय दीक्षित (कुवलया० ७१ वृत्ति) ने व्याजस्तुति के एकविषयक और भिन्नविषयक—ये दो भेद माने हैं; इनमें दूसरा भेद दण्डी की अप्रस्तुतप्रशंसा को अपने में अन्तर्भुक्त कर लेता है (तु० २.३४२ पर टि०)।

तापसेनापि रामेण जितेयं भूतधारिणी ।
त्वया राज्ञापि सैवेयं जिता मा भून्मदस्तव ॥३४४॥

व्याजस्तुतिमुदाहरति—तापसेनेति । रामेण परशुरामेण तापसेन तपस्विना अपि, सैन्यबलहीनेनापीत्यर्थः, इयं भूतधारिणी पृथिवी जिता विजिता। त्वया राज्ञा अपि, सैन्यबलसंपन्नेनापीति यावत्, सा एव इयं पृथिवी जिता । अतः तव मदः पृथिवीजयाहंकारः मा भूत् न भवतु, न ते गर्वस्यात्रावसरः। अत्र प्रस्तुतस्य राज्ञ आपाततो निन्दा प्रतीयते, वस्तुतस्तु जितसमस्तमहीमण्डलस्य तस्य स्तुतिरियम् इत्यत्र व्याजस्तुतिः ।

---

१. स्मृता । २. तत्र ।

परशुराम ने तपस्वी होते हुए, अर्थात् सैन्यबल से रहित होते हुए, भी इस पृथ्वी को जीत लिया था; उसे ही तुमने राजा होते हुए, अर्थात् सैन्यबल से संपन्न होते हुए, जीता है। अतः तुम्हें (इस बात पर) गर्व नहीं होना चाहिए।

यहाँ प्रस्तुत राजा की निन्दा आभासित होती है, परंतु वास्तव में परशुराम से उसकी तुलना करके समस्त पृथ्वी के विजेता के रूप में उसकी स्तुति की गई है। इस प्रकार यह **व्याजस्तुति** है।

पुंसः पुराणादाच्छिद्य श्रीस्त्वया परिभुज्यते।
राजन्निक्ष्वाकुवंश्यस्य[1] किमिदं तव युज्यते ॥३४५॥

अथ श्लेषानुविद्धां व्याजस्तुतिं निदर्शयति—**पुंस इति**। हे राजन्, पुराणात् पुंसः पुराणपुरुषाद् विष्णोः आच्छिद्य बलादपहृत्य श्रीः लक्ष्मीः त्वया परिभुज्यते निषेव्यते। पक्षान्तरे—कस्माच्चित् पुराणाद् वृद्धाद् अकिंचित्करात् पुंसः आच्छिद्य त्वया संपत्तिः परिभुज्यते इति। अतश्च इक्ष्वाकुवंश्यस्य तादृशे उच्चकुले जातस्य तव किम् इदं वृद्धपुरुषाच्छिन्नधननिषेवणरूपं कर्म युज्यते? नैवेदं युक्तं तव तादृशवंशसंभवस्येत्यर्थः। अत्रापाततः प्रतीयमानया राज्ञो निन्दया तत्स्तुतिर्विधीयते, स्तुतिश्चेयं श्लेषानुगतेति श्लेषानुविद्धा व्याजस्तुतिः।

हे राजन्, तुम पुराणपुरुष (विष्णु) से (राज-)लक्ष्मी छीनकर [दूसरे पक्ष में : किसी बूढ़े व्यक्ति से उसकी संपत्ति छीनकर] उसका उपभोग कर रहे हो। क्या यह काम इक्ष्वाकुवंश (जैसे उच्चकुल) में जन्म लेने वाले तुम्हारे लिए उचित है?

यहाँ प्रस्तुत राजा की निन्दा आभासित होती है, परंतु विष्णु से उसकी तुलना करके यहाँ उसकी स्तुति की गई है। **पुराणपुरुष** और **श्री** में श्लेष होने से यह श्लेषानुविद्ध व्याजस्तुति का उदाहरण है। भोज (**सरस्व० ४, उदा० १२७**) ने इस पद्य को शुद्धा व्याजस्तुति के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

भुजङ्गभोगसंसक्ता[2] कलत्रं तव मेदिनी।
अहंकारः परां कोटिमारोहति कुतस्तव ॥३४६॥

श्लिष्टव्याजस्तुतेरपरमुदाहरणमाह—**भुजङ्गेति**। भुजङ्गस्य शेषनागस्य भोगे फणमण्डले संसक्ता व्यवस्थिता (पक्षान्तरे भुजङ्गानां धूर्तानां भोगे संभोगविषये संसक्ता आसक्ता निरता वा) मेदिनी पृथिवी तव कलत्रं भार्या वर्तते।

---

१. –वंशस्य। २. –संक्रान्ता।

एवं स्थिते तव अहंकारः पृथिवीपतिरस्मीति गर्वः परां कोटिं प्रकर्षसीमां कुतः कथम् आरोहति, न युक्तस्ते गर्व इत्यर्थः। अत्रापाततः प्रतीयमाना निन्दा सकलभूमण्डलाधीशोऽसीति स्तुतिरेव, सा च भुजङ्गभोगसंसक्तेत्यत्र श्लेषस्थितेः श्लेषानुविद्धा।

(शेष)नाग के फणमण्डल पर स्थित [दूसरे पक्ष में : धूर्त लोगों के विषयभोग में आसक्त] यह पृथ्वी, (हे राजन्,) तुम्हारी भार्या है। ऐसी स्थिति में, तुम्हारा (पृथ्वीपति होने का) अभिमान क्यों पराकाष्ठा को पहुँच रहा है?

यहाँ प्रस्तुत राजा की आभासमान निन्दा वस्तुतः उसके अखिल भूमण्डल पर आधिपत्य की स्तुति है। **भुजङ्गभोगसंसक्ता** में श्लेष होने से यहाँ **श्लेषानुविद्ध व्याजस्तुति** है।

इति श्लेषानुविद्धाना[1]मन्येषां चोपलक्ष्यताम्।
व्याजस्तुतिप्रकाराणामपर्यन्तः[2] प्रविस्तरः ॥३४७॥

व्याजस्तुतिमुपसंहरति—इतीति। इति एवमुक्तदिशा श्लेषानुविद्धानां श्लेषानुगतानाम् अन्येषां च व्याजस्तुतिप्रकाराणाम् अपर्यन्तः अपरिमितः प्रविस्तरः प्रपञ्चः उपलक्ष्यतां काव्यप्रयोगेषु लक्ष्यताम्।

इस प्रकार उक्त दिशा से व्याजस्तुति के श्लेष से अनुविद्ध एवं अन्य नानाविध विकल्पों के अपरिमित प्रपञ्च को (काव्यप्रयोगों में) देखना चाहिए।

अर्थान्तरप्रवृत्तेन[3] किंचित्तत्सदृशं फलम्।
सदसद्वा निदर्श्येत यदि[4] तत्स्यान्निदर्शनम्[5] ॥३४८॥

त्रिंशमलंकारं निदर्शनं लक्षयति—अर्थान्तरेति। यदि अर्थान्तरप्रवृत्तेन कार्यान्तरसाधननिरतेन केनचिद् वस्तुना कर्तृभूतेन तत्सदृशं तेन कार्येण सदृशं किंचित् फलं सद् इष्टम् असद् अनिष्टं वा निदर्श्येत प्रतिपाद्येत, तदा तद् एवंलक्षणं निदर्शनं तदाख्योऽलंकारः स्यात्।

किसी अन्य कार्य में लगे किसी वस्तु द्वारा यदि उस कार्य के समान ही कोई इष्ट अथवा अनिष्ट फल (=कार्य) निर्दशित (=प्रतिपादित) किया जाए, तब वहाँ निदर्शन नामक अलंकार होता है।

उत्तरवर्ती युग में इस अलंकार की सीमा में विस्तार हुआ, और अन्ततः

---

१. -वद्धानाम्। २. -न्तस्तु विस्तरः। ३. अर्थान्तरस्य वृत्तेन। ४. यत्तु।
५. सा स्यान्निदर्शना, स्यात्तन्नि-।

संभव अथवा असंभव वस्तुसंबन्ध द्वारा बिम्बानुबिम्बभाव के प्रदर्शन को निदर्शना माना गया; तु० साद० १०.५१ : **संभवन्वस्तुसंबन्धोऽसंभवन्वापि कश्चन। यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना॥** जयदेव (५.५२-३) और अप्पय दीक्षित (कुवलया० ५५-६ वृत्ति) ने दण्डी के निदर्शन को उसके उदाहरणों समेत प्रस्तुत किया है, यद्यपि उन्होंने इसकी दो अन्य संकल्पनाओं को प्रमुखता दी है।

उदयन्नेव[1] सविता पद्मेष्वर्पयति श्रियम्।
विभावयितुमृद्धीनां[2] फलं सुहृदनुग्रहम् ॥३४९॥

सत्फलनिदर्शनं निदर्शयति—**उदयन्निति**। सविता सूर्यः उदयन् उदयमाप्नुवन् एव ऋद्धीनां संपदां फलं प्रयोजनं सुहृदनुग्रहं मित्रबन्धुजनोपकरणं विभावयितुं दर्शयितुम्, मित्रजनोपकरणं हि संपदां प्रयोजनमिति आत्मोदाहरणेन बोधयितुमित्यर्थः, पद्मेषु कमलेषु श्रियं विकासलक्षणां लक्ष्मीं शोभां वा अर्पयति निधत्ते। अत्र पद्मशोभाधानकर्मणि प्रवृत्तः उदयन् सूर्यः तत्सदृशं सुहृदनुग्रहरूपमुदयस्य सत्फलं निदर्शयतीति सत्फलनिदर्शनम्।

सूर्य उदित होते ही, 'संपदा अथवा अभ्युदय का प्रयोजन मित्रों का उपकार करना है'—यह (अपने उदाहरण द्वारा) निर्दशित करने के लिए, कमलों में (विकासरूप) शोभा भरता है।

यहाँ कमलों में शोभा के आधानरूप कर्म में प्रवृत्त सूर्य तद्द्वारा अभ्युदय के प्रयोजन के रूप में मित्रजन के उपकार रूप इष्ट फल को निदर्शित करता है; अतः यहाँ **सत्फलनिदर्शनरूप निदर्शन** अलंकार है (तु० **सरस्व० ३, उदा० ८४; चन्द्रा० ५.५३; कुवलया० ५६**)। भामह (३.३४) ने इस प्रसङ्ग में अस्तकालीन सूर्य द्वारा असत्फल के निदर्शन को उदाहृत किया है : **अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रति यियासति। उदयः पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान् ॥**; तु० **साद०** (१०.५१ वृत्ति) में संभवद्वस्तुसंबन्ध निदर्शना का उदाहरण भी।

याति चन्द्रांशुभिः स्पृष्टा ध्वान्तराजिः[3] पराभवम्।
सद्यो राजविरुद्धानां सूचयन्ती दुरन्तताम् ॥३५०॥

असत्फलनिदर्शनमुदाहरति—**यातीति**। चन्द्रांशुभिः इन्दुरश्मिभिः स्पृष्टा ध्वान्तराजिः तमःसंघातः राजविरुद्धानां चन्द्रप्रतिकूलानां नृपतिविरोधिनां च दुरन्ततां दुःखपूर्णान्तताम् अनर्थनिष्ठतां सूचयन्ती बोधयन्ती सद्यः तत्क्षणम् एव पराभवं विनाशं याति। अत्र चन्द्रकिरणैः पराभूयमाना ध्वान्तराजिः राजद्रोहिषु

१. –न्नेष। २. विभावयन्समृद्धीनां। ३. –राजी, –राशिः।

दुःखावसानरूपम् असत्फलं निदर्शयतीति असत्फलनिदर्शनम् ।

चन्द्रमा की किरणों द्वारा स्पर्श की जाती हुई ही अन्धकारराशि, 'राजा (=चन्द्र अथवा नृपति) के विरोधियों का अन्त दुःखपूर्ण होता है'— इस तथ्य का बोध कराती हुई, तत्क्षण विनाश को प्राप्त होती है।

यहाँ चन्द्रकिरणों से पराभूत हो रही अन्धकारराशि राजविरोध के असत् फल को निदर्शित करती है; अतः यहाँ **असत्फलनिदर्शनरूप निदर्शन है** (तु० **सरस्व० ३, उदा० ८८**)।

सहोक्तिः सहभावस्य[1] कथनं गुणकर्मणाम् ।
अर्थानां यो विनिमयः परिवृत्तिस्तु सा स्मृता[2] ॥३५१॥

एकत्रिंशं द्वात्रिंशं चालंकारौ सहोक्तिपरिवृत्त्याख्यौ लक्षयति—**सहोक्तिरिति**। गुणकर्मणां गुणानां कर्मणां क्रियाणां च (बहुवचनेन जातिद्रव्ययोः परिग्रहः) सहभावस्य युगपत् सत्तायाः कथनं वर्णनं सहोक्तिः तन्नामा अलंकारः। संबन्धिभेदेन भिन्नानामपि गुणक्रियादीनामभिन्नकालिकतया कथनं सहोक्तिरिति भावः। अथ अर्थानां वस्तूनां यः विनिमयः दानप्रतिग्रहणक्रिया सा तल्लक्षणा, तद्वर्णनरूपेत्यर्थः, तु परिवृत्तिः स्मृता मता। वक्ष्यमाणैरुदाहरणैरेतयोः स्वरूपमाविर्भविष्यति।

गुणों अथवा क्रियाओं के एक साथ होने या घटित होने का वर्णन सहोक्ति है। वस्तुओं का परस्पर विनिमय (=आदानप्रदान) परिवृत्ति है।

सहोक्ति की संकल्पना में उत्तरवर्ती युग में कोई विशेष अन्तर नहीं आया, यद्यपि विभिन्न आचार्यों ने इसमें औपम्य (रुय्यक : **अलंसर्व० २९ वृत्ति**) अथवा अतिशयोक्ति (विश्वनाथ : **साद० १०.५४-५ : सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः॥ सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत्।**) के अस्तित्व का उल्लेख किया, एवं तदनुसार इसकी व्याख्या की। **अग्निपुराण** (३४४.२३) के लेखक ने इसकी दण्डि-प्रदत्त परिभाषा को ही ग्रहण किया। परिवृत्ति अलंकार की संकल्पना में भी कोई अन्तर नहीं आया; हाँ, इसकी व्याख्या और विकल्पकल्पना में सूक्ष्मता अवश्य आई। सम, न्यून और अधिक से विनिमय के आधार पर इसके तीन भेद किए गए (तु० **साद० १०.८० : परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत्**)। दूसरी ओर, भोज (**सरस्व० ३.२९**) ने विनिमय के साथ व्यत्यय (=परस्पर स्थानान्तरण) को भी इस अलंकार का विषय बना दिया।

---

१. -भावेन। २. यथा।

सह दीर्घा मम श्वासै[1]रिमाः संप्रति रात्रयः ।
पाण्डुराश्च[2] ममैवाङ्गैः सह ताश्चन्द्रभूषणाः ॥३५२॥

गुणसहोक्तिमुदाहरति—**सहेति** । संप्रति इमाः रात्रयः विरहपीडामनुभवन्त्याः मम श्वासैः निश्वसितैः सह दीर्घाः आयताः भवन्ति । चन्द्रभूषणाः चन्द्ररूपभूषणवत्यः च ताः रात्रयः मम एव अङ्गैः सह पाण्डुराः श्वेताभाः जायन्ते । अत्र संबन्धिभेदाद् भिन्नयोरपि दीर्घत्वपाण्डुरत्वयोर्गुणयोः सहभावस्य वर्णनाद् गुणसहोक्तिः ।

इस समय (मेरे वियोगकाल में) ये रातें मेरी साँसों के साथ ही लम्बी हो गई हैं, और चाँदनी से युक्त होकर ये मेरे अङ्गों के साथ ही सफ़ेद पड़ गई हैं ।

यहाँ संबन्धिभेद से भिन्न दीर्घत्व और पाण्डुरत्व गुणों के सहभाव का वर्णन होने से **गुणसहोक्ति** है (तु० **सरस्व०** ४, उदा० १३४; हेमचन्द्र : **काअनु०**, पृ० ३२७; **अलंकारशेखर**, पृ० ३६) । यहाँ **चन्द्रभूषण** पद में श्लेष की स्थिति भी है । अङ्गों के पक्ष में इसका अर्थ होगा 'सोने के आभूषणों से अलंकृत' । श्लेष यहाँ सहोक्ति के पोषक तत्त्व के रूप में आया है ।

वर्धते सह पान्थानां मूर्च्छया चूतमञ्जरी ।
वहन्ति[3] च समं तेषामश्रुभि[4]र्मलयानिलाः ॥३५३॥

क्रियासहोक्तिमुदाहरति—**वर्धत** इति । चूतमञ्जरी आम्रमञ्जरी पान्थानां प्रवासिनां विरहिणां मूर्च्छया सह वर्धते । मलयानिलाः दक्षिणमारुताः च तेषां वियोगिनाम् अश्रुभिः समं सह वहन्ति । अत्र मूर्च्छावृद्धिचूतमञ्जरीवृद्ध्योः अश्रुप्रवाहमलयानिलप्रवाहयोश्च क्रियायुग्मयोः सहभाववर्णनात्क्रियासहोक्तिः ।

आम्रमञ्जरी प्रवासी पथिकों की मूर्च्छा के साथ बढ़ रही है, और मलयपर्वत की हवाएँ उनके आँसुओं के साथ बह रही हैं ।

यहाँ मूर्च्छावृद्धि और मञ्जरीवृद्धि इन क्रियायों का एवं अश्रुप्रवाह और मलयानिलप्रवाह इन क्रियाओं का सहभाव वर्णित होने से **क्रियासहोक्ति** है (तु० **सरस्व०** ४, उदा० १३१; **अलंकारशेखर**, पृ० ३६) । यहाँ पूर्ववर्णित सहज चित्रहेतु (२.२५३,२५६) भी है (तु० **रत्नश्री**; प्रेमचन्द्र तर्कवागीश, रङ्गाचार्यशास्त्री भी) । परंतु यहाँ चमत्कार का प्रमुख आधार सहभावकथन होने से सहोक्ति की प्रधानता है । दूसरी ओर, **आविर्भवति नारीणां वयः पर्यस्तशैशवम् । सहैव विविधैः पुंसामङ्गजोन्मादविभ्रमैः ॥** (२.२५६) में कार्यकारणभाव का वैचित्र्य

---

१. प्राणैर् । २. पाण्डराश्च । ३. पतन्ति । ४. असुभिर् ।

होने से चित्रहेतु की प्रधानता है।

कोकिलालापसुभगाः सुगन्धिवनवायवः।
यान्ति सार्धं जनानन्दैर्वृद्धिं सुरभिवासराः ॥३५४॥

क्रियासहोक्तेरुदाहरणान्तरमाह—**कोकिलेति**। कोकिलानाम् आलापैः कुहूध्वनिभिः सुभगाः मनोहराः, सुगन्धिवनवायवः विकसितपुष्पतया सुगन्धयुतोपवनवाताः, सुरभिवासराः वसन्तदिवसाः जनानन्दैः लोकानां प्रीतिभिः सार्धं सह वृद्धिं यान्ति वर्धन्ते। अत्र सुरभिवासरवृद्धिजनानन्दवृद्ध्योः क्रिययोः सहभावकथनात् क्रियासहोक्तिः।

कोकिलों की कुहू-ध्वनि से हृदयहारी एवं (खिले फूलों से) सुगन्धित वन-पवन वाले ये वसन्त ऋतु के दिन लोगों के आनन्द-उल्लास के साथ बढ़ रहे हैं।

यहाँ वासंतिक दिनों का बढ़ना और लोगों के आनन्द का बढ़ना—इन क्रियाओं का सहकथन होने से क्रियासहोक्ति है (तु० सरस्व० ४, उदा० १२६ भी)। भामह (३.४०) का उदाहरण इससे तुलनीय है : **हिमपाताविलदिशो गाढालिङ्गनहेतवः। वृद्धिमायान्ति यामिन्यः कामिनां प्रीतिभिः सह ॥**

इत्युदाहृतयो दत्ताः सहोक्तेरत्र काश्चन।
क्रियते परिवृत्तेश्च किंचिद्रूपनिरूपणम्[1] ॥३५५॥

सहोक्तिमुपसंहरन् परिवृत्तिं चोपक्रममाण आह—**इतीति**। इति एवम् अत्र सहोक्तेः काश्चन उदाहृतयः दत्ताः प्रस्तुताः। अथ परिवृत्तेः प्राग् लक्षितायाः उदाहरणद्वारा किंचिद् रूपनिरूपणं स्वरूपप्रदर्शनं क्रियते।

इस प्रकार यहाँ सहोक्ति के कुछ उदाहरण दिए गए। अब (पहले, २.३५२ में, लक्षित) परिवृत्ति अलंकार का स्वरूप (उदाहरण द्वारा) निरूपित किया जाता है।

शस्त्रप्रहारं ददता भुजेन तव भूभुजाम्।
चिरार्जितं हृतं तेषां यशः कुमुदपाण्डुरम्[2] ॥३५६॥

परिवृत्तिमुदाहरति—**शस्त्रेति**। भूभुजां राज्ञां, शत्रुनृपतिभ्यः इत्यर्थः, शस्त्रप्रहारं कृपाणादिभिः शस्त्रैः प्रहारं ददता प्रयच्छता तव भुजेन बाहुना तेषां राज्ञां चिरार्जितं चिरात् समुपार्जितं कुमुदपाण्डुरं कुमुदवद् धवलं यशः हृतं

---

१ -निदर्शनम्। २. -पाण्डरम्।

गृहीतम् । अत्र शस्त्रप्रहारयशसोः विनिमयो वर्णित इति परिवृत्तिरलंकारः ।

(शत्रु-) राजाओं को शस्त्रप्रहार देकर तुम्हारी भुजा ने (उसके बदले) उन राजाओं का चिरकाल से उपार्जित (=संचित), कुमुद के समान शुभ्र, यश ले लिया ।

उत्तरवर्ती आचार्यों के अनुसार यहाँ न्यून प्रदान से अधिक आदान रूप परिवृत्ति है । रत्नश्रीज्ञान ने इसका यह अन्य उदाहरण दिया है : **जगतां प्रीतिसर्वस्वं धैर्यं मतिमतामपि । कटाक्षमात्रमुत्सृज्य गृह्णन्ति हरिणीदृशः ॥** कुन्तक (**वक्रोक्ति०** ३, पृ० २०४) ने दण्डी के उदाहरण को उद्धृत करके उसमें बहुधर्मिगत परिवृत्ति की स्थिति मानी है । रुय्यक (**अलंसर्व०** ६२) द्वारा प्रदत्त इसका निम्नलिखित उदाहरण दण्डी के उदाहरण से तुलनीय है : **उरो दत्वामरारीणां येन युद्धेष्वगृह्यत । हिरण्याक्षवधाद्येषु यशः साकं जयश्रिया ॥**

आशीर्नामाभिलषिते वस्तुन्याशंसनं यथा ।
पातु वः[1] परमं ज्योतिरवाङ्मनसगोचरः[2] ॥३५७॥

त्रयस्त्रिंशमलंकारमाशिषमाह—**आशीरिति** । अभिलषिते अभीष्टे वस्तुनि पदार्थे आशंसनं आशंसावचनम् आशीः तन्नामा अलंकारः । यथा—अवाङ्मनसगोचरः वाक् च मनश्च वाङ्मनसे (**अचतुरे**त्यादिना सूत्रेण समासान्तोऽच्) तयोः अगोचरः अविषयः, वाचा मनसा च प्राप्तुमशक्यम्, परमं ज्योतिः परमात्मसंज्ञं तेजः वः युष्मान् पातु रक्षतु । अत्राभिलषितं रक्षणमाशस्यत इत्याशीः ।

अभीष्ट वस्तु के लिए आशंसावचन (=आशीर्वाद) को आशीः (अलंकार) कहते हैं । यथा—'वाणी और मन के विषय से अतीत (=तद्द्वारा अप्राप्य) परम ज्योति अर्थात् परमात्म-रूप ज्योति तुम्हारी रक्षा करे ।'

भामह (३.५५) ने निम्नलिखित शब्दों में इस अलंकार के प्रति अपनी उदासीनता दिखाई है : **आशीरपि च केषांचिदलंकारतया मता ।** कुन्तक (**वक्रोक्ति०** ३, सु. कु. दे का संस्करण, पृ० २२०) ने इसके अलंकारत्व का खण्डन किया है । उत्तरवर्ती युग में इसका ग्रहण प्रायः नाट्यालंकार के रूप में किया गया (तु० **साद०** ६.१९५) ।

अनन्वयससंदेहावुपमास्वेव दर्शितौ ।
उपमारूपकं चापि रूपकेष्वेव दर्शितम्[3] ॥३५८॥

प्रागुद्दिष्टानलंकारान्निरूप्याधुना मतान्तरोक्तानां केषांचिदलंकाराणां स्वो-

१. नः । २. -गोचरम् । ३. कीर्तितम् ।

क्तेषु अन्तर्भावं दर्शयन्नाह—**अनन्वयेति**। अनन्वयः ससंदेहः चेति मतान्तरोपात्तावलंकारौ उपमासु तद्भेदेषु एव असाधारणोपमासंशयोपमारूपेण दर्शितौ निदर्शितौ। उपमारूपकं मतान्तरगृहीतः तदाख्योऽलंकारः चापि रूपकेषु रूपकभेदेषु एव तेनैव नाम्ना दर्शितं व्याख्यातम्।

(मतान्तर में स्वतन्त्र अलंकारों के रूप में व्याख्यात) अनन्वय और ससंदेह को उपमा (के भेदों) में ही निर्दशित कर दिया गया है। इसी प्रकार, उपमारूपक को रूपक (के भेदों) में दिखा दिया गया है।

ये अलंकार भट्टि, भामह (३. क्रमशः ४५, ४३, ३५) और वामन (४.३. क्रमशः १४, ११, ३२) द्वारा स्वतन्त्र अलंकारों के रूप में व्याख्यात हुए हैं। दण्डी ने क्रमशः असाधारणोपमा (२.३७), संशयोपमा (२.२६) और उपमारूपक (२.८८-९) के नाम से, उपमा और रूपक के भेद के रूप में, इनकी व्याख्या की है (तु० उक्त पद्यों पर टि०)।

उत्प्रेक्षाभेद एवासावुत्प्रेक्षावयवोऽपि यः[1]।
नानालंकारसंसृष्टिः संसृष्टिस्तु[2] निगद्यते ॥३५९॥

मतान्तरोक्तस्य उत्प्रेक्षावयवस्य उत्प्रेक्षायामन्तर्भावं दर्शयन् चतुस्त्रिंशं चालंकारं संसृष्टिं लक्षयन्नाह—**उत्प्रेक्षेति**। यः उत्प्रेक्षावयवः इति पृथगलंकारः परैर्मन्यते असौ अपि उत्प्रेक्षायाः भेदः विकल्पविशेषः एव। अथ नानालंकाराणां संसृष्टिः एकत्र अवस्थितिः तु संसृष्टिः संकीर्णापराभिधः अलंकारः निगद्यते कथ्यते।

जो (अन्य आचार्यों द्वारा) उत्प्रेक्षावयव (के रूप में पृथक् अलंकार) माना गया है वह भी उत्प्रेक्षा अलंकार का ही एक भेद है। अनेक अलंकारों की संसृष्टि (=एकत्र अवस्थिति) को संसृष्टि (अथवा संकीर्ण) कहते हैं।

उत्प्रेक्षावयव का दण्डी के उत्प्रेक्षाभेदों में उल्लेख नहीं है। भामह (३.४७-८) ने इसका इन शब्दों में, स्वतन्त्र अलंकार के रूप में, वर्णन किया है : **श्लिष्टस्यार्थेन संयुक्तः किंचिदुत्प्रेक्षयान्वितः। रूपकार्थेन च पुनरुत्प्रेक्षावयवो यथा ॥** वस्तुतः यह उत्प्रेक्षा की अन्य अलंकारों—श्लेष और रूपक—से संसृष्टि का नाम है। वामन (४.३.३३) ने इसे इसी रूप में ग्रहण किया है, और इसके उदाहरण के रूप में **कुमारसंभव** (८.६३) का यह पद्य उद्धृत किया है : **अङ्गुलीभिरिव केशसंचयं संनिगृह्य तिमिरं मरीचिभिः। कुड्मलीकृतसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥** (तु० **सरस्व०** ४, **उदा०** १०७ भी)। दण्डी द्वारा व्याख्यात अलंकारों के अनेक भेदोपभेद भी वस्तुतः संसृष्टि के रूप हैं।

---

१. च। २. संकीर्णं तु, संसृष्टिः कथ्यते पुनः।

अङ्गाङ्गिभावावस्थानं[1] सर्वेषां समकक्षता[2]।
इत्यलंकारसंसृष्टेर्लक्षणीया द्वयी गतिः ॥३६०॥

संसृष्टेर्भेदद्वयमाह—अङ्गाङ्गीति। अङ्गाङ्गिभावेन गुणप्रधानभावेन अवस्थानं स्थितिः, कस्यचिदलंकारस्य प्राधान्येन कस्यचिच्च गौणभावेन अवस्थितिः, सर्वेषां च संसृज्यमानानाम् अलंकाराणां समकक्षता तुल्यबलता, स्वातन्त्र्येण अवस्थानम्, इति अलंकारसंसृष्टेः द्वयी गतिः द्विविधा व्यवस्था, रूपद्वयमित्यर्थः, लक्षणीया द्रष्टव्या।

(संसृष्ट हो रहे अलंकारों की) गौण और प्रधान भाव से स्थिति एवं उनकी समकक्ष रूप में (स्वतन्त्र) स्थिति—ये अलंकारों की संसृष्टि के दो रूप हैं।

ये दो संसृष्टिप्रकार प्रायः उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा क्रमशः संकर और संसृष्टि के रूप में अपनाए गए। संकर में अङ्गाङ्गिभाव के साथ एकाश्रयस्थिति और संदिग्धता को भी समाविष्ट किया गया। विश्वनाथ (साद० १०.६८) द्वारा प्रदत्त इनकी परिभाषा इस प्रकार है: **मिथोऽनपेक्षमेतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते॥ अङ्गाङ्गित्वेऽलंकृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ। संदिग्धत्वे च भवति संकरस्त्रिविधः पुनः॥**

आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे तव मुखश्रियम्[3]।
कोश[4]दण्डसमग्राणां किमेषामस्ति दुष्करम्॥३६१॥

अङ्गाङ्गिभावावस्थानरूपां संसृष्टिमुदाहरति—आक्षिपन्तीति। हे मुग्धे, अरविन्दानि पद्मानि तव मुखश्रियं वदनशोभाम् आक्षिपन्ति निन्दन्ति, तुलयन्तीति भावः। कोशेन कुड्मलेन दण्डेन नालदण्डेन च समग्राणां संयुतानाम् एषां पद्मानां (संबन्धविवक्षायां षष्ठी) किं खलु कर्म दुष्करं दुःसाध्यं वर्तते, न हि किंचिद् इत्यर्थः। कोशदण्डाभ्यां युक्तानां (राज्ञां) न किमप्यसाध्यमित्यप्यर्थोऽत्र समापतति। एवमिह उपमायाः प्रधानभावेन श्लेषानुविद्धस्य चार्थान्तरन्यासस्याङ्गभावेन स्थितेः अङ्गाङ्गिभावावस्थानरूपा संसृष्टिः।

हे मुग्धे, ये कमल तुम्हारे मुख की कान्ति को आक्षिप्त करते हैं (=नीचा दिखाते हैं, =के समान हैं; तु० २.६२)। कोश (=डोडी) और दण्ड (=नालदण्ड) से समन्वित इन (कमलों) के लिए कौन-सा काम कठिन है?

यहाँ उपमा की प्रधानभाव से एवं श्लेषानुविद्ध अर्थान्तरन्यास की गौणभाव से स्थिति होने से अङ्गाङ्गिभाव संसृष्टि है (तु० सरस्व० ५, उदा०

---

१. -भावसंस्थानं। २. -कक्ष्यता। ३. -श्रियः। ४. कोष-।

५०३ भी)। हेमचन्द्र (काअनु०, पृ० ३४६) ने यहाँ श्लेष और अर्थान्तरन्यास का अङ्गाङ्गिभाव संकर माना है। विश्वनाथ (६.१७५) ने इसे भूषण नामक नाट्यलक्षण के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। दुष्कर के योग में षष्ठी के प्रयोग के संबन्ध में तु० ३.१५१ पर टि०।

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां[1] गता ॥३६२॥[2]

समकक्षतारूपां संसृष्टिं निदर्शयति—**लिम्पतीवेति**। तमः अङ्गानि लिम्पति इव, नभः अञ्जनं वर्षति इव। परिणामतश्च दृष्टिः असत्पुरुषस्य नीचजनस्य सेवा अनुवृत्तिः इव विफलतां निष्फलत्वं गता, वस्तुदर्शनशक्त्यभावादित्यर्थः। अत्र पूर्वार्द्धे उत्प्रेक्षयोः उत्तरार्द्धे चोपमायाः समकक्षतया अन्योन्यनिरपेक्षतयाऽवस्थानात् समकक्षतारूपा संसृष्टिः।

अन्धकार अङ्गों को मानो लीप रहा है; आकाश मानो सुरमा बरसा रहा है। (फलस्वरूप) दृष्टि, नीच पुरुष की सेवा के समान, निष्फल (=बेकार) हो गई है।

पूर्वार्ध में उत्प्रेक्षा की स्थिति के संबन्ध में ऊपर (२.२२६-३३) विस्तृत चर्चा हो चुकी है। उत्तरार्ध में उपमा है। दोनों की समकक्ष रूप में अन्योन्य-निरपेक्ष स्थिति है। इसलिए यहाँ **समकक्षतारूप संसृष्टि है; तु० सरस्व० ५, उदा० ५०४; काप्र० १०.१३६; अलंसर्व० ८५;** हेमचन्द्र : **काअनु०, पृ० ३४८; कुवलया० १७१ वृत्ति (पृ० २८६)** भी।

श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥३६३॥

अलंकारसंसृष्टौ श्लेषस्य महत्त्वविशेषमाह—**श्लेष** इति। श्लेषः अलंकारः प्रायः सर्वासु वक्रोक्तिषु उक्तिवैचित्र्यरूपेषु उपमादिष्वलंकारेषु श्रियं शोभां पुष्णाति आदधाति, उक्तिवैचित्र्यरूपाः प्रायः सर्वेऽलंकाराः श्लेषानुगताः शोभन्त इति भावः। सर्वेऽप्यलंकाराः खलु नोक्तिवैचित्र्यरूपा इत्याह—वाङ्मयं सकलं काव्यादि स्वभावोक्तिः पदार्थस्वभावाख्यानरूपा वक्रोक्तिः उक्तिवैचित्र्यरूपा च रचना इति द्विधा भिन्नं भिद्यते।

श्लेष अलंकार प्रायः सभी वक्रोक्ति(-रूप अलंकारों) में उनकी शोभा

---

१. निष्फलतां। २. रत्नश्रीज्ञानमतेन श्लोकोऽयं न दण्डिधृतः। कलकत्ताविश्वविद्यालयसंस्करणे ब्रह्मवादिसंस्करणे चापि श्लोकोऽयं नास्ति।

बढ़ाता है। यह समस्त वाङ्मय (=काव्य अथवा साहित्य) स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति—इन दो रूपों में बँटा हुआ है।

इस श्लोक द्वारा आचार्य ने अलंकारों की संसृष्टि में श्लेष का विशेष महत्त्व निर्दिष्ट किया है (तु० २.३१३ भी)। श्लेष, उसके अनुसार, सभी उक्ति-वैचित्र्यरूप अलंकारों—उपमा, रूपक आदि—में शोभाधायक तत्त्व के रूप में आता है। इस प्रकार के सभी उक्तिवैचित्र्यपूर्ण अलंकारों को यहाँ सामान्य रूप से वक्रोक्ति कहा गया है। यह अवधेय है कि वक्रोक्ति का दण्डी ने अलंकार-विशेष के रूप में उल्लेख नहीं किया है। वक्रोक्तिमूलक अलंकारों से भिन्न अलंकार उसे स्वभावोक्ति के रूप में अभीष्ट हैं। यहाँ स्वभावोक्ति को, वक्रोक्ति के तुल्य ही, उसके व्यापक अर्थ में लेना चाहिए। इस प्रकार, इसके अन्तर्गत हम स्वभावोक्ति (अलंकारविशेष), यथासंख्य, सहोक्ति, हेतु, सूक्ष्म, लेश, परि-वृत्ति, आशीः जैसे अलंकारों का ग्रहण कर सकते हैं। दूसरी ओर, उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार वक्रोक्ति के रूप माने जाएंगे। **हृदयंगमा** और **रत्नश्री** के अनुसार, स्वभावोक्ति अलंकार को छोड़कर अन्य सभी अलंकार वक्रोक्ति के अन्तर्गत आते हैं। भामह (१. ३०, ३६) ने वक्रोक्ति के महत्त्व पर विशेष वल दिया है, और इसी तत्त्व के अभाव में उसने हेतु, सूक्ष्म, लेश आदि के अलंकारत्व पर आपत्ति की है (२.८६-७)। वस्तुतः वक्रोक्ति-तत्त्व (जिसे उसने अतिशयोक्ति से अभिन्न माना है) के अभाव में वह अलं-कार की स्थिति ही स्वीकार नहीं करता : **सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते। यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥** (२.८५)। वक्रोक्तिसिद्धान्त की प्रबल व्याख्या उत्तरवर्ती युग में **वक्रोक्तिजीवित** के लेखक कुन्तक द्वारा हुई जिसने उसे काव्य का जीवित अथवा प्राण कहकर सर्वोच्च प्रतिष्ठा दी।

भोज (**सरस्व० ५.८**) ने दण्डी की स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति के साथ रसोक्ति का भी वाङ्मय-रूप के तौर पर ग्रहण किया है, और उसे 'सर्वानुग्रा-हिणी' कहा है।

भाविकत्वमिति[1] प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि संस्थितः[2] ॥३६४॥

पञ्चत्रिंशमन्तिममर्थालंकारमाह—भाविकत्वमिति। प्रबन्धः काव्य-प्रबन्धः विषयः यस्य तं प्रबन्धविषयं प्रबन्धं व्याप्य स्थितं भावलक्षणं गुणं भाविकत्वम् इति प्राहुः। कः खलु भावपदार्थ इति तं लक्षयति—काव्येषु काव्य-

१. तद् भाविकमिति, भाविकं तमिति। २. यः स्थितः, काव्येष्वस्य व्यवस्थितिः।

ग्रन्थेषु आसिद्धि आदितः प्रबन्धविषयां सिद्धिं परिपूर्णतां यावत् संस्थितः कवेः काव्यकर्तुः अभिप्रायः काव्यविशेषसृष्टिप्रयोजकः मनःसंकल्पविशेषः भावः मतः ।

(समस्त काव्य-)प्रबन्ध में व्याप्त होने वाले गुण(-विशेष) को भाविकत्व **कहते हैं। काव्यग्रन्थों में उनकी परिपूर्णता-पर्यन्त स्थित रहने वाले कवि के अभिप्राय को भाव कहा जाता है (जिसपर कि भाविकत्व आधारित होता है)।**

भाविक(त्व) का दण्डी की अलंकारव्यवस्था में विशिष्ट स्थान है। यह अलंकार होते हुए भी 'गुण' कहा गया है, और वह भी प्रबन्धविषय—संपूर्ण प्रबन्धग्रन्थ में व्याप्त। यही कारण है कि दण्डी ने इसे उदाहृत नहीं किया है, और इसे संसृष्टि के भी बाद में रखा है। कारिका की प्रथम पंक्ति भामह (३.५३) में भी इसी रूप में आई है, यद्यपि उसकी भाविक-कल्पना दण्डी की भाविक-कल्पना से भिन्न है। संकल्पना की दृष्टि से भाविक एक व्यापक तत्त्व है जो किसी अलंकारविशेष या गुणविशेष की परिधि में नहीं समा सकता। उत्तरवर्ती आलंकारिकों में इसका स्वरूप पर्याप्त बदल गया और परिधि बिलकुल संकुचित हो गई; फलतः यह एक साधारण अलंकारमात्र रह गया। भूत अथवा भविष्य के किसी अद्भुत पदार्थ के ऐसे विशद वर्णन को भाविक कहा गया जो प्रत्यक्ष-सा प्रतीत हो; तु० साद० १०.९३ : **अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः। यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम्॥** भाविक की यह संकल्पना इसकी भामह-प्रदत्त परिभाषा से प्रेरित है।

'भाव' की व्याख्या रत्नश्रीज्ञान ने इस प्रकार की है : **प्रबन्धकर्तुरभिप्रायः प्रबन्धनिर्वाहकः प्रयत्नविशेषः।** आगे चलकर इसे उसने कवि की उचित-अनुचित की विवेकबुद्धि कहा है जिससे वह काव्य में उचित का चयन और अनुचित का परित्याग करता है। रुय्यक (**अलंसर्व० ८० वृत्ति**) के अनुसार इसकी व्याख्या है : **कविगतो भाव आशयः श्रोतरि प्रतिबिम्बत्वेनास्तीति भावो भावना वा पुनः पुनश्चेतसि निवेशनम्**...। डा० सुशीलकुमार दे के मत में यह काव्य की सारभूत कवीय संकल्पना से संबन्धित सौन्दर्यतत्त्व (aesthetic element) है (द्र० **सम् प्राब्लम्स आफ़ संस्कृत पोएटिक्स**, पृ० ५६-७)। इस रूप में यह कवि का, काव्यकृतिविशेष का प्रयोजक, मनःसंकल्पविशेष है जो उसकी कृति में आदि से अन्त तक व्याप्त रहता है।

परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुपर्वणाम् ।
विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना ॥३६५॥

व्यक्तिरुक्तिक्रमबलाद्[1] गम्भीरस्यापि वस्तुनः ।
भावायत्तमिदं सर्वमिति तद्भाविकं विदुः ॥३६६॥

भाविकं सामान्येन व्याख्याय संप्रति तद्विशेषेण विभजन्नाह—**परस्परेति** । सर्वेषां वस्तुपर्वणां प्रबन्धवस्तुनः विभिन्नानां भागानाम् आधिकारिकप्रासङ्गिक-रूपाणां परस्परोपकारित्वम् अन्योन्यसापेक्षावस्थित्या अन्योन्यपोषकत्वम्, व्यर्थानां प्रकृतेऽनुपयोगिनां विशेषणानाम् अक्रिया अविधानम् अप्रयोगः, स्थानवर्णना कस्यचिद् वस्तुनः नगरार्णवपर्वतादेः स्थाने समुपनतेऽवसरे वर्णनम्, उक्तिक्रम-बलाद् उपन्यासक्रमसामर्थ्याद् गम्भीरस्य गूढस्य अपि वस्तुनः वर्ण्यविषयस्य व्यक्तिः स्पष्टव्यञ्जना—इदम् अनन्तरोक्तं सर्वं भावायत्तं भावे पूर्वोक्तस्वरूपे काव्येषु आसिद्धि संस्थिते कवेरभिप्राये आयत्तं प्रतिबद्धम् इति हेतोः भाविकं तदाख्यं प्रबन्धविषयं गुणं विदुः, तद्विदः इति शेषः ।

(१) प्रबन्ध-वस्तु के सभी विभिन्न भागों का (परस्परसापेक्ष होने से) परस्पर-पोषकत्व, (२) अनुपयुक्त अथवा निरर्थक विशेषणों का अप्रयोग, अर्थात् सार्थक विशेषणों का प्रयोग, (३) उचित अवसर पर (नगर, समुद्र, पर्वत आदि वर्ण्य विषयों का) वर्णन, और (४) विषय के उपस्थापन-क्रम की शक्ति द्वारा गूढ़ वर्ण्यविषय की भी (स्पष्ट) अभिव्यञ्जना—ये सब (पूर्वलक्षित) भाव पर आधारित हैं, अतः इन्हें (समग्ररूप से) भाविक कहते हैं ।

यहाँ भाविक के चार प्रमुख तत्त्वों का उल्लेख है । भामह (३.५४) द्वारा उल्लिखित इसके तत्त्व, जो इनसे नितान्त भिन्न हैं, इस प्रकार हैं : अर्थ (=कथावस्तु) की विचित्रता, उदात्तता एवं अद्भुतता, कथा की अभिनेयता और शब्दों की अनाकुलता अर्थात् स्वच्छता । भोज ने भाविक का गुण के रूप में पृथक् उल्लेख किया है (**सरस्व०** १.६५, ७५) । अन्यत्र (५.१७२ **वृत्ति** में) उसने कहा है कि भाविक ही 'युक्तोत्कर्ष' (तु० **काव्यादर्श** २.२७५) होकर रस-वत् अलंकार बनता है (दूसरी ओर, उसने भाविक नामक एक पृथक् अलंकार की भी व्याख्या की है; तु० **सरस्व०** ४.८६-७) । रुय्यक ने इस बात को दूसरे रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है : **स्फुटप्रतीत्युत्तरकालं तु साधारण्यप्रतीतौ स्फुटप्रतीतिनिमित्तक औत्तरकालिको रसवदलंकारः स्यात्** (**अलंसर्व०** ८० **वृत्ति**), 'यदि स्फुट प्रतीति अर्थात् भाविक अलंकार की प्रतीति के अनन्तर साधा-रण्यप्रतीति (=अभेदानुभूति) होती है तो वह स्फुट प्रतीति के निमित्त से उत्पन्न उत्तरकालीन रसवत् अलंकार का कारण बनेगी ।'

जीवानन्द विद्यासागर, रङ्गाचार्यशास्त्री, नृसिंहदेवशास्त्री आदि व्याख्या-

---

१. वशाद् ।

कारों ने वस्तु का अर्थ 'आधिकारिक इतिवृत्त' और पर्व का अर्थ 'प्रासङ्गिक इतिवृत्त' किया है। **विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया** को उत्तरकालीन परिकर अलंकार की प्रेरणा माना जा सकता है। तरुणवाचस्पति ने **भावायत्तमिदं सर्वम्** पर टिप्पणी देते हुए 'लक्ष्मी', 'श्री' आदि बन्धचिह्नों (तु० १. ३० पर टि०) के प्रयोग को भी भाविक का ही विषय कहा है।

यच्च संध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणाद्यागमान्तरे।
व्यावर्णितमिदं चेष्टमलंकारतयैव नः ॥३६७॥

आगमान्तरोक्तानां संध्यङ्गादीनाम् अलंकारसंकल्पनायामन्तर्भावमाह—**यच्चेति**। यद् च आगमान्तरे भरतप्रणीतनाट्यशास्त्रादौ संधयः, संध्यङ्गानि, वृत्तयः, वृत्त्यङ्गानि, लक्षणानि, आदिपदेन नाट्यालंकाराः, वीथ्यङ्गानि, लास्याङ्गानि चापि, इत्येवंप्रकारेण व्यावर्णितं निरूपितम्, तद् इदं नः अस्माकम् अलंकारतया तेषां काव्यशोभाकरत्वाद् अलंकारत्वेन एव इष्टम् अभिमतम्।

अन्य (भरत के नाट्यशास्त्र आदि) शास्त्रग्रन्थों में जिन (तत्त्वों) का संधि, संध्यङ्ग, वृत्ति, वृत्त्यङ्ग, लक्षण आदि (अर्थात् नाट्यालंकार, वीथ्यङ्ग, लास्याङ्ग) के रूप में निरूपण किया गया है, वे भी हमें अलंकार के रूप में ही अभीष्ट हैं (क्योंकि वे भी काव्यशोभाकर धर्म हैं)।

भरत के **नाट्यशास्त्र** में मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण—इन पाँच संधियों और चौंसठ संध्यङ्गों (२१.३६-६८); कैशिकी, सात्त्वती, आरभटी और भारती—इन चार वृत्तियों और सोलह वृत्त्यङ्गों (२२.१-६५) तथा भूषण आदि छत्तीस लक्षणों (१७. १-४२) का वर्णन है। आदि शब्द से आशीः आदि तैंतीस नाट्यालंकारों, उद्घात्यक आदि तेरह वीथ्यङ्गों और गेय आदि दस लास्याङ्गों का ग्रहण किया जा सकता है। इनके विस्तार के लिए, द्र० **साद० ६; दशरूपक** आदि। ये सब वास्तव में नाटकीय तत्त्व हैं, परंतु मोटे तौर पर काव्यशोभाकर धर्म होने के कारण ये काव्य में अलंकार के रूप में भी अभीष्ट माने गए हैं। इनमें लक्षणों को स्वयं भरत (१७.४२) ने काव्यविभूषण कहा है। भरत के अनेक लक्षण (जैसे—हेतु, निदर्शन, अतिशय, लेश, आशीः आदि) दण्डी के काल से ही अलंकार का रूप धारण कर रहे थे।

पन्थाः स एष[1] विवृतः परिमाणवृत्त्या
संक्षिप्य[2] विस्तरमनन्तमलंक्रियाणाम्।

१. एव। २. संहृत्य।

वाचामतीत्य विषयं परिवर्तमाना-
नभ्यास एव विवरीतुमलं विशेषान् ॥३६८॥

इत्याचार्य[1]दण्डिनः कृतौ काव्यादर्शेऽलंकारविभागो[2] नाम
द्वितीयः परिच्छेदः ।

यथाप्रतिज्ञातं पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितमपरिमितालंकारविकल्पबीजं प्रतिसंस्कृत्य (तु० २.१-२) तदुपसंहरन्नाह—**पन्था** इति । अलंक्रियाणाम् अलंकाराणाम् अनन्तम् अपरिमितं विस्तरं विकल्पप्रपञ्चं संक्षिप्य संहृत्य परिमाणवृत्त्या परिमित-भावेन, न तु साकल्येनेति भावः, सः एषः पन्थाः अलंकारमार्गः विवृतः व्याख्यातः । यतः वाचां गिरां विषयं गोचरम् अतीत्य परिवर्तमानान् वस्तुतो विद्यमानान्, इह चानुक्तान् वक्तुं चाशक्यानिति भावः, विशेषान् अलंकार-विकल्पान् विवरीतुं प्रयोगद्वारा प्रकाशयितुम् अभ्यासः शिक्षाप्रयोगानुशीलनम् एव अलं समर्थः अस्ति । उक्तदिशा हि शिक्षाप्रयोगाभ्यासवतां कवीनामाचार्याणां च स्वयमेवोक्तिविशेषरूपा अलंकारा ज्ञानपथमायान्ति ।

अलंकारों के अनन्त विकल्पों के प्रपञ्च को संक्षिप्त करके यहाँ परि-मित रूप में इस (अलंकार-)मार्ग की व्याख्या की गई है। वाणी के विषय से भी परे असंख्य अलंकार-प्रभेदों को (उनके अध्ययन और प्रयोग का) अभ्यास ही प्रकाश में ला सकता है (काव्यशास्त्रग्रन्थ में उनका इयत्तया वर्णन अथवा ईदृक्तया निरूपण दुस्साध्य है)।

अलंकारों के विकल्पों की अनन्तता के प्रति आचार्य ने परिच्छेद के आरम्भ (२.१) में ही, इन शब्दों में, संकेत किया है : **ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥** अन्यत्र भी उसने इस तथ्य के प्रति संकेत किया है (तु० २.६६, ११५, १६८, १७०, ३०६, ३२६, ३४०, ३४७)। उक्तिविशेष-रूप अलंकारों के इन अनन्त विकल्पों के यथावत् ज्ञान के साधन के रूप में यहाँ आचार्य ने अभ्यास का सविशेष महत्त्व माना है। इसे ही उसने प्रथम परिच्छेद के अन्त में, १.१०३ में, अमन्द अभियोग कहा है (तु० उक्त पर टि०)।

इति धर्मेन्द्रकुमारगुप्तविरचितायां काव्यादर्श-सुदर्शनायां
द्वितीयः परिच्छेदः ।

---

१. इत्यार्य- । २. -र्थालंकारो ।

तृतीयः परिच्छेदः

अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्ति[1]र्वर्णसंहतेः ।
यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ॥१॥

द्वितीये परिच्छेदेऽर्थालंकारान् व्याख्याय संप्रति परिच्छेदेऽस्मिंस्तृतीये प्रथमं शब्दालंकारान्निरूपयिष्यंस्तत्र यमकमाह—**अव्यपेतेति** । अव्यपेतः (वर्णान्तरेण) अव्यवहितः व्यपेतः (तेन) व्यवहितः च आत्मा स्वरूपं यस्याः तादृशी वर्णसंहतेः स्वरव्यञ्जनसमुदायस्य व्यावृत्तिः विशेषेण पुनरावृत्तिः यमकं तन्नामालंकारः, **आवृत्तिं वर्णसंघातगोचरां यमकं विदुरित्युक्तपूर्वः** । अव्यपेतव्यपेतात्मेत्यनेन यमकस्य त्रैविध्यमुक्तम् अव्यपेतं व्यपेतं व्यपेताव्यपेतं चेति । वर्णसंहतेर्वर्णान्तराव्यवहिताऽऽवृत्तिरव्यपेतयमकं तद्व्यवहिता तु सा व्यपेतयमकम् । तच्चैतद् यमकं पादानाम् आदिमध्यान्तगोचरम् आदौ मध्येऽन्ते च गोचरीभवति । एवं च पादादिगतं पादमध्यगतं पादान्तगतं च यमकम् । अत्र पाद इति ह्युपलक्षणं, तेन पादः पादखण्डः पद्यार्धं समस्तपद्यं चापि यमकस्य स्थानानि ।

(दूसरे वर्ण या वर्णों के) व्यवधान से रहित अथवा व्यवधान से युक्त वर्णसमुदाय की विशिष्ट पुनरावृत्ति को यमक कहते हैं । वह (यमक) पद्य के पादों (=चरणों) के आदि, मध्य अथवा अन्त में दृष्टिगोचर होता है ।

माधुर्यगुण के प्रसङ्ग में, १.६१ में, यमक की चर्चा आचार्य ने इन शब्दों में की है : **आवृत्तिं वर्णसंघातगोचरां यमकं विदुः । तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद्विधास्यते ॥** स्वरव्यञ्जनरूप वर्णसमुदाय की वर्णान्तरव्यवधान से रहित आवृत्ति रूप यमक अव्यपेत तथा ऐसे व्यवधान से युक्त आवृत्ति रूप यमक व्यपेत कहलाता है । दोनों के मिश्रण से अव्यपेत-व्यपेत यमक होता है । उक्त स्वरूप वाले यमक की स्थिति पद्य के चरणों के आदि, मध्य अथवा अन्त में हो सकती है । यह स्थिति-नियमन उपलक्षणमात्र है, अतः पाद, पादखण्ड, पद्यार्ध और संपूर्ण पद्य में भी यमक की स्थिति मान्य है ।

यद्यपि दण्डी ने यमक की एकान्तमधुरता का निषेध किया है, तथापि इसके प्रति उसका विशेष आग्रह स्पष्ट है । उसने सतहत्तर पद्यों में इसकी विस्तृत चर्चा की है; इसके विविध दुष्कर उदाहरणों की रचना में भी उसने सविशेष श्रम किया है । उत्तरवर्ती आलंकारिकों में कुछ (यथा वामन, रुद्रट और

---

१. या वृत्तिद् ।

भोज) को छोड़कर प्रायः सभी ने इसके प्रति उपेक्षाभाव दिखाया है। मम्मट ने तो इसे काव्य में रसप्रतीति का व्यवधायक माना है; तु० ६.८३ वृत्ति : **तदेतत् काव्यान्तर्गडुभूतमिति नास्य भेदलक्षणं कृतम्।**

इन उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसके स्वरूप की व्याख्या में परिष्कार अवश्य ला दिया है। इन्होंने आवृत्त वर्णसमुदाय में अर्थ की भिन्नता को एवं पूर्वगृहीत क्रम के अनुपालन को इस अलंकार का विशिष्ट लक्षण माना है; तु० **साद० १०.८ : सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः। क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते॥** यमक की यह परिभाषा इसके दण्डि-प्रदत्त उदाहरणों में लागू की जा सकती है, परंतु दण्डी का प्रतिलोमयमक इसकी परिधि से बाहर चला जाता है, क्योंकि वहाँ वर्णसमुदाय की आवृत्ति तो होती है, पर वह विपरीत क्रम से होती है (तु० ३.७३ पर टि०)।

एकद्वित्रिचतुष्पादयमकानां विकल्पनाः।
आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्याद्यन्तसर्वतः[1] ॥२॥

पादादिमध्यान्तभाविनो यमकस्य संभविनो भेदान्दर्शयितुमाह—**एकेति**। एकद्वित्रिचतुष्पादयमकानाम् एकपादयमकस्य द्विपादयमकस्य त्रिपादयमकस्य चतुष्पादयमकस्य च आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्याद्यन्तसर्वतः आदियमकं मध्ययमकम् अन्तयमकं मध्यान्तयमकं मध्यादियमकम् आद्यन्तयमकं सर्व-(=आदिमध्यान्त-) यमकम् इत्येवंप्रकारेण विकल्पनाः विविधाः प्रभेदाः भवन्ति। तथाहि—एकपादयमकस्य प्रथमपादगतं द्वितीयपादगतं तृतीयपादगतं चतुर्थपादगतं चेति चत्वारो विकल्पाः, द्विपादयमकस्य प्रथमद्वितीयपादगतं प्रथमतृतीयपादगतं प्रथमचतुर्थपादगतं द्वितीयतृतीयपादगतं द्वितीयचतुर्थपादगतं तृतीयचतुर्थपादगतं चेति षड् भेदाः, त्रिपादयमकस्य च प्रथमद्वितीयतृतीयपादगतं प्रथमद्वितीयचतुर्थपादगतं प्रथमतृतीयचतुर्थपादगतं द्वितीयतृतीयचतुर्थपादगतं चेति चत्वारः प्रभेदाः। चतुष्पादयमकं त्वेकविधमेव। एवं संभूय पादयमकस्य पञ्चदश भेदाः, ते च प्रत्येकमादिमध्यान्तप्रभृतिभेदैः सप्तभिर्गुणिताः पञ्चाधिकशतसंख्याका भवन्ति। पुनस्ते प्रत्येकमव्यपेतव्यपेतव्यपेताव्यपेतभेदात् पञ्चदशाधिकानि त्रीणि शतानि जायन्ते।

एकपादगत, द्विपादगत, त्रिपादगत और चतुष्पादगत यमकों के आदि, मध्य, अन्त, मध्य-अन्त, मध्य-आदि, आदि-अन्त और सर्व (=आदि-मध्य-अन्त) —इन (सात) प्रभेदों से विविध विकल्प अथवा प्रकार बनते हैं।

---

१. –वर्णतः।

एकपादगत यमक के चार भेद हैं : प्रथमपादगत, द्वितीयपादगत, तृतीयपादगत और चतुर्थपादगत। द्विपादगत यमक के छः भेद हैं : प्रथमद्वितीयपादगत, प्रथमतृतीयपादगत, प्रथमचतुर्थपादगत, द्वितीयतृतीयपादगत, द्वितीयचतुर्थपादगत और तृतीयचतुर्थपादगत। त्रिपादगत यमक के चार भेद हैं : प्रथमद्वितीयतृतीयपादगत, प्रथमद्वितीयचतुर्थपादगत, प्रथमतृतीयचतुर्थपादगत और द्वितीयतृतीयचतुर्थपादगत। चतुष्पादगत यमक एक प्रकार का ही है। इस प्रकार पादगत यमक के पन्द्रह भेद हैं। ये आदि, मध्य, अन्त प्रभृति सात प्रभेदों से गुणित होकर एक सौ पाँच बन जाते हैं। इनमें प्रत्येक के पुनः अव्यपेत, व्यपेत और व्यपेताव्यपेत भेद संभव हैं। इस प्रकार यमक के कुल तीन सौ पन्द्रह प्रभेद बन जाते हैं।

अत्यन्तबहवस्तेषां भेदाः संभेदयोनयः ।
सुकरा दुष्कराश्चैव दर्श्यन्ते[1] तत्र[2] केचन ॥ ३ ॥

तत्प्रभेदानां बहुत्वं निर्दिशंस्तेषु कांश्चिन्निदर्शयितुमुपक्रमते—**अत्यन्ते**ति। तेषां पूर्वोक्तभेदानां संभेदयोनयः परस्परमिश्रणप्रभवाः भेदाः प्रभेदाः अत्यन्तबहवः भूयांसः इयत्तया परिच्छेत्तुमशक्याः सन्ति। ते च सुकराः सुसाध्याः दुष्कराः दुस्साध्याः चैव वर्तन्ते। तत्र तेषु केचन अत्र दर्श्यन्ते निदर्श्यन्ते उदाहरणैर्वर्ण्यन्ते।

उन (पूर्वोक्त यमकभेदों) के परस्पर संमिश्रण से उत्पन्न अनेकानेक प्रभेद हैं जो सरल (=सरलता से रचे या समझे जाने योग्य) भी हैं और कठिन (=कठिनता से रचे या समझे जाने योग्य) भी। उनमें से कुछ भेदों का यहाँ वर्णन किया जाता है।

उक्त भेद-प्रभेदों एवं अन्य परंपराप्राप्त यमकप्रकारों में से आचार्य ने लगभग पचास भेदों को अगले पद्यों में निदर्शित किया है। दण्डी की प्रस्तुत दो कारिकाएँ (२-३) भोज (सरस्व० २. ६१-२) द्वारा इसी संदर्भ में उद्धृत की गई हैं।

माऽनेन मानेन सखि प्रणयो भूत्[3] प्रिये जने ।
खण्डिता कण्ठमाश्लिष्य तमेव कुरु सत्रपम् ॥ ४ ॥

प्रथमपादगतमव्यपेतमादियमकमुदाहरति—**माऽनेने**ति। हे सखि, प्रिये जने कान्ते अनेन मानेन कोपेन सह प्रणयः प्रणयपरिचयः मा भूत् नास्तु।

---

१. दृश्यन्ते, वर्ण्यन्ते। २. तेऽत्र, तेऽनु। ३. प्रणयोऽभूत्।

प्रियजनं प्रति मानो न कार्यं इत्यर्थः। खण्डिता प्रियान्तरगामिना प्रियेणावज्ञाता अपि त्वं तस्य कण्ठम् आश्लिष्य आलिङ्ग्य तमेव कृतापराधं कान्तं सत्रपं संजातलज्जं कुरु। अवज्ञातरि प्रियेऽविकृतभावेन प्रणयप्रदर्शनमेव तत्कृतावज्ञाया उचितं प्रतियातनमिति मानिनीं खण्डितां प्रति तत्सख्या उक्तिरियम्। अत्र प्रथमे पादे **मानेन मानेन** इत्यव्यवहितस्वरूपमादियमकम्।

हे सखी, अपने प्रियतम के प्रति इस प्रकार के मान अथवा प्रणयकोप से युक्त होकर प्रेम मत करो (अर्थात् मानरहित होकर प्रेम करो)। खण्डिता (=परप्रियागमन द्वारा प्रिय से अवज्ञात) होकर भी तुम कण्ठ से उसका आलिङ्गन करके उसे ही लज्जित करो।

अवज्ञा करने वाले प्रिय के प्रति अविकृत भाव से प्रेमप्रदर्शन ही उसके द्वारा किए गए तिरस्कार का उचित प्रतीकार है—यह मानवती खण्डिता के प्रति उसकी सखी का कथन है। खण्डिता का लक्षण इस प्रकार है : **पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंभोगचिह्नितः। सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता॥ (साद० ३.७५)**।

इस उदाहरण में पहले चरण में **मानेन मानेन** में व्यवधानरहित यमक है जो चरण के आदि में आया है। इस प्रकार यहाँ **प्रथमपादगत अव्यपेत आदियमक** है।

मेघनादेन हंसानां मदनो मदनोदिना।
नुन्नमानं मनः स्त्रीणां सह रत्या विगाहते॥ ५॥

द्वितीयपादगतमव्यपेतमादियमकं निदर्शयति—**मेघेति**। मदनः कामदेवः हंसानां मदनोदिना मदापहारिणा, तेषां मदमपनयता, मेघनादेन घनगर्जितेन नुन्नमानं निरस्तकोपं स्त्रीणां मनः (कर्म) रत्या तदाख्यया निजपत्न्या (अनुरागेण वा) सह विगाहते आलोडयति। वर्षासु मेघगर्जितं श्रुत्वा प्रमदानां मनो विगतमानं सानुरागं च भवतीत्यर्थः। अत्र द्वितीये पादे **मदनो मदनो** इत्यव्यवहितस्वरूपमादियमकम्।

कामदेव हंसों के मद को दूर करने वाले मेघगर्जन को सुनकर प्रणयकोप से रहित हुई स्त्रियों के हृदय को, (अपनी पत्नी) रति के साथ (अथवा अनुराग-भाव से), आलोडित करता है।

वर्षा में मेघगर्जन को सुनकर स्त्रियों का मान धुल जाता है और उनका हृदय अनुराग से भर जाता है (तु० **मेघदूत ३,८**)। प्रस्तुत उदाहरण में द्वितीय चरण में **मदनो मदनो** में व्यवधानरहित यमक है जो चरण के आदिभाग में आया है। इस प्रकार यहाँ **द्वितीयपादगत अव्यपेत आदियमक** है।

राजन्वत्यः प्रजा जाता भवन्तं प्राप्य सत्पतिम्[1] ।
चतुरं चतुरम्भोधिरशनोर्वीकरग्रहे[2] ॥ ६ ॥

तृतीयपादगतमव्यपेतमादियमकमुदाहरति—**राजन्वत्य** इति । (हे राजन्,) चतुरम्भोधिरशनायाः चतुःसमुद्रमेखलायाः उर्व्याः भुवः करग्रहे पाणिग्रहणे स्वप्राप्यांशादाने, बलिहरणे इत्यर्थः, चतुरं निपुणं भवन्तं सत्पतिं (भुवः) श्रेष्ठं भर्तारं प्राप्य प्रजाः प्रकृतयः राजन्वत्यः सुराजोपेताः जाताः । अत्र तृतीये पादे **चतुरं चतुरम्** इत्यत्राव्यवहितस्वरूपमादियमकम् ।

(हे राजन्,) चार समुद्र रूपी मेखला वाली पृथ्वी (=समस्त भारतवर्ष) के पाणिग्रहण में (अथवा राजग्राह्य भाग, बलि, के ग्रहण में) निपुण आपको (पृथ्वी के) श्रेष्ठ पति के रूप में पाकर प्रजा सुराज-संपन्न (=अच्छे राजा से युक्त) हो गई है ।

तु० रघुवंश ६.२२ : **कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोऽन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम् ।**

उक्त उदाहरण में तृतीय चरण में **चतुरं चतुरम्** में व्यवधानरहित यमक है जो चरण के आदिभाग में आया है । इस प्रकार यहाँ **तृतीयपादगत अव्यपेत आदियमक** है ।

अरण्यं कैश्चिदाक्रान्तमन्यैः[3] सद्म दिवौकसाम् ।
पदातिरथनागाश्वरहितैरहितैस्तव ॥७॥

चतुर्थपादगतमव्यपेतमादियमकं निदर्शयति—**अरण्य**मिति । पदातयः पादचारिसैनिकाः रथाः स्यन्दनाः नागाः हस्तिनः अश्वाः तुरगाः च तैः रहितैः विहीनैः, चतुरङ्गबलरहितैरित्यर्थः, तव कैश्चिद् अहितैः शत्रुभिः रणात् पलायमानैः अरण्यम् आक्रान्तम्, अन्यैः च त्वदरिभिः उज्झितप्राणैः दिवौकसां देवानां सद्म स्वर्गलोकरूपम् आक्रान्तम् आरूढम् । केचित्त्वदरयो रणादपक्रान्ताः केचिच्च दिवंगता इत्यर्थः । अत्र चतुर्थपादे **रहितैरहितै** इत्यत्राव्यवहितस्वरूपमादियमकम् ।

पैदल सैनिक, रथ, हाथी और अश्व सेना से रहित होकर तुम्हारे कुछ शत्रुओं ने (भागकर) वन का आश्रय लिया और कुछ ने (मरकर) देवों के स्थान (=स्वर्गलोक) में आश्रय ग्रहण किया ।

यहाँ चौथे पाद के आदिभाग में **रहितै** इस वर्णसमुदाय की व्यवधानरहित आवृत्ति होने से **चतुर्थपादगत अव्यपेत आदियमक** है ।

---

१. संप्रति, सांप्रतम् । २. –रसनोर्वी–, –परिग्रहे । ३. –क्रान्तं कैश्चित् ।

मधुरं मधुरम्भोजवदने वद नेत्रयोः ।
विभ्रमं भ्रमरभ्रान्त्या विडम्बयति किं नु ते[1] ॥८॥

एकपादयमकं निदर्श्य संप्रति द्विपादयमकमुपक्रममाणस्तत्र प्रथमद्वितीयपादगतमुदाहरति—**मधुरमिति** । हे अम्भोजवदने पद्ममुखि, वद किं नु (वितर्के) मधुः वसन्तः भ्रमराणां भ्रान्त्या चापलेन ते तव नेत्रयोः मधुरं विभ्रमं चञ्चलत्वं विडम्बयति उपहसति अनुकरोति वा ? भ्रमरविभ्रमद्वारा वसन्तस्ते नयनविभ्रमसादृश्यमधिगन्तुमुत्सहते नन्विति प्रियां प्रति प्रियस्य चाटूक्तिरियम् । अत्र प्रथमद्वितीयपादयोरव्यवहितस्वरूपमादियमकम् ।

हे कमलमुखी, बताओ तो सही क्या वसन्त भौंरों के विभ्रम के माध्यम से तुम्हारी आँखों के मधुर विभ्रम (=चञ्चलतारूप विलास) का उपहास अथवा अनुकरण करता है (अर्थात् सादृश्य प्राप्त करना चाहता है) ?

यहाँ पहले और दूसरे चरणों के आदिभाग में क्रमशः **मधुरं** और **वदने** की व्यवधानरहित आवृत्ति होने से **प्रथमद्वितीयपादगत अव्यपेत आदियमक** है । **विडम्बयति** के प्रयोग के लिए, तु० २.६२ ।

वारणो वा रणोद्दामो हयो वा स्मर दुर्धरः ।
न यतो नयतोऽन्तं[2] नस्तदहो विक्रमस्तव ॥९॥

द्विपादयमके प्रथमतृतीयपादगतमाह—**वारण इति** । हे स्मर कामदेव, यतः यस्मात् तव रणोद्दामः युद्धे दुर्धर्षः वारणः हस्ती दुर्धरः दुर्निग्रहः हयः अश्वः वा नास्ति, तत् तस्माद् नः अस्मान् विरहिणः अन्तं नाशं नयतः प्रापयतः तव विक्रमः अहो (आश्चर्ये) आश्चर्यास्पदम् । सैन्यं विनापि त्वयास्मद्विधा नाशं प्रापिता इत्याश्चर्यं नाम । अत्र प्रथमतृतीयपादयोरव्यवहितस्वरूपमादियमकम् ।

हे कामदेव, (तुम्हारे पास) रणोन्मद हाथी अथवा दुर्धर्ष अश्व नहीं है, फिर भी (सैन्यरहित) तुम हमें विनाश की ओर ले जा रहे हो ! तुम्हारा पराक्रम आश्चर्यकारी है ।

यहाँ पहले और तीसरे चरणों के आदिभाग में क्रमशः **वारणो** और **नयतो** की व्यवधानरहित आवृत्ति होने से **प्रथमतृतीयपादगत अव्यपेत आदियमक** है । यहाँ विशेषोक्ति अलंकार (तु० २.३२३-४) की स्थिति भी है ।

राजितैराजितैक्ष्ण्येन[3] जीयते त्वादृशैर्नृपैः ।
नीयते च पुनस्तृप्ति वसुधा वसुधारया ॥१०॥

तत्र प्रथमचतुर्थपादगतमुदाहरति—**राजितैरिति** । आजिः संग्रामः तत्र

---

१. कि न ते, किं न्विदम् । २. –ऽस्तं । ३. –तैक्ष्णेन ।

तैद्दण्यं प्रचण्डत्वं तेन राजितैः शोभितैः त्वादृशैः नृपैः वसुधा पृथिवी जीयते स्वायत्तीक्रियते, पुनः च सैव वसुधा वसुधारया वसूनां धनानां धारया धारा-वृष्ट्या, धनदानेनेत्यर्थः, तृप्तिं नीयते। अत्र प्रथमचतुर्थपादयोरव्यवहितस्व-रूपमादिभागयमकम्।

युद्ध की प्रचण्डता से विराजित आप-जैसे राजाओं द्वारा (पहले) वसुंधरा (=भूमण्डल) जीती जाती है और फिर धन-सम्पत्ति की धारावृष्टि द्वारा तृप्त की जाती है।

यहाँ पहले और चौथे चरणों के आदिभाग में क्रमशः **राजितै** और **वसुधा** की व्यवधानरहित आवृत्ति होने से **प्रथमचतुर्थपादगत अव्यपेत आदि-यमक** है।

करोति सहकारस्य कलिकोत्कलिकोत्तरम्।
मन्मनो मन्मनोऽप्येष[1] मत्तकोकिलनिस्वनः॥११॥

तत्र द्वितीयतृतीयपादगतं निदर्शयति—**करोतीति**। सहकारस्य आम्रस्य कलिका मञ्जरी मन्मनः मदीयं मनः उत्कलिकोत्तरम् उत्कण्ठापरिपूर्णं करोति। अथ च एष मन्मनः अव्यक्तमधुरः (अथवा मन्मनः रतिभाषितं तद्रूपः) मत्त-कोकिलनिस्वनः समदकोकिलालापः अपि मदीयं मानसम् उत्कण्ठाकुलं करोति। अत्र द्वितीयतृतीयपादयोरादिभागस्थितमव्यपेतात्मकं यमकम्।

यह आम्रमञ्जरी मेरे हृदय को उत्कण्ठा से परिपूर्ण करती है एवं मस्त कोयल की यह अव्यक्त मधुर अथवा रतिभाषित-रूप ध्वनि भी (मेरे मानस को उत्कण्ठित करती है)।

यहाँ दूसरे और तीसरे चरणों के आदिभाग में क्रमशः **कलिकोत्** और **मन्मनो** की व्यवधानरहित आवृत्ति होने से **द्वितीयतृतीयपादगत अव्यपेत आदि-यमक** है (तु० सरस्व० २, उदा० १००)। मन्मन के रतिभाषित अर्थ के लिए तु० : **सुरते कर्णमूले तु निजदेशीयभाषया। दम्पत्योः कथनं यत्तु मन्मनं तं प्रचक्षते॥** (जीवानन्द विद्यासागर से उद्धृत)।

कथं त्वदुपलम्भाशाविहताविह तादृशी[2]।
अवस्था नालमारोढुमङ्गनामङ्गनाशिनी॥१२॥

तत्र द्वितीयचतुर्थपादगतमाह—**कथमिति**। इह अस्यां त्वदुपलम्भाशा-विहतौ (जातायां) त्वत्प्राप्तिप्रत्याशायाः विघाते (जाते) तादृशी वर्णनातिक्रान्ता अभिलाषचिन्तादिक्रमेण प्रवृद्धा वा अङ्गनाशिनी गात्रनाशकरी, मृत्युरूपा दश-

---

१. ह्येष। २. तादृशीम्।

मीति भावः, अवस्था दशा अङ्गनां तां त्वत्प्रियां सुन्दरीम् आरोढुम् अभिभवितुं कथं न अलं समर्था, अपि तु समर्थैव। सा तव विरहे मरणोन्मुखी तिष्ठतीति नायकं प्रति दूत्या उक्तिरियम्। अत्र द्वितीयचतुर्थपादयोरादिभागस्थितमव्यपेतात्मकं यमकम्।

तुम्हारे मिलन की आशा के नष्ट हो जाने पर अब उस स्त्री को शरीर के अङ्गों का नाश करने वाली उसकी वह वर्णनातीत (काम-)दशा सर्वथा आक्रान्त करने में समर्थ कैसे नहीं ? (अर्थात् सर्वथा समर्थ है।)

यहाँ दूसरे और चौथे चरणों के आदिभाग में क्रमशः **विहता** और **मङ्गना** की व्यवधानरहित आवृत्ति होने से **द्वितीयचतुर्थपादगत अव्यपेत आदि-यमक** है। काम की दस दशाएँ निम्नलिखित हैं : **अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुण-कथनोद्वेगसंप्रलापाश्च। उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः॥ (साद० ३.१९०)।**

निगृह्य नेत्रे कर्षन्ति बालपल्लवशोभिना।
तरुणा तरुणान् कृष्टा[1] नलिनो नलिनोन्मुखाः॥१३॥

तत्र तृतीयचतुर्थपादगतमुदाहरति—**निगृह्येति**। नलिनोन्मुखाः कमला-भिमुखाः, तन्मधुपानोत्सुका इत्यर्थः, अलिनः भ्रमराः बालपल्लवशोभिना बालपल्लवैः नवकिसलयैः शोभते इति तादृशेन तरुणा वृक्षेण कृष्टान् आकृष्ट-मनसः तरुणान् यूनः नेत्रे चक्षुषी निगृह्य बलात् कर्षन्ति स्वाभिमुखीकुर्वन्ति। प्रत्यग्रपल्लवसमृद्धतरुसौन्दर्यहृतचेतसामपि यूनां चेतोऽतितरां हरन्तीति भावः। अत्र तृतीयचतुर्थपादयोरादिभागस्थितमव्यपेतस्वरूपं यमकम्।

कमलों की ओर उन्मुख (होकर उड़ रहे) भौंरे नई कोंपलों से सुशो-भित वृक्ष (के सौन्दर्य) से आकृष्ट युवकजनों के नेत्रों को बलात् अपनी ओर खींच रहे हैं।

यहाँ तीसरे और चौथे चरणों के आदिभाग में क्रमशः **तरुणा** और **नलिनो** की व्यवधानरहित आवृत्ति होने से **तृतीयचतुर्थपादगत अव्यपेत आदि-यमक** है।

विशदा विशदामत्तसारसे सारसे जले।
कुरुते कुरुतेनेयं हंसी मामन्तकामिषम्॥१४॥

द्विपादयमकं व्याख्यायाधुना क्रमप्राप्तं त्रिपादयमकमुपक्रमते—**विशदेति**।

---

१. क्लिष्टान्।

विशन्तः गाहमानाः आमत्ताः मदोपेताः सारसाः जलपक्षिविशेषाः पुष्कराह्वाः यत्र तादृशे सारसे सरःसंबन्धिनि जले (क्रीडन्ती) इयं विशदा शुक्ला हंसी कुरुतेन (मधुरेणापि विरहिजनोद्वेजकत्वात्) कुत्सितेन रुजाकरेण शब्देन (हेतुना करणेन वा) मां विरहिणम् अन्तकामिषं यमस्य ग्रासं, भोज्यं वस्तु, कुरुते विधत्ते, मां हन्तुमुद्यच्छत इत्यर्थः। अत्र प्रथमद्वितीयतृतीयपादेष्वव्यपेतमादियमकम्।

जिसमें मतवाले सारस पक्षी प्रवेश कर (के खेल) रहे हैं ऐसे सरोवर के जल में (क्रीडा कर रही) यह हंसी (मुझ विरही के लिए उद्वेगकारी अपने) अप्रिय अथवा कर्णकटु कूजन से मुझे यम का ग्रास (=काल का भोजन) बना रही है।

यहाँ पहले तीन चरणों के आदिभाग में क्रमशः **विशदा, सारसे** और **कुरुते** की व्यवधानरहित आवृत्ति होने से **प्रथमद्वितीयतृतीयपादगत अव्यपेत आदियमक है (तु० सरस्व० २, उदा० ६६)।**

विषमं विषमन्वेति मदनं मदनन्दनः ।
सहेन्दुकलयापोढमलया मलयानिलः ॥१५॥

त्रिपादयमके प्रथमद्वितीयचतुर्थपादगतमुदाहरति—**विषम**मिति। मदनन्दनः मम अनन्दनः अप्रीतिकरः अयं मलयानिलः अपोढमलया परित्यक्तमालिन्यया विशदया इन्दुकलया चन्द्रलेखया सह विषमं विकटम् असह्यं वा विषं विषरूपं तदिवोद्वेगकरं वा मदनं कामदेवम् अन्वेति सहायत्वेन अनुयाति, तस्य साहाय्यं विदधातीत्यर्थः। अत्र प्रथमद्वितीयचतुर्थपादेष्वव्यपेतमादियमकम्।

मुझे अप्रिय लगने वाला यह मलयानिल, निर्मल (=शुभ्र) चन्द्रकला के साथ, घोर विष(-तुल्य असह्य) कामदेव का अनुगमन कर रहा है (अर्थात् उसकी सहायता कर रहा है)।

यहाँ पहले, दूसरे और चौथे चरणों में क्रमशः **विषमं, मदनं** और **मलया** की व्यवधानरहित आवृत्ति होने से **प्रथमद्वितीयचतुर्थपादगत अव्यपेत आदियमक है।**

मानिनी मा निनीषुस्ते निषङ्गत्वमनङ्ग मे ।
हारिणी हारिणी शर्म तनुतां तनुतां यतः ॥१६॥

तत्र प्रथमतृतीयचतुर्थपादगतमुदाहरति—**मानिनी**ति। हे अनङ्ग कामदेव, मा मां ते तव निषङ्गत्वं तूणीरभावम् अनवरतशरसंपातेन तदाश्रयत्वं निनीषुः प्रापयितुमिच्छुः सा हारिणी हारालंकृता अतश्च हारिणी मनोहारिणी मानिनी

प्रणयकोपवती मत्प्रेयसी तनुतां कृशत्वं यतः गच्छतः, तद्विरहे कृशभावं प्राप्नुवतः, मे मम शर्म सुखं समागमसुखं तनुतां वितनोतु। यथासौ मानं विहाय मयि प्रसीदति तथा विधेहीति कामदेवोऽत्राभ्यर्थ्यते। अत्र प्रथमतृतीयचतुर्थपादेष्व-व्यपेतमादियमकम्।

हे कामदेव, (मुझ विरही पर अविरत बाणवर्षा करके) मुझे तेरा तरकस बनाने का इरादा रखने वाली, हार से अलंकृत, अतश्च मनोहारिणी, यह मेरी प्रणयकुपिता प्रेयसी (विरह में) कृश हो रहे मुझे सुख प्रदान करे (अर्थात् अपना प्रणयकोप छोड़कर मुझे समागम-सुख दे)।

यहाँ पहले, तीसरे और चौथे चरणों के आदिभाग में क्रमशः **मानिनी, हारिणी** और **तनुतां** की व्यवधानरहित आवृत्ति होने से **प्रथमतृतीयचतुर्थपादगत अव्यपेत आदियमक** है।

जयता त्वन्मुखेनास्मानकथं न कथं जितम्।
कमलं कमलंकुर्वदलिमद्दलि मत्प्रिये ॥१७॥

तत्र द्वितीयतृतीयचतुर्थपादगतमाह—**जयतेति**। हे मत्प्रिये मम प्रेयसि, अस्मान् जयता वशीकुर्वता त्वन्मुखेन तव वदनेन कं जलम् अलंकुर्वद् भूषयद् अथ च अलिमद्दलि भ्रमरोपेतदलम् अकथं कथारहितं मूकं कमलं कथं न जितम्? चेतनानप्यस्मान् विजेतुस्त्वन्मुखस्य अचेतनकमलजयो निश्चित एवेत्यर्थः। अत्र द्वितीयतृतीयचतुर्थपादेष्वव्यपेतमादियमकम्।

हे मेरी प्रिये, हमें जीत लेने वाले तुम्हारे मुख ने जल की शोभा बढ़ाने वाले, भौंरे से युक्त पंखुड़ियों वाले एवं वाणीरहित (=मूक) कमल को कैसे नहीं जीता? (अर्थात् अवश्य जीत लिया।)

यहाँ अन्तिम तीन चरणों के आदिभाग में क्रमशः **नकथं, कमलं** और **दलिमत्(द्)** की व्यवधानरहित आवृत्ति होने से **द्वितीयतृतीयचतुर्थपादगत अव्यपेत आदियमक है।**

रमणी रमणीया मे पाटलापाटलांशुका।
वारुणीवारुणीभूतसौरभा सौरभास्पदम् ॥१८॥

त्रिपादयमकमुदाहृत्य चतुष्पादयमकमाह—**रमणीति**। अरुणीभूतसौरभा रक्तीभूतसौरकान्तियुता वारुणी पश्चिमा दिग् इव (वारुण्याख्यसुरेव वा), पाटला-पाटलांशुका पाटलापुष्पवद् आपाटलं दुकूलं यस्याः सा, अथ च सौरभस्य आस्पदं भूमिः (पद्मिनीनायिकात्वेन) सुगन्धिशरीरा इयं रमणी सुन्दरी मे मम रमणीया मनोज्ञा रमणयोग्या वा वर्तते। अत्र पादचतुष्टयगतमव्यपेतमादियमकम्।

लाल वर्ण वाली सूर्य की कान्ति से युक्त वारुणी (=पश्चिम दिशा अथवा वारुणी नामक मदिरा) के समान (अरुणाभ), पाटला (=रक्तलोध्र) के कुसुम-से हलके लाल रंग के वस्त्रों वाली, और शोभन गन्ध से युक्त यह रमणी मेरे रमण के योग्य है।

यहाँ चारों चरणों के आदिभाग में क्रमशः **रमणी, पाटला, वारुणी** और **सौरभा** की व्यवधानरहित आवृत्ति होने से **चतुष्पादगत अव्यपेत आदि-यमक** है (द्र० **किराता० १५.१० भी**)।

इति पादादियमकमव्यपेतं विकल्पितम् ।
व्यपेतस्यापि वर्ण्यन्ते विकल्पास्तस्य[1] केचन ॥१९॥

अव्यपेतं यमकमुपसंहरन् व्यपेतं चोपक्रममाण आह—**इतीति**। इति उक्त-प्रकारेण अव्यपेतम् अव्यवहितस्वरूपं पादादियमकम् एकद्वित्रिचतुष्पादगतम् आदि-यमकं विकल्पितं सप्रभेदमुदाहृतम्। अथ व्यपेतस्य अपि तस्य पादादियमकस्य केचन विकल्पाः प्रभेदाः वर्ण्यन्ते निदर्श्यन्ते।

इस प्रकार चरण के आदिभाग में आने वाले अव्यपेत (=व्यवधान-रहित) यमक के भेदों का वर्णन किया गया। अब व्यपेत (=व्यवधानयुक्त) पादादियमक (=चरण के आदिभाग में आने वाले यमक) के कुछ प्रभेदों का निरूपण किया जाता है।

मधुरेणदृशां मानं मधुरेण सुगन्धिना ।
सहकारोद्गमेनैव शब्दशेषं करिष्यति ॥२०॥

प्रथमद्वितीयपादगतं व्यपेतमादियमकमुदाहरति—**मधुरिति**। मधुः वसन्तः मधुरेण मनोहरेण मधुबिन्दुयुतेन वा सुगन्धिना सुरभिणा सहकारोद्गमेन आम्र-मञ्जर्या एव एणदृशां हरिणाक्षीणां मानं प्रणयकोपं शब्दशेषं शब्दमात्रा-वशिष्टम्, अर्थतोऽसन्तमित्यर्थः, करिष्यति। वसन्त आम्रमञ्जरीसाहाय्येन मानिनीनां मानमपनेष्यतीति भावः। अत्र प्रथमद्वितीयपादयोर्व्यपेतमादि-यमकम्।

वसन्त ऋतु मनोहारी अथवा मकरन्दयुक्त तथा सुगन्धपूर्ण आम्र-मञ्जरी द्वारा ही मृगाक्षी ललनाओं के प्रणयकोप को शब्दशेष (=समाप्त) कर देगी।

यहाँ पहले और दूसरे चरणों के आदिभाग में **मधुरेण** की (दृशां मानं

1. तत्र।

इस) व्यवधान से युक्त आवृत्ति होने से **प्रथमद्वितीयपादगत व्यपेत आदियमक** है (तु० सरस्व० २, उदा० ११८)।

करोऽतिताम्रो रामाणां[1] तन्त्रीताडनविभ्रमम् ।
करोति सेर्ष्यं[2] कान्ते च[3] श्रवणोत्पलताडनम् ।।२१।।

प्रथमतृतीयपादगतं व्यपेतमादियमकं निदर्शयति—**कर** इति। रामाणां सुन्दरीणाम् अतिताम्रः रक्तवर्णः करः हस्तः तन्त्रीताडनविभ्रमं वीणावादनविलासं तथा च (कृतापराधे) कान्ते प्रिये सेर्ष्यम् ईर्ष्याजनितकोपसहितं यथा स्यात्तथा श्रवणोत्पलेन कर्णावतंसकुवलयेन ताडनं प्रहारं करोति। अत्र प्रथमतृतीयपादयोर्व्यपेतमादियमकम् ।

रमणियों का अत्यन्त लाल हाथ वीणावादन-रूप विलास करता है और अपने (अपराधी) प्रियतम पर, ईर्ष्याजनित कोप के साथ, (अवतंस रूप) कर्णोत्पल से प्रहार भी करता है।

यहाँ पहले और तीसरे चरणों के आदिभाग में **करोति** की व्यवधान-युक्त आवृत्ति होने से **प्रथमतृतीयपादगत व्यपेत आदियमक** है।

सकलापोल्लसनया कलापिन्या नु[4] नृत्यते ।
मेघाली नर्तिता वातैः सकलाऽपो विमुञ्चति ।।२२।।

प्रथमचतुर्थपादगतं व्यपेतमादियमकमाह—**सकलापेति**। कलापस्य बर्हभारस्य उल्लसनम् उल्लासः उन्नमनं विस्तारो वा तेन सहितया कलापिन्या मयूर्या नु निश्चयेन नृत्यते हर्षनृत्यं क्रियते, अथ च वातैः वर्षाकालिकपवनैः नर्तिता आन्दोलिता सकला समस्ता मेघाली घनपङ्क्तिः अपः जलानि विमुञ्चति वर्षति। अत्र प्रथमचतुर्थपादयोर्व्यपेतमादियमकम्।

(इस वर्षाकाल में) मयूरी अपने पंखों को फैलाकर नाच रही है तथा पवन से झकझोरे गए मेघों की समूची पंक्ति जल बरसा रही है।

यहाँ पहले और चौथे चरणों के आदिभाग में **सकलापो** की व्यवधान-युक्त आवृत्ति होने से **प्रथमचतुर्थपादगत व्यपेत आदियमक** है। प्रस्तुत पद्य में मयूरी के कलाप (=पंख) के वर्णन में लोकविरोध दोष (तु० ३. १७२-३) है।

स्वयमेव गलन्मानकलि कामिनि ते मनः ।
कलिकामद्य[5] नीपस्य दृष्ट्वा कां नु[6] स्पृशेद्दशाम् ।।२३।।

द्वितीयतृतीयपादगतं व्यपेतमादियमकमुदाहरति—**स्वयमेवेति**। हे कामिनि,

---

१. नारीणां। २. सेर्ष्यं। ३. वा। ४. -नुनृत्यते। ५. इह, अपि। ६. न।

स्वयमेव नायकानुनयं मेघोदयं वा विनैव गलन्मानकलि अपगच्छन्मानकलहं ते मनः अद्य वर्षासमये प्राप्ते नीपस्य कदम्बस्य कलिकां कोरकं दृष्ट्वा कां कीदृशीं नु (वितर्के) दशाम् अवस्थां स्पृशेद् गच्छेत् । सर्वथा रागपरवशं स्यादित्यर्थः । स्वयमपगच्छत्प्रणयकोपायास्ते मानो विकसत्कदम्बे काले तु न कथमपि स्थातुं प्रभवेदिति भावः । अत्र द्वितीयतृतीयपादयोर्व्यपेतमादियमकम् ।

हे कामिनी, तुम्हारे मन का प्रणयकोप-रूपी कलह तो स्वयं ही (प्रिय के अनुनय-विनय अथवा आकाश में मेघोदय के बिना ही) धुल जाता है; तुम्हारा ऐसा (कोमल) मन आज (वर्षाकाल में) कदम्ब की कली को देखकर न जाने किस दशा को प्राप्त हो ! (अर्थात् वह सर्वथा राग-परवश हो जाएगा ।)

यहाँ दूसरे और तीसरे चरण के आरम्भ में **कलिका** की व्यवधानयुक्त आवृत्ति होने से **द्वितीयतृतीयपादगत व्यपेत आदियमक** है ।

आरुह्याक्रीडशैलस्य चन्द्रकान्तस्थलीमिमाम् ।
नृत्यत्येष चल[1]च्चारुचन्द्रकान्तः शिखावलः ॥२४॥

द्वितीयचतुर्थपादगतं व्यपेतमादियमकं निदर्शयति—**आरुह्येति** । आक्रीडशैलस्य उद्यानस्थित(क्रीडा)पर्वतस्य इमां चन्द्रकान्तस्थलीं चन्द्रकान्तमणिभूमिम् आरुह्य एष चलच्चारुचन्द्रकान्तः चलन्तः स्फुरन्तः चारुचन्द्रकाणां मनोज्ञमेचकानाम् अन्ताः अग्रभागाः यस्य तादृशः शिखावलः मयूरः नृत्यति । अत्र द्वितीयचतुर्थपादयोर्व्यपेतमादियमकम् ।

उद्यान में स्थित (क्रीडा-)पर्वत के चन्द्रकान्त मणि से जटित इस चबूतरे पर चढ़कर यह मयूर नाच रहा है जिससे उसके पंख के सुन्दर चँदवों के छोर चञ्चल हो रहे हैं ।

यहाँ दूसरे और चौथे चरणों के आदिभाग में **चन्द्रकान्त** की व्यवधानयुक्त आवृत्ति होने से **द्वितीयचतुर्थपादगत व्यपेत आदियमक** हैं ।

उद्धृत्य[2] राजकादुर्वी ध्रियतेऽद्य भुजेन ते ।
वराहेणोद्धृता यासौ वराहेरुपरि स्थिता ॥२५॥

तृतीयचतुर्थपादगतं व्यपेतमादियमकमुदाहरति—**उद्धृत्येति** । या असौ उर्वी पृथिवी वराहेण वराहमूर्तिना भगवता विष्णुना उद्धृता समुद्राद् ऊर्ध्वमानीता वराहेः वरस्य उत्तमस्य अहेः शेषस्य उपरि स्थिता सा अद्य ते तव भुजेन बाहुना राजकात् प्रतिपक्षिराजसमूहाद् उद्धृत्य आच्छिद्य विजित्य ध्रियते परिपाल्यते । अत्र

---

१. लसच्- । २. उद्धृता ।

तृतीयचतुर्थपादगतं व्यपेतमादियमकम् ।

(हे राजन्,) जो यह पृथ्वी वराह-अवतार धारण करने वाले (विष्णु) द्वारा (समुद्र में से) ऊपर निकाली गई और जो श्रेष्ठ नाग (=शेषनाग) के (फण के) ऊपर अवस्थित है, उसे आज, (प्रतिपक्षी) राजाओं से छीनकर, तुम्हारी भुजा धारण कर रही है अर्थात् उसका परिपालन कर रही है ।

यहाँ तीसरे और चौथे चरणों के आरम्भ में **वराहे** की व्यवधानयुक्त आवृत्ति होने से **तृतीयचतुर्थपादगत व्यपेत आदियमक** है ।

करेण ते रणेष्वन्तकरेण द्विषतां हताः ।
करेणवः क्षरद्रक्ता भान्ति संध्याघना इव ।।२६।।

द्विपादयमकं व्याख्यायाधुना त्रिपादयमकमाह—**करेणेति** । रणेषु युद्धेषु अन्तकरेण विनाशकारिणा ते तव करेण हस्तेन हताः निहताः द्विषतां शत्रूणां क्षरद्रक्ताः गलद्रुधिरधाराः करेणवः हस्तिनः (हस्तिन्यो वा) संध्याघनाः सायंकालिकाः (रक्तवर्णाः) मेघाः इव भान्ति । अत्र प्रथमद्वितीयतृतीयचरणेषु व्यपेतमादियमकम् ।

(हे राजन्,) युद्ध में तुम्हारे विनाशकारी हाथों से मारे गए शत्रुदल के हाथी, जिनके शरीर से रुधिर बह रहा है, संध्याकालीन (रक्तवर्ण) मेघों के समान लग रहे हैं ।

करेणु 'हाथी' और 'हथिनी' दोनों अर्थों में आता है (तु० **अमरकोश : करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे**) । प्रस्तुत पद्य में 'हाथी' अर्थ अधिक संगत है । यहाँ पहले तीन चरणों के आदिभाग में **करेण** की व्यवधानयुक्त आवृत्ति होने से **प्रथमद्वितीयतृतीयपादगत व्यपेत आदियमक है (तु० सरस्व० २, उदा० ११५;** हेमचन्द्र : **काअनु०, पृ०** २५४) ।

परागतरुराजीव वातैर्ध्वस्ता भटैश्चमूः ।
परागतमिव क्वापि परागततमम्बरम् ।।२७।।

प्रथमतृतीयचतुर्थपादगतं व्यपेतमादियमकमाह—**परेति** । भटैः तव सनिकैः परा शत्रुभूता चमूः सेना वातैः झञ्झावातैः ध्वस्ता अग-तरु-राजी पर्वतस्थवृक्षपङ्क्तिः इव ध्वस्ता भग्ना नाशिता वा । तदा च पराग-ततं युद्धसंक्षोभजनितैः परागैः धूलिभिः ततं व्याप्तम् अम्बरम् आकाशं क्वापि क्वचिदनिर्दिष्टे स्थाने परागतं पलायितं विद्रुतम् इवाभवद्, धूलिसंछादितस्याम्बरतलस्यादृश्यत्वादित्यर्थः । अत्र प्रथमतृतीयचतुर्थपादेषु व्यपेतमादियमकम् ।

जिस प्रकार आँधियाँ (ऊँचे) पहाड़ों पर स्थित वृक्षों की पंक्ति को

उखाड़ फेंकती हैं, इसी प्रकार (तुम्हारे) सैनिकों ने शत्रुसेना को तहस-नहस कर दिया; और तब (युद्ध में ऊपर उठने वाली) धूल से आच्छादित (अतश्च अदृश्य) आकाश कहीं भाग गया-सा प्रतीत होने लगा।

यहाँ पहले, तीसरे और चौथे चरणों के आदिभाग में **परागत** की व्यवधानयुक्त आवृत्ति होने से **प्रथमतृतीयचतुर्थपादगत व्यपेत आदियमक** है; तु० हेमचन्द्र : काअनु०, पृ० २५४।

पातु वो भगवान् विष्णुः सदा नवघनद्युतिः[1] ।
स दानवकुलध्वंसी सदानवरदन्तिहा ॥२८॥

द्वितीयतृतीयचतुर्थपादगतं व्यपेतमादियमकमुदाहरति—**पात्विति** । स प्रसिद्धः नवघनद्युतिः नूतनमेघच्छविः, दानवकुलध्वंसी असुरसमूहविनाशकः, सदानं समदजलं वरदन्तिनं श्रेष्ठगजं कुवलयापीडाख्यं हतवानिति सदानवरदन्तिहा भगवान् विष्णुः हरिः वः युष्मान् सदा पातु रक्षतु । अत्र द्वितीयतृतीयचतुर्थपादेषु व्यपेतस्वरूपमादियमकम् ।

नूतन मेघ की-सी छवि वाला, दानवकुल का विनाशक तथा (कुवलयापीड नामक) मदयुक्त श्रेष्ठ हाथी का संहार करने वाला वह (लोकप्रसिद्ध) भगवान् विष्णु तुम सबकी सदा रक्षा करे।

यहाँ दूसरे, तीसरे और चौथे चरणों के आदिभाग में **सदानव** की व्यवधानयुक्त आवृत्ति होने से **द्वितीयतृतीयचतुर्थपादगत व्यपेत आदियमक** है; तु० हेमचन्द्र : काअनु०, पृ० २५४।

कमलेः समकेशं ते कमलेर्ष्याकरं मुखम् ।
कमलेख्यं करोषि त्वं कमलेवोन्मदिष्णुषु ॥२९॥

अथ चतुष्पादगतं व्यपेतमादियमकमुदाहरति—**कमिति** । (हे सुन्दरि,) ते तव कं शिरः अलेः भ्रमरस्य समकेशं तुल्यकेशं, भ्रमराभकेशपाशं ते शिर इत्यर्थः । मुखं च ते कमलेर्ष्याकरं कमलं प्रतीर्ष्यां करोतीति तादृशं, कमलसदृशमिति भावः । ईदृशी त्वं कमला लक्ष्मीः इव कं पुरुषम् उन्मदिष्णुषु उन्मादशीलेषु जनेषु अलेख्यम् अगणनीयं करोषि ? सर्वमपि जनमुन्मादयसीत्यर्थापत्तिः । अत्र चतुर्ष्वपि पादेषु व्यपेतमादियमकम् ।

(हे सुन्दरी,) तुम्हारा सिर भौंरों के समान (काले) केशों से शोभित है और तुम्हारा मुख कमल से ईर्ष्या करने वाला है (=कमल के समान है; तु०

---

1. –च्छविः ।

२.६२)। ऐसी तुम, लक्ष्मी के समान, किस पुरुष को उन्मादयुक्त जनों में न गिने जाने योग्य रहने देती हो ? (अर्थात् तुम सबको उन्मादयुक्त बना देती हो।)

रमणी और लक्ष्मी दोनों उन्माद का कारण बनते हैं : रमणी कामोन्माद का और लक्ष्मी धनोन्माद का। प्रस्तुत उदाहरण में चारों चरणों के आदिभाग में **कमले** की व्यवधानयुक्त आवृत्ति होने से **चतुष्पादगत व्यपेत आदियमक** है।

मुदा रमणमन्वीतमुदारमणिभूषणाः ।
मदभ्रमद्दृशः[1] कर्तुमदभ्रजघनाः क्षमाः ॥३०॥

चतुष्पादगतं मिश्रं व्यपेतमादियमकमुदाहरति—मुदेति। उदारमणिभूषणाः महार्हरत्नजटितभूषणालंकृताः मदेन मद्यपानजनितेन भ्रमद्दृशः घूर्णमाननयनाः अदभ्रजघनाः पृथुनितम्बाः, रमण्यः इति शेषः, रमणं प्रियं स्वनायकं मुदा हर्षेण अन्वीतं संपन्नं कर्तुं क्षमाः समर्थाः भवन्ति। अत्र प्रथमद्वितीयपादयोरेकजातीयं तृतीयचतुर्थपादयोश्चान्यजातीयमिति चतुष्पादगतम् अनेकजातीयं (=मिश्रं) व्यपेतमादियमकम्।

बहुमूल्य रत्नाभरणों से अलंकृत, (मद्यपानजनित) मद के कारण घूमते नयनों वाली एवं भारी नितम्बों से युक्त रमणियाँ अपने प्रेमी को आनन्दमग्न बना देने में समर्थ होती हैं।

यहाँ पहले और दूसरे चरणों के आरम्भ में **मुदारम** एवं तीसरे और चौथे चरणों के आरम्भ में **मदभ्र** की व्यवधानयुक्त आवृत्ति होने से **चतुष्पादगत व्यपेत आदियमक** है। आवृत्त अंशों (**मुदारम** और **मदभ्र**) के अनेकजातीय होने से यह **मिश्रयमक** का उदाहरण है। भोज (**सरस्व० २, उदा० ११६**) ने यहाँ द्विपाद यमकद्वय की स्थिति मानी है।

उदितैरन्यपुष्टानामारुतैर्मे हतं[2] मनः ।
उदितैरपि ते दूति मारुतैरपि दक्षिणैः ॥३१॥

चतुष्पादगते मिश्रे प्रथमतृतीययोरेकजातीयं द्वितीयचतुर्थयोश्चान्यजातीयं व्यपेतमादियमकमाह—**उदितैरिति**। हे दूति, अन्यपुष्टानां परभृतानां (कोकिलानाम्) उदितैः (उद् √इ+क्त) उद्गतैः आरुतैः कूजितैः कुहूरवैः (अथवा आः खेदेऽव्ययं रुतैः कूजितैः); अपि च ते तव उदितैः (√वद्+[भावे] क्त) वचनैः

---

१. -भ्रमदृशः। २. हृतं।

कान्तासंदेशरूपैः, अथ च दक्षिणैः दक्षिणदिगागतैः मारुतैः पवनैः, मलयानिलैः, अपि मे मम मनः हतं हिंसितम्, अतिमात्रं व्यथितमिति भावः। अत्र प्रथमतृतीयपादयोरेकजातीयं द्वितीयचतुर्थपादयोश्चापरजातीयमिति चतुष्पादगतमनेकजातीयं व्यपेतमादियमकम्।

हे दूती, कोयलों की ऊँची उठती कुहू-ध्वनि ने और (प्रिया के संदेश रूप) तेरे वचनों ने तथा मलय-पवनों ने मेरे मन को आहत कर दिया है।

यहाँ पहले और तीसरे चरणों के आरम्भ में **उदितै** तथा दूसरे और चौथे चरणों के आरम्भ में **मारुतै** की व्यवधानयुक्त आवृत्ति होने से **चतुष्पादगत व्यपेत आदियमक** है। आवृत्त अंशों के अनेकजातीय होने से यह **मिश्रयमक** का उदाहरण है।

सुराजितह्रियो यूनां तनुमध्यासते स्त्रियः।
तनुमध्याः क्षरत्स्वेद[1]सुराजितमुखेन्दवः ॥३२॥

तत्र प्रथमचतुर्थयोरेकजातीयं द्वितीयतृतीययोश्चापरजातीयं व्यपेतमादियमकमुदाहरति—सुरेति। सुराजितह्रियः मद्यपानविजितलज्जाः, मधुपानेनापगतलज्जाभावाः, क्षरद्भिः सात्त्विकभावसंचाराद् गलद्भिः स्वेदैः स्वेदजलबिन्दुभिः सुराजिताः सुतरां शोभमानाः मुखेन्दवः यासां तादृश्यः, तनुमध्याः क्षाममध्यभागाः स्त्रियः तरुण्यः यूनां तरुणानां कान्तानां तनुं शरीरम् अध्यासते अधिशेरते, विपरीतरते इति गतार्थः। अत्र प्रथमचतुर्थपादयोरेकजातीयं द्वितीयतृतीयपादयोश्चान्यजातीयमिति मिश्रं चतुष्पादगतं व्यपेतमादियमकम्।

जिनके लज्जाभाव को मदिरा ने हर लिया है तथा (सात्त्विक भाव के संचार से) बह रहे स्वेद-कणों से जिनके मुख-चन्द्र सुशोभित हैं, ऐसी, क्षीण कटि वाली, युवतियाँ युवकों के शरीर पर (विपरीत रति के लिए) आसीन हो रही हैं।

यहाँ पहले और चौथे चरणों के आरम्भ में **सुराजित** एवं दूसरे और तीसरे चरणों के आरम्भ में **तनुमध्या** को व्यवधानयुक्त आवृत्ति होने से **चतुष्पादगत व्यपेत आदियमक** है। आवृत्त अंशों के अनेकजातीय होने से यह **मिश्रयमक** का उदाहरण है।

इति व्यपेतयमकप्रभेदो[2]ऽप्येष दर्शितः।
अव्यपेतव्यपेतात्मा विकल्पोऽप्यस्ति[3] तद्यथा ॥३३॥

---

१ क्षरत्स्वेदाः। २. -प्रपञ्चो। ३. -ऽप्यस्य।

व्यपेतमुपसंहरन्नव्यपेतव्यपेतस्वरूपं चोपक्रममाण आह—इतीति। इति उक्तया दिशा एष पूर्वोक्तः व्यपेतयमकप्रभेदः अपि दर्शितः उदाहृतः। अस्य यमकस्य अव्यपेतव्यपेतात्मा अव्यवहितव्यवहितमिश्रणस्वरूपः अपि विकल्पः भेदः अस्ति। तद्यथेति तदुदाहरणोपक्रमार्थम्।

इस प्रकार व्यपेत (=व्यवधानयुक्त) यमक के भेदों का निरूपण किया गया। इस (यमक) के अव्यपेत-व्यपेत स्वरूप वाले (=उभयसंमिश्रणरूप) भेद भी होते हैं जिनके उदाहरण आगे दिए जाते हैं।

साऽलं सालम्बकलिकासालं सालं न[1] वीक्षितुम्[2]।
नालीनालीनबकुलानाली नालीकिनीरपि ॥३४॥

अव्यपेतव्यपेतात्मकं प्रथमद्वितीययोरेकजातीयमन्ययोश्चान्यजातीयं मिश्रमादियमकमुदाहरति—**साऽलमिति**। सा (त्वद्विरहाकुला) मम आली सखी सालम्बाः सालम्बनाः, आलम्बमानाः इत्यर्थः, कलिकाः कोरकाः एव सालः प्राकारः यस्य तादृशम्, आलम्बमानकलिकापरिवृतं, सालं सर्जतरुं वीक्षितं द्रष्टुं न अलं समर्था। अपि च आलीनबकुलान् समाश्रितबकुलवृक्षान् अलीन् भ्रमरान् तथा च नालीकिनीः कमलिनीः अपि, वीक्षितुं सा न अलमिति पूर्वेणान्वयः। एतेषां वस्तूनामुद्दीपकत्वात्त्वद्विरहे च पीडातिशयकारित्वान्न सैतेषु दृष्टिमपि पातयितुं प्रभवतीति प्रवासिनं नायकं प्रति नायिकादूत्या उक्तिरियम्। अत्र **सालं सालम्** इति प्रथमे पादेऽव्यपेतं द्वितीयपादापेक्षया च व्यपेतमेकजातीयं, **नाली नाली**ति च तृतीयेऽव्यपेतं चतुर्थपादापेक्षया च व्यपेतमपरजातीयं यमकमिति मिश्रमादियमकम्।

(तुम्हारे विरह में व्याकुल) वह मेरी सखी लटक रही कलियों रूपी प्राकार वाले सर्ज वृक्ष की ओर तथा बकुल (=केसर) के वृक्षों पर बैठे भौंरों और (खिली) कमलिनियों की ओर दृष्टि डालने में भी असमर्थ है।

यहाँ **सालं** की पहले और दूसरे चरणों में व्यवधानरहित, **सालंसालं** की दूसरे चरण में व्यवधानयुक्त, **नाली** की तीसरे और चौथे चरणों में व्यवधानरहित तथा **नालीनाली** की चौथे चरण में व्यवधानयुक्त आवृत्ति होने से **अव्यपेत-व्यपेत** (के मिश्रणस्वरूप) **अनेकजातीय** (=मिश्र) **आदियमक है।**

साल का अर्थ कुछ टीकाकार 'आम्रवृक्ष' करते हैं। अन्य शब्दों के अर्थ के संबन्ध में भी विभिन्न टीकाकारों में कुछ मतभेद है।

१. नु। २. निरी-।

काऽलं कालमनालक्ष्यतारतारकमीक्षितुम् ।
तारतारम्यरसितं कालं कालमहाघनम् ।।३५।।

अव्यपेतव्यपेतात्मकं प्रथमचतुर्थयोरेकजातीयमन्ययोश्चान्यजातीयं निदर्शयति—काऽलमिति । अनालक्ष्याः (मेघाच्छन्नत्वाद्) अदृश्याः ताराः उज्ज्वलाः तारकाः नक्षत्राणि यस्मिन् तादृशं, तारता अत्युच्चस्वरता तया हेतुभूतया अरम्यम् अप्रियं रसितं घनगर्जितं यस्मिन् तादृशं, कालमहाघनं कृष्णवर्णविपुलमेघान्वितं, कालं (विरहिणि जने) कृतान्तं कृतान्तसदृशं, कालं समयं, वर्षाकालमित्यर्थः, ईक्षितुं द्रष्टुं का नाम विरहिणी अलं समर्था स्यात्, न कापि विरहातुरा उत्कण्ठातिशयहेतुं प्रावृषमीक्षितुमलं भवेदिति भावः । अत्र **कालं कालम्** इति प्रथमचतुर्थपादयोः **तारतार** इति च द्वितीयतृतीयपादयोरव्यपेतव्यपेतस्वरूपमादियमकं, तच्चोक्तप्रकारेणानेकजातीयत्वान्मिश्रम् ।

जिस (काल) में उज्ज्वल तारे (मेघाच्छन्न होने से) दिखाई नहीं पड़ते, जिसमें मेघों की ऊँची अथवा तीव्र, अतश्च अप्रिय लगने वाली, गर्जना सुनाई पड़ती है तथा जो काले विपुल मेघों से युक्त होता है, ऐसे यमस्वरूप वर्षाकाल को देखने में कौन (विरहिणी) समर्थ होगी ?

यहाँ भी **कालं कालम्** और **तारतार** की पूर्वोक्त प्रकार से व्यवधानरहित और व्यवधानयुक्त आवृत्ति होने से **अव्यपेत-व्यपेत मिश्र आदियमक** है । रत्नश्रीज्ञान ने **तारतारम्यरसितं** का 'जिसमें मेघों की गम्भीर अतश्च रम्य अर्थात् प्रिय लगने वाली गर्जना सुनाई पड़ती है' ऐसा अर्थ किया है ।

याम यामत्रयाधीनायामया मरणं निशा ।
यामयाम धियाऽस्वर्त्याया[1] मया मथितैव सा ।।३६।।

अव्यपेतव्यपेतात्मकमेकजातीयमादियमकमुदाहरति—**यामेति** । यामत्रयस्य प्रहरत्रितयस्य अधीनः आयत्तः आयामः विस्तारः यस्याः तादृश्या निशा रजन्या मरणं मृत्युं याम प्राप्नवाम, यतो हि यां प्रियां धिया मनसा अयाम अगच्छाम, यां चिन्तयन्तः कालमयापयाम, सा ननु अस्वर्त्याया असूनाम् अर्तिम् आयातेति तादृशी प्राणपीडावती मया प्रवासिना मथिता समालोडिता व्यापादिता एव । मद्विरहेण सा मृतेति तद्विरहेण ममापि मृत्युर्भवत्विति कश्चिद्विरही स्वविरहेण मृतां भार्यामुपश्रुत्य मरणं प्रार्थयते । अत्र **यामयाम** इत्यव्यपेतव्यपेतमेकजातीयमादियमकम् ।

तीन प्रहरों वाली रात्रि द्वारा हम मृत्यु को प्राप्त हों, (क्योंकि) जिस

---

१. -ऽस्वात्याया ।

(प्रिया) के पास हम हृदय द्वारा पहुँचे थे वह, प्राणव्यथा को प्राप्त, प्रिया भी मेरे द्वारा मार डाली गई है (=मुझ प्रवासी के वियोग में मर गई है)।

यहाँ **यामयाम** की चारों पादों के आरम्भ में अव्यवहित-व्यवहित आवृत्ति होने से **अव्यपेत-व्यपेत एकजातीय आदियमक** है (तु० सरस्व० २, उदा० १०५)।

इति पादादि[1]यमकविकल्पस्येदृशी गतिः।
एवमेव विकल्प्यानि यमकानीतराण्यपि ॥३७॥

पादादियमकमुपसंहरन्नाह—**इतीति**। इति ईदृशी पादादियमकविकल्पस्य पादादिगतयमकानां प्रभेदस्य गतिः दिग् रीतिर्वा, व्याख्यातेति शेषः। एवमेव इतराणि अपि यमकानि विकल्प्यानि विभिद्य कल्पनीयानि परिकल्प्य ज्ञातव्यानि वा।

इस प्रकार यह पाद के आदिभाग में प्रयुक्त यमक के प्रभेदों की दिशा का निरूपण किया गया। इसी प्रकार से अन्य यमकों अथवा यमकरूपों की प्रभेद-कल्पना भी कर ली जाए।

न प्रपञ्चभयाद् भेदाः कात्स्न्र्येनाख्यातुमीहिताः[2]।
दुष्कराभिमता ये तु[3] वर्ण्यन्ते[4] तेऽत्र[5] केचन ॥३८॥

यमकविकल्पानां कात्स्न्र्येनानाख्याने हेतुमाह—**नेति**। प्रपञ्चभयाद् ग्रन्थविस्तरभयाद् भेदाः यमकप्रभेदाः कात्स्न्र्येन साकल्येन आख्यातुं व्याख्यातुं न ईहिताः इष्टाः। ये तु भेदाः दुष्कराभिमताः दुःसाध्यत्वेन ज्ञाताः ते केचन (न तु सर्वे) अत्र वर्ण्यन्ते निरूप्यन्ते।

विस्तार के भय से (यमक के) सभी भेदों का निरूपण यहाँ अभीष्ट नहीं है। जो भेद दुष्कर (=कठिन, दुःसाध्य) माने गए हैं उन्हीं में से कुछ का वर्णन यहाँ किया जाता है।

दुष्कर भेदों के वर्णन के प्रति आचार्य का विशेष आग्रह आगे, ३.८३ में, भी प्रकट है।

स्थिरायते यतेन्द्रियो न हीयते यतेर्भवान्।
अमायतेयतेऽप्यभूत् सुखाय तेऽयते क्षयम् ॥३९॥

चतुष्पादगतमव्यपेतव्यपेतं मध्ययमकमुदाहरति—**स्थिरेति**। स्थिरा दृढा

---

१. इत्यादिपाद-। २. ईप्सिताः। ३. एव। ४. दर्श्यन्ते, वक्ष्यन्ते। ५. तत्र।

निश्चिता आयतिः उत्तरकालः यस्य सः, निश्चितपरलोकाभ्युदयः, तत्संबुद्धौ हे स्थिरायते, यतेन्द्रियः जितेन्द्रियः भवान् यतेः संयमात् समाधेर्वा न हीयते नैव प्रच्युतो भवति। किं च ते तव अमायता मायारहितत्वं, दम्भाभावः, क्षयं नाशम् अयते अगच्छते, अविनाशिने, इयते एतावते, अतिविस्तृतायेत्यर्थः, सुखाय आनन्दाय अभूत्। अत्र चतुष्पादगतमव्यपेतव्यपेतात्मकमेकजातीयं मध्ययमकम्।

(परलोकाभ्युदय रूप) निश्चित भविष्य वाले (हे महात्मन्), इन्द्रिय-संयम से युक्त आप संयम (अथवा समाधि) से कभी स्खलित नहीं होते। आपकी निष्कपटता इतने (महान्) अक्षय अथवा शाश्वत सुख का कारण बन गई है।

यहाँ चारों चरणों के मध्यभाग में **यतेयते** की अव्यवहित-व्यवहित (उभय-रूप) आवृत्ति होने से **चतुष्पादगत अव्यपेत-व्यपेत मध्ययमक** है (तु० सरस्व० २, उदा० १०६)।

सभासु राजन्नसुराहतैर्मुखै-
र्महीसुराणां वसुराजितैः स्तुताः।
न भासुरा यान्ति सुरान्न ते गुणाः
प्रजासु रागात्मसु राशितां गताः ॥४०॥

चतुष्पादगतं व्यपेतं मध्ययमकमुदाहरति—सभास्विति। हे राजन्, महीसुराणां भूदेवानां ब्राह्मणानाम् असुराहतैः सुरापानेन अहतैः अनाशितैः, अभ्रष्टैः पवित्रैरित्यर्थः, वसुराजितैः वसुना तेजसा त्वत्प्रदत्तसंपदा वा राजितैः शोभितैः मुखैः सभासु परिषत्सु गोष्ठीषु वा स्तुताः कीर्तिताः भासुराः समुज्ज्वलाः अथ च रागात्मसु त्वयि अनुरागवतीषु प्रजासु प्रकृतिषु राशितां बहुलीभावं गताः प्राप्ताः, समुपचिताः, ते तव गुणाः त्यागसत्त्वशौर्यादयः धर्माः सुरान् देवान् न यान्ति प्राप्नुवन्ति इति न, अर्थाद् यान्त्येव। स्वर्गे देवेष्वपि प्रसिद्धास्ते गुणा इत्यर्थः। अत्र सुरा इति पादचतुष्टयगतं व्यवहितं मध्यभागगतं यमकम्।

हे राजन्, धरती के देवों (=ब्राह्मणों) के, मदिरापान से भ्रष्ट न हुए (अर्थात् पवित्र) और (आपके द्वारा प्रदत्त) संपत्ति के लाभ से सुशोभित, मुखों द्वारा सभाओं अथवा गोष्ठियों में कीर्तित किए गए एवं अनुरागपूर्ण हृदय वाली प्रजा में पुञ्जीभूत आपके समुज्ज्वल गुण देवताओं तक नहीं पहुँचते, ऐसी बात नहीं है अर्थात् आपके गुण देवताओं में भी प्रसिद्ध हैं।

यहाँ चारों पादों के मध्यभाग में **सुरा** की व्यवधानयुक्त आवृत्ति होने से **चतुष्पादगत व्यपेत मध्ययमक** है (तु० सरस्व० २, उदा० १२३)।

तव प्रियाऽसच्चरित[1] प्रमत्त या
विभूषणं धार्यमिहांशुमत्तया।
रतोत्सवामोद[2]विशेषमत्तया
न मे फलं किंचन[3] कान्तिमत्तया ॥४१॥

चतुष्पादगतं व्यपेतमन्तयमकमुदाहरति—**तवेति**। अन्यासक्तहृदयं भूषणार्पणेनानुनयन्तं नायकं प्रति प्रणयकुपिताया उक्तिरियम्। हे असच्चरित दुश्चरित्र, प्रमत्त लम्पट (**सच्चरिताप्रमत्ते**ति पाठे विपरीतलक्षणया दुर्वृत्तप्रमत्त), या स्त्री तव प्रिया प्रेयसी, तया खलु रतोत्सवस्य आमोदविशेषेण प्रीत्यतिशयेन मत्तया गर्वितया सत्या इह अवसरे अंशुमत् प्रस्फुरत्किरणं, समुज्ज्वलं, विभूषणम् आभरणजातं धार्यं धारणीयम्। कान्तिमत्तया भूषणधारणजन्यशोभासंपत्त्या मे त्वदुपेक्षितायाः मम न किंचन फलं प्रयोजनम्। अत्र पादचतुष्टयगतं **मत्तया** इति व्यपेतमन्तयमकम्।

हे धूर्त, कामुक, जो (स्त्री) तुम्हारी प्रेयसी है एवं जो (तुम्हारे साथ) सुरतोत्सव के आनन्दातिरेक से मतवाली है, उसे ही इस अवसर पर ये समुज्ज्वल आभूषण धारण करने चाहिएँ। (तुम्हारे द्वारा उपेक्षित) मुझे (अब आभूषणधारण-जन्य) सौन्दर्यसंपदा से कोई प्रयोजन नहीं है।

यहाँ चारों पादों के अन्तभाग में **मत्तया** की व्यवधानयुक्त आवृत्ति होने से **चतुष्पादगत व्यपेत अन्तयमक** है (तु० सरस्व० २, उदा० ११०)।

भवादृशा नाथ न जानते नते
रसं विरुद्धे खलु संनतेनते।
य एव दीनाः शिरसा नतेन ते
चरन्त्यलं दैन्यरसेन तेन ते ॥४२॥

चतुष्पादगतमव्यपेतव्यपेतमन्तयमकमुदाहरति—**भवादृशा** इति। हे नाथ स्वामिन्, भवादृशाः प्रभवः नतेः नमनस्य रसम् आस्वादविशेषं न जानते नैव विदन्ति, यतः संनतेनते संनतं सम्यग् नमनम् इनता प्रभुता च विरुद्धे नैकाधिकरणे खलु, नैते एकत्र संभवत इत्यर्थः। अतः ये एव दीनाः दुर्गताः ते एव नतेन विनतेन शिरसा चरन्ति सेवन्ते, प्रभून् भवादृशान् इति शेषः। ते तव तेन दैन्यरसेन दैन्यरसास्वादेन अलं न किमपि प्रयोजनम्। अत्र पादचतुष्टयान्तभागगतं **नते नते** इति पादेष्वव्यवहितं पादान्तरेषु च व्यवहितमिति मिश्रं पादान्तयमकम्।

---

१. -चरिता-। २. -वानन्द-। ३. प्रयोजनं नास्ति हि।

हे स्वामिन्, आप-जैसे (प्रभु लोग) प्रणतिजन्य रस (के आस्वाद) को नहीं जानते, (क्योंकि) प्रणति और प्रभुता परस्परविरोधी (पदार्थ) हैं। जो लोग दरिद्र हैं वे ही सिर झुकाकर (आप-जैसे प्रभुओं की) सेवा करते हैं। उस दैन्यजनित रस (के आस्वाद) से आपका क्या प्रयोजन?

यहाँ चारों चरणों के अन्तभाग में नते की अव्यवहित एवं नतेनते की व्यवहित आवृत्ति होने से चतुष्पादगत अव्यपेत-व्यपेत (मिश्र) अन्तयमक है (तु० सरस्व० २, उदा० १०७)।

लीलास्मितेन शुचिना मृदुनोदितेन
व्यालोकितेन लघुना गुरुणा गतेन।
व्याजृम्भितेन जघनेन च दर्शितेन
सा हन्ति तेन गलितं मम जीवितेन ॥४३॥

चतुष्पादगतं व्यपेतं मध्यान्तयमकं निदर्शयति—लीलेति। सा मत्प्रिया शुचिना विशदेन लीलास्मितेन विलासहसितेन, मृदुना कोमलेन उदितेन आलापेन, लघुना चञ्चलेन व्यालोकितेन वीक्षितेन, अपाङ्गदर्शनेनेत्यर्थः, गुरुणा गौरववता (नितम्बादिभरमन्थरेण) गतेन गमनेन, व्याजृम्भितेन विशिष्टजृम्भयाऽनुरागव्यञ्जिकया, जघनेन नितम्बेन च दर्शितेन ईषत्प्रदर्शितेन, जघनस्येषत्प्रदर्शनेनेत्यर्थः, मां तदभिलाषुकं हन्ति अत्यर्थं व्यथयति। तेन च हेतुना मम जीवितेन गलितं नष्टं, तद् नष्टप्रायमिव संजातम्। अत्र चतुष्पादगतं तेन इति मध्यान्तभागगतं व्यपेतं यमकम्।

निर्मल विलासपूर्ण मुस्कान, कोमल संभाषण, चञ्चल चितवन, (नितम्ब आदि के भार से) भारी (=मन्द) चाल, (अनुरागसूचक) जम्हाई तथा नितम्बभाग के (कुछ) प्रदर्शन द्वारा वह (मेरी प्रेयसी) मुझे अत्यन्त व्यथित करती है। इस कारण से मेरा जीवन नष्ट-सा हो गया है!

यहाँ चारों चरणों के मध्य एवं अन्त में तेन की व्यवधानयुक्त आवृत्ति होने से चतुष्पादगत व्यपेत मध्यान्तयमक है (तु० सरस्व० २, उदा० १२२)।

श्रीमानमानमरवर्त्मसमानमान-
मात्मानमानतजगत्प्रथमानमानम्।
भूमानमानमत[1] यः स्थितिमानमान-
नामानमानमतमप्रतिमानमानम् ॥४४॥

---

१. –नयति।

चतुष्पादगतम् अव्यपेतव्यपेतात्मकं मध्यान्तयमकमुदाहरति—**श्रीमानिति**। संख्यानुक्रमनिर्दिष्टान्वयसहितः पदच्छेदः —[2]श्रीमान् [3]अमान् [5]अमरवर्त्म-समान-मानम् [11]आत्मानम् [6]आनत-जगत्-प्रथमान-मानम्। [7]भूमानम् [12]आनमत [1]यः [4]स्थितिमान [8]अमान-नामानम् [9]आन-मतम् [10]अप्रतिमान-मानम्। यः (विष्णुः) श्रीमान् लक्ष्मीसंगतः, अमान् अपरिमेयः, स्थितिमान् नित्यः स्थायी मर्यादावान् वा चास्ति, तम् अमरवर्त्मसमानमानम् आकाशतुल्यपरिमाणम्, आकाशवद् व्यापकम्, आनतजगत्प्रथमानमानम् आनते प्रह्वीभूते जगति प्रथमानः प्रसिद्धिं गतः मानः अर्चनं यस्य तम्, भूमानं महान्तं (भूमिमानभूतचरणं वा, भुवा कार्यभूतया मानं कारणत्वेनानुमानं यस्य तं वा), अमाननामानम् अमानानि अपरिमितानि नामानि यस्य तम्, आनमतम् आनाः (< √अन्) प्राणिनः योगिनो वा तेषां मतं पूजितम्, अथ च अप्रतिमानमानं प्रतिमानैः प्रमाणैः प्रतिमाभिर्वा न मानं मितिः परिच्छेदः स्वरूपनिर्धारणं वा यस्य तं, लौकिकप्रमाणैः प्रतिमादिभिर्वाप्य-प्रमेयम्, आत्मानं परमात्मानं त्रिविक्रमरूपं हरिम् आनमत प्रणमत। अत्र **मानमान** इति पादचतुष्टयगतमव्यपेतव्यपेतस्वरूपं मध्यान्तयमकम्।

जो लक्ष्मी (अथवा शोभा) से युक्त, अपरिमेय और नित्य (या मर्यादा-वान्) है ऐसे, आकाश के समान व्यापक, प्रणतजनों में प्रसिद्ध संमान वाले, महान्, असंख्य नामों से युक्त, (समस्त) प्राणियों या योगियों द्वारा पूजित, प्रमाणातीत अथवा प्रतिमाओं—मूर्तियों—से अपरिमेय उस आत्मा (=परमात्म-रूप विष्णु) को प्रणाम करो।

यहाँ चारों चरणों के मध्य और अन्त में **मान** की अव्यवहित और **मान-मान** की व्यवहित आवृत्ति होने से **चतुष्पादगत अव्यपेत-व्यपेत मध्यान्तयमक** है। रत्नश्रीज्ञान ने इस पद्य के उत्तरार्ध को इस प्रकार पढ़ा है : **भूमानम् आन्-यति यः स्थितिमान् अमाननामानम् आनम तम् अप्रतिमानमानम्**, और इसका अर्थ इस प्रकार किया है : 'जो स्थितिमान् (=नित्य) भगवान् (विष्णु) अपने-आपको विश्वरूप बनाता है [भूमानम् आनयति] और जो असंख्य नामों एवं अप्रतिम अभ्युदय से संपन्न है, उसे प्रणाम करो [आनम]।'

सारयन्तमुरसा रमयन्ती सारभूतमुरुसारधरा तम्।
सारसा[1]नुकृतसारसकाञ्ची सा रसायनमसारमवैति ॥४५॥

चतुष्पादगतं व्यपेतमादिमध्ययमकमुदाहरति—**सारयन्त**मिति। सारयन्तम् आत्मानम् अभिसारयन्तं, संकेतस्थाने प्रापयन्तं, सारभूतम् उत्कृष्टं सौन्दर्यसार-

---

१. सारवा-।

भूतं, तं प्रियम् उरसा वक्षसा, पयोधरभारेण, रमयन्ती आलिङ्गनेन सुखयन्ती (अथवा उरसा सारयन्तम् आश्लिष्यन्तं तं रमयन्ती प्रत्यालिङ्गनेन सुखयन्ती), उरुसारधरा उरुसारं सुवर्णं भूषणीकृतं (गुणोत्कर्षं वा स्त्रीजनोचितं) धारयतीति तादृशी, सारसैः पुष्कराह्वैः पक्षिविशेषैः अनुकृता (सारसरसितसदृशध्वन्युपेता) सारसा (आरसेन रणितेन युक्ता) सशब्दा काञ्ची मेखला यस्याः सा रमणी रसायनम् अजरत्वप्रापकमौषधविशेषम् अमृतं वापि असारं (सुरतसुखापेक्षया) तुच्छम् अवैति जानाति, मन्यत इत्यर्थः। अत्र **सार**मिति पादचतुष्टयादिमध्यगतं व्यपेतस्वरूपं यमकम्।

सोने (के आभूषणों) से अलंकृत एवं सारस पक्षियों की-सी ध्वनि वाली मेखला से शोभित वह (सुन्दरी) संकेतस्थान पर आए (अथवा आलिङ्गन कर रहे) अपने श्रेष्ठ (नागरक) प्रियतम को वक्षस्थल से लगाकर आह्लादित करती हुई रसायन अथवा अमृत को भी (रतिसुख के आगे) निस्सार समझती है।

यहाँ चारों पादों के आरम्भ और मध्य में **सार** की व्यवधानयुक्त आवृत्ति होने से **चतुष्पादगत व्यपेत आदिमध्ययमक** है (तु० **सरस्व**० २, उदा० १२१)।

नयानयालोचनयाऽनयाऽनया-[1]
नयानयान्धान् विनयानयायते ।
न यानयासीज्जिन[2]**यानया नया**[3]
नयानयांस्ताञ्जनयानयाश्रितान् ॥४६॥

चतुष्पादगतमव्यपेतव्यपेतमाद्यन्तादिमध्यमिश्रं यमकं निदर्शयति—**नयानयेति**। संख्यानुक्रमनिर्दिष्टान्वयसहितः पदच्छेदः—[3]नयानयालोचनया [2]अनया [4]अनयान् [5]अयानयान्धान् [6]विनय [1]अनयायते। [14]न [12]यान् [15]अयासीत् [13]जिनयानयाः [10]नयान् [9]अयानयान् [8]तान् [11]जनय [7]अनयाश्रितान्। हे अनयायते (अनया अनत्यया आयतिः उत्तरः कालः यस्य तत्संबुद्धौ) अपायरहिताभ्युदयशालिन् (राजन्), अनया मदुपदिष्टरूपया नयानयालोचनया नीत्यनीतिविवेचनया अनयान् नीतिरहितान् अयानयान्धान् अये शुभावहे विधौ अनये अशुभावहे च (अथवा अयानये शुभप्रापके) विधौ अन्धान् विवेकशून्यान् जनान् विनय विनीतान् विधेहि, तेषु विनयमाधेहीत्यर्थः। अथ च अनयाश्रितान् अनीतिमार्गगामिनः जनान् तान् अयानयान् (**अय+आ√नी+अच्, द्वि० बहु०**) शुभावहान् नयान् नीतीः जनय उपदिश्य प्रापय यान् खलु नयान् जिनयानयाः जैनमार्गगामी न

---

१. -कृति, -कृती। २. -सीर्जिन-। ३. नरा-।

अयासीत् प्राप्नोद् अन्वसरद् वा । अत्र **नयानया** इत्यव्यपेतव्यपेतात्मकं प्रथम-तृतीयपादयोराद्यन्तगतं द्वितीयचतुर्थयोश्चादिमध्यगतं यमकम् ।

अविनाशी भविष्य (=अभ्युदय) से संपन्न (हे राजन्), इस नीति-अनीति की विवेचना के द्वारा तुम नीतिहीन एवं शुभ-अशुभ (अथवा शुभावह) कर्मों के प्रति विवेकशून्य लोगों को विनयशील बनाओ (=अनुशासित करो)। तुम अनीतिपूर्ण मार्ग पर चलने वाले लोगों को उन शुभावह नीतियों का उपदेश करो जिनका अनुसरण जैनमार्गियों ने नहीं किया।

जीवानन्द विद्यासागर और नृसिंहदेवशास्त्री ने उत्तरार्ध में **न यान् अयासीः जिनयानयान् अयान् अयानयान् तान् जनय अनयाश्रितान्** ऐसा पाठ मानकर इसका अर्थ इस प्रकार किया है : 'जिनका सङ्ग तुमने नहीं किया ऐसे अपथगामी [अयानयान्] और अनीतिमार्गावलम्बी उन जैन(बौद्ध)मतानुयायियों को विष्णुमतानुगामी [अ 'विष्णु'+ √या+ड =अय, द्वि० बहु०] बनाओ।' बौद्ध टीकाकार रत्नश्रीज्ञान ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है : 'बौद्ध मार्ग के वेत्ता एवं कभी यात्राक्लेश न पाने वाले तुमने जिन नयों (=नीतियों) को प्राप्त नहीं किया उनको प्राप्त करो [**आनयाश्रितान् जनय = प्राप्तियुक्तान् प्राप्तान् कुरु**]।' स्पष्टतः यह अर्थ खींचातानी से युक्त है।

यहाँ पहले और तीसरे चरणों के आरम्भ और अन्त में तथा दूसरे और चौथे चरणों के आरम्भ और मध्य में **नयानया** की अव्यवहित-व्यवहित आवृत्ति होने से **चतुष्पादगत अव्यपेत-व्यपेत आद्यन्त-आदिमध्य** (=मिश्र) **यमक है।**

रवेण भौमो ध्वजवर्तिवीरवेरवेजि संयत्यतुलास्त्रगौरवे।
रवेरिवोग्रस्य पुरो हरेरवेरवेत तुल्यं रिपुमस्य भैरवे ॥४७॥

चतुष्पादगतं व्यपेताव्यपेतमाद्यन्तयमकमुदाहरति—**रवेणेति**। अतुलम् अनुपमम् (अतुलानां वा) अस्त्राणां गौरवं बाहुल्यं यत्र तादृशे भैरवे भयंकरे संयति संग्रामे ध्वजवर्तिवीरवेः (विष्णु-)ध्वजाग्रवर्तिनः वीरस्य विक्रान्तस्य वेः पक्षिणः, गरुडस्येत्यर्थः, रवेण नादेन (कर्त्रा) भौमः भूमिसुतः नरकासुरः अवेजि उद्वेगं नीतः। उग्रस्य दीप्तस्य रवेः सूर्यस्य इव उग्रस्य तेजस्विनः हरेः विष्णोः (सिंहस्य वा) पुरः अस्य रिपुं नरकासुरनामानं शत्रुं (सिंहस्य पुरः) अवेः मेषस्य तुल्यम् अवेत जानीत। अत्र पादचतुष्टये **रवे** इति व्यपेताव्यपेतात्मकमाद्यन्त-यमकम्।

अतुल्य अस्त्रों के बाहुल्य से युक्त भयंकर संग्राम में (विष्णु की) ध्वजा पर स्थित वीर पक्षी (गरुड) की गर्जना से भूमिसुत (नरकासुर) उद्वेजित हो

गया। प्रदीप्त सूर्य के समान तेजोदीप्त हरि (=विष्णु; =सिंह) के सामने उसके शत्रु (नरकासुर) को तुम (सिंह के आगे) भेड़ के समान जानो।

यहाँ चारों चरणों के आदि और अन्त में **रवे** की व्यवहित-अव्यवहित आवृत्ति होने से **चतुष्पादगत व्यपेत-अव्यपेत आद्यन्तयमक** है।

मयामयालम्ब्य[1]कलामयामयामयामयातव्यविरामयामया ।
मयामयार्ति निशयामयामया मयामयामूं करुणामयामया ॥४८॥

चतुष्पादगतमव्यपेतव्यपेतमाद्यन्तयमकमुदाहरति—**मयामयेति**। संख्यानुक्रमनिर्दिष्टान्वयसहितः पदच्छेदः — [10]मयामयालम्ब्यकलामयामयाम्, [6]अयाम् [1]अयातव्यविरामयामया। [5]मयामयार्तिं [4]निशया [2]अमया [3]अमया, [9]मया [12]आमय [11]अमूं [7]करुणामय [8]आमया। अयातव्यविरामयामया (अयातव्यः विरामः अवसानं येषां तादृशाः यामाः प्रहराः यस्याः तादृश्या) असमाप्यप्रहरया, दीर्घयामयेत्यर्थः, अमया (मा शोभा तया रहिता अमा तादृश्या) शोभारहितया, अमया (मा परिमाणं तया रहिता अमा तादृश्या) अपरिमाणया, सुदीर्घया, निशया रात्र्या हेतुना अहं मयामयार्तिं (मयः क्षयः तद्रूपः यः आमयः रोगः तस्य आर्तिं पीडां) दौर्बल्यामयपीडाम् अयाम् अगच्छम् प्राप्नवम्। हे करुणामय दयालो सखे, आमया (आमं रोगं कामपीडां यातीति आमयाः तेन आमया, तृतीयैकवचने रूपं) कामार्तेन मया विरहिणा मयामयालम्ब्यकलामयामयां (मयः क्षयः अमयः उपचयः ताभ्याम् आलम्ब्यः आश्रयणीयः यः कलामयः चन्द्रमाः तस्माद् आमयः रोगः कामपीडा यस्याः तादृशीं) अपचयोपचयवच्चन्द्रदर्शनसंजातकामपीडाम् अमूं रमणीं मत्प्रियाम् आमय (√अम गतौ, णिचि लोटि मध्यमपुरुषैकवचने रूपम्) संगमय। अत्र पादचतुष्टये **मयामया** इत्यव्यपेतव्यपेतात्मकमाद्यन्तयमकम्।

जिसके प्रहर कभी समाप्त होने में नहीं आते ऐसी शोभाविहीन और सुदीर्घ रात्रि के कारण मैं क्षीणतारूप रोग को प्राप्त हो गया हूँ। हे करुणाशील (मित्र), तुम काम-पीडा से व्याकुल मुझ (विरही) से घटते-बढ़ते चाँद को देखकर कामसंतप्त हो जाने वाली उस (सुन्दरी) को मिला दो।

इस पद्य की व्याख्या में विभिन्न टीकाकारों में पर्याप्त मतभेद है। यहाँ उन मतभेदों में न जाते हुए सर्वाधिक संगत अर्थ को अपना लिया गया है। इस उदाहरण में चारों पादों के आदि और अन्त में **मयामया** अव्यपेत-व्यपेत रूप से आवृत्त वर्णसमुदाय है; अतः यहाँ **चतुष्पादगत अव्यपेत-व्यपेत आद्यन्तयमक** है।

---

१. -लङ्घ्य-।

मतान्धुनाना[1]रमतामकामतामतापलब्धाग्रिमता[2]नुलोमता ।
मतावयत्युत्तमताविलोमतामताम्यतस्ते समता न वामता ॥४९॥

चतुष्पादगतं व्यपेताव्यपेतमादिमध्यान्तयमकमाह—**मतामिति** । संख्यानुक्रमनिर्दिष्टान्वयसहितः पदच्छेदः — [5]मताम् [7]धुनाना [4]आरमताम् [6]अकामताम्, [8]अतापलब्धाग्रिमतानुलोमता । [3]मतौ [10]अयती [9]उत्तमताविलोमताम्, [1]अताम्यतः [2]ते [11]समता [12]न [13]वामता । (हे साधो,) अताम्यतः चेतोग्लानिम् अगच्छतः ते तव मतौ बुद्धौ, आरमतां स्वात्मनि रममाणानां, योगिनामित्यर्थः, मताम् आदृताम् अकामतां निरभिलाषतां धुनाना कम्पयन्ती तिरस्कुर्वती, तेषामपि चेतसि स्पृहां जनयन्तीति भावः, अतापलब्धाग्रिमतानुलोमता (अतापेन अक्लेशेन लब्धा अग्रिमतायाः श्रेष्ठतायाः अनुलोमता आनुकूल्यं यया तादृशी) अनायाससिद्धश्रेष्ठतानुकूल्या निसर्गश्रेष्ठा, अथ च उत्तमताविलोमतां श्रेष्ठताप्रातिकूल्यम् अश्रेष्ठत्वम् अयती (कदाचिदपि) अप्राप्नुवती नित्यश्रेष्ठा समता समभावः मित्रामित्रसुखदुःखादिषु समत्वं वर्तते, न वामता तत्प्रतिकूलता वैषम्यं वा । समत्वयुता ते बुद्धिर्न वैषम्यवतीत्यर्थः । अत्र पादचतुष्टये **मता** इति व्यपेताव्यपेतमादिमध्यान्तभागगतं यमकम् ।

(हे साधु,) चित्तग्लानि को कभी प्राप्त न होने वाली तुम्हारी बुद्धि में, (स्वात्म में) रम रहे योगियों द्वारा अभिमत निष्कामभाव को भी तिरस्कृत करने वाली (=उनके मन में भी स्पृहा जगाने वाली), अनायास ही श्रेष्ठत्व को प्राप्त हुई एवं कभी भी निकृष्टता न धारण करने वाली (=सतत श्रेष्ठ), समता (का भाव) है, उसके प्रतिकूल (वैषम्य का) भाव नहीं है ।

यहाँ चारों चरणों के आरम्भ, मध्य और अन्त में **मता** की व्यवधानयुक्त एवं व्यवधानरहित आवृत्ति होने से **चतुष्पादगत व्यपेत-अव्यपेत (मिश्र) आदिमध्यान्तयमक** है (तु० **सरस्व० २, उदा० १२९**) । प्रायः सभी टीकाकारों ने यहाँ व्यपेत यमक ही माना है, अव्यपेत नहीं ।

कालकालगलकालकालमुखकालकाल
कालकालघन[3]कालकालपन[4]काल काल ।
कालकालसितकालका ललनि[5]कालकाल-
कालकालगतु[6] कालकाल कलि[7]कालकाल ॥५०॥

चतुष्पादगतमव्यपेतव्यपेतमादिमध्यान्तयमकमुदाहरति—**कालेति** । संख्या-

१. मता धुनाना– । २. –क्रमता– । ३. –पन– । ४. –घन– । ५. –गतु । ६. कलि– । ७. –लनि– ।

नुक्रमनिर्दिष्टान्वयसहितः पदच्छेदः — [1]काल-कालगल-काल-कालमुख-कालकाल-(क+आल), [2]काल-कालघनकाल-का(क+आ)लपन-काल [5]काल । [6]कालका(क+अ)लसित-कालका [8]ललनिका [7]आल-कालका(क+अ)लका [9]आलगतु [3]कालकाल [4]कलिकालकाल । श्रीकृष्णं प्रति तद्भक्तस्योक्तिरियम् । कालः (सृष्टिसंहारकत्वात्) कालरूपः कालगलः नीलकण्ठः शिवः, कालः यमः, कालमुखः कृष्णमुखो वानरविशेषः तेषां कालकालगल-काल-कालमुखानां कालकं कृष्णत्वम् आलाति आदत्ते इति तादृशः, तत्संबुद्धौ हे नीलकण्ठयम-कालमुखसमानवर्ण, कं जलम् आलाति गृह्णातीति कालः सजलः यः कालघनः कृष्णमेघः तस्य काले (वर्षासु) कायन्ति शब्दायन्ते इति कालकाल-घनकाल-काः मयूराः तेषाम् आलपनं केकाशब्दः तद्वत् कलते शब्दायते इति तादृशः, तत्संबुद्धौ हे मयूररवानुकारिरवयुत, कालकाल कालस्य मृत्योः अपि कालः अन्तकरः तत्संबुद्धौ हे अन्तकान्तक, कलिकालकाल कलिकालस्य कालः (कल्किरूपेण) अन्तकरः तत्संबुद्धौ हे कलियुगान्तकर, काल लोकत्रयकृत्काल-रूप (अथवा कृष्णवर्ण) हे श्रीकृष्ण, कालकालसितकालका (कं जलम् आलातीति कालं सरः तत्र कायन्तीति कालकाः हंसाः तेषामिव अलसितौ गमनमन्थरौ कालकौ पादौ तादृशी) हंसमन्थरगमना, आलकालकालका (अलीनां समूहः आलं तद्वत् कालकाः कृष्णवर्णाः अलकाः चूर्णकुन्तलाः यस्याः तादृशी) अलिकुलसंनिभ-कृष्णकुन्तला सा ललनिका ललना, रमणी लक्ष्मीर्वा, (त्वाम्) आलगतु आलिङ्गतु संगच्छतां वा । अत्र पादचतुष्टयेऽव्यपेतव्यपेतात्मकमादिमध्यान्तयमकम् ।

(संहारक होने से) काल-रूप शिव, यमराज और कालमुख (वानरों) के समान कृष्णवर्ण, सजल श्यामल मेघों की ऋतु (=वर्षाकाल) में शब्द करने वाले मयूरों की-सी ध्वनि से युक्त, काल (=मृत्यु) के भी काल एवं कलियुग का भी (कल्कि के रूप में) अन्त करने वाले काल-स्वरूप हे श्रीकृष्ण, हंसों की-सी मन्थर गति वाली एवं भौंरों के समान काले कुन्तलों वाली वह ललना (लक्ष्मी अथवा सुन्दरी) तुम्हारा संगम प्राप्त करे अथवा तुम्हारा आलिङ्गन करे ।

इस पद्य की व्याख्या में विभिन्न व्याख्याकारों में पर्याप्त मतभेद है । यहाँ उन मतभेदों में न जाते हुए सर्वाधिक संगत अर्थ को अपना लिया गया है । इस उदाहरण में चारों पादों के आदि, मध्य और अन्त में **कालकाल** अव्य-पेत-व्यपेत रूप से आवृत्त वर्णसमुदाय है; अतः यहाँ **चतुष्पादगत अव्यपेत-व्यपेत आदिमध्यान्तयमक** है ।

संदष्टयमकस्थानमन्तादी[1] पादयोर्द्वयोः ।
उक्तान्तर्गतमप्येतत् स्वातन्त्र्येणात्र[2] कीर्त्यते ।।५१।।

---

१. अन्तादि-, अन्तादिपदयोः । २. -णाद्य ।

संप्रति पराभिमतं संदष्टयमकमाह—**संदष्टेति**। द्वयोः पादयोः समीपवर्तिनोः अन्तादी पूर्वपूर्वस्य पादस्य अन्तभागः उत्तरोत्तरस्य च आदिभागः संदष्टयमकस्य तदाख्ययमकप्रभेदस्य स्थानं विषयः भवति। उक्तेषु **रवेण भौम** इत्यादिभिरुदाहृतेषु प्रभेदेषु अन्तर्गतमपि एतद् यमकम् अत्र स्वातन्त्र्येण पृथग्भावेन, स्वरूपवैशिष्ट्याद्वा हेतोः पृथक्, कीर्त्यते निरूप्यते।

दो (समीपवर्ती) चरणों में (पूर्ववर्ती चरण का) अन्तभाग और (उत्तरवर्ती चरण का) आदिभाग संदष्ट नामक यमक का विषय बनते हैं। यह भेद पूर्वोक्त प्रभेदों में अन्तर्भुक्त है, तथापि यहाँ इसका स्वतन्त्र रूप से (अथवा स्वरूपवैशिष्ट्य के कारण पृथक्) निरूपण किया जाता है।

आद्यन्त तथा आदिमध्यान्त यमक के उदाहरण (४७-५०) संदष्टयमक के भी उदाहरण हैं। रुद्रट ने संदंश (३.३, ५) एवं संदष्टक (३.७, ६) यमकों का पृथक् उल्लेख किया है, परंतु ये दण्डी के संदष्ट से नितान्त भिन्न हैं। संदंश अथवा संदष्ट का अर्थ है विभिन्न चरणों का अभिन्नतया आवृत्त वर्णसमुदाय द्वारा संधान या 'जोड़'। इस दृष्टि से दण्डी की संदष्ट-कल्पना अधिक समीचीन प्रतीत होती है। रुद्रट का वंशनामक यमकभेद (३.२७, २६) दण्डी के संदष्ट से तुलनीय है। वंश का उदाहरण है: **ग्रीष्मेण महिमानीतो हिमानीतोयशोभितः। यशोऽभितः पर्वतस्य पर्व तस्य हि तन्महत्॥** भोज (सरस्व० २, उदा० १३६ की वृत्ति) ने संदष्टयमक को काञ्चीयमक कहा है। रुद्रट (३.४४) के काञ्चीयमक की कल्पना इससे पर्याप्त भिन्न है।

उपोढरागाप्यबला मदेन सा
मदेनसा मन्युरसेन योजिता।
न योजितात्मानमनङ्गतापिता-
ङ्गतापि तापाय[1] ममाद्य[2] नेयते॥५२॥

संदष्टयमकमुदाहरति—**उपोढेति**। मदेन यौवनजनितेन मद्यपानजनितेन वा विकारेण उपोढरागा उद्रिक्तानुरागा, संजातसुरताभिलाषा, अपि सा अबला सुकुमारी मत्प्रिया मदेनसा मम अपराधेन हेतुना मन्युरसेन क्रोधावेशेन योजिता अस्ति। एवं योजितात्मानं योजितः निहितः आत्मा स्वभावः यस्यां तादृशीम्, अतिप्रगाढामित्यर्थः, अनङ्गतापितां (अनङ्गं कामम् अकृतार्थतया तापयतीति अनङ्गतापिनी तस्याः भावः तां) कामसंतापकत्वं गता अपि सा अद्य मम इयते

१. तावाच (?)। २. ममास।

एतावते महते तापाय व्यथायै न अस्ति इति न, अस्त्येवेत्यर्थः। अत्र प्रथमपादान्ते द्वितीयपादादौ च **मदेनसा** इति, द्वितीयपादान्ते तृतीयपादादौ च **नयोजिता** इति, तृतीयपादान्ते चतुर्थपादादौ च **ज्ञतापिता** इति च पादान्तादिसंदंशात् संदष्टं नाम यमकभेदः।

(यौवनजन्य अथवा मदिरापानजन्य) मदविकार से उमड़ते हुए अनुराग वाली होकर भी वह मेरी सुकुमारी (प्रेयसी) मेरे अपराध के कारण क्रोध के आवेग से युक्त हो गई है। (इस प्रकार) अतिप्रगाढ कामसंतापकत्व को प्राप्त होकर भी वह प्रेयसी मेरी इतनी अधिक व्यथा का कारण नहीं है—यह बात नहीं (=वह कामदेव के और मेरे—दोनों के संताप का कारण बन गई है)।

यहाँ पहले चरण के अन्त और दूसरे के आदि में **मदेनसा** की, दूसरे के अन्त और तीसरे के आरम्भ में **नयोजिता** की एवं तीसरे चरण के अन्त और चौथे के आरम्भ में **ज्ञतापिता** की आवृत्ति से विभिन्न चरणों का परस्पर संदंश (=संधान) होने से **संदष्टयमक** है (तु० **सरस्व०** २, **उदा०** १२८)। कृष्णकिंकर तर्कवागीश (**काव्यतत्त्वविवेककौमुदी**, ३. ५२) ने **काव्यादर्श** की किसी मातृका में इसके उदाहरण के रूप में **धराधरा** इत्यादि (३.७२) के भी यहाँ गृहीत होने का संकेत किया है (तु० **काव्यलक्षण**, पृ० २८५-६)।

अर्धाभ्यासः[1] समुद्गः स्यादस्य भेदास्त्रयो मताः।
पादाभ्यासोऽप्यनेकात्मा व्यज्यते स निदर्शनैः ॥५३॥

पादभागगतं यमकं निरूप्याधुना समस्तपादगतमाह—**अर्धाभ्यास** इति। अर्धाभ्यासः अर्धस्य श्लोकार्धस्य (=पादद्वयस्य) अभ्यासः ऐक्यं समुद्गः (भागद्वयात्मकसमुद्गकसारूप्यात्) तन्नामा यमकभेदः स्यात्। अस्य त्रयः भेदाः मताः, तथा च प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोश्चैक्यमित्येकः, प्रथमद्वितीययोस्तृतीयचतुर्थयोश्चैक्यमित्यन्यः, प्रथमचतुर्थयोर्द्वितीयतृतीययोश्चैक्यमित्यपरस्तृतीय इति। एवमेव पादाभ्यासः एकस्य पादस्य अभ्यासः पुनरावर्तनम् अपि अनेकात्मा बहुविधः भवति, स च निदर्शनैः उदाहरणैः व्यज्यते निरूप्यते, समुद्गनिरूपणानन्तरं स्फुटीकरिष्यते इत्यर्थः।

(श्लोक के) अर्धभाग में अर्थात् दो पादों में आवृत्ति होने पर समुद्ग (नामक यमक) होता है। इसके तीन भेद माने गए हैं। (पाद की आवृत्ति रूप) पादाभ्यास भी अनेक प्रकार का होता है; इसे उदाहरणों द्वारा निरूपित किया जाएगा।

---

१. अन्ताभ्यासः।

समुद्ग अथवा संपुटक भागद्वयात्मक वस्तु (जैसे, मञ्जूषा) को कहते हैं; उसके सारूप्य से इस यमकभेद को भी समुद्ग(क) कहते हैं। भरत (१७.६८), भामह (२.१०), रुद्रट (३.१६-७) आदि ने इसका उल्लेख अथवा वर्णन किया है। इसके तीन भेद इस प्रकार हैं: (१) जहाँ प्रथम-तृतीय और द्वितीय-चतुर्थ पाद तुल्य हों; (२) जहाँ प्रथम-द्वितीय और तृतीय-चतुर्थ पाद तुल्य हों; और (३) जहाँ प्रथम-चतुर्थ और द्वितीय-तृतीय पाद तुल्य हों। भोज (सरस्व० २.६६) ने इन्हें क्रमशः व्यपेत, अव्यपेत और उभयात्मा समुद्ग कहा है।

नास्थेयःसत्त्वया वर्ज्यः परमायतमानया।
नाऽऽस्थेयः स त्वयाऽऽवर्ज्यः परमायतमानया ॥५४॥

समुद्गयमकस्य प्रथमं रूपमुदाहरति—नेति। अस्थेयः अस्थिरतरं सत्त्वं स्वभावः यस्याः तादृश्या, अथ च परमायतः अतिदीर्घः मानः प्रणयकोपः यस्याः तथाभूतया त्वया स प्रियः (सापराधोऽपि) न वर्ज्यः त्याज्यः प्रत्याख्येयो वा। परम् अपितु स उक्तरूपः आस्थेयः आदरणीयः ना पुरुषः आयतमानया सम्यग् यत्नमाचरन्त्या त्वया आवर्ज्यः अनुकूलाचरणेन स्ववशतां नेयः। अत्र प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोश्च पादयोस्तुल्यतेति प्रथमो व्यपेतरूपः समुद्गप्रकारः।

अस्थिर स्वभाव वाली तथा अतिदीर्घ प्रणयकोप वाली तुम (अपने उस प्रिय का) प्रत्याख्यान न कर देना, अपितु उस आदरयोग्य पुरुष को तुम प्रयत्नपूर्वक अपने वश में करना।

यहाँ प्रथम-तृतीय एवं द्वितीय-चतुर्थ चरणों की तुल्यता होने से प्रथम प्रकार का (व्यपेत) समुद्गयमक है। रुद्रट (३.१६-७) के अनुसार यह समुद्गकयमक है। अन्य उदाहरणों के लिए, द्र० किराता० १५.१६, ५०; शिशु० १६.५८।

नरा जिता माननया समेत्य
न राजिता माननयासमेत्य।
विनाशिता वै भवताऽयनेन[1]
विनाऽशिता वैभवतायनेन[2] ॥५५॥

द्वितीयं समुद्गप्रभेदं निदर्शयति—नरा इति। माननया आदरेण समेत्य समागमनीय समुपसरणीय (हे राजन्), भवता जिताः युद्धे विजिताः नराः शत्रुपुरुषाः माननयासं माननययोः संमानस्य नीतेश्च आसं क्षेपं, परित्यागम्, एत्य

१. —ऽऽपनेन। २. —तापनेन।

प्राप्य, आत्मसंमानं युद्धनीतिं च त्यक्त्वेत्यर्थः, न नैव राजिताः शोभिताः, युद्ध-क्षेत्रात्पलायितास्ते सुतरां न्यक्कृता अभूवन्। अथ वै वैभव-तायनेन (√ताय्+ल्यु>अन=तायन) आत्मविभुत्वविस्तारकारिणा, विजिगीषुणेत्यर्थः, भवता अयनेन यानेन आक्रमणेन हेतुना विनाशिताः विनाशं प्रापिताः ते रिपुपुरुषाः विना गृध्रादिपक्षिणा (जातावेकवचनम्) अशिताः भक्षिताः। अत्र प्रथमद्वितीय-योस्तृतीयचतुर्थयोश्च पादयोरैक्यमिति द्वितीयोऽव्यपेतरूपः समुद्गभेदः।

संमानपूर्वक समुपगमनीय (हे राजन्), आपके द्वारा पराभूत शत्रुजन आत्मसंमान और (युद्ध-)नीति का परित्याग करके (किसी भी प्रकार) शोभा को प्राप्त न हुए, अर्थात् युद्धभूमि से भागकर वे सर्वथा तिरस्कृत हुए। दूसरी ओर, अपने विभुत्व का विस्तार करने वाले (विजिगीषु) आपके द्वारा आक्रमण किए जाने पर विनाश को प्राप्त शत्रुपुरुष (गीध आदि) पक्षियों के द्वारा खा लिए गए।

यहाँ प्रथम-द्वितीय एवं तृतीय-चतुर्थ पादों का परस्पर सारूप्य होने से द्वितीय प्रकार का (अव्यपेत) **समुद्गयमक** है। रुद्रट (३.१३,१५) के अनुसार यह युग्मकयमक है। अन्य उदाहरण के लिए, द्र० **शिशु०** १६.११८।

कलापिनां चारुतयोपयान्ति[1] वृन्दानि लापोढ[2]घनागमानाम्।
वृन्दानिलापोढघनागमानां कलापिनां चारुतयोऽपयान्ति ॥५६॥

तृतीयं समुद्गभेदमुदाहरति—**कलापिनामिति**। वर्षावर्णनमिदम्। लापोढघनागमानां (लापेन केकारवेण ऊढः सूचितः, प्राप्तः संमानितो वा, घना-गमः वर्षागमनकालः यैः तादृशानां) केकाध्वनिव्यञ्जितवर्षागमानां कलापिनां मयूराणां वृन्दानि समूहाः चारुतया शोभाविशेषेण उपयान्ति संगच्छन्ते, शोभातिशयोपेता भवन्तीत्यर्थः। अथ च वृन्दानिलापोढघनागमानां (वृन्दानिलेन वात्यया हेतुना अपोढः निवारितः घनस्य नृत्यविशेषस्य आगमः उल्लासः येषां तादृशानां) वात्यानिरस्तनृत्योत्सवानां कलापिनां (के जले लपन्तीति, कलं मधुरं ध्वनिमाप्नुवन्तीति वा तादृशानां) हंसानाम् आरुतयः कूजितानि अपयान्ति दूरी-भवन्ति। वर्षासु मदशून्या हंसाः परित्यक्तनृत्या भवन्ति मानसं च यान्तीति कवि-समयः। अत्र प्रथमचतुर्थयोर्द्वितीयतृतीययोश्च पादयोस्तुल्यतेति तृतीयो व्यपेताव्य-पेतात्मकः समुद्गभेदः।

अपनी केकाध्वनि से वर्षाकाल के आगमन को सूचित करने वाले मयूरों के समूह (अनुपम) शोभा को प्राप्त हो रहे हैं, और (दूसरी ओर, वर्षा

---

१. –तमोप–। २. खापोढ–।

ऋतु के) झंझावातों से विघ्नित नृत्योत्सव वाले हंसों का कूजन समाप्त हो रहा है।

कलापी के 'हंस' अर्थ के लिए इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार करनी होगी : 'क (=जल) में **लाप** (=आलाप) करने वाली।' घन हंसों के नृत्यविशेष का नाम है; तु० **मेदिनीकोश : घनं स्यात्कांस्यतालादिवाद्य-मध्यमनृत्ययोः।** वर्षा ऋतु के आगमन का प्रस्तुत वर्णन २.३३४ में किए गए शरद् ऋतु के आगमन के वर्णन से तुलनीय है। प्रस्तुत उदाहरण में प्रथम-चतुर्थ और द्वितीय-तृतीय पादों में परस्पर अभिन्नता होने से तृतीय प्रकार का **(व्यपेत-अव्यपेत) समुद्गयमक** है (**तु० सरस्व० २, उदा० १४८**)। रुद्रट (३.१३-४) के अनुसार यह परिवृत्तियमक है।

न मन्दयाऽवर्जितमानसात्मया[1] नमन्दयावर्जितमानसात्मया[1]।
उरस्युपास्तीर्णपयोधरद्वयं मया समालिङ्ग्यत जीवितेश्वरः ॥५७॥

अर्धाभ्यासमुपसंहृत्य पादाभ्यासमुपक्रममाणस्तत्र प्रथमं भेदमुदाहरति—नेति। मन्दया मूढया, अवर्जिते अपरित्यक्ते माने प्रणयकोपे सात्मया सयत्नया, प्रयत्नवत्या, अथ च दयावर्जितमानसात्मया दयया करुणया वर्जितौ रहितौ मानसात्मानौ यस्यास्तथाभूतया, निष्करुणहृदयेत्यर्थः, मया नमन् मत्पादयोः प्रणिपतन् जीवितेश्वरः प्राणनाथः प्रियः उरसि वक्षसि उपास्तीर्णपयोधरद्वयम् उपास्तीर्णं प्रगाढमर्पितं पयोधरद्वयं स्तनयुगलं यथा स्यात्तथा (क्रियाविशेषणं) न समालिङ्ग्यत आश्लिष्यत। प्रणयकोपाग्रहवत्या मया क्षमां याचन्नपि प्रियो नानुगृहीत इति स्खलितमानाया अनुशयोक्तिरियम्। अत्र प्रथमद्वितीयौ पादावभ्यस्ताविति तद्गतपादाभ्यासयमकम्।

अपना प्रणयकोप न छोड़ने पर अड़ी हुई तथा करुणाहीन मन और आत्मा वाली मन्दमति मैंने (पैरों पर) झुके अपने प्राणनाथ (प्रिय) को, उसके वक्ष पर अपने उरोजों को सटाकर, आलिङ्गन नहीं किया (—इस बात का मुझे दुःख है)।

यहाँ पहले और दूसरे चरणों में आवृत्ति है; अतः यह **प्रथमद्वितीयपादगत द्विपादाभ्यासयमक** का उदाहरण है (**तु० सरस्व० २, उदा० १४०**)।

सभा सुराणामबला विभूषिता गुणैस्तवारोहि मृणालनिर्मलैः।
स भासुराणामबला विभूषिता विहारयन्निर्विश संपदः पुराम् ॥५८॥

प्रथमतृतीयपादाभ्यासं निदर्शयति—सभेति। (हे राजन्,) तव मृणाल-

---

1. –सार्थया।

निर्मलैः कमलनालदण्डवत् स्वच्छैः शुभ्रैः गुणैः शौर्योदारत्वादिभिः अबला बलासुररहिता (इन्द्रेण तस्य निहतत्वात् तत्कृतोत्पातशून्या), अथ च विभूषिता विभुना शक्रेण उषिता अध्यासिता सुराणां देवानां सभा सुधर्माख्या परिषद् आरोहि सम्यग् आक्रान्ता, देवसभायामपि त्वद्गुणचर्चा भवतीत्यर्थः। स एवं-भूतः कृतकृत्यः त्वं विभूषिताः विशेषेण अलंकृताः अबलाः स्त्रियः विहारयन् रमयन्, ताभी रममाण इति भावः, भासुराणां भ्राजिष्णूनां पुरां नगरीणां संपदः विभूतीः निर्विश उपभुङ्क्ष्व। अत्र प्रथमतृतीयपादाभ्यासः।

(हे राजन्,) मृणालदण्ड के समान आपके शुभ्र गुण बल (नामक असुर) से रहित एवं इन्द्र द्वारा अधिष्ठित देवसभा तक पहुंच चुके हैं, अर्थात् देवताओं में भी आपके गुणों की चर्चा है। ऐसे आप विशेष रूप से अलंकृत स्त्रियों के साथ विहार करते हुए (अपने राज्य के) समृद्ध नगरों की संपदा का उपभोग करें।

यहाँ **प्रथमतृतीयपादगत द्विपादाभ्यासयमक** है (तु० सरस्व० २, उदा० १४३)। रुद्रट (३.३,५) के अनुसार यह संदंशयमक है।

कलं कमुक्तं तनुमद्धयनामिका स्तनद्वयी च त्वदृते न हन्त्यतः।
न याति भूतं गणने भवन्मुखे कलङ्कमुक्तं तनुमद्धयनामिका ॥५६॥

प्रथमचतुर्थपादाभ्यासमुदाहरति—**कलमिति**। (विलासिनीनां) कलं मधुरम् उक्तं भाषितं वचः, तनुमद्धयनामिका तनुं कृशं मध्यं मध्यभागं कटिं (स्वभारेण) नामयतीति तादृशी अतिपृथुः स्तनद्वयी कुचयुगलं च त्वद् ऋते त्वां विहाय अन्यं कं पुरुषं न हन्ति भृशं पीडयति। केवलं त्वामेव जितेन्द्रियमिमे विकारहेतवो नाकुलयन्तीत्यर्थः। अतश्च भवन्मुखे भवत्प्रमुखे गणने संख्याने, जितेन्द्रियपुरुषगणनायां प्रस्तुतायां भवति च कनिष्ठिकामारूढवतीत्यर्थः, अनामिका कनिष्ठिकानन्तराङ्गुलिः कमपि कलङ्कमुक्तं दोषरहितं तनुमद् शरीरि भूतं सत्त्वं, सशरीरं प्राणिनं, न हि नैव याति प्राप्नोति, त्वत्तुल्यवश्येन्द्रियपुरुषाभावादित्याशयः। अत्र प्रथमचतुर्थपादावभ्यस्ताविति तद्गतपादाभ्यासयमकम्।

(स्त्रियों की) मधुर वाणी और (अपने भार से) कृश कटि को झुका देने वाले उनके उरोज आपके अतिरिक्त किस अन्य पुरुष को व्यथित नहीं करते? इसी कारण से, आप जिनमें प्रमुख हैं ऐसे (जितेन्द्रिय) पुरुषों की गणना के अवसर पर (कनिष्ठिका अंगुली द्वारा आपका निर्देश हो चुकने पर, उसके पास की) अनामिका अंगुली किसी अन्य निर्दोष शरीरधारी प्राणी पर नहीं टिकती (क्योंकि आपको छोड़कर ऐसा निर्दोष व्यक्ति कोई अन्य नहीं है)।

यहाँ प्रथम-चतुर्थ चरणों में द्विपादाभ्यासयमक है (तु० सरस्व० २, उदा० १४४)। रुद्रट (३.३, ६) के अनुसार यह आवृत्तियमक है।

यशश्च ते दिक्षु रजश्च सैनिका
वितन्वतेऽजोपम दंशिता युधा ।
वितन्वतेजोऽपमदं शितायुधा
द्विषां च[1] कुर्वन्ति कुलं तरस्विनः ॥६०॥

द्वितीयतृतीयपादाभ्यासमुदाहरति—यश इति । हे अजोपम विष्णुतुल्य राजन्, ते तव दंशिताः वर्मिताः कवचवन्तः शितायुधाः तीक्ष्णधारप्रहरणोपेताः तरस्विनः वेगवन्तः च सैनिकाः युधा तुमुलयुद्धद्वारा दिक्षु सर्वत्र यशः कीर्तिं रजः स्वपादोत्क्षिप्तां धूलिं च वितन्वते विस्तारयन्ति । अथ च ते सैनिकाः द्विषां शत्रूणां कुलं समूहं वितनु अपगतशरीरम् अतेजः तेजोहीनम् अपमदं गर्वशून्यं च कुर्वन्ति । अत्र द्वितीयतृतीयपादगतं पादाभ्यासयमकम् ।

हे विष्णुतुल्य (राजन्), आपके कवचधारी, तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रों से युक्त एवं वेगवान् सैनिक (तुमुल) संग्राम द्वारा सभी दिशाओं में (आपकी) कीर्ति का और (अपने पैरों से उठाई) धूल का विस्तार कर रहे हैं, एवं शत्रुओं के समूह को शरीररहित, तेजोविहीन तथा गर्वशून्य बना रहे हैं।

यहाँ द्वितीयतृतीयपादगत द्विपादाभ्यासयमक है। रुद्रट (३.७-८) के अनुसार यह गर्भयमक है।

बिभर्ति भूमेर्वलयं भुजेन ते
भुजंगमोऽमा स्मरतो मदञ्चितम् ।
शृणूक्तमेकं स्वमवेत्य भूधरं
भुजं गमो मा स्म रतो मदं चितम् ॥६१॥

द्वितीयचतुर्थपादाभ्यासमुदाहरति—बिभर्तीति । (हे राजन्,) भुजंगमः शेषनागः ते तव भुजेन बाहुना अमा सह, त्वद्भुजसाहाय्येनेत्यर्थः, भूमेः पृथिव्याः वलयं मण्डलं बिभर्ति वहति, इतीदं स्मरतः विजानतः मत् मत्सकाशाद् अञ्चितं पूजितं युक्तिमद्वा एकम् उक्तं वचः शृणु । किं तदित्याह—स्वं स्वकीयं भुजं भूधरं पृथिवीभारधारकम् अवेत्य ज्ञात्वा रतः प्रसन्नचित्तः त्वं चितम् उपचितं प्रवृद्धं मदम् अहंकारं मा स्म गमः न गच्छ । अत्र द्वितीयचतुर्थपादगतं पादाभ्यासयमकम् ।

---

१. तु।

(हे राजन्,) शेषनाग तेरी भुजा की सहायता से भूमण्डल को धारण करता है। इस बात को जानने वाले मुझसे तुम यह युक्तियुक्त बात सुनो (और समझो) : तुम अपनी भुजा को पृथ्वी का भार वहन करने वाली जानकर प्रसन्नता के भाव से अत्यधिक गर्व को मत प्राप्त होओ।

यहाँ द्वितीयचतुर्थपादगत पादाभ्यासयमक है। रुद्रट (३.७, ६) के अनुसार यह संदष्टकयमक है। अन्य उदाहरणों के लिए, द्र० किराता० १५. ३५; शिशु० ४.४८, ५०।

स्मरानलो मानविवर्धितो यः स निर्वृतिं ते किमपाकरोति ।
समन्ततस्तामरसेक्षणे न समं ततस्तामरसे क्षणेन ॥६२॥

तृतीयचतुर्थपादाभ्यासं निदर्शयति—**स्मरानल** इति। हे तामरसेक्षणे आरक्तकमलनयने अरसे रसानभिज्ञे अचतुरे, यः स्मरानलः ते कामाग्निः मानविवर्धितः प्रणयकोपेन वृद्धिं गमितः अथ च क्षणेन क्षणमात्रेण एव समं (क्रियाविशेषणं) कृत्स्नभावेन ततः विस्तृतः विजृम्भितः, स (कामाग्निः) ते तव तां पूर्वानुभूतां निर्वृतिं रतिविलासजं सुखविशेषं किं समन्ततः सर्वात्मना न अपाकरोति निराकरोति ? मानविवृद्धः खलु मदनाग्निः पूर्वानुभूतमपि रतिसुखं निरस्यतीति मानिनी काचित्तत्सख्या समुपदिश्यते। अत्र तृतीयचतुर्थपादगतं पादाभ्यासयमकम्।

हे अरसिके (=भोली) कमललोचने, तुम्हारे अपने प्रणयकोप से जो वृद्धि को प्राप्त हो गई तथा जो क्षण भर में ही पूर्णतः फैल गई ऐसी वह तुम्हारी कामाग्नि तुम्हारे उस (पूर्वानुभूत) रतिसुख को सर्वथा दूर नहीं हटा देती ?

क्षणेन समं ततः का अर्थ प्रायः टीकाकारों ने 'उत्सव के साथ फैला अथवा परिपूर्ण हुआ' किया है जो प्रसङ्गोचित नहीं लगता। उक्त उदाहरण में तृतीयचतुर्थपादगत द्विपादाभ्यासयमक है (तु० सरस्व० २, उदा० १४२)। रुद्रट (३.१०-१) के अनुसार यह पुच्छयमक है।

प्रभावतो नामन वासवस्य
प्रभावतो नाम नवासवस्य।
प्रभावतोऽनाम न वा सवस्य
विच्छित्तिरासीत्त्वयि विष्टपस्य[1] ॥६३॥

१. पिष्टपस्य।

पादद्वयाभ्यासं निदर्श्य पादत्रयाभ्यासमुपक्रमते—**प्रभावत** इति। संख्यानुक्रमनिर्दिष्टान्वयसहितः पदच्छेदः —[1]प्रभावतः [3]नामन [2]वासवस्य, [9]प्रभावतः [10]नाम [11]नवा(व+आ)सवस्य । [7]प्रभौ [8]अतः [4]अनाम [12]न [13]वा [14]सवस्य, [15]विच्छित्तिः [16]आसीत् [5]त्वयि [6]विष्टपस्य । प्रभावतः दीप्तिमतः (अथवा आत्मप्रभावाद्) वासवस्य इन्द्रस्य नामन (नामयतीति नामनस्तत्संबुद्धौ) प्रतापातिशयेन गर्वशातन, अथ च अनाम (न आमः रोगो यस्येति, न नामः नमनं यस्येति वा स तत्संबुद्धौ) रोगरहित अथवा परप्रणिपातानभिज्ञ (हे राजन्), त्वयि अस्य विष्टपस्य भुवनस्य प्रभौ स्वामिनि सति अतः अस्माद् भुवनात् प्रभावतः नाम प्रभावदाख्यस्य कान्तिमद्वर्णस्य वा नवासवस्य अभिनवसुरायाः न वा सवस्य यज्ञस्य (सोमयागस्य वा) विच्छित्तिः विच्छेदः विनाशः आसीद् अभवत्। त्वयि भुवं शासति आसवः सवश्च निर्बाधं प्रावर्तेतामिति कश्चिद्राजाऽत्र स्तूयते। कैश्चिदयं श्लोकः कृष्णवर्णनपरत्वेन व्याख्यातः। अत्र प्रथमद्वितीयतृतीयपादाभ्यासयमकम्।

दीप्तिमान् इन्द्र को भी (अपने प्रताप से) झुका देने वाले एवं स्वयं कभी न झुकने वाले (हे राजन्), आपके इस भुवन के स्वामी होने पर, प्रभावान् नामक नवीन आसव (=नई मदिरा) का तथा (सोम-)याग का कभी विच्छेद अथवा विनाश नहीं हुआ।

कुछ टीकाकारों ने इस पद्य को कृष्णवर्णनपरक माना है। यहाँ पहले तीन चरणों में **त्रिपादगत पादाभ्यासयमक** है (तु० हेमचन्द्र : **काअनु०**, पृ० २५२)।

परंपराया बलवा रणानां
धूलीः स्थलीर्व्योम[1] विधाय रुन्धन्।[2]
परं परायाबलवारणानां
परं पराया बलवारणानाम् ॥६४॥

प्रथमतृतीयचतुर्थपादाभ्यासमुदाहरति—**परंपराया** इति। संख्यानुक्रमनिर्दिष्टान्वयसहितः पदच्छेदः —[6]परंपरायाः [2]बलवाः [5]रणानाम्, [8]धूलीः [7]स्थलीः [10]व्योम [9]विधाय [11]रुन्धन्। [12]परं [1]पराय [3]अबलवारणानाम्, [13]परं [14]परायाः [4]बलवारणानाम्। हे पराय (परः उत्कृष्टः अयः शुभावहविधिर्यस्य सः, तत्संबुद्धौ) परमकल्याणिन्, बलवाः (बलेन वारयति शत्रूनिति वारयतेः क्विपि रूपं तत्संबुद्धौ) पराक्रमिन् राजन्, त्वम् अबलवारणानां दुर्बलशत्रुघातकानाम्

१. व्योम्नि। २. पादोऽयं क्वचित्तृतीय इति स्वीकृतः।

अथ च बलवारणानां (बलमेषामस्तीति अर्शआदित्वादचि बलाः बलवन्तः वारणाः हस्तिनः यत्र तेषां) सबलगजोपेतानां रणानां संग्रामाणां परंपरायाः समूहस्य स्थलीः भूमीः धूलीः रजांसि विधाय कृत्वा, रणभूमीः रजोराशि-रूपेण विपरिणमय्येत्यर्थः, व्योम आकाशं रुन्धन् रजोभिः आच्छादयन् परम् उत्कृष्टं परं शत्रुसैन्यं परायाः (परा √या, लङि मध्यमपुरुषैकवचने रूपं) परागतवान्, जितवानित्यर्थः । अत्र प्रथमतृतीयचतुर्थपादगतं त्रिपादाभ्यास-यमकम् ।

हे परमकल्याणमय बलशाली (राजन्), तुमने दुर्बल शत्रु के संहारक एवं प्रबल हस्तिसेना वाले संग्रामों की भूमि को धूलिकणों में परिणत करके (उनसे) आकाश को आच्छादित करते हुए प्रबल शत्रुबल को जीत लिया ।

यहाँ **प्रथमतृतीयचतुर्थपादगत** त्रिपादाभ्यासयमक है । **धूलीः स्थलीर्व्योम विधाय रुन्धन्** को तीसरा चरण मानने पर यहाँ प्रथमद्वितीयचतुर्थपादगत त्रिपादाभ्यासयमक होगा । किसी भी स्थिति में, त्रिपादाभ्यासयमक का एक अतिरिक्त उदाहरण यहाँ अपेक्षित है (तु० रङ्गाचार्यशास्त्री) ।

न श्रद्दधे वाचमलज्ज मिथ्याभवद्विधानामसमाहितानाम् ।
भवद्विधानामसमाहितानां भवद्विधानामसमाहितानाम् ॥६५॥

द्वितीयतृतीयचतुर्थपादाभ्यासं निदर्शयति—नेति । संख्यानुक्रमनिर्दिष्टा-न्वयसहितः पदच्छेदः —[9]न [10]श्रद्दधे [8]वाचम् [1]अलज्ज [5]मिथ्याभवद्विधानाम् [6]असमा(म-अ)हि-तानाम् । [7]भव-द्वि-धानाम् [4]असमा(म-अ)हितानाम्, [2]भवद्-विधानाम् [3]असमाहितानाम् । हे अलज्ज निर्लज्ज (शठ), अहं भव-द्विधानां भवादृशानाम् असमाहितानाम् अव्यवस्थितचित्तानाम्, असमाहितानां (असमाश्च ते अहिताः असमाहितास्तेषां) विषमशत्रुभूतानां, कुटिलशत्रुवदा-चरतां जनानां, मिथ्याभवद्विधानां (मिथ्या असत्यं भवद् विधानम् अनुष्ठानं यस्यास्तादृशीं) वितथीभवदनुष्ठानां, कर्मणाऽननुगतामित्यर्थः, असमाहितानाम् (असमः कुटिलश्चासौ अहिः सर्पः असमाहिः तस्य इव तानः विस्तारः प्रपञ्चः यस्यास्तादृशीं) कुटिलसर्पसदृशविस्ताराम्, अथ च भवद्विधानां (भवे उत्पत्ति-काले एव द्वे धाने आश्रयौ अर्थरूपौ यस्यास्ताम् अथवा भव एव द्विधा द्विविधः अनः प्राणभूतोऽर्थो यस्यास्तां) श्रवणानन्तरमेव (छद्मना प्रयुक्तत्वाद्) द्व्यर्थ-बोधिकां वाचं वाणीं न श्रद्दधे नैव विश्वसिमि । कंचन शठं नायकं प्रति वञ्चि-ताया उक्तिरियम् । अत्र द्वितीयतृतीयचतुर्थपादगतं त्रिपादाभ्यासयमकम् ।

हे निर्लज्ज, मैं तुम-जैसे अव्यवस्थित अथवा अस्थिर चित्त वाले कुटिल शत्रु रूप पुरुषों की कभी भी क्रियान्वित न होने वाली (=कर्मविसदृश), कुटिल

सांप के-से प्रपञ्च से युक्त तथा सुनते ही दो (प्रतिकूल) अर्थों का बोध कराने वाली बातों पर विश्वास नहीं करती।

यहाँ द्वितीयतृतीयचतुर्थपादगत त्रिपादाभ्यासयमक है।

सन्नाहितो[1]मानमराजसेन सन्नाहितो[1]मानमराजसेन।
सन्नाऽऽहितो[1] मानमराजसेन सन्नाहितो[1] माऽनम राजसे न ॥६६॥

पादचतुष्टयाभ्यासमुदाहरति—**सन्निति**। संख्यानुक्रमनिर्दिष्टान्वयसहितः पदच्छेदः —[1]सन् [2]आहितोमा(मा–अ)नम–राज–सेन, [3]सन्ना(न्न–अ)हितोम [4]आनम–राजसेन। [8]सन् [9]ना [11]आहितः [10]मानम् [5]अराजस [7]इन, [12]सन्नाहितः [13]मा [6]अनम [15]राजसे [14]न। हे सन् साधो, आहितोमानमराजसेन (आहितौ स्वाङ्गधृतौ उमा पार्वती अनमराजः [न विद्यते मा श्रीर्यस्येत्यमः, न अमः अनमः सश्रीकः, राजा चन्द्रः] सश्रीकश्च चन्द्रः येन स आहितोमानमराजः शिवः तेन सेनः सस्वामिकः, शिवभक्तः शैवो वा तत्संबुद्धौ) शैव, सन्नाहितोम (सन्ना निरस्ता अहितानां शत्रूणाम् उमा अभिख्या शोभा येन तादृशः, तत्संबुद्धौ) निरस्तशत्रुशोभ, आनमराजसेन (आनमा आनता राजसेना यस्मिंस्तथाविधः, तत्संबुद्धौ) आनतराजकीयसेनोपेत, अराजस (न राजस इत्यराजसः, तत्संबुद्धौ) सात्त्विक सत्त्वगुणसमन्वित, अथ च अनम (न नमतीति तादृशस्तत्संबुद्धौ) अप्रणत, इन स्वामिन् (राजन्), सन् ना सत्पुरुषः, मानं संमानम् आहितः प्राप्तः, संनाहितः संनाहयुक्तः कवचितः (कृतसैन्यसंनाहो वा) च त्वं मा न राजसे न न शोभसे, शोभस एवातितरामित्यर्थः। अत्र चतुष्पादगतं पादाभ्यासयमकम्।

हे साधुस्वभाव, पार्वती और चन्द्रमा को धारण करने वाले शिव के भक्त, अपने शत्रुओं की शोभा को विनष्ट करने वाले, आज्ञाकारी राजसैनिकों से युक्त, सत्त्वगुणोपेत एवं (शत्रु के समक्ष) कभी न झुकने वाले स्वामिन् (राजन्), सत्पुरुष, गौरव को प्राप्त तथा कवच धारण किए हुए तुम अत्यन्त शोभा पाते हो।

यहाँ चारों पादों में **सन्नाहितोमानमराजसेन** का अभ्यास होने से **चतुष्पादगत पादाभ्यासयमक** है। इसके उदाहरण के रूप में **किराता० १५.५२** भी द्रष्टव्य है। रुद्रट (३.१०, १२) के अनुसार यह पङ्क्तियमक है। दण्डी के प्रस्तुत पद्य की व्याख्या के संबन्ध में विभिन्न टीकाकारों में पर्याप्त मतभेद है। यहाँ उन मतभेदों में न जाते हुए सर्वाधिक संगत अर्थ को अपना लिया गया है।

---

१. सन्नाभितो–।

सकृद् द्विस्त्रिश्च योऽभ्यासः पादस्यैवं प्रदर्शितः ।
श्लोकद्वयं तु युक्तार्थं[1] श्लोकाभ्यासः स्मृतो यथा ॥६७॥

पादाभ्यासमुपसंहरन् श्लोकाभ्यासं चोपक्रममाण आह—**सकृदिति** । पादस्य सकृद् एकवारं द्विः द्विवारं त्रिः त्रिवारं च यः अभ्यासः आवृत्तिः स एवम् उक्तप्रकारेण प्रदर्शितः निदर्शितः । तत्र सकृदभ्यासो द्विपादगतः, द्विरभ्यासस्त्रिपादगतः, त्रिरभ्यासश्च पादचतुष्टयगत इति ज्ञेयम् । श्लोकाभ्यासमाह—युक्तार्थं परस्परसंबद्धार्थं श्लोकद्वयं पद्ययुगलं, पुनरावृत्तः सकलोऽपि पादचतुष्टयात्मकः श्लोक इत्यर्थः, श्लोकाभ्यासः स्मृतः । यथेत्युदाहरणोपक्रमार्थम् ।

उक्त प्रकार से पाद की एक, दो और तीन बार पुनरावृत्ति (क्रमशः द्विपादगत, त्रिपादगत और चतुष्पादगत पादाभ्यास के रूप में) निर्दशित की गई । परस्पर संबद्ध अर्थ वाले (एवं समान रूप वाले) दो श्लोकों को (अर्थात् समूचे श्लोक की अगले श्लोक में उसी रूप में पुनरावृत्ति को) श्लोकाभ्यास **कहते हैं ।**

अगले दो श्लोकों के युग्मक को इसके उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है ।

विनायकेन भवता वृत्तोपचितबाहुना ।
स्वमित्रोद्धारिणाऽभीता पृथ्वीयमतुलाश्रिता ॥६८॥
विनायकेन भवता वृत्तोपचितबाहुना ।
स्वमित्रोद्धाऽरिणाऽभीता पृथ्वी यमतुलाऽऽश्रिता ॥६९॥

श्लोकाभ्यासं युग्मकेनोदाहरति—**विनायकेनेति** । (हे राजन्,) वृत्तोपचितबाहुना वृत्तौ वर्तुलाकारौ उपचितौ पीनौ च बाहू यस्य तादृशेन, स्वमित्रोद्धारिणा स्वमित्राणाम् उद्धर्त्रा उद्धारकर्त्रा (अथवा सुष्ठु अमित्राणि उद्धरति उन्मूलयतीति तादृशेन), अतुलाश्रितां (न तुल्यतां केनाप्याश्रयतीति अतुलाश्रित् तेन) अनुपमेन, विनायकेन प्रजानां विनेत्रा, शासित्रा, भवता त्वया इयं पृथ्वी वसुधा अभीता भीतिरहिता शत्रुभ्योऽभया जाता, अथवा भवता आश्रिता अधिष्ठिता इयम् अतुला अनुपमा पृथ्वी अभीता जाता । अथ च अभीता (अभि √इ+क्विप्, तृतीयैकवचने रूपं) भवन्तमभ्यागच्छता अरिणा भवच्छत्रुणा, शत्रुदलेनेत्यर्थः, विनायकेन नायकरहितेन भवता सता वृत्तोपचितबाहुना (वृत्तौ संजातौ उपचितं चितासमीपे बाहू भुजौ यस्य तादृशेन) मरणासन्नदशां श्रितेन, अथ च स्वमित्रोद्धा (स्वमित्राणि स्वं धनं मित्राणि चेति वा उज्जहातीति

1. यमुक्तार्थं ।

स्वमित्रोद्धाः तेन) धनमित्रत्यागिना पृथ्वी बृहती यमतुला यमराजस्य दिव्यार्था पुण्यपापविनिश्चयहेतुका तुला परिमाणयन्त्रं, विचारस्थानम्, आश्रिता आरूढा; भवदरिदलं यमसदनमगच्छदित्यर्थः । अत्र समानरूपं युक्तार्थं श्लोकद्वयमिति श्लोकाभ्यासयमकम् ।

(हे राजन्,) गोल और पुष्ट भुजाओं वाले, अपने मित्रों के उद्धारक (अथवा शत्रुओं को भलीभाँति उखाड़ फेंकने वाले) आप-जैसे अनुपम प्रजा-शासक के कारण यह पृथ्वी भयरहित हो गई है । (दूसरी ओर) आप पर आक्रमण करने वाला शत्रुदल नायक से रहित तथा चिता के समीप बाहों वाला (अर्थात् मृतप्राय) होकर एवं अपने धन और मित्रों का त्याग करके यमराज की बहुत भारी तुला पर चढ़ गया है (=मौत के मुँह में समा गया है) ।

अपराधविनिश्चय के लिए की जाने वाली दिव्यपरीक्षाओं में एक परीक्षा तुलारोहण थी (तु० **याज्ञवल्क्यस्मृति २.१००**) । यहाँ यम की तुला का अभिप्राय यमराज द्वारा मृत मनुष्य के पुण्य-पाप का विनिश्चय करना है । इन श्लोकों के परस्पर समानरूप और संबद्धार्थक होने से यहाँ **श्लोकाभ्यासयमक** है । रुद्रट (३.१६, १८-६) के अनुसार यह महायमक है ।

एकाकार[1]चतुष्पादं तन्महायमकाह्वयम् ।
तत्रापि[2] दृश्यतेऽभ्यासः सा परा यमकक्रिया ॥७०॥

महायमकमाह—**एकाकारे**ति । एकाकाराः समानरूपाः चत्वारः पादाः यस्य तत्तादृशं समानपादचतुष्टयं तद् यमकं महायमकाह्वयं तन्नाम भवति । तत्रापि महायमकेऽपि क्वचिद् (पादचतुष्टयमध्येऽपि) अभ्यासः आवृत्तिः दृश्यते । एवं सा उक्तरूपा परा श्रेष्ठा यमकक्रिया यमकप्रयोगः तत्प्रकारो वा अस्ति ।

समान आकार वाले चार चरणों से युक्त (यमक) को महायमक कहते हैं । इसमें भी (कभी-कभी, चरणों के मध्य में) आवृत्ति दृष्टिगोचर होती है । यह यमक का सर्वोत्कृष्ट प्रयोग अथवा प्रभेद है ।

यदि 'एकाकारचतुष्पादत्व' को ही महायमक की परिभाषा माना जाए, तो पूर्व उदाहृत चतुष्पादाभ्यास (३.६६) भी महायमक होगा । वस्तुतः यही स्थिति समीचीन प्रतीत होती है । रत्नश्रीज्ञान आदि व्याख्याकारों के अनुसार **तत्रापि दृश्यतेऽभ्यासः** भी परिभाषा का ही भाग है; तदनुसार यमकयुक्त एकाकार चरणों वाली यमकक्रिया को ही महायमक कहा जाएगा । भोज (**सरस्व० २.६७**) के टीकाकार रामसिंह ने एकाकारत्व को दो प्रकार का माना है : चार

---

१. एकाकारं, एकाक्षर- । २. तस्यापि ।

आवृत्त अंशों द्वारा साध्य (जैसे ३.६६) और आठ आवृत्त अंशों द्वारा साध्य (जैसे ३.७१)।

समानयास मानऽया समानयासमानया ।
समानया समानया समान या समानया ॥७१॥

महायमकमुदाहरति—**समानेति**। संख्यानुक्रमनिर्दिष्टान्वयसहितः पदच्छेदः—[1]समानयास [3]मा [7]अनया, [8]समानय [4]असमानया। [5]समानया, [6]समानया, [2]समान [9]या [10]स–मा–नया। हे समानयास (सर्वेषु कार्येषु) तुल्यप्रयत्न, समान (समः आनः प्राणः यस्येति समानः, तत्संबुद्धौ) समप्राण, अभिन्नप्राण मित्र, मा माम् असमानया निरुपमया समानया प्रणयकोपवत्या अथ च समानया संमानसहितया, संमानार्हया, अनया मत्प्रियया समानय संगमय, या खलु मत्प्रिया समानया (मा लक्ष्मीः, शोभा, नयः नीतिः ताभ्यां मानयाभ्यां सह वर्तते इति तादृशी) शोभान्विता नीतिमती च वर्तते। अत्र पादचतुष्टयस्य तत्खण्डानां च समानरूपत्वाद् (आवृत्त्यष्टकसाध्यं) महायमकम्।

(सभी कार्यों में मेरे) तुल्य प्रयत्न करने वाले एवं अभिन्नप्राण (हे मित्र), तुम मुझे (मेरी) इस अनुपम, प्रणयकोपयुक्त तथा संमानयोग्य प्रेयसी से मिला दो, जो शोभा और नीति से संपन्न है।

यहाँ चारों पादों एवं उनके खण्डों के समानाकार होने के कारण अथवा आवृत्तियुक्त चरणों की पुनरावृत्ति होने से **महायमक** है (तु० सरस्व० २, उदा० १५१)।

धराधराकारधरा धराभुजां भुजा महीं पातुमहीनविक्रमाः[1]।
क्रमात्सहन्ते सहसा हतारयो रयोद्धुरा मानधुरावलम्बिनः ॥७२॥

सजातीयसंमिश्रजनितान् यमकभेदानुदाहृत्य संप्रति विजातीयसंमिश्रजनितं निदर्शयति—**धराधरेति**। धराधराकारधराः (धरां पृथ्वीं धारयतीति धराधरः शेषनागः तस्याकारं सादृश्यं धारयन्तीति तादृशाः) शेषाकृतिधारिणः, अतिदीर्घाः, अहीनविक्रमाः अनल्पपराक्रमाः, सहसा आत्मशक्त्या (सरभसं वा) हतारयः विनाशितशत्रवः, रयोद्धुराः वेगोत्कटाः अतिवेगवन्तः, अथ च मानधुरावलम्बिनः स्वाभिमानभारधारिणः साभिमानाः, धराभुजां भूभुजां राज्ञां भुजाः बाहवः क्रमात् क्रमेण, शत्रुजयानन्तरमित्यर्थः, महीं भुवं पातुं रक्षितुं सहन्ते क्षमन्ते समर्थाः भवन्ति। संदष्टयमकोदाहरणेऽस्मिन् **धराधरा** इत्यव्यपेतव्य-

१. –विक्रमात्।

पेतमादिमध्ययमकम्, **भुजां भुजा** इत्यव्यपेतं, **महीं मही** इति व्यपेतं, **क्षमाः क्षमा** इत्यव्यपेतं, **सह सह** इति व्यपेतं, **रयो रयो** इत्यव्यपेतं, **धुरा धुरा** इति च व्यपेतं यमकम्। इत्येवमनेकविजातीययमकसंमिश्रणम्।

पृथ्वी धारण करने वाले शेषनाग के समान (अतिदीर्घ), अत्यधिक पराक्रम से संपन्न, अपनी शक्ति से शत्रुओं का नाश करने वाले, अत्यन्त वेग-युक्त, एवं स्वाभिमान की धुरा का वहन करने वाले, राजाओं के बाहुयुगल (शत्रुओं को जीतने के अनन्तर) क्रम से पृथ्वी की रक्षा करने में समर्थ होते हैं।

यहाँ मुख्यतः संदष्टयमक (तु० ३.५१-२) है। इस पद्य की स्थिति वस्तुतः ३.५२ के अनन्तर होनी चाहिए थी, जैसा कि **काव्यादर्श** की किसी मातृका में कृष्णकिंकर तर्कवागीश ने लक्षित की थी (तु० ३.५२ पर टि०)। मुख्य संदष्टयमक के साथ-साथ यहाँ **धराधरा** में अव्यपेत-व्यपेत आदिमध्ययमक, **भुजां भुजा** में अव्यपेत, **महीं मही** में व्यपेत, **क्षमाः क्षमा** में अव्यपेत, **सह सह** में व्यपेत, **रयो रयो** में अव्यपेत तथा **धुरा धुरा** में व्यपेत यमक है। इस प्रकार यह अनेक विजातीय यमकप्रकारों का संमिश्रणात्मक रूप है, जिसकी ओर स्वयं लेखक ने यह कहकर संकेत किया था : **अत्यन्तबहवस्तेषां भेदाः संभेदयोनयः** (३.३)। भोज (**सरस्व०** २, **उदा०** १३७) ने इस पद्य को काञ्चीयमक (=संदष्टयमक) एवं अव्यपेत अस्थान (=अनियत आदिमध्यान्त स्थान से युक्त) यमक के साथ सूक्ष्म व्यपेत के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

आवृत्तिः प्रातिलोम्येन पादार्धश्लोकगोचरा।
यमकं[1] प्रतिलोमत्वात्प्रतिलोममिति[2] स्मृतम् ॥७३॥

प्रतिलोमयमकमाह—**आवृत्तिरि**ति। प्रातिलोम्येन विपरीतक्रमेण पादार्धश्लोकगोचरा पादगोचरा श्लोकार्धगोचरा श्लोकगोचरा वा आवृत्तिः प्रतिलोमत्वाद् विपरीतक्रमवत्त्वात् प्रतिलोमं यमकम् इति स्मृतम्। एतच्चोक्तरीत्या पादविषयं श्लोकार्धविषयं श्लोकविषयं चेति त्रिविधम्।

चरण, श्लोकार्ध अथवा (संपूर्ण) श्लोक की विपरीत क्रम से पुनः आवृत्ति होने पर उसे, (आवृत्ति की) प्रतिलोमता (=विपरीतक्रमता) के कारण, प्रतिलोमयमक **कहते हैं।**

उक्त रीति से प्रतिलोमयमक के तीन प्रभेद होंगे : पादगत, श्लोकार्धगत और समग्रश्लोकगत। इनके उदाहरण क्रमशः अगले पद्यों (७४-७) में दिए गए हैं। रुद्रट (५.३) ने इस यमक को अनुलोमप्रतिलोम नामक चित्र

---

१. यमक-। २. -लोम्यमिदं।

(अलंकार) माना है और इसके केवल एक रूप (श्लोकार्धगत) को स्रग्धरा वृत्त (५.१७) से उदाहृत किया है। उत्तरवर्ती आचार्यों की यमक की परिभाषा के अनुसार इस अलंकार में वर्णसमुदाय की आवृत्ति का उसी (पूर्वगृहीत) क्रम से होना आवश्यक है (तु० ३.१ पर टि०)। इस परिभाषा के अनुसार प्रतिलोम-यमक को यमक नहीं माना जा सकता। वस्तुतः इस यमकभेद में 'पूर्वानुभव-संस्कारबोधिनी' सरूपता का अभाव होता है, अतः इसे यमक न मानकर चित्रालंकार कहना अधिक उपयुक्त है। दण्डी के विशिष्ट अनुयायी भोज (सरस्व० २.१०६; उदा० २९९-३०२) ने भी इसे गतिनियम-मूलक चित्र के रूप में चित्रकाव्य के अन्तर्गत माना है; इसे उसने गतप्रत्यागत कहा है।

याऽमताश कृतायासा सा याता कृशता मया।
रमणारकता तेऽस्तु स्तुतेताकरणामर ॥७४॥

पादविषयं प्रतिलोमयमकमुदाहरति—येति। हे अमताश (अमते अनिष्टे परस्त्रीप्रसङ्गे आशा अभिलाषः यस्य सः, तत्संबुद्धौ) अनुचिताभिलाष (परस्त्रीप्रसक्त प्रिय), या कृशता क्षीणता कृतायासा (कृतः समुत्पादितः आयासः क्लेशः यया तादृशी) समुत्पादितक्लेशा क्लेशकरी वर्तते सा मया त्वद्विरहाकुलया याता प्राप्ता, शरीरदौर्बल्यापादकस्त्वद्विरहक्लेशो मयानुभूत एवेत्यर्थः। संप्रति, हे स्तुतेत (स्तुतात् स्तुतेः इतः परिभ्रष्टः स्तुत्यनर्हः, तत्संबुद्धौ) निन्द्यचरित, अकरणामर (अकरणे दुष्कर्मानुष्ठाने अमरः देवसदृशः, उच्छृङ्खल इति यावत्, तत्संबुद्धौ) दुष्कर्मकरणे देववदप्रतिबन्ध, रमण प्रिय, ते तव आरकता (√ऋ+ण्वुल्, भावे तल्) गन्तृत्वम्, इतः प्रयातृत्वम् (अथवा यथेष्टाचारित्वम्) अस्तु भवतु, इतस्त्वं प्रयाहि यथेष्टं वाऽऽचरेत्यर्थः। अत्र प्रथमस्य पादस्य द्वितीये तृतीयस्य च चतुर्थे प्रातिलोम्येनावृत्तिरिति पादविषयं प्रतिलोमयमकम्।

(परस्त्रीप्रसङ्ग रूप) अनुचित अभिलाषा से युक्त (हे प्रिय), जो (विरहजन्य) कृशता दुःखजनक होती है उसे मैंने पा लिया है। इसलिए, निन्दित आचरण वाले, एवं अकृत्य करने में देवतुल्य उच्छृङ्खल) हे प्रिय, अब तुम (यहाँ से) चले जाओ (अथवा जैसा जी में आए करो)।

यहाँ पहले चरण की दूसरे में एवं तीसरे चरण की चौथे में विपरीत क्रम से आवृत्ति होने से **पादगत प्रतिलोमयमक** है। **यामताशकृतायासा** को उल्टे क्रम से पढ़ने पर दूसरा चरण, **सायाताकृशतामया**, बन जाता है; इसी भाँति **रमणारकतातेस्तु** के प्रतिलोमपाठ से चौथा चरण, **स्तुतेताकरणामर**, बन जाता है। अन्य उदाहरणों के लिए, द्र० **किराता० १५.१८,२०; शिशु० १९.४०; सरस्व० २, उदा० २९९।**

नादिनोऽमदना[1] धीः[2] स्वा न मे काचन कामिता।
तामिका न च कामेन स्वाधीना दमनोदिना[3] ॥७५॥

श्लोकार्धविषयं प्रतिलोमयमकमुदाहरति—**नादिन** इति। नादिनः (नादाख्यं ब्रह्म अस्यास्तीति नादी तस्य) नादाख्यब्रह्मध्याननिरतस्य (मम) स्वा स्वीया धीः बुद्धिः अमदना कामविकाररहिता अस्ति, अतश्च मे मम काचन कामिता विषयाभिलाषः न वर्तते, न च मम दमनोदिना संयमापहारिणा इन्द्रिय-संयमध्वंसकारिणा कामेन मदनेन स्वाधीना (स्वः आत्मा अधीनः आयत्तः यस्याः तादृशी) स्वायत्तीकृतात्मा, कामवशीकृतेत्यर्थः, तामिका ग्लानिः अस्ति। नाद-ब्रह्मानुध्यानपरः खल्वहं कामबुद्ध्या, विषयाभिलाषेण कामजनितग्लान्या वा रहितोऽस्मीति कस्यचिद्योगिन उक्तिरियम्। अत्र पूर्वार्धस्योत्तरार्धे प्रातिलोम्येनावृत्ति-रिति श्लोकार्धविषयं प्रतिलोमयमकम्।

नाद (नामक ब्रह्म) के ध्यान में निरत मेरी बुद्धि कामरहित है; मुझमें किसी प्रकार की विषयाभिलाषा भी नहीं है, और न ही मुझमें इन्द्रियसंयम का नाश करने वाले काम द्वारा अपने अधीन की गई ग्लानि (का भाव) है।

नाड़ियों के प्राणायाम द्वारा शोधित कर लिए जाने पर, अनाहत कमल से उठने वाले स्वात्मानुभूतिविषय नाद को नाद(ब्रह्म) कहते हैं। रत्नश्रीज्ञान के अनुसार यह शैवसिद्धान्त में प्रसिद्ध तत्त्वविशेष है। दण्डी के प्रस्तुत श्लोक में पहले श्लोकार्ध की दूसरे में विपरीत क्रम से आवृत्ति होने से **श्लोकार्धगत प्रतिलोमयमक** है। यहाँ श्लोक के पूर्वार्ध को उल्टे क्रम से पढ़ने पर श्लोक का उत्तरार्ध बन जाता है। इस प्रतिलोम पाठ में धीः के विसर्ग को छोड़ दिया जाएगा। वस्तुतः अनुस्वार और विसर्ग की न्यूनता या अधिकता चित्रकाव्य के चमत्कार को प्रभावित नहीं करती (तु० **वाग्भटालंकार १.२० : नानुस्वारविसर्गौ च चित्रभङ्गाय संमतौ**)। इसके अन्य उदाहरण के लिए, द्र० शिशु० १६.८८; **सरस्व० २, उदा० ३००।**

यानमानय माराविकशोनानजनासना[4]।
यामुदारशताधीनामायामायमनादि सा ॥७६॥
सा दिनामयमायामा नाधीता शरदामुया।
नासना[5]जनना शोकविरामायनमानया ॥७७॥

समग्रश्लोकविषयं प्रतिलोमयमकं श्लोकयुग्मकेनोदाहरति—**यानमिति**। संख्यानुक्रमनिर्दिष्टान्वयसहितः पदच्छेदः —[1]यानम् [2]आनय [7]माराविकशा

---

१. वमना। २. मदनाधी। ३. मदनोदिना। ४. -नाशना। ५. नाशना-।

[8]ऊनानजनासना । [4]याम् [3]उदारशताधीनाम् [5]आयाम् [9]आयम् [10]अनादि [6]सा ॥
[7]सा [4]दिनामयमायामा [9]न [3]आधीता [2]शरदा [1]अमुया । [5]ना (न–आ) सनाजनना
[8]शोकविरामा [6]अयनमानया । (हे वयस्य,) यानं वाहनम् आनय । किमर्थमित्याह
—उदारशताधीनाम् (उदाराणां धनव्यये उदारचित्तानाम् आढ्यानां शतम्
अधीनम् आयत्तं यस्यास्तादृशीं) वशीकृताढ्यपुरुषशतां यां गणिकाम् अहम्
आयाम् प्राप्नवं स्ववशीकृतवान्, सा माराविकशा (मारः मदनः एव अविः मेषः
तस्य कशा ताडनी प्रेरयित्री) काममेषप्रचोदयित्री, कामिजनकामप्रोत्साहयित्री, अथ
च ऊनानजनासना (ऊनः [धनाभावाद्] हीनः आनः प्राणः येषां ते ऊनानाः तादृ-
शान् जनान् अस्यति निरस्यति परित्यजति वेति ऊनानजनासना) निर्धनजनपरि-
हारिणी गणिका मया आयम् आगमनं, निजागमनोदन्तम् इति यावद्, अनादि
(नदतेः कर्मणि लुङि रूपम् । कथनार्थत्वविवक्षयास्य सकर्मकत्वं, तेन चास्य द्विकर्म-
कत्वात् सा इत्यस्य गौणकर्मण उक्तता) अगादि, सूचितेत्यर्थः ॥ किं च अमुया
उपस्थितया शरदा शरत्कालेन आधीता (आधिं मनःपीडां मद्विरहाद् इता प्राप्ता)
मनोव्यथां गता, अतश्च दिनामयमायामा (दिने आमयस्य रोगस्य मायां व्याजं
अमति गच्छतीति तादृशी) दिवसे रोगव्याजमुपेता, नासनाजनना (न आसनायाः
स्थितेः जननं विधानं यस्याः सा) कदाचिदपि एकां स्थितिमगृह्णती निरन्तर-
मस्थिरा, अथ च अयनमानया (अयनस्य मद्गमनस्य मानं ज्ञानं यातीति तथोक्ता)
मद्गमनवर्त्म (सततं) निरीक्षमाणा सा गणिका अपि शोकविरामा (शोकस्य
विरहदुःखस्य विरामः अवसानं यस्याः तादृशी) अवसितविरहदुःखा न अस्ति ।
सापि शरत्कालेऽस्मिन्नुपस्थिते सततं मदागमनमुदीक्षमाणा मद्विरहदुःखमनु-
भवन्ती तिष्ठतीत्यर्थः । अत्र युग्मके प्रथमस्य समग्रश्लोकस्य द्वितीये विपरीत-
क्रमेणावृत्तिरिति श्लोकविषयं प्रतिलोमयमकम् ।

(हे मित्र,) तुम वाहन (=यान, गाड़ी) ले आओ, (क्योंकि) सैकड़ों उदार (धनी) पुरुषों को अपने वश में करने वाली जिस (गणिका) को मैंने अपने वश में किया है, उस कामदेव-रूपी भेड़ के लिए चाबुक-तुल्य (=कामिजनों के कामभाव को भड़काने वाली) एवं निर्धन लोगों का बहिष्कार करने वाली (गणिका) को मैंने अपना आगमन सूचित कर दिया है। और, इस (उपस्थित) शरद् ऋतु से (मेरे विरह में विशेष) मनोव्यथा को प्राप्त, दिन के समय रोग का बहाना कर(के पड़ी रह)ने वाली एवं (व्याकुलतावश) एक जगह न टिकने वाली और (निरन्तर) मेरे आने-जाने पर ध्यान रखने वाली उस (गणिका) के भी विरहदुःख की अभी समाप्ति नहीं हुई है (अर्थात् वह भी मेरे विरह की पीड़ा से संतप्त है)।

इस श्लोकयुग्मक में समूचे पहले श्लोक की दूसरे श्लोक में विपरीत

क्रम से आवृत्ति हुई है। अतः यह **श्लोकगत प्रतिलोमयमक** है। यहाँ पहले श्लोक को उल्टे क्रम से पढ़ने पर समूचा दूसरा श्लोक बन जाता है। इस प्रतिलोमयमकभेद के अन्य उदाहरणों के लिए, द्र० **किराता० १५.२२-३; शिशु० १६.३३-४** (सरस्व० २, उदा० ३०१-२)।

वर्णानामेकरूपत्वं यत्त्वेका[1]न्तरमर्धयोः ।
गोमूत्रिकेति तत्[2] प्राहुर्दुष्करं तद्विदो यथा ।।७८।।

यमकप्रभेदान्निरूप्य संप्रति चित्रालंकारानुपक्रममाणस्तत्र प्रथमं गोमूत्रिकामाह—**वर्णानामिति**। अर्धयोः श्लोकपूर्वार्धोत्तरार्धयोः वर्णानां यत् तु एकान्तरम् एकवर्णव्यवहितम् एकरूपत्वं समानाकारत्वं तत् तादृशं दुष्करं दुःसाध्यं, येन केनापि कर्तुमशक्यं, पद्यविरचनं तद्विदः चित्रकाव्यवेदिनः गोमूत्रिका इति प्राहुः, चलतो गोमूत्राकृतित्वेन घटितत्वादित्यर्थः। यथेत्युदाहरणोपक्रमार्थम्।

(श्लोक के) पूर्वार्ध और उत्तरार्ध में आए वर्णों की, एक वर्ण के व्यवधान से, जो समानरूपता होती है उस दुःसाध्य पद्यबन्ध को चित्रकाव्य के अभिज्ञ गोमूत्रिका कहते हैं।

श्लोक के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध को ऊपर-नीचे लिखने पर दोनों में आए वर्णों की एक-एक वर्ण के व्यवधान से होने वाली अभिन्नता गोमूत्रिका है; चित्र के रूप में लिखित यह बन्ध मार्ग में चल रहे बैल के मूत्र की-सी आकृति वाला होता है—यह इसके उक्त नामकरण का कारण है; तु० सरस्व० २. ११५ : **गतिरुच्चावचा यत्र मार्गे मूत्रस्य गोरिव। गोमूत्रिकेति तत्प्राहुर्दुष्करं चित्रवेदिनः ।।** भोज (सरस्व० २. ११५-३०) ने गतिनियममूलक चित्र के रूप में इसके अनेक प्रकारों की व्याख्या की है जिनमें मुख्य हैं पाद–, अर्धश्लोक– और श्लोक-गोमूत्रिका। दण्डी की गोमूत्रिका इनमें दूसरी; अर्धश्लोकगोमूत्रिका, है।

गोमूत्रिका, अर्धभ्रम तथा सर्वतोभद्र एवं स्वरस्थानवर्णनियम को चित्रालंकार अथवा चित्रबन्ध माना जाता है, परंतु इस संबन्ध में दण्डी में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं है। परिच्छेद के अन्त में उसने इस विषय में केवल इतना कहा है कि यहाँ सुकर और दुष्कर चित्रमार्ग (**चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः**) निरूपित किए गए हैं। रुद्रट (५.१) ने चित्र की निम्नलिखित परिभाषा की है : **भङ्ग्यन्तरकृततत्क्रमवर्णनिमित्तानि वस्तुरूपाणि। साङ्कानि विचित्राणि च रच्यन्ते यत्र तच्चित्रम् ।।** इसके अन्तर्गत उसने चक्र, खड्ग आदि और अर्ध-

---

१. यद्येका–। २. तं।

भ्रम, सर्वतोभद्र आदि बन्धों के साथ-साथ अनुलोम-प्रतिलोम (=दण्डी का प्रतिलोमयमक) को भी लिया है। प्रहेलिका, मात्राच्युतक आदि के प्रति वह उदासीन है (५.२४)। भोज (सरस्व० २.१०६) ने चित्र के छः प्रकार माने हैं : वर्ण-नियम, स्थान–, स्वर–, आकार–, गति– और बन्ध–। दण्डी के गोमूत्रिका, अर्धभ्रम और सर्वतोभद्र उसके अनुसार गतिनियममूलक चित्र हैं; प्रतिलोमयमक भी इसी चित्र के अन्तर्गत है। आकारचित्र में उसने अष्टदल आदि को एवं बन्धचित्र में चक्रबन्ध आदि को लिया है। उसके वर्ण, स्थान और स्वर चित्र दण्डी (३.८३-९५) के अनुसार ही हैं।

मदनो मदिराक्षीणामपाङ्गास्त्रो[1] जयेदयम् ।
मदेनो यदि तत्[2] क्षीणमनङ्गायाञ्जलिं दधे[3] ॥७८॥

गोमूत्रिकामुदाहरति—**मदन** इति। अयं मदनः कामदेवः मदिराक्षीणां मादकलोचनानां स्त्रीणाम् अपाङ्गास्त्रः अपाङ्गः नेत्रप्रान्तः, नेत्रप्रान्तेन विलोकनमित्यर्थः, स एव अस्त्रं यस्य तथाभूतः (सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः, देवदत्तस्य गुरुकुलमिति यथा) सन् यदि जयेत् मां प्रहरेत्, तत् मदेनः मदीयं पापं क्षीणम् अस्तंगतं, स्यादिति शेषः। ततश्च पूर्णमनोरथः अहम् अनङ्गाय (रमणीकटाक्षास्त्रेण मां प्रहर्त्रे) कामदेवाय, तमुद्दिश्य, अञ्जलिं कृतज्ञतासूचकं प्रणामाञ्जलिं दधे रचयामि, रचयेयमित्यर्थः। अत्रोर्ध्वाधः क्रमेण द्वाभ्यां पङ्क्तिभ्यां लिखितयोः पूर्वार्धोत्तरार्धयोर्वर्णानामेकवर्णव्यवहितमभिन्नत्वमिति गोमूत्रिकाबन्धः।

मादक नयनों वाली स्त्रियों के कटाक्ष-रूप अस्त्रों से युक्त यह कामदेव यदि (मुझ पर प्रहार करके) मुझे जीत ले, तो मेरा पाप ही समाप्त हो जाए (=मैं कृतार्थ हो जाऊँ)। और तब मैं (अपने उपकारक उस) कामदेव के प्रति (कृतज्ञतासूचक) प्रणामाञ्जलि जोड़ूँ।

इस श्लोक के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के वर्णों में एक-एक वर्ण के व्यवधान से अभिन्नता है। दूसरे शब्दों में, इसकी दोनों पंक्तियों में प्रथम, तृतीय, पञ्चम आदि विषम संख्या वाले वर्ण अभिन्न हैं। अतः यहाँ **गोमूत्रिकाबन्ध** है। गोमूत्रिका की-सी आकृति वाले चित्र के रूप में इसे इस प्रकार अङ्कित करेंगे—



१. -स्त्रं। २. च। ३. ददे।

इस गोमूत्रिकाबन्ध को पढ़ने का क्रम यह है : पहला श्लोकार्ध बनाने के लिए क्रमशः एक मध्यवर्ती और एक उपरिवर्ती वर्ण लेते जाएं; दूसरा श्लोकार्ध बनाने के लिए क्रमशः एक मध्यवर्ती और एक अधोवर्ती वर्ण लेकर पढ़ते जाएं। इसके कुछ अन्य उदाहरणों के लिए, द्र० किराता० १५.१२; शिशु० १६.४६; सरस्व० २, उदा० ३२६।

प्राहु[1]रर्धभ्रमं नाम श्लोकार्धभ्रमणं यदि ।
तदिष्टं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः ॥८०॥

अर्धभ्रमं सर्वतोभद्रं च लक्षयति—**प्राहुरिति**। यदि श्लोकस्य अर्धभ्रमणम् अर्धेन अर्धमार्गेण, अनुलोमेनेति शेषः, भ्रमणं, भ्रमणेन पादनिष्पत्तिरित्यर्थः, स्यात् तदा अर्धभ्रमं नाम चित्रं प्राहुः। यदि च श्लोकस्य सर्वतः अनुलोमप्रतिलोमाभ्यां मार्गाभ्यां भ्रमणं स्यात्तदा तत् सर्वतोभद्रं तन्नाम चित्रम् इष्टम्। बन्धद्वयमिदं प्रायेणाष्टवर्णवृत्तघटितमेव दृश्यते। अनयोर्बन्धयोर्भ्रमप्रकारस्तु तत्तच्चित्राभ्यामेव बोध्यः, ताभ्यामेव चानयोः स्फुटं रूपव्यक्तिः स्यात्।

यदि श्लोक का आधे (अनुलोम) मार्ग से भ्रमण (द्वारा पादनिष्पादन) हो, तब वहाँ अर्धभ्रम नामक (चित्रबन्ध) होता है, और यदि उसका सब ओर से (अनुलोम तथा प्रतिलोम—दोनों मार्गों से) भ्रमण (द्वारा पादनिष्पादन) हो, तब सर्वतोभद्र (नामक बन्ध) होता है।

इन दोनों बन्धों के लिए प्रायः आठ वर्णों वाले वृत्तों का ही प्रयोग होता है। इनके अर्धमार्ग से भ्रमण और सर्वतः भ्रमण के प्रकार को नीचे उदाहरणों की व्याख्या में दिए गए चित्रों द्वारा समझना सुगम होगा; इनका स्वरूप भी उन्हीं में स्पष्ट होगा। रुद्रट (५.३,१८,२०) एवं भोज (सरस्व० २.११०, वृत्ति) ने गतिनियममूलक चित्रबन्धों के रूप में इनकी व्याख्या की है।

मनोभव[2] तवानीकं नोदयाय न मानिनी।
भयादमेयामा मा वा वयमेनोमया नत ॥८१॥

अर्धभ्रममुदाहरति—**मनोभवेति**। हे नत (कामिजनैः) नमस्कृत मनोभव कामदेव, तव अनीकं सैन्यं सैन्यभूता इयं मानिनी मानवती रमणी न ते उदयाय (विजयरूपाय) अभ्युदयाय इति न, तवाभ्युदयायैवेयमित्यर्थः। विजयिनः सैन्यं सापराधं दण्डयतीति मनसिकृत्याह—वयम् एनोमयाः (कृतापराधत्वात्) पापिनः मा वा न वा भवामः, किंतु भयात् त्वत्सैन्यहेतुकाद् वयम् अमेयामाः (अमेयः

१. आहुर्। २. मानोभव (?)।

आमः पीडा येषां तादृशाः) अपरिमितपीडायुताः स्मः । अत्र श्लोकस्यार्धमार्गेणानुलोमेन भ्रमणात्पादनिष्पत्तिरित्यर्धभ्रमो नाम चित्रबन्धः (अस्य वर्णसंनिवेशोद्धारप्रकारौ तु हिन्दीव्याख्यायां द्रष्टव्यौ) ।

(कामिजनों द्वारा) अभिवादित हे कामदेव, तुम्हारी सेना-रूप यह मानवती स्त्री तुम्हारे (विजयरूप) अभ्युदय के लिए नहीं—ऐसी बात नहीं है (अर्थात् तुम्हारा विजयरूप अभ्युदय निश्चित है) । यद्यपि हम निरपराध हैं, फिर भी (तुम्हारी सेना—मानिनी—के) भय से हम अत्यन्त व्याकुल हैं ।

यहाँ श्लोक की आधे, अनुलोम (=सीधे) मार्ग से भ्रमण द्वारा पादनिष्पत्ति होने से **अर्धभ्रम** चित्रबन्ध है । यह पादनिष्पत्ति वस्तुतः वर्णविन्यास के क्रमविशेष से होती है; इसके बत्तीस वर्णों के विन्यासक्रम में निम्नलिखित क्रमसंख्या वाले वर्ण अभिन्न होते हैं : २, ९ । ३, १७ । ४, २५ । ५, ३२ । ६, २४ । ७, १६ । ११, १८ । १२, २६ । १३, ३१ । १४, २३ । २०, २७ । २१, ३० । इसका वर्णसंनिवेश इस प्रकार किया जाता है : आठ कोष्ठ वाली आठ पंक्तियाँ बनाकर, उनमें से पहली चार पंक्तियों में श्लोक के चारों चरण सीधे लिखे जाएं और अन्तिम चार में वे ही चरण विपरीत (चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय, प्रथम—इस) क्रम से एवं विपरीत वर्ण-क्रम से लिखे जाएं (द्र० चित्र) । इससे पादोद्धार करने के लिए इसे बाएं से दाएं अथवा ऊपर से नीचे पढ़ा जाएगा, परंतु दोनों ही स्थितियों में इसके **केवल आधे भाग** अर्थात् पहली चार (क्रमशः आड़ी और खड़ी) पंक्तियों में ही भ्रमण द्वारा प्रथम, द्वितीय आदि पाद निष्पन्न होंगे । संपूर्ण चित्र को उल्टा करके भी, उक्त क्रम से ही, इससे पादोद्धार किया जा सकता है । इसका चित्र इस प्रकार होगा—

म	नो	भ	व	त	वा	नी	कं
नो	द	या	य	न	मा	नि	नी
भ	या	द	मे	या	मा	मा	वा
व	य	मे	नो	म	या	न	त
त	न	या	म	नो	मे	य	व
वा	मा	मा	या	मे	द	या	भ
नी	नि	मा	न	य	या	द	नो
कं	नी	वा	त	व	भ	नो	म

इसके कुछ अन्य सुन्दर उदाहरणों के लिए, द्र० किराता० १५. २७ (सरस्व० २, उदा० ३०६); रुद्रट ५. १८; शिशु० १६. ७२।

सामायामामाया मासा मारानायायाना रामा।
यानावारारावानाया मायारामा मारायामा ॥८२॥

सर्वतोभद्रमुदाहरति—सेति। संख्यानुक्रमनिर्दिष्टान्वयसहितः पदच्छेदः—[5]सा [1]अमायामा [10]अमा [8]अया [9]मासा [2]मारानायायाना [7]रामा। [3]यानावारारावानाया [4]मायारामा [11]माराय [6]अमा। अमायामा (अमायः व्याजरहितः आमः कामपीडात्मको रोगो यस्याः सा) निर्व्याजकामव्यथा, मारानायायाना (मारं मदनम् आनयति जनयतीति मारानायं तादृशम् आयानम् आगमनं यस्यास्तादृशी) कामोत्पादकागमना, यानावारारावानाया यानं गमनसाधनं पादस्तमावृणोति वेष्टयतीति यानावारः नूपुरः तस्य आरावः शब्दः स एव आनायः जालं जालवद् बन्धनसाधनं यस्याः सा अथवा प्रवासयात्राक्षेपवचनैर्मम बन्धनहेतुः, मायारामा (माया परव्यामोहः आरामः क्रीडाभूमिर्यस्याः सा) परव्यामोहनरता, सा काचित् प्रसिद्धा, अमा अनुपमा रामा रमणी अया (न यातीत्ययाः तेन) सततं समुपस्थितेनानेन मासा चन्द्रमसा (**छायामृगधरो राजा माः** इति चन्द्रनामसु **त्रिकाण्डशेषः**) अमा सह मम माराय वधाय, अस्तीति शेषः। अत्र श्लोकस्य सर्वतोऽनुलोमप्रतिलोममार्गाभ्यां भ्रमणात्पादनिष्पत्तिरिति सर्वतोभद्रं नाम चित्रबन्धः (अस्य वर्णसंनिवेशोद्धारप्रकारौ तु हिन्दीव्याख्यायां द्रष्टव्यौ)।

निर्व्याज कामपीडा से संतप्त, रागोत्पादक आगमन वाली (=जिसका आगमन अनुराग उत्पन्न करता है), अपने नूपुरों की (मधुर) ध्वनि से मुझे बाँध लेने वाली तथा (दूसरे को) व्यामोहित करने में आनन्द प्राप्त करने वाली वह अनुपम रमणी, इस सतत समुपस्थित चन्द्रमा के साथ (मिलकर), मेरे वध के लिए (उद्यत) है।

यहाँ श्लोक की सभी ओर से, सीधे और उल्टे मार्गों से भ्रमण द्वारा पादनिष्पत्ति होने से **सर्वतोभद्र** है। अर्धभ्रम के समान इसकी पादनिष्पत्ति भी वर्णविन्यास के क्रमविशेष से होती है। इसके बत्तीस वर्णों के विन्यासक्रम में निम्नलिखित क्रमसंख्या वाले वर्ण अभिन्न होते हैं: १, ८। २, ७, ९, १६। ३, ६, १७, २४। ४, ५, २५, ३२। १०, १५। ११, १४, १८, २३। १२, १३, २६, ३१। १९, २२। २०, २१, २७, ३०। २८, २९। यह वस्तुतः अर्धपादगोचर प्रतिलोमयमक का विकसित रूप है; इसमें प्रत्येक पाद का पूर्वार्ध उत्तरार्ध में विपरीत क्रम से आवृत्त होता है (तु० प्रतिलोमयमकः ३. ७३)। इसका वर्णसंनिवेश इस प्रकार किया जाता है: आठ कोष्ठ वाली आठ पंक्तियाँ

बनाकर, उनमें से पहली चार पंक्तियों में श्लोक के चारों चरण सीधे लिखे जाएं और अन्तिम चार में वे ही चरण विपरीत (चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय, प्रथम —इस) क्रम से लिखे जाएं (द्र० चित्र)। इससे पादोद्धार करने के लिए इसे बाएं से दाएं या दाएं से बाएं या ऊपर से नीचे या नीचे से ऊपर—सब ओर से पढ़ा जा सकता है। इसका चित्र इस प्रकार होगा—

सा	मा	या	मा	मा	या	मा	सा
मा	रा	ना	या	या	ना	रा	मा
या	ना	वा	रा	रा	वा	ना	या
मा	या	रा	मा	मा	रा	या	मा
मा	या	रा	मा	मा	रा	या	मा
या	ना	वा	रा	रा	वा	ना	या
मा	रा	ना	या	या	ना	रा	मा
सा	मा	या	मा	मा	या	मा	सा

यह पद्य आगे, ३.८७ में, व्याख्यात एकस्वरनियम का भी उदाहरण है। सर्वतोभद्र बन्ध के कतिपय अन्य उदाहरणों के लिए, द्र० **किराता०** १५.२५ (सरस्व० २, उदा० ३१०); रुद्रट ५.२०; **शिशु०** १९.२७।

यः स्वरस्थानवर्णानां नियमो दुष्करेष्वसौ।
इष्टश्चतुःप्रभृत्येष[1] दर्श्यते[2] सुकरः परः ॥८३॥

स्वरस्थानवर्णनियमलक्षणं चित्रालंकारं प्रस्तुवन्नाह—**य** इति। दुष्करेषु दुष्करबन्धेषु मध्ये स्वरस्थानवर्णानां, स्वराः अकारादयः, स्थानानि कण्ठादीनि, वर्णाः व्यञ्जनानि तेषां, यः असौ नियमः नियमनम्, अन्यव्यावृत्त्या उपादानं (तद्द्वारा च काव्यबन्धः), इष्टः प्राचीनैरलंकारत्वेन अभीष्टः, एष स चतुःप्रभृति दर्श्यते, चतुस्त्रिद्व्येकरूपत्वाद् चत्वारो भेदाः (चतुर्भिरेव स्वरैः त्रिभिरेव वा स्वरैः काव्यबन्ध इत्यादिरूपाः) निदर्श्यन्ते। परः अन्यः पञ्चप्रभृतिनियमः

१. -श्प्रभृत्येष, -त्येषु। २. दृश्यते।

तु सुकरः सुगमः, अतश्च स न निदर्श्यत इति गतार्थः। दुष्करसाधनार्थमेवाय-मस्मत्परिश्रम इति भावः।

दुष्कर बन्धों के रूप में (अ, आ आदि) स्वरों, (कण्ठ, तालु आदि) उच्चारण-स्थानों एवं (क, ख आदि) व्यञ्जनों का जो नियम अर्थात् नियमन (चित्रालंकार के रूप में) अभीष्ट है, उसके चार, (तीन, दो और एक स्वर) आदि (से बनने वाले प्रकारों) का यहाँ वर्णन किया जाता है। इनसे भिन्न (पाँच, छः स्वरों आदि से बनने वाले) इसके प्रकार सुगम हैं (अतः उनका वर्णन यहाँ अभिप्रेत नहीं है)।

केवल एक ही या केवल दो ही स्वरों, स्थानों अथवा व्यञ्जनों के प्रयोग द्वारा, अर्थात् उनसे भिन्न स्वरों आदि के परिहार द्वारा, किए जाने वाले काव्य-बन्ध को **नियम** कहा गया है। भोज (**सरस्व० २. १०६**) ने वर्णस्थानस्वर-नियममूलक चित्रालंकार के रूप में इसका विशद विवेचन किया है। भारवि, माघ आदि ने एवं स्वयं दण्डी ने अपनी रचनाओं में इसके कतिपय रूपों का कौतुकपूर्ण प्रयोग किया है। अगले पद्यों में इसके कुछ रोचक उदाहरण प्रस्तुत हैं।

आम्नायानामाहान्त्या वाग्गीतीरीतीः प्रीतीर्भीतीः।
भोगो रोगो मोदो मोहो ध्येये[1] वेच्छेद्[2] देशे क्षेमे[3] ॥८४॥

स्वरनियममुपक्रममाणस्तत्र प्रथमं चतुःस्वरनियममुदाहरति—आम्नायाना-मिति। आम्नायानां वेदानाम् अन्त्या अन्ते भवा वेदान्तरूपा वाग् वाणी, उपनिषदित्यर्थः, गीतीः गीतानि श्रोत्रेन्द्रियार्थरूपाणि ईतीः उपद्रवान् अति-वृष्ट्यनावृष्ट्यादिरूपान् आह वक्ति, सुखप्रदत्वेनाभिमता इन्द्रियार्था दुःखानु-बन्धिन इत्युपदिशतीत्यर्थः। अथ च सा वाक् प्रीतीः स्त्रीदारादिविषयान् अनु-रागान् भीतीः भयानि, भयकारणमिति, प्रतिपादयति। अतश्च कारणाद् भोगः विषयोपभोगः रोगः पर्यवसाने रोगरूपः रोगावसानः एव, मोदः विषयानन्दः च मोहः अज्ञानम् एवेति ज्ञेयम्। तस्मात् क्षेमे निरुपद्रवे विविक्ते देशे विषये, तीर्थाश्रमस्थानादौ, ध्येये ध्यातुं योग्ये परब्रह्मणि (वैषयिकाधिकरणविवक्षायां सप्तमी) वा एव इच्छेद् अभिलषेत्, सत्यरूपं परब्रह्मैव प्राप्तुमिच्छेदिति भावः। अत्र **आईओए** इति चतुर्भिरेव (दीर्घ)स्वरैः पद्यबन्ध इति चतुःस्वरनियमः।

वेदों की (उपनिषद् अथवा वेदान्त रूप) अन्तिम वाणी गीतों को उपद्रवरूप (अर्थात् श्रोत्र आदि इन्द्रियों के विषयों को अन्ततः दुःखात्मक) तथा

---

१. धेये। २. धेच्छे, ध्येच्छे, चेच्छे, वेच्छे। ३. क्षेमे देशे।

(स्त्री, पुत्र आदि से) आसक्ति के भाव को भयरूप बताती है। इस प्रकार विषय-भोग रोग (में परिणत होने वाले) हैं और (विषयोपभोग का) आनन्द मोह (=अज्ञानरूप) है। इसलिए (मनुष्य किसी) पुण्य प्रदेश में ध्यानयोग्य (परब्रह्म) को पाने की चेष्टा करे।

यहाँ केवल चार (दीर्घ)स्वरों—आ, ई, ओ और ए—के नियम (=स्वरान्तरपरिहारपूर्वक प्रयोग) द्वारा काव्यरचना होने से चतुःस्वरनियम है (तु० सरस्व० २, उदा० २८१)।

क्षितिविजितिस्थितिविहितिव्रतरतयः परगतयः[1]।
उरु रुरुधुर्गुरु दुधुवुर्युधि कुरवः स्वमरिकुलम् ॥८५॥

त्रिस्वरनियमं निदर्शयति—क्षितीति। क्षितेः पृथिव्याः विजितिः जयः, स्थितेः (वर्णाश्रमादिव्यवस्थालक्षणायाः) मर्यादायाः च विहितिः विधानं संपादनं तद्रूपं यद् व्रतं तत्र रतिः अनुरागो येषां ते तथोक्ताः, परगतयः (परा उत्तमा गतिः अवस्था ज्ञानं वा येषां ते) उत्कृष्टावस्थाः श्रेष्ठज्ञाना वा, कुरवः कुरुवंश्याः राजानः युधि समरे स्वं स्वीयम् अरिकुलं शत्रुवर्गम् उरु भृशं (क्रिया-विशेषणं) रुरुधुः परिवव्रुः गुरु (क्रि० वि०) बलवद् च दुधुवुः प्रकम्पयामासुः। अत्र इअउ इति त्रिभिरेव (ह्रस्व)स्वरैः पद्यबन्ध इति त्रिस्वरनियमरूपं चित्रम्।

पृथ्वी की विजय और (वर्णाश्रमव्यवस्था-रूप) मर्यादा के विधान के व्रत में निरत तथा उत्कृष्ट दशा (अथवा श्रेष्ठ ज्ञान) से संपन्न कुरुवंशी राजाओं ने युद्ध में अपने शत्रुदल को भलीभाँति घेर लिया और अत्यधिक मात्रा में उसे प्रकम्पित कर दिया।

यहाँ केवल तीन (ह्रस्व) स्वरों—इ, अ और उ—के नियम द्वारा काव्यरचना होने से त्रिस्वरनियम है (तु० सरस्व० २, उदा० २८०)।

श्रीदीप्ती ह्रीकीर्ती धीनीती गीःप्रीती।
एधेते[2] द्वे द्वे ते ये नेमे देवेशे ॥८६॥

द्विस्वरनियममुदाहरति—श्रीति। श्रीदीप्ती लक्ष्मीः कान्तिश्च, ह्रीकीर्ती लज्जा यशश्च, धीनीती प्रज्ञा नयश्च, गीःप्रीती (मधुरा) वाग् अनुरागश्च इति ये इमे द्वे द्वे वस्तुनी देवेशे देवानामधीशे इन्द्रे अपि न स्तः (ते वस्तुनी) ते तव एधेते वर्धेते। इन्द्रेऽप्यसुलभं श्रीदीप्त्यादिकं त्वयि निरन्तरमुपचीयमानं लक्ष्यत इति कश्चिद्राजा स्तूयते। अत्र ईए इति द्वाभ्यामेव (दीर्घ)स्वराभ्यां

१. –मतयः। २. एधेते।

पद्यरचनेति द्विस्वरनियमः ।

लक्ष्मी और कान्ति, लज्जा और यश, बुद्धि और नीति तथा (मधुर) वाणी और प्रीति—ये दो-दो गुण, जो देवताओं के राजा (इन्द्र) में भी नहीं हैं, आप में (सतत) वृद्धिशील हैं ।

यहाँ केवल दो (दीर्घ)स्वरों—**ई और ए**—के नियम द्वारा काव्यरचना होने से **द्विस्वरनियम** है (तु० **सरस्व०** २, **उदा०** २७६) ।

सामायामामाया मासा मारानायायाना रामा ।
यानावारारावानाया मायारामा मारायामा ॥८७॥

एकस्वरनियममुदाहरति—**सेति** । पद्यमिदं सर्वतोभद्रोदाहरणत्वेन प्राग् व्याख्यातम् । अत्र **आ** इत्येकेनैव (दीर्घ)स्वरेण काव्यबन्ध इत्येकस्वरनियमः ।

विशेष—**यह पद्य सर्वतोभद्र के उदाहरण के रूप में पहले (३.८२) आ चुका है; इसका अनुवाद वहीं देखें ।**

यहाँ केवल एक (दीर्घ)स्वर—**आ**—के नियम द्वारा पद्यरचना होने से **एकस्वरनियम** है । इसके अन्य उदाहरणों के लिए, द्र० **सरस्व०** २, **उदा०** २७६, २७७; हेमचन्द्र : **काअनु०**, पृ० २५८ । हेमचन्द्र द्वारा प्रदत्त उदाहरण इस प्रकार है : **जय मदनगजदमन वरकलभगतगमन । गतजननगदमरण भवभयगनरशरण ॥**

नयनानन्दजनने नक्षत्रगणशालिनि[1] ।
अघने गगने दृष्टिरङ्गने दीयतां सकृत् ॥८८॥

स्वरनियममुदाहृत्य स्थाननियमं निदिदर्शयिषुस्तत्र प्रथमं चतुःस्थाननियममाह—**नयनेति** । हे अङ्गने सुन्दरि, त्वया नक्षत्रगणशालिनि तारकानिकरभूषिते अघने मेघरहिते अतश्च नयनानन्दजनने नेत्रप्रीतिकरे अस्मिन् पुरो दृश्यमाने गगने नभोमण्डले सकृद् एकवारमपि दृष्टिः दीयतां प्रयुज्यताम् । निर्मले शारदे गगने क्षणं दृष्टिपातः क्रियतामिति काचिन्नायिका चाटूक्तिचतुरेण प्रियेण प्रार्थ्यते । अत्र कण्ठतालुमूर्धदन्तस्थानोच्चार्यवर्णमात्रप्रयोगाच्चतुःस्थाननियमः ।

हे सुन्दरी, तुम तारों से भरे और मेघविहीन, अतएव नेत्रों को आनन्द देने वाले, इस आकाश की ओर एक बार देखो तो सही !

यहाँ केवल कण्ठ, तालु, मूर्धा और दन्त—इन्हीं चार उच्चारणस्थानों से उच्चारित होने वाले वर्णों से पद्यरचना की गई है; अतः यह **चतुः-**

---

१. **चन्द्रनक्षत्रमालिनि**

स्थाननियम का उदाहरण है (तु० सरस्व० २, उदा० २७०)। यहाँ ओष्ठ्य वर्णों का प्रयोग बिलकुल नहीं है। यह अवधेय है कि दण्डी ने अपने **दशकुमारचरित** का एक पूरा (सातवाँ) उच्छ्वास निरोष्ठ्य वर्णों से निबद्ध किया है; द्र० किराता० १५.७, २६ भी। भोज (सरस्व० २, उदा० २६७-७१) ने चतुःस्थाननियम के निष्कण्ठ्य, निस्तालव्य, निर्दन्त्य और निर्मूर्धन्य उदाहरण भी दिए हैं।

अलिनीलालकलतं[1] कं न हन्ति घनस्तनि ।
आननं नलिनच्छायनयनं शशिकान्ति ते ॥८९॥

त्रिस्थाननियममुदाहरति—**अलीति**। हे घनस्तनि पीनपयोधरे (प्रेयसि), ते तव अलिनीलालकलतम् (अलिनीला भ्रमरश्यामा अलकलता केशपाशः यत्र तादृशम्) अलिकुलनीलकेशपाशं, नलिनच्छायनयनं नलिनच्छाये कमलसंकाशे नयने यत्र तत्तादृशम्, अथ च शशिकान्ति चन्द्रशोभं चन्द्रवद् हृद्यम् आननं वदनं कं न हन्ति व्यथयति, सर्वस्यापि चेतः कामातुरं करोतीत्याशयः (तु० २. ३३६)। अत्र कण्ठ्यतालव्यदन्त्यैरेव वर्णैः पद्यबन्ध इति त्रिस्थाननियमः।

हे पीनपयोधरे, तुम्हारा यह चन्द्रमा की-सी कान्ति वाला वदन, जिसपर भौंरों-सी काली अलकें (बिखरी) हैं और जिसमें कमल की-सी आभा वाली आँखें (सुशोभित) हैं, किसको व्याकुल नहीं बना देता ?

यहाँ केवल कण्ठ्य, तालव्य और दन्त्य वर्णों से ही पद्यरचना होने से **त्रिस्थाननियम** चित्रबन्ध है। भोज (सरस्व० २, उदा० २७३) ने इसे निरोष्ठ्य-मूर्धन्य के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। उसने एक अन्य पद्य द्वारा निरोष्ठ्यदन्त्य बन्ध (उदा० २७२) को भी उदाहृत किया है।

अनङ्गलङ्घनालग्ननानातङ्का सदङ्गना ।
सदानघ सदानन्द नताङ्गी[2]सङ्गसंगत[3] ॥९०॥

द्विस्थाननियममुदाहरति—**अनङ्गेति** । हे सदानघ सर्वथा अनघरूप (अथवा चिन्ताशून्य), सदानन्द सदैव (नृत्यगीतवाद्यादिना) आनन्दयुत, अथ च नताङ्गीसङ्गसंगत नताङ्गीनामन्यासां सङ्गे संभोगलक्षणे संगत प्रसक्त, तव (लम्पटस्य) सदङ्गना सती भार्या अनङ्गलङ्घनया (कामोपभोगविरहात्) कामस्याक्रमणेन लग्नाः नानातङ्काः अनेकविधाः पीडाः रोगाः वा यस्याः तादृशी संजाता। सा खल्वनुकम्प्यतामिति परस्त्रीप्रसक्तः कश्चित्कामुकोऽनुबोध्यते। अत्र

---

१. –युतं। २. –नन्दिन्नताङ्ग–, मताङ्गा–। ३. –संगतः।

कण्ठ्यदन्त्यैरेव वर्णैः पद्यबन्ध इति द्विस्थाननियमः।

सर्वथा अनवद्यरूप (अथवा निश्चिन्त), सदा (नृत्य, गीत आदि के) आनन्द में निमग्न एवं निरन्तर पराई स्त्रियों में निरत रहने वाले (हे मित्र), तुम्हारी साध्वी पत्नी काम द्वारा अभिभूत होकर अनेक प्रकार की पीड़ाओं (अथवा रोगों) से आक्रान्त हो गई है (अतः तुम उसका भी ध्यान करो)।

यहाँ केवल कण्ठ्य और दन्त्य वर्णों से ही पद्यरचना होने से **द्विस्थान-नियम है (तु० सरस्व० २, उदा० २७४)**। मूल में **नताङ्गी**– पाठ, जो अधिक समीचीन है, **सरस्व०** के अनुसार रखा गया है। √लङ्घ् के 'अभिभूत करना' के अर्थ में प्रयोग के लिए, तु० **काव्यादर्श** १.४४; २.२२४; ३.१४२ भी।

अगा गां गाङ्गकाकाक[1]गाहकाघककाकहा।
अहाहाङ्ग[2] खगाङ्कागकङ्का[3]गखगकाकक[4] ॥६१॥

एकस्थाननियमं निदर्शयति—**अगा** इति। पदच्छेदः — अगाः गाम् गाङ्गकाकाकगाहक अघककाकहा। अहाहाङ्ग खगाङ्कागकङ्क अगखगकाकक। हे गाङ्गकाकाकगाहक (गाङ्गस्य कस्य जलस्य आकं [<आ √कै शब्दे] शब्दायमानम् अकं [<√अक कुटिलायां गतौ] तिर्यक्प्रवाहं तरङ्गं गाहते इति तादृशः तत्संबुद्धौ) गङ्गाजलसशब्दतिर्यक्प्रवाहस्नायिन्, अहाहाङ्ग (हाहा तद्रूपः शोकप्रलापः तम् अङ्गति गच्छतीति हाहाङ्गः न हाहाङ्गः अहाहाङ्गः तत्संबुद्धौ) शोकप्रलापरहित, अशोक, खगाङ्कागकङ्क (खगः सूर्यः सः अङ्कः चिह्नं यस्येति स खगाङ्कः स चासौ अगः पर्वतः सुमेरुरित्यर्थः तं कङ्कति [कीर्तिद्वारेण] गच्छतीति तादृशः तत्संबुद्धौ) सुमेरुपर्यन्तव्याप्तकीर्ते, अगखगकाकक (अगन्ति कुटिलं गच्छन्तीति अगानि तादृशानि खानि इन्द्रियाणि तानि गच्छन्तीति अगखगाः कुटिलेन्द्रियविषयास्तेषां कं सुखमिति अगखगकं तत्र अककः [<अ+√कक लौल्ये] अलोलः अलुब्धः तत्संबुद्धौ) कुटिलेन्द्रियविषयसुखनिरभिलाष, त्वम् अघककाकहा (अघमेव अघकं तदेव काकः तं हन्तीति तादृशः) सर्वविधपापरूपकाकहन्ता (सन्) गां दिवं स्वर्गम् अगाः अगमः (**आशंसायां भूतवच्च**, पा० ३.३.१३२, इति भविष्यत्याशंसायां लुङ्), अचिरेणैव गमिष्यसीत्यर्थः। अत्र कण्ठ्यैरेव वर्णैः पद्यबन्धः इत्येकस्थाननियमः।

गङ्गा नदी के जल की शब्दायमान लहरों का अवगाहन करने वाले, शोक-भाव से रहित, सुमेरु पर्वत पर्यन्त व्याप्त कीर्ति वाले तथा विषयसुखों के

१.–काकाङ्क– (तु० सरस्व०)। २ अहाहाङ्क। ३. –खकाङ्काग–। ४. –काककः, –काकुकः, –गकङ्कागखगाङ्कग (तु० सरस्व०)।

प्रति आसक्तिरहित (हे राजन्), सर्वविध पापरूपी कौओं को नष्ट करके तुम शीघ्र ही स्वर्गलोक को प्राप्त होओगे।

इस पद्य में **गाम् अगाः** का अर्थ कुछ टीकाकारों ने 'तुमने पृथ्वी की प्रदक्षिणा की' अथवा 'तुम इस धराधाम में आए' किया है, जो समीचीन नहीं। वस्तुतः यहाँ भविष्यद्विषयक आशंसा में लुङ् लकार है; तु० रत्नश्रीज्ञान; हेमचन्द्र : **काअनु०**, पृ० २५६-६०; **सरस्व०** २, उदा० २७५ पर रामसिंहकृत टीका। इस उदाहरण में केवल कण्ठ्य वर्णों से ही पद्यरचना होने से **एकस्थान-नियम** है।

रे रे रोरू[1]रुरूरोरुगागोगोऽगांगगो[2]ऽगगुः ।
किं केकाकाकुकः काको मा मा मामम[3] मामम ॥६२॥

स्थाननियममुपसंहृत्य वर्णनियमं निदिदर्शयिषुस्तत्र प्रथमं चतुर्वर्णनियम-मुदाहरति—**रे रे** इति। कामपि सुन्दरीमभिलाषुकं कंचिद् व्याधपुत्रं प्रति तस्याः प्रत्याख्यानोक्तिरियम्। रे रे (अनादरसूचकमव्ययम्) व्याधकुमार, त्वं रोरूरुरूरो-रुगागोगः (रोरूयते त्रासेन भृशं रौति इति रोरूः [रौतेर्यङ्लुगन्तात् क्विप्] तादृशः यः रुरुः मृगविशेषः तस्य उरसः वक्षसः या रुक् [<√रुजो भङ्गे] भञ्जनं विदारणं वा तद्रूपं यद् आगः पापं तद् गच्छति प्राप्नोतीति तादृशः) विराविरुरुमृगवक्षोविदारणपापभृद्, अगांगगः (अगस्य पर्वतस्य अङ्गम् एकदेशं गच्छति तत्रावस्थानादिति तादृशः) पर्वतप्रदेशचारी पर्वतीयः, अथ च अगगुः (न गच्छति प्राप्नोति प्राकरणिकं विषयं पूर्वापरसंबन्धं वेति अगा असंबद्धा गौः वाग् यस्य तादृशः) असंबद्धवाग् असि। ईदृशस्त्वं ममानर्ह इति भावः। यतः काकः किं केकाकाकुकः (केकायाः मयूरारसितस्य काकुं मदजनितं विकारविशेषं कायति शब्दायते इति तादृशः) केकारवसदृशशब्दकारी संभवति, नैवेत्यर्थः। न हि काको मयूरवृत्तिं लभते। अतः हे मामम (मायां लक्ष्म्यां धने मम ममत्वं यस्य तादृशः तत्संबुद्धौ) हे कृपण, मां मा मा (सावेगे निषेधे द्विरुक्तिः) नैव अम उपसर्प। अत्र **रगकम** इति चतुर्भिरेव वर्णैः पद्यबन्ध इति चतुर्वर्ण-नियमः। अगांगगः किं चेत्यत्रत्यावनुस्वारौ न चित्रभङ्गाय कल्पेते।

(अपने शिकारी प्रेमी के प्रति किसी सुन्दरी की उक्ति :) अरे (व्याध-पुत्र), तुम चीख रहे रुरु मृग के वक्षस्थल पर चोट करने के पाप के भागी, पर्वत-प्रदेश में विचरने वाले एवं असंबद्धभाषी हो (अतः तुम मुझे पाने के योग्य नहीं हो)। क्या कोई कौआ मयूर की केका की मदसूचक ध्वनि पैदा कर सकता

---

१. रोरु-। २. -ऽगांगगा-। ३. मामाम-, गामा ममामम।

है ? अतः हे धन के लोभी पुरुष, तुम मेरी ओर मत आओ, मत आओ।

यहाँ केवल **र, ग, क** और **म** इन चार वर्णों से ही पद्यरचना होने से **चतुर्वर्णनियम** है (यहाँ **अगांगगः** और **किं** में अनुस्वार से चित्रभङ्ग नहीं होता)। वस्तुतः इसे एकाक्षरपाद श्लोक कहना अधिक समीचीन है। इसके कतिपय अन्य उदाहरणों के लिए, द्र० **किरातार्जुनीय** १५.५; **शिशुपालवध** १६.३ (**सरस्व० २, उदा० २५६ में उद्धृत**)।

देवानां नन्दनो देवो नोदनो देवनिन्दिनः[1] ।
दिवं दुदाव[2] नादेन दाने दानवनन्दिनः[3] ॥६३॥

त्रिवर्णनियममुदाहरति—**देवानामिति** । देवानाम् इन्द्रादीनां नन्दनः (दैत्यदमनात्) प्रीतिजननः तथा च देवनिन्दिनः देवनिन्दकस्य नोदनः निरासकर्ता देवः नृसिंहावतारधारी भगवान् विष्णुः दानवनन्दिनः दैत्यानन्दजननस्य हिरण्यकशिपोः दाने (<√दो अवखण्डने, ल्युट्>अन) वक्षोविदारणे, तदवसरे कृतेन, नादेन सिंहनादेन दिवम् आकाशं दुदाव उपतापयामास, संक्षोभयामास। अत्र **दवन** इति त्रिभिरेव वर्णैः पद्यबन्ध इति त्रिवर्णनियमः।

देवताओं को आनन्दित करने वाले तथा उनके निन्दकों को पराभूत करने वाले (नृसिंहावतारधारी) भगवान् (विष्णु) ने दानवों के आनन्ददाता (हिरण्यकशिपु के वक्षस्थल) को विदीर्ण करते समय अपने सिंहनाद से आकाश को कँपा दिया।

यहाँ केवल **द, व** और **न** इन तीन वर्णों के प्रयोग द्वारा काव्यरचना होने से **त्रिवर्णनियम** है (तु० सरस्व० २, उदा० २६०)।

सूरिः सुरासुरासारिसारः सारस[4]सारसाः ।
ससार सरसीः सीरी[5] ससूरुः[6] स सुरारसी ॥६४॥

द्विवर्णनियमं निदर्शयति—**सूरिरिति** । स प्रसिद्धः सूरिः विद्वान्, सुरासुरासारिसारः (सुरान् असुरांश्च आसरति आस्कन्दतीति तादृशः सारः बलं यस्य सः) देवदानवाभिभाविबलः, सुरारसी मदिरारसिकः, ससूरुः (शोभनौ ऊरू सूरू ताभ्यां सहितः) सशोभनोरुः, सीरी हलधरः बलभद्रः सारससारसाः (आरसेन आरसितेन सह वर्तमाना इति तादृशाः सारसाः जलचरपक्षिविशेषाः यासु ताः) आरसत्सारसान्विताः सरसीः सरांसि ससार (तीर्थयात्राप्रसङ्गेन)

---

१. वेद–, –निन्दिनाम्। २. दानव–। ३. –दन्तिनः। ४. सारास–, सारसि–। ५. सीरो। ६. ससूरूः।

उपजगाम। अत्र सर इति द्वाभ्यामेव वर्णाभ्यां पद्यरचनेति द्विवर्णनियमः।

विद्वान्, देवों और दानवों को भी अपनी शक्ति से अभिभूत करने वाले, मदिरापान के रसिक एवं शोभन जंघाओं वाले हलधारी बलराम (तीर्थ-यात्रा के प्रसङ्ग से) मधुर शब्द करने वाले सारस पक्षियों से युक्त सरोवरों को चले गए।

यहाँ केवल **स** और **र** इन दो वर्णों के प्रयोग द्वारा पद्यरचना होने से **द्विवर्णनियम** है। इसके अन्य सुन्दर उदाहरणों के लिए, द्र० **किरातार्जुनीय** १५.३८; **शिशुपालवध** १९.६६ (तु० सरस्व० २, उदा० २६१), ८४, ८६ आदि। बलराम के तीर्थयात्राप्रसङ्ग के लिए, द्र० **महाभारत**, उद्योग० १५७. ३५; शल्य० अध्याय ३५-५४।

नूनं नुन्नानि नानेन नाननेनाननानि नः।
नानेना ननु नानूनेनैनेनानानिनो[1] निनीः ॥९५॥

एकवर्णनियममुदाहरति—नूनमिति। पदच्छेदः—नूनं नुन्नानि न अनेन न आननेन अननानि नः। न अनेनाः ननु ना अनूनेन एनेन आनान् इनः निनीः। कश्चिद् शत्रुभटोऽत्रानेन स्तूयते। अनेन समुपस्थितेन शत्रुभटेन आननेन (स्वीयेन तेजस्विना) वदनेन (करणभूतेन) नः अस्माकम् अननानि प्राणाः न नुन्नानि अपनीतानि इति नूनं निश्चयेन न, अपनीता एवानेन नः प्राणा इति दृढीकृतोऽर्थः। अतश्च अनूनेन अन्यूनपराक्रमेण अधिकबलेन एनेन एतेन शत्रुणा भटेन (निमित्तभूतेन) नः आनान् प्राणान् निनीः (नयतेः सन्नन्तात् क्विप्) निनीषुः अपनिनीषुः इनः प्रभुः ना पुरुषः, अस्माकं स्वामीत्यर्थः, न ननु अनेनाः निरपराधः निष्पापो वा, अधिकबलशत्रुमुखेनास्माञ्जिघांसुः स्वामी ननु सापराध एवेत्यर्थः। अत्र केवलेन नकारेण पद्यबन्ध इत्येकवर्णनियमः।

(इस शत्रु सैनिक) ने अपने (तेजस्वी) वदन द्वारा हमारे प्राण नहीं हर लिए—ऐसा निश्चय से नहीं (अर्थात् इसने हमारे प्राण हर ही लिए)। अतः इस अधिक शक्तिशाली (शत्रु सैनिक) के माध्यम से हमारे प्राण लेने का इच्छुक यह पुरुष, हमारा स्वामी, अपराधी नहीं है—ऐसा निश्चय से नहीं (अर्थात् यह निश्चयतः अपराधी है)।

यहाँ केवल एक वर्ण—नकार—से पद्यरचना होने के कारण **एकवर्ण-नियम** है। यह पद्य भारवि (किराता० १५.१४) के निम्नलिखित पद्य से तुलनीय है : **न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु। नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो**

---

1. -नाननिनां।

मानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥ (तु० सरस्व० २, उदा० २६२); द्र० शिशु० १६. ११४ भी।

इति दुष्करमार्गेऽपि[1] कश्चिदादर्शितः क्रमः[2]।
प्रहेलिकाप्रकाराणां पुनरुद्दिश्यते गतिः ॥६६॥

दुष्करचित्रमार्गमुपसंहरन् प्रहेलिकामार्गं चोपक्रममाण आह—इतीति। इति उक्तप्रकारेण दुष्करमार्गे दुःसंपाद्यचित्रकाव्यपद्धतौ अपि कश्चित् क्रमः नियमः प्रकारो वा आदर्शितः निदर्शितः। अथ पुनः प्रहेलिकाप्रकाराणां तदाख्यबन्धविशेषभेदानां गतिः क्रमः विधिर्वा उद्दिश्यते निरूप्यते।

इस प्रकार कठिन काव्यबन्ध की पद्धति का क्रम (=प्रकार) निर्दशित किया गया। अब प्रहेलिका (नामक काव्यबन्ध) के विविध प्रकारों का क्रम निरूपित किया जाता है।

'दुष्कर मार्ग' के अन्तर्गत यमक के कठिन प्रभेदों, गोमूत्रिका आदि चित्रबन्धों एवं स्वर-स्थान-वर्णनियमों का, जिनका कि पीछे वर्णन किया गया है, ग्रहण अभीष्ट है (तु० ३. ३, ३८, ७८, ८३)। परिच्छेद के अन्त में **चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः** (३. १८६) के उल्लेख द्वारा इन्हीं की ओर संकेत किया गया है। भामह प्रहेलिका को भी दुष्कर यमकजातीय काव्य में ग्रहण करता है; तु० २. १६-२० : **नानाधात्वर्थगम्भीरा यमकव्यपदेशिनी। प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे॥ काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्। उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः॥** भामह द्वारा यहाँ उल्लिखित रामशर्मा का **अच्युतोत्तर** नामक प्रहेलिकाग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। कतिपय प्राचीन एवं, विशेषतः, उत्तरवर्ती आचार्यों ने प्रहेलिका की प्रायः उपेक्षा की है; विशेषतः तु० **साद० १०. १३-४ : रसस्य परिपन्थित्वान्नालंकारः प्रहेलिका। उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका॥** फिर भी, प्रतीत होता है कि, काव्यगोष्ठियों में इसकी पर्याप्त लोकप्रियता रही है (तु० **कादम्बरी**, अनुच्छेद ४)। चौसठ कलाओं में भी इसे विशिष्ट स्थान प्राप्त है (तु० **वात्स्यायनकामसूत्र** १. ३. १५)।

क्रीडागोष्ठीविनोदेषु तज्ज्ञैराकीर्णमन्त्रणे।
परव्यामोहने चापि[3] सोपयोगाः प्रहेलिकाः ॥६७॥

प्रहेलिकोपयोगं दर्शयन्नाह—क्रीडेति। क्रीडार्था क्रीडारूपा वा गोष्ठी

---

१. -मार्गस्य, -मार्गोऽपि। २. किंचिदादर्शितक्रमः। ३. चैव।

क्रीडागोष्ठी तत्र ये विनोदाः विचित्रवाग्व्यवहारजनिताः प्रमोदाः तेषु, तज्ज्ञैः प्रहेलिकाभिज्ञैः सह आकीर्णे संकुले देशे मन्त्रणे गुप्तसंभाषणे, अपि च परव्यामोहने परेषां बोद्धृव्यतिरिक्तानाम् आकुलीकरणे, सामर्थ्यं चेज्ज्ञायतामित्यभियोगद्वारा तदज्ञातृत्वसंपादने, प्रहेलिकाः वक्ष्यमाणप्रकाराः सोपयोगाः सप्रयोजनाः भवन्ति । एवं चैता नोपेक्ष्या इत्यर्थः ।

क्रीडारूप गोष्ठियों में प्रमोद(–साधन के रूप) में, (प्रहेलिकाओं को) समझने वाले (विदग्धजनों) के साथ भरे समाज में भी गुप्त संभाषण करने (के माध्यम के रूप) में एवं दूसरों को (यदि जानते हो तो बताओ—इस प्रकार चुनौती देकर) व्यामोहित करने (के साधन के रूप) में प्रहेलिकाएँ उपयोगी होती हैं ।

ऐसा प्रतीत होता है कि काव्यालंकार के रूप में प्रहेलिका की उपयोगिता दण्डी के समय से ही विवाद का विषय थी । भामह का इसके प्रति विरोधी दृष्टिकोण स्पष्ट है । रुद्रट का दृष्टिकोण भी कुछ उदासीनतापूर्ण ही है; उसने इसे 'क्रीडामात्रोपयोग' कहा है (५. २४) ।

दण्डी ने यहाँ प्रहेलिका की परिभाषा नहीं की है । भोज (सरस्व० २. १३३) ने इसे सकृत्प्रश्न कहा है और इसके छः भेद बताए हैं; उसने दण्डी की प्रस्तुत कारिका को भी उद्धृत किया है (२. १३४) । दण्डी ने इसके तीस प्रभेदों का संकेत किया है, जिनमें से सोलह शिष्ट भेदों को उसने निदर्शित किया है (३. १०८-२४) । अगली आठ कारिकाओं (३. ९८-१०५) में इनकी परिभाषा दी गई है ।

आहुः समाहितां[1] नाम गूढार्थां पदसंधिना ।
वञ्चितान्यत्र रूढेन यत्र शब्देन वञ्चना[2] ॥९८॥

तत्र प्रहेलिकाद्वयं लक्षयति—आहुरिति । पदसंधिना पदयोः पदानां वा परस्परसंधिना गूढार्थां निगूढप्रकृतार्थां (दुर्बोधतया संहितत्वात्) समाहितां नाम प्रथमां प्रहेलिकाम् आहुः । रूढेन प्रसिद्धेन (अर्थान्तरप्रयुक्तेन) शब्देन अन्यत्र विवक्षितादर्थाद् अन्यस्मिन्नर्थे बुद्ध्युत्पादाद् यत्र वञ्चना परप्रतारणा क्रियते तत्र वञ्चिता तदाख्या द्वितीया प्रहेलिका स्यात् ।

(१) पदों की संधि के कारण जहाँ (वास्तविक) अर्थ गूढ़ अर्थात् छिपा हुआ हो वहाँ समाहिता नामक प्रहेलिका होती है । (२) जहाँ किसी रूढ़ (=अर्थविशेष में प्रसिद्ध) शब्द द्वारा, (विवक्षित अर्थ से भिन्न) अन्य अर्थ में

---

१. समागतां । २. वञ्चनम् ।

(उसका ग्रहण करके), दूसरे की प्रवञ्चना की जाए वहाँ वञ्चिता होती है।

व्युत्क्रान्तातिव्यवहितप्रयोगान्मोहकारिणी ।
सा स्यात्प्रमुषिता यस्यां दुर्बोधार्था पदावली[1] ॥९९॥

प्रहेलिकाद्वयमपरमाह—व्युत्क्रान्तेति । अतिव्यवहितप्रयोगाद् अत्यन्तं व्यवधानवतां पदानां संनिवेशाद् मोहकारिणी (अर्थावबोधक्लेशप्रसङ्गाद्) व्यामोहजनयित्री या स्यात्सा व्युत्क्रान्ता (पदासत्तिव्युत्क्रमणात्) तदाख्या प्रहेलिका तृतीया भवति । अथ च यस्यां दुर्बोधार्था (अप्रसिद्धत्वाद्) दुर्ग्राह्यार्था पदावली पदसमुदायः भवेत् सा प्रमुषिता (अपहृतार्थत्वात्) तत्समाख्या चतुर्थी स्यात् ।

(३) अत्यधिक व्यवधान के साथ पदों के प्रयोग द्वारा व्यामोह उत्पन्न करने वाली प्रहेलिका (वहाँ पदसंनिवेश का व्युत्क्रम होने से) व्युत्क्रान्ता होती है। (४) जहाँ पर (अप्रसिद्ध, अतश्च) दुर्बोध अर्थ वाले पदों का प्रयोग हो वहाँ (अर्थ का एक प्रकार से अपहरण होने से) प्रमुषिता नामक प्रहेलिका होती है।

समानरूपा[2] गौणार्थारोपितैर्ग्रथिता[3] पदैः ।
परुषा लक्षणास्तित्वमात्रव्युत्पादितश्रुतिः ॥१००॥

प्रहेलिकाद्वयमपरमाह—समानरूपेति । गौणार्थारोपितैः गौणार्थेन साध्यवसानगौणलाक्षणिकार्थेन आरोपितैः उपचारितैः पदैः ग्रथिता विरचिता या सा समानरूपा तन्नाम्नी पञ्चमी प्रहेलिका स्यात् । अथ च लक्षणस्य अनुशासनसूत्रस्य (=शास्त्रनियमस्य) अस्तित्वमात्रेण सद्भावमात्रेण, अर्थविशेषसाधनं सूत्रमस्तीति तद्बलेनैव, व्युत्पादिता साधिता श्रुतिः शब्दः यस्यां तादृशी शास्त्रीयसूत्रप्रवृत्तिमात्रसाध्यपदा प्रहेलिका (अर्थावगमपारुष्यात्) परुषा नाम षष्ठी स्यात् ।

(५) (साध्यवसान) गौण अर्थात् लाक्षणिक अर्थ के आरोप से युक्त पदों (के प्रयोग) द्वारा ग्रथित प्रहेलिका समानरूपा होती है। (६) जहाँ लक्षण (=व्याकरणशास्त्र अथवा सूत्र) के अस्तित्व मात्र से सिद्ध शब्दों का प्रयोग हो (अर्थात् अर्थविशेष के समर्थन में व्याकरण का अमुक सूत्र है—केवल इसी आधार पर शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग हो) वहाँ परुषा प्रहेलिका होती है।

संख्याता नाम संख्यानं यत्र व्यामोहकारणम् ।
अन्यथा भासते यत्र वाक्यार्थः सा प्रकल्पिता ॥१०१॥

प्रहेलिकाद्वयमपरं लक्षयति—संख्यातेति । यत्र यस्यां प्रहेलिकायां संख्यानं

---

१. पदावलिः । २. –रूप– । ३. ग्रथितः ।

वर्णगणना संख्यावाची शब्दो वा व्यामोहस्य अर्थतत्त्वाग्रहणसंजातव्याकुलतायाः कारणं हेतुः स्यात् सा संख्याता नाम सप्तमी भवेत्। अथ च यत्र वाक्यार्थः पदसमुदायस्यार्थः अन्यथा यथा वस्तुतोऽवस्थितस्तद्विपर्ययेण भासते प्रतिभाति सा प्रकल्पिता (अन्यथार्थप्रकल्पनपरत्वात्) तदाख्या अष्टमी प्रहेलिका भवति।

(७) जहाँ (वर्णों की) गणना अथवा संख्यावाचक शब्द दूसरे के व्यामोह का कारण बनते हैं वहाँ संख्याता होती है। (८) जहाँ किसी वाक्य का अर्थ (अपने वास्तविक अर्थ से) भिन्न प्रकार का आभासित होता है वहाँ प्रकल्पिता नामक प्रहेलिका होती है।

सा नामान्तरिता यस्यां[1] नाम्नि नानार्थकल्पना।
निभृता निभतान्यार्था तुल्यधर्मस्पृशा गिरा ॥१०२॥

प्रहेलिकाद्वयमपरं लक्षयति—सेति। यस्यां प्रहेलिकायां नाम्नि (क्वचित्) संज्ञायां विषये (तत् प्रकटयितुं) नानार्थकल्पना बहूनाम् अर्थानां वस्तूनां कल्पना विभावना क्रियते सा (नाम्नोऽन्तरितत्वाद्) नामान्तरिता नाम नवमी। अथ च तुल्यधर्मस्पृशा (प्रकृताप्रकृतयोः) तुल्यं धर्मं स्पृशन्त्या प्रतिपादयन्त्या गिरा वाचा निभृतान्यार्था निभृतः गोपितः अन्यः प्रकृतः अर्थः यत्र सा तादृशी प्रहेलिका प्रकृतार्थगोपनाद् निभृता तदाख्या दशमी भवति।

(९) जिस उक्ति में किसी नामविशेष को प्रकट करने के लिए अनेक वस्तुओं की कल्पना की जाती है उसे नामान्तरिता कहते हैं (क्योंकि इसमें वास्तविक नाम अन्य वस्तुओं से अन्तरित—निगूढ—रहता है)। (१०) जहाँ (अप्रकृत और प्रकृत) के तुल्यधर्म का प्रतिपादन करने वाली वाणी द्वारा अन्य (प्रकृत) अर्थ का गोपन होता है वहाँ निभृता प्रहेलिका होती है।

समानशब्दोपन्यस्तशब्दपर्यायसाधिता।
संमूढा नाम या साक्षान्निर्दिष्टार्थापि मूढये[2] ॥१०३॥

प्रहेलिकाद्वयमपरं लक्षयति—**समानशब्देति**। उपन्यस्तेन उपनिबद्धेन शब्दपर्यायेण शब्दार्थप्रतिपादकनामान्तरेण साधिता घटिता या सा प्रहेलिका समानार्थकशब्दान्तरोपन्यासात् समानशब्दा एकादशी भवति। अथ च या साक्षाद् वाचकपदैः निर्दिष्टार्था उक्ताभिधेया अपि मूढये श्रोतृजनसंमोहाय कल्पते सा संमूढा नाम द्वादशी।

(११) (अभीष्ट) शब्दों (के स्थान पर उन) के पर्यायवाची शब्दों के

---

१. यस्या। २. मूढयोः।

प्रयोग द्वारा संपादित प्रहेलिका (समानार्थक शब्दप्रयोग वाली होने के कारण) समानशब्दा होती है। (१२) जो प्रहेलिका साक्षात् (वाचक) शब्दों द्वारा अर्थ का निर्देश किए जाने पर भी (श्रोताओं में) व्यामोह उत्पन्न कर देती है उसे संमूढा कहते हैं।

योगमालात्मिका[1] नाम या स्यात्[2] सा परिहारिका[3]।
एकच्छन्नाश्रितं व्यज्य[4] यस्यामाश्रयगोपनम् ॥१०४॥

प्रहेलिकाद्वयमपरमाह—योगेति। या नाम खलु योगमालात्मिका (योगानां व्युत्पत्तिलभ्यानां यौगिकशब्दानां, न तु रूढानां योगरूढानां वेत्यर्थः, माला परंपरा एव आत्मा स्वरूपं यस्याः सा तादृशी) यौगिकशब्दपरंपराघटिता स्यात् सा परिहारिका (प्रसिद्धशब्दपरिहारयोगात्) तदाख्या त्रयोदशी प्रहेलिका भवति। अथ च यस्याम् आश्रितम् आधेयं व्यज्य प्रकाश्य साक्षादभिधाय आश्रयस्य आधारस्य गोपनं निगूहनं क्रियते सा (एकस्याश्रयस्य च्छन्नत्वाद्) एकच्छन्ना नाम चतुर्दशी भवति।

(१३) जिस प्रहेलिका में यौगिक (=व्युत्पत्तिलभ्य) शब्दों की परंपरा अर्थात् शृङ्खला (द्वारा अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति) होती है उसे परिहारिका कहते हैं (क्योंकि इसमें रूढ़ अथवा योगरूढ़ शब्दों का परिहार होता है)। (१४) जहाँ आश्रित (पदार्थ) का शब्द द्वारा स्पष्ट कथन करके (उसके) आश्रय का गोपन किया जाए वहाँ (एक—आश्रय—के निगूढ होने से) एकच्छन्ना प्रहेलिका होती है।

सा भवेदुभयच्छन्ना यस्यामुभयगोपनम्।
संकीर्णा नाम सा यस्यां नानालक्षणसंकरः ॥१०५॥

प्रहेलिकाद्वयमन्तिममाह—सेति। यस्यां प्रहेलिकायाम् उभयगोपनम् आश्रिताश्रययोरुभयोरपि निगूहनं स्यात् सा उभयच्छन्ना पञ्चदशी भवेत्। अथ च यस्यां नानालक्षणानाम् अनन्तरोक्तसमाहितादिविविधप्रभेदलक्षणानां संकरः संमिश्रः साहित्येनावस्थानं वा स्यात् सा संकीर्णा नामान्तिमा भवेत्।

(१५) जहाँ (आश्रित और आश्रय) दोनों का गोपन हो वहाँ उभयच्छन्ना प्रहेलिका होती है। (१६) जहाँ (उक्त) विविध प्रहेलिकारूपों का संमिश्रण हो वहाँ संकीर्णा नामक प्रहेलिका होती है।

---

१. -त्मकं। २. यस्याः। ३. -हारिणी, पारिहारिकी। ४. व्यक्तं।

एताः षोडश निर्दिष्टाः पूर्वाचार्यैः प्रहेलिकाः ।
दुष्टप्रहेलिकाश्चान्यास्तैरधीताश्चतुर्दश ॥१०६॥

प्रहेलिकाप्रभेदोद्देशमुपसंहरन्नाह—एता इति । एताः अनन्तरलक्षिताः षोडश प्रहेलिकाः पूर्वाचार्यैः निर्दिष्टाः । अन्याः च चतुर्दश दुष्टप्रहेलिकाः सदोषाः प्रहेलिकाप्रकाराः अपि तैः अधीताः पठिताः, वर्णिता इत्यर्थः ।

ये उक्त सोलह (प्रकार की) प्रहेलिकाएँ प्राचीन आचार्यों द्वारा वर्णित की गई हैं । (इनके अतिरिक्त) अन्य चौदह दोषयुक्त प्रहेलिकाभेद भी उन आचार्यों द्वारा विवेचित किए गए हैं ।

रत्नश्रीज्ञान ने यहाँ पूर्व आचार्यों में रामशर्मा का उल्लेख किया है (तु० ३.९६ पर टि० भी) । दोषयुक्त प्रहेलिकाओं के बारे में दण्डी ने कोई स्पष्ट संकेत नहीं दिया है । जीवानन्द विद्यासागर, रङ्गाचार्यशास्त्री, नृसिंहदेवशास्त्री आदि व्याख्याकारों के अनुसार दण्डी का अभिप्राय च्युताक्षरा, दत्ताक्षरा आदि से है जिनकी व्याख्या हमें भोज (सरस्व० २.१३३) में मिलती है । परंतु यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता । दोषयुक्त प्रहेलिकाएँ संभवतः ग्राम्य अथवा अश्लील प्रकार की रही होंगी ।

दोषानपरिसंख्येयान् मन्यमाना वयं पुनः ।
साध्वीरेवाभिधास्यामस्ता दुष्टा यास्त्वलक्षणाः ॥१०७॥

दुष्टानां प्रहेलिकानामग्रहणे साध्वीनां चोपादाने हेतुमाह—दोषानिति । वयं पुनः दोषान् अपरिसंख्येयान् गुणवदादरेणाप्रतिपाद्यान् अथवा साकल्येन परिगणयितुमशक्यान् मन्यमानाः जानन्तः (अतश्च दोषयुक्तानां प्रहेलिकानां व्याख्यानं परिहरन्तः) साध्वीः दोषरहिताः एव ताः षोडश अत्र अभिधास्यामः निदर्शयिष्यामः । तास्तावत् प्रहेलिकाः दुष्टाः दोषवत्त्वेन प्रतिपत्तव्याः याः तु अलक्षणाः अनन्तरोक्तसमाहितादिलक्षणहीनाः स्युः ।

दोषों (से युक्त प्रहेलिकाओं) को व्याख्यान के अयोग्य (अथवा उनके असंख्य होने के कारण उन्हें अपरिगणनीय) समझते हुए हम यहाँ केवल शिष्ट प्रहेलिकाओं का ही विवेचन करेंगे । उन प्रहेलिकाओं को, जो (पूर्वोक्त समाहिता आदि के) लक्षणों से रहित हैं, दोषपूर्ण समझना चाहिए ।

च्युताक्षरा आदि प्रहेलिकाभेदों को समाहिता आदि के लक्षणों से रहित होने से दुष्ट प्रहेलिका के अन्तर्गत मानने का सिद्धान्त युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि इस बात का निश्चित प्रमाण नहीं है कि दण्डी के समय में ये भेद प्रहेलिकाभेद के रूप में विद्यमान थे । बाण (कादम्बरी, अनुच्छेद ४) ने अक्षरच्युतक, मात्रा-, बिन्दुमती और गूढचतुर्थपाद का प्रहेलिका से भिन्न रूप में उल्लेख

किया है; लगभग इसी प्रकार का दृष्टिकोण रुद्रट (५.२४) का है। आगे चलकर, भोज (सरस्व० २.१३३) के समय में अथवा उससे कुछ पहले, इसका क्षेत्रविस्तार हुआ—ऐसा प्रतीत होता है।

न मयागोरसाभिज्ञं चेतः कस्मात् प्रकुप्यसि।
अस्थानरुषितै[1]रेभि[2]रलमालोहितेक्षणे[3] ॥१०८॥

साधुषु प्रहेलिकाभेदेषु प्रथमं समाहितामुदाहरति—नेति। कांचित्कोपवतीं गोपीं प्रति नायकस्योक्तिरियम्। मया गोरसाभिज्ञं दधिदुग्धादिरसवित्, तद्रसास्वादलोलुपमित्यर्थः, चेतः चित्तं न, धार्यत इति शेषः। न मया तव दधिदुग्धादिकमपहृतम्। तत् त्वं निरपराधाय मह्यं कस्मात् प्रकुप्यसि? हे आलोहितेक्षणे कोपवशाद् ईषद्रक्तनेत्रे, एभिः तव अस्थानरुषितैः कारणं विनापि रोषक्रियाभिः अलं, मा रुष इत्यर्थः। अयं तावदर्थो जनसमाजे गोप्यवृत्तान्तसंवरकः, अनेनास्या दध्यादि हृतं स्यादितीयमस्मै कुप्यतीति लोका जानीयुरिति। प्रकृतो गोपनीयस्त्वर्थोऽत्र पदसंधिना गूढः, स च 'न मे मम आगोरसे आगसः अपराधस्य रसे आस्वादे अभिज्ञं परस्त्र्युपपीडनरूपापराधाभ्यस्तं चित्तं, तत्कथं निरागसे मह्यं कुप्यसि' इत्येवंरूपः मे आगोरसाभिज्ञमिति संधिविच्छेदेन विव्रियते। एवं पदसंधिना प्रकृतार्थस्य गूढत्वादियं समाहिता नाम प्रहेलिका।

(१) मेरा चित्त गोरस (=दूध-दही आदि) के आस्वाद के प्रति लोलुप नहीं है (मैंने तुम्हारा गोरस नहीं चुराया)। तुम (व्यर्थ) क्यों कुपित होती हो? हे (कोप से) लाल आँखों वाली, तुम बिना कारण क्रोध न करो। [यह पदसंधि से निगूढ अर्थ है। संधिविच्छेद (मे+आगो-रसाभिज्ञं) करने पर प्रकृत अर्थ इस प्रकार प्रकट होगा: **मेरा चित्त परस्त्री को सताने रूप अपराध का अभ्यस्त नहीं है (मैंने तुम्हारे प्रति कोई अपराध नहीं किया)। तुम (व्यर्थ) क्यों कुपित होती हो?**......]

यहाँ पदसंधि द्वारा प्रकृत अर्थ का निगूहन होने से **समाहिता** प्रहेलिका है। भोज (**सरस्व०** २, **उदा०** ३६८) और हेमचन्द्र (**काअनु०**, पृ० २७१) ने इस पद्य को संबन्धगूढ नामक प्रहेलिकाप्रकार के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

कुब्जामासेवमानस्य यथा ते वर्धते रतिः।
नैवं निर्विशतो नारीरमरस्त्रीविडम्बिनीः ॥१०९॥

द्वितीयां वञ्चितां निदर्शयति—**कुब्जामिति**। कुब्जां न्युब्जपृष्ठाम् इमां

१. -रुदितैर्। २. एतैर्। ३. -तेक्षणैः।

स्त्रीम् आसेवमानस्य निर्विशतः ते तव रतिः प्रमोदः अनुरागो वा यथा वर्धते उपचीयते, एवं तथा अमरस्त्रीविडम्बिनीः सुराङ्गनातुल्याः नारीः अन्याः स्त्रीः निर्विशतः अपि न, नैव वर्धत इत्यर्थः। विवक्षितस्त्वर्थोऽत्र 'कुब्जां कान्यकुब्जाख्यां पुरीमावसतः कुब्जाख्यं वाद्यविशेषं वा सेवमानस्य तव' इत्यादिरूपः, स च कुब्जेति गडुलार्थे रूढेन पदेन परप्रवञ्चनार्थं निगूहित इत्यत्र वञ्चिता नाम प्रहेलिका।

(२) इस कुबड़ी स्त्री के साथ रमण करने से जैसा तुम्हारा आनन्द अथवा अनुराग बढ़ता है वैसा देवस्त्रियों के सदृश (अन्य) सुन्दरियों के साथ रमण करने से भी नहीं बढ़ता। [यहाँ गूढ़, परंतु वस्तुतः अभिप्रेत, अर्थ है : **कान्यकुब्ज नामक नगरी में निवास करने से अथवा कुब्जा नामक वाद्यविशेष के वादन से जैसा तुम्हारा आनन्द बढ़ता है वैसा देवस्त्रीतुल्य सुन्दरियों के साथ रमण करने से भी नहीं बढ़ता।]**

रत्नश्रीज्ञान ने **कुब्जा** का अभिप्रेत अर्थ कन्याकुब्जा किया है जिसके साथ कृष्ण का रतिविहार **श्रीमद्भागवतपुराण** (१०.४८) में वर्णित है। प्रस्तुत उदाहरण में कुबड़ी के अर्थ में रूढ़ **कुब्जा** पद द्वारा, उसको विवक्षित अर्थ से भिन्न अन्य अर्थ में ग्रहण करके, वस्तुतः अभिप्रेत अर्थ को छिपाया गया है; अतः यहाँ **वञ्चिता** प्रहेलिका है।

दण्डे चुम्बति पद्मिन्या हंसः कर्कशकण्टके।
मुखं वल्गुरवं कुर्वंस्तुण्डेनाङ्गानि घट्टयन् ॥११०॥

तृतीयां व्युत्क्रान्तामुदाहरति—दण्ड इति। कर्कशकण्टके खरकण्टकवृते दण्डे कमलिनीमृणालदण्डे अङ्गानि निजावयवान् घट्टयन् कण्डूयमानः अथ च वल्गुरवं मधुरारसितं कुर्वन् हंसः तुण्डेन चञ्च्वा पद्मिन्याः कमलिन्याः मुखं कमलरूपं चुम्बति। अत्र **दण्डे अङ्गानि, पद्मिन्याः मुखं, तुण्डेन चुम्बति** इति परस्परासत्तिसापेक्षाणां पदानामतिव्यवहितप्रयोगाद् आसत्तेर्व्युत्क्रमात् तस्य च क्रीडागोष्ठ्यादिषु परव्यामोहनहेतुत्वाद् व्युत्क्रान्ता नाम प्रहेलिका।

(३) कठोर काँटों वाले कमलनाल से अपने अङ्गों को रगड़ता हुआ तथा मधुर कलरव करता हुआ यह हंस अपनी चोंच से कमलिनी के (कमलरूप) मुख का चुम्बन करता है।

यहाँ **दण्डे अङ्गानि, पद्मिन्याः मुखं** और **तुण्डेन चुम्बति** इन पदों का, जिनकी परस्परनिकटता अपेक्षित है, प्रयोग अत्यधिक व्यवधान के साथ किया गया है। इससे वाक्यान्वयन के लिए अपेक्षित आसत्ति का, काव्यगोष्ठी आदि में दूसरे को व्यामोहित करने के निमित्त, व्युत्क्रम होने से **व्युत्क्रान्ता** प्रहेलिका है।

यदि परव्यामोहनरूप यह विशिष्ट प्रयोजन न हो, तो यह वाक्यदोष माना जाएगा। भोज (सरस्व० १.२३, उदा० २६) ने इस पद्य को व्याकीर्ण नामक वाक्यदोष के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

खातयः कनि काले ते स्फातयः स्फीत[1]वल्गवः।
चन्द्रे साक्षाद्भवन्त्यत्र वायवो[2] मम चारिणः[3] ॥१११॥

चतुर्थीं प्रमुषितामुदाहरति—**खातय** इति। हे कनि बाले, ते तव चन्द्रे आह्लाददायिनि काले चरणे स्फातयः प्रभूताः स्फीतवल्गवः सान्द्रमधुररवाः खातयः किंकिण्यः घर्घरिकाः साक्षाद् भवन्ति नेत्रगोचरीभवन्ति, दृश्यन्त इत्यर्थः। अत्र एवं स्थिते मम वायवः प्राणाः उद्दीपनप्रकर्षमसहिष्णवः चारिणः अनवस्थायिनः सन्ति, प्रयान्तीत्याशयः। अत्राप्रसिद्धानाम् अन्यत्र रूढानां वाऽतश्च दुर्बोधार्थानां **खातिकनीकालस्फातिवल्गुचन्द्रवायुपदानां** प्रयोगात्तद्द्वारा चार्थमोषात् प्रमुषिता नाम प्रहेलिका।

(४) हे बाले, तुम्हारे आह्लाददायक चरणों में ये प्रभूत तथा सान्द्रमधुर ध्वनि वाले घुंघरू दिखाई पड़ रहे हैं। ऐसी स्थिति में (=ऐसे उद्दीपनपूर्ण वातावरण में) मेरे प्राण निकलने को हैं!

यहाँ केवल ऋग्वेद में ही प्रयुक्त, अतश्च अप्रसिद्ध, **कनी** शब्द का एवं अन्य अर्थों (क्रमशः खोदना, समय, वृद्धि, सुन्दर, चन्द्रमा और हवा—इन अर्थों) में रूढ **खाति, काल, स्फाति, वल्गु, चन्द्र** और **वायु** पदों का अप्रसिद्ध, अतश्च, दुर्बोध अर्थों (क्रमशः घुँघरू, पैर, प्रभूत, ध्वनि, आह्लादकारी और प्राण—इन अर्थों) में प्रयोग होने से **प्रमुषिता** प्रहेलिका है। इन शब्दों की व्युत्पत्ति इस प्रकार होगी : **खाति—खम् आकाशं तस्यायमिति खः शब्दः, तस्य अतिः (<√अत्) प्राप्तिर्येषु ते खातयः शब्दकारिकिंकिण्याद्यलंकाराः। काल—कल प्रेरणे धातोः कर्मणि घञ्, काल्यते प्रेर्यते प्रक्षिप्यतेऽसौ कालः चरणः। स्फाति—स्फायनं स्फाः वृद्धिः तस्या अतिर्गतिर्यत्र ते स्फातयः प्रभूताः। वल्गु—वल्यते उच्चार्यते इति वल्गुर्ध्वनिः। चन्द्र—चदि आह्लादे धातोरौणादिके रक्प्रत्यये चन्द्रः आह्लादकः। वायु—वान्तीति वायवः प्राणाः।** भोज (सरस्व० १.६४, उदा० १२८) ने इस पद्य में रूढिच्युत दोष मानते हुए भी प्रहेलिका में इसका गुणत्व स्वीकार किया है। भोज के टीकाकार रामसिंह ने काल के 'चरण' अर्थ को कर्णाटदेशभाषानुसारी कहा है।

---

१. स्फाहं-। २. तायवो। ३. धारिणः।

अत्रोद्याने मया दृष्टा वल्लरी[1] पञ्चपल्लवा ।
पल्लवे पल्लवे ताम्रा[2] यस्यां[3] कुसुममञ्जरी ।।११२।।

पञ्चमीं समानरूपां निदर्शयति—**अत्रेति** । अत्र अस्मिन् उद्याने आरामे मया पञ्चपल्लवा पञ्चकिसलयोपेता वल्लरी लता दृष्टा लक्षिता, यस्यां खलु वल्लर्यां पल्लवे पल्लवे प्रतिकिसलयं ताम्रा आरक्तवर्णा कुसुममञ्जरी पुष्पमञ्जरी, विराजते इति शेषः । **अत्रोद्यान**प्रभृतिपदानि गौणार्थारोपितानि सन्ति, तथा **चात्रोद्यानस्य** नायिकाशरीरमिति, **वल्लर्यास्**तद्बाहुरिति, **पल्लवस्य** तदङ्गुलिरिति, **कुसुममञ्जर्याश्च** तदीयनखदीधितिरिति गौणार्थास्तत्र तत्र साध्यवसानमारोपिताः । ततश्च 'मया नायिकाशरीरे पञ्चाङ्गुलिर्भुजलतावलोकिता, अङ्गुलिषु च तदीयासु आरक्तनखप्रभा संलक्षिता' इति निगूढार्थः । तदियं गौणार्थारोपितैः पदैर्ग्रथितत्वात्समानरूपा ।

(५) इस उद्यान में मैंने पाँच कोंपलों वाली एक लता देखी है जिसकी प्रत्येक कोंपल में ताँबे के रंग की पुष्पमञ्जरी (सुशोभित) है ।

यहाँ **उद्यान** आदि पदों पर गौण (=लाक्षणिक) अर्थों का आरोप (अभिप्रेत) है; तदनुसार उद्यान नायिका का शरीर है, लता उसकी बाँह है, कोंपलें उसकी अंगुलियाँ हैं तथा कुसुममञ्जरी अंगुलियों की लाल नखप्रभा है (तु० २.६७)। इस प्रकार इसका निगूढ अभिप्रेत अर्थ है : 'मैंने एक नायिका की भुजलता देखी है जिसकी पाँचों अंगुलियों में लाल नखच्छवि शोभायमान है।' इस प्रकार रूपसादृश्यमूलक कल्पना पर आधारित होने से, गौणार्थ के आरोप से युक्त पदों के प्रयोग द्वारा ग्रथित, यह प्रहेलिका **समानरूपा** है । यदि उपयोग नहीं, तो कम-से-कम संकल्पना की दृष्टि से यह प्रहेलिका समासोक्ति अलंकार से तुलनीय है जिसकी परिभाषा इस प्रकार है : **वस्तु किंचिदभिप्रेत्य तत्तुल्यस्यान्यवस्तुनः । उक्तिः संक्षिप्तरूपत्वात्सा समासोक्तिरिष्यते ॥** (२. २०५)। दूसरी ओर, यह उपमान द्वारा निगीर्ण उपमेय के अध्यवसान के रूप में मम्मट (१०.१०० वृत्ति) के उस प्रथम अतिशयोक्तिभेद से भी साम्य रखती है जिसका उदाहरण है : **कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम् । सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरंपरा केयम् ॥** (तु० जयशंकर त्रिपाठी : **आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन**, पृ० ३८६-७)।

सुराः सुरालये स्वैरं भ्रमन्ति दशनार्चिषा ।
मज्जन्त इव मत्तास्ते सौरे सरसि संप्रति ।।११३।।

---

१. मञ्जरी । २. चार्द्रा, सान्द्रा । ३. यस्याः ।

षष्ठीं परुषामुदाहरति—**सुरा इति**। ते मत्ताः प्रसन्नाः क्षीबाः वा सुराः (सुरा मद्यम् एषामस्तीति सुराः, **अर्शआदिभ्योऽच्**, पा० ५.२.१२७, इत्यच्) शौण्डिकाः सुरापाः वा संप्रति सौरे (सुराया इदं सौरं, **तस्येदम्**, पा० ४.३.१२०, इत्यण्) सुरासंबन्धिनि सरसि तटाके कुण्डे मज्जन्तः अवगाहमानाः इव दशनार्चिषा (अट्टहासप्रकटितया) दन्तकान्त्या, उपलक्षिता इति शेषः, सुरालये मद्यशालायां स्वैरं यथेच्छं निर्बाधं भ्रमन्ति पर्यटन्ति। अत्र शौण्डिकार्थे सुरापार्थे वा (सामान्यतो देवपर्यायः) **सुर**शब्दः, सुराया इदमित्यर्थे च (सुरस्येदं सूर्यस्येदमिति वार्थे प्रसिद्धः) **सौर**शब्दः पाणिन्यनुशासनसूत्रसद्भावमात्रेण व्युत्पाद्येते इत्यर्थावगमपारुष्यादत्र परुषा नाम प्रहेलिका।

(६) ये मतवाले मदिरापायी (=शराबी) लोग इस समय मदिरा के कुण्ड में मानो नहाते हुए (अट्टहास द्वारा) अपने दाँतों की कान्ति दिखाते हुए मदिराशाला में स्वच्छन्दतापूर्वक इधर-उधर घूम-फिर रहे हैं।

यहाँ 'मदिरापायी' अर्थ में **सुर** शब्द एवं 'मदिरासंबन्धी' अर्थ में **सौर** शब्द व्याकरण के सूत्रों (द्र० संस्कृत टीका) से सिद्ध तो हो जाते हैं, परंतु इनका सामान्यतः प्रसिद्ध अर्थ क्रमशः 'देवता' और 'देवता-संबन्धी' अथवा 'सूर्य-संबन्धी' (सौर<सूर्य+अण्, **सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः**, पा० ६.४.१४९, से यलोप) है। फलतः इस पद्य का साधारणतः ग्राह्य अर्थ है : 'ये प्रसन्न देवता लोग देवह्रद (अथवा मानस सरोवर में) नहाते हुए तथा अपनी हास्यच्छटा बिखेरते हुए स्वर्ग (सुरालय<सुर+आलय) में इधर-उधर घूम-फिर रहे हैं।' परंतु वास्तविक अभिप्रेत अर्थ यहाँ दुर्बोध है, यद्यपि वह शास्त्रीय नियम से सिद्ध है। इस प्रकार यह **परुषा** नामक प्रहेलिका का उदाहरण है।

नासिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता[1]।
अस्ति काचित् पुरी यस्यामष्टवर्णाह्वया नृपाः ॥११४॥

संख्यातां सप्तमीमुदाहरति—**नासिक्येति**। नासिक्यः वर्णः मध्ये यस्याः तादृशी, अथ च परितः उभयतः चतुर्वर्णविभूषिता चतुर्भिः वर्णैः विराजिता, द्वाभ्यामादौ द्वाभ्यां चान्त इत्याशयः, काचित् पुरी नगरी अस्ति यस्यां पुर्याम् अष्टवर्णाह्वयाः अष्टाभिर्वर्णैः (घटितः) आह्वयः संज्ञा येषां तादृशाः नृपाः राजानः सन्ति। अत्र विवक्षिता पुरी **काञ्ची** वर्तते यस्या मध्यभागे नासिक्यो ञकारः परितश्च **कआचई** इति चत्वारो वर्णा विराजन्ते, यस्यां च **पल्लवाः** इति

1. चातुर्वर्ण्य-।

पअललअवअस—इत्येतैरष्टभिर्वर्णैर्निबद्धनामानो राजानो दण्डिकाले बभूवुः। अत्र चतुरष्टवर्णशब्दाभ्यां संख्यावाचिभ्यां व्यामोहो विहित इति संख्याताख्या प्रहेलिका।

(७) ऐसी कोई नगरी है जिसके (नाम के) मध्य में एक अनुनासिक वर्ण है तथा दोनों ओर चार वर्ण (दो आरम्भ में और दो अन्त में) विराजते हैं, और जिस (नगरी) में आठ वर्णों से निबद्ध नाम वाले राजा (राज्य करते) हैं।

यहाँ अभिप्रेत नगरी **काञ्ची** (=काञ्चीपुर) है जिसके मध्य में **ञ** अनुनासिक वर्ण है तथा आगे-पीछे चार वर्ण हैं—दो (**क,अ**) आगे और दो (**च,ई**) पीछे। इस नगरी में **पल्लवाः** नाम से आठ (**प,अ,ल,ल,अ,व,अ** और विसर्ग) वर्णों द्वारा घटित संज्ञा वाले राजा दण्डी के युग में शासन करते थे। प्राचीन टीकाकार रत्नश्रीज्ञान और तरुणवाचस्पति ने इस प्रहेलिका का यही समाधान प्रस्तुत किया है। प्रेमचन्द्र तर्कवागीश ने **पल्लवाः** में (विसर्ग के अयोगवाह होने से) आठ वर्णों की स्थिति न मानकर इसके स्थान पर **पुण्ड्रकाः** का सुझाव दिया है (तु० जीवानन्द विद्यासागर भी)। परंतु यह समाधान समीचीन नहीं है। प्रस्तुत उदाहरण में चार और आठ इन संख्यावाची शब्दों द्वारा व्यामोह उत्पन्न किए जाने से **संख्याता** प्रहेलिका है।

गिरा स्खलन्त्या नम्रेण शिरसा दीनया दृशा।
तिष्ठन्तमपि सोत्कम्पं[1] वृद्धे मां नानुकम्पसे ॥११५॥

अष्टमीं प्रकल्पितां निदर्शयति—**गिरेति**। सामान्यतो भासमानोऽर्थः—हे वृद्धे जरठे, स्खलन्त्या (रागावेशाद्) गद्गदस्वरया गिरा वाचा, नम्रेण प्रेमप्रार्थनाप्रणिपातनम्रेण शिरसा मूर्ध्ना, अथ च दीनया (अभिमतरागविषयासिद्धेः) अतृप्तया दृशा चक्षुषा सोत्कम्पं (कामावेशात्) सात्त्विककम्पसहितं यथा स्यात्तथा तिष्ठन्तं तवाग्रतः स्थितम् अपि मां त्वां कामयमानं न त्वम् अनुकम्पसे अनुगृह्णासि, नोचितमिदं तव वृद्धाया इत्यर्थः। वस्तुतो विवक्षितस्त्वर्थोऽत्रान्य एव, स चैवंरूपः—हे वृद्धे पुराणपुरुषपत्नि अथवा (वृद्धिः लक्ष्मीः, **योग्यमृद्धिः सिद्धिलक्ष्म्यौ वृद्धेरप्याह्वया इमे** इत्यमरवचनात्, तत्संबुद्धौ) लक्ष्मि, दारिद्र्याद् गद्गदस्वरया वाचा, भक्तिन ण शिरसा, कातरया च दृशा, कृशभावाच्चोत्पन्नकम्पं, त्वामुपतिष्ठमानं मां नानुगृह्णासि इति तत्कथम्। अत्र वाक्यार्थस्य वस्तुस्थितिविपर्ययेण प्रतिभानात्प्रकल्पिता प्रहेलिका।

---

१. सोत्कण्ठं।

(८) सामान्यतः प्रतीयमान व्यामोहक अर्थ : हे वृद्धे, (रागावेश से) लड़खड़ाती वाणी, (प्रणय की अभ्यर्थना में) झुके सिर और (वासना की अपूर्ति से) अतृप्त आँखों से तुम्हारे समक्ष (कामावेशवश) कम्पायमान स्थिति में खड़े हुए भी मुझपर तुम अनुग्रह नहीं करती ! वस्तुतः अभिप्रेत अर्थ : **हे लक्ष्मी, (दरिद्रतावश) गद्गदपूर्ण वाणी, भक्तिनम्र सिर और कातर दृष्टि से तुम्हारे समक्ष कम्पायमान स्थिति में उपस्थित मुझपर तुम अनुकम्पा नहीं करती।**

यहाँ वृद्धे पद को पुराणपुरुष (=वृद्ध) विष्णु (तु० २.३४५) की पत्नी लक्ष्मी के अर्थ में **वृद्धा** शब्द अथवा लक्ष्मीवाची **वृद्धि** शब्द के संबोधन के एकवचन का रूप मानने पर वस्तुतः अभिप्रेत अर्थ की प्राप्ति होती है। अन्यथा यहाँ इससे भिन्न अर्थ ही सामान्यतः आभासित होता है; अतश्च यहाँ **प्रकल्पिता** नामक प्रहेलिका है।

आदौ राजेत्यधीराक्षि पार्थिवः कोऽपि गीयते।
सनातनश्च नैवासौ राजा नापि सनातनः ॥११६॥

नवमीं नामान्तरितामुदाहरति—आदाविति। हे अधीराक्षि चञ्चलनेत्रे, कोऽपि पार्थिवः पृथिवीपतिः आदौ प्रथमं राजा इति गीयते अभिधीयते, सनातनः शाश्वतः चापि स कथ्यते। किंतु असौ पूर्वोक्तः पार्थिवः राजा नैव वर्तते नापि स सनातनः नित्यः च। कस्तावदसाविति प्रहेलिकाप्रश्नः। उत्तरं चाप्यस्यात्रैव, तद्यथा—स पार्थिवः पृथिवीप्रभवः वृक्षविशेषः आदौ स्वनाम्न आदिभागे **राजा** इति गीयते कीर्त्यते, स नातनः न अतनः (तनशब्दरहितः) च वर्तते, **तनशब्द-सहितोऽसावित्यर्थः।** एवं **राजातनं** नाम स वृक्षः, स चैवंभूतो नापि राजा नापि शाश्वत इत्युत्तरेण संगतिः। राजातनं (राजादनं वा) प्रियालवृक्षः, **राजादनं प्रियालः स्यादित्यमरवचनात्।** अत्र **राजातनेति** संज्ञायाः सुगूढम् अन्तरितत्वात्तद्विवरणार्थं चानेकवस्त्वन्तरकल्पनाप्रसङ्गाद् नामान्तरिता नाम प्रहेलिका।

(९) हे चञ्चलनयनी, कोई ऐसा पार्थिव (=पृथ्वी का अधिपति) है जो सर्वप्रथम राजा कहा जाता है तथा जो नित्य है, परंतु वह (वस्तुतः) न राजा है और न ही नित्य है। (बताओ वह क्या है?) इसका समाधानपरक अर्थ इस प्रकार होगा : **वह ऐसा पार्थिव (=पृथ्वी से उत्पन्न) वृक्षविशेष है जिसके (नाम के) आरम्भ में राजा शब्द है तथा वह नाम अतन (=तन शब्द रहित) नहीं है, अर्थात् उसके साथ तन शब्द जुड़ा है; और वह राजा भी नहीं है और न ही नित्य है। (इस प्रकार वह राजातन [=प्रियाल, पियाल, चिरौंजी] वृक्ष है।)**

अमरकोश में यह **राजादन** के रूप में उल्लिखित है; वहाँ यह इस रूप में क्षीरिका का भी पर्याय है (तु० रत्नश्रीज्ञान भी)। **पार्थिव** शब्द **पृथिवी** से **प्राग्दीव्यतीय** (विविध) अर्थों में ञ प्रत्यय लगने से बनता है (तु० **पृथिव्या ञाञौ,** पा० ४.१.८५ पर **वार्त्तिक**)। यहाँ **राजातन** इस नाम को, जो भलीभाँति अन्तरित (=निगूढ) है, प्रकट करने के लिए अनेक अन्य वस्तुओं की कल्पना होने से **नामान्तरिता** प्रहेलिका है। इसके कुछ अन्य रोचक उदाहरण हैं : (१) **य एवादौ स एवान्ते मध्ये भवति-मध्यमः। अस्यार्थं यो न जानाति तन्मुखे तं ददाम्यहम्** ॥ (समाधान : यवस = घास); (२) **न यस्यादिर्न यस्यान्तो मध्ये यस्तस्य तिष्ठति। तवापि स्तो ममापि स्तो यदि जानासि तद्वद** ॥ (समाधान : नयन)। प्रेमचन्द्र तर्कवागीश के अनुसार इस प्रहेलिका के लक्षण (३.१०२) में **नाम** शब्द से केवल संज्ञा ही नहीं अपितु वस्तुमात्र विवक्षित है; इस प्रकार **तरुण्यालिङ्गितः कण्ठे नितम्बस्थलमाश्रितः। गुरूणां संनिधानेऽपि कः कूजति मुहुर्मुहुः** ॥ (समाधान : पानी से भरा घड़ा) भी इस प्रहेलिका का विषय है।

हृतद्रव्यं नरं[1] त्यक्त्वा[2] धनवन्तं व्रजन्ति काः।
नानाभङ्गिसमाकृष्ट[3]लोका वेश्या न दुर्धराः ॥११७॥

दशमीं निभृतामुदाहरति—**हृतद्रव्य**मिति। हृतद्रव्यं (हृतम् अपहृतं क्षीणतां गतं वा द्रव्यं धनं यस्य स तादृशं) निर्धनं नरं मनुष्यं त्यक्त्वा विहाय नानाभङ्गिसमाकृष्टलोकाः नानाभङ्गिभिः अनेकविधाभिः चतुरचेष्टाभिः समाकृष्टाः स्वायत्तीकृताः लोकाः याभिः तादृश्यः सत्यः काः धनवन्तं धनाढ्यं पुरुषं व्रजन्ति यान्ति, इति तावत्प्रश्नः। उक्तगुणविशिष्टा वेश्या एव स्युरित्युत्तरं स्याद् इत्युच्येत यदि, तत्राह—दुर्धराः दुःखेन धारयितुं वशीकर्तुं वा शक्याः वेश्याः गणिकाः न मम प्रश्नस्य विषयः। संवरणीयः समाधानरूपस्त्वर्थोऽत्र नद्य इति। यतः नानाभङ्गिसमाकृष्टलोकाः (नानाभङ्गिभिः तरङ्गैः समाकृष्टाः सम्यक् समीपमानीताः निमज्जिताः वा अवतरन्तो लोकाः याभिः ताः तथाभूताः) बहुविधतरङ्गसमाकृष्टपुरुषाः दुर्धराः दुर्वाराः च नद्यः हृतद्रव्यं (हृतानि अपनीतानि द्रव्याणि [द्रुर्वृक्षः तस्य विकारोऽवयवो वेति **द्रोश्च,** पा० ४.३.१६१, इति यत्] वृक्षसंबन्धीनि शाखापत्रादीनि वस्तूनि यस्य तम्) अपहृतवृक्षशाखापत्रादिकं नरं नरसदृशम् आश्रयप्रदं, पर्वतमित्यर्थः, विहाय धनवन्तं धनं रत्नं तद्वन्तं रत्नाकरं समुद्रं व्रजन्ति। अत्र नदीवेश्ययोस्तुल्यधर्मं स्पृशन्त्या वाचा प्रकृतो नदीरूपोऽर्थो गोपित इति निभृतप्रकृतार्थत्वाद् निभृता नाम प्रहेलिका।

---

१. जनं। २. हित्वा। ३. -शताकृष्ट-।

(१०) अपनी विविध भावभङ्गिमाओं से सभी लोगों को आकृष्ट करने वाली ऐसी कौन हैं जो धनहीन पुरुष को छोड़कर धनी व्यक्ति के पास चली जाती हैं ? (इस प्रश्न का उत्तर) 'कठिनता से धारण करने योग्य वेश्याएं' नहीं है। वास्तविक समाधान है : 'अपनी लहरों से लोगों को अपनी ओर बरबस खींच लेने (और डुबा देने) वाली दुर्निवार नदियाँ' जो हृतद्रव्य (=जिनके वृक्षों की शाखाएँ, पत्र आदि बहा लिए गए हैं) पुरुषसदृश (आश्रयदाता पर्वत) को छोड़कर धन (=रत्न) से संपन्न (रत्नाकर) समुद्र की ओर दौड़ती जाती हैं।

यहाँ नदी और वेश्या के लिए प्रयुक्त धर्मों की तुल्यता के सूचक शब्दों के प्रयोग द्वारा (वास्तविक) प्रकृत नदी-रूप अर्थ का गोपन होने से **निभृता** नामक प्रहेलिका है। रत्नश्रीज्ञान के अनुसार यहाँ **श्रियः** (=धन-संपत्ति) समाधान है।

जितप्रकृष्टकेशाख्यो यस्तवाभूमिसाह्वयः[1] ।
असौ मामुत्कमधिकं[2] करोति कलभाषिणि ॥११८॥

एकादशीं समानशब्दामाह—**जितेति**। हे कलभाषिणि मधुरालापे, यः तव जितप्रकृष्टकेशाख्यः (केशस्य आख्या नाम वाल इति, प्रकृष्टश्च स वालः प्रवालः, जितः प्रवालः तदाख्यो मणिः तरुकिसलयो वा निजारक्तच्छव्या येन तादृशः) न्यक्कृतप्रवालमणिकान्तिः विजितकिसलयाभो वा, अभूमिसाह्वयः (न भूमिः धरा यस्येत्यभूमिः अधरो वा तत्साह्वयः अर्थतस्तत्समानाख्यः) अधरः, असौ स तादृशस्तवाधरः माम् अधिकम् अतिमात्रम् उत्कम् उत्सुकं चुम्बनोत्सुकं करोति। अत्र प्रवालस्य अधरस्य च संकेताय प्रकृष्टकेश इत्यभूमिरिति चार्थतस्तत्पर्यायशब्दयोरुपन्यासात्समानशब्दा नाम प्रहेलिका।

(११) हे मधुरभाषिणी, जिसने (अपनी लाल आभा से) प्रवाल (=मूंगा नामक मणि अथवा तरुकिसलय) को मात कर दिया है, ऐसा तेरा यह अधर मुझे आज अत्यधिक उत्सुक बना रहा है।

यहाँ **प्रवाल** और **अधर** के लिए अर्थतः उनके पर्यायवाची शब्दों, **प्रकृष्टकेश** और **अभूमि** का, क्रीडाविनोद में परव्यामोह के निमित्त, प्रयोग किया गया है, अतः यहाँ प्रहेलिका के समानार्थक शब्दप्रयोग से युक्त होने के कारण **समानशब्दा** है। **प्रकृष्टकेश** और **अभूमि** शब्द लक्षितलक्षणा से 'प्रवाल' और 'अधर' का उसी प्रकार बोध कराते हैं जैसे **द्विरेफ** शब्द 'भ्रमर' अर्थ का बोध

---

1. यस्तेऽभूमिसमाह्वयः। 2. स मामद्य प्रभूतोत्कं, सुभूतोत्कं।

कराता है, परंतु द्विरेफ शब्द इस अर्थ में अत्यधिक प्रसिद्ध होने के कारण प्रहेलिका का विषय नहीं बन सकता।

शयनीये परावृत्य शयितौ कामिनौ रुषा[1]।
तथैव शयितौ रागात्स्वैरं मुखमचुम्बताम् ॥११९॥

द्वादशीं संमूढामुदाहरति—**शयनीय** इति। कामिनौ कामी च कामिनी च रुषा प्रणयकोपेन शयनीये शय्यायां परावृत्य परावृत्तौ भूत्वा, विमुखीभूयेत्यर्थः, शयितौ। पुनः कोपापगमे रागाद् अनुरागोदयात् तथैव शयितौ तौ स्वैरं यथेच्छं स्वच्छन्दं वा मुखम् अन्योन्यवदनम् अचुम्बताम्। अत्र परावृत्य शयानयोः परस्परमुखचुम्बनमशक्यमिति प्रथममुपजातः संमोहः 'परावृत्य (विमुखीभूय) शयितौ कोपापगमे रागाविर्भावात्पुनः तथैव अर्थात् परावृत्य (=संमुखीभूय) शयितौ परस्परं मुखमचुम्बताम्' इत्येवमर्थाभ्युपगमाद् दूरीभवति। एवं चात्र साक्षादर्थनिर्देशे सत्यपि श्रोतृजनसंमोहोत्पादात्संमूढा नाम प्रहेलिका।

(१२) प्रेमी और उसकी प्रेमिका प्रणयकोप से शय्या पर मुँह फेरकर लेट गए। (कोप शान्त होने से) अनुराग जागने पर वे पुनः उसी प्रकार लेट गए और स्वच्छन्दतापूर्वक परस्पर मुखचुम्बन करते रहे।

यहाँ **पुनः उसी प्रकार** का वास्तविक अभिप्रेत अर्थ है **दुबारा मुँह फेरकर** अर्थात् 'आमने-सामने मुँह करके'। इस प्रकार साक्षात् वाचक शब्द द्वारा अर्थ का निर्देश होने पर भी श्रोताओं में व्यामोह उत्पन्न करने के कारण यहाँ **संमूढा** प्रहेलिका है।

विजितात्म[2]भवद्वेषिगुरुपादहतो जनः।
हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमाभिनन्दति ॥१२०॥

त्रयोदशीं परिहारिकामाह—**विजितेति**। विः गरुडः तेन जितः विजितः इन्द्रः तस्य आत्मभवः पुत्रः अर्जुनः तस्य द्वेषी शत्रुः कर्णः तस्य गुरुः पिता सूर्यः तस्य पादैः किरणैः हतः संतप्तः जनः, हिमापहामित्रधरैः हिमं शैत्यम् अपहन्तीति हिमापहः अग्निः तस्य अमित्रः शत्रुः जलं तस्य धराः जलधराः मेघाः तैः व्याप्तम् आच्छादितं व्योम आकाशम् अभिनन्दति समाद्रियते, तथाविधस्य तस्य तापहरत्वादित्यर्थः। अत्रायोगरूढानां यौगिकशब्दानां परंपरयैवाभिप्रेतोऽर्थः सुगूढं प्रकटितो योगरूढशब्दप्रयोगश्चैवं परिहृत इति परिहारिकाख्या प्रहेलिका।

(१३) गरुड द्वारा जीते गए (=इन्द्र) के पुत्र (=अर्जुन) के शत्रु

---

१. क्रुधा। २. विजितान्न-।

(=कर्ण) के पिता (=सूर्य) की किरणों से संतप्त मनुष्य शीत के नाशक (=अग्नि) के शत्रु (=जल) को धारण करने वाले जलधरों (अर्थात् मेघों) से आच्छादित आकाश का अभिनन्दन करता है।

यहाँ यौगिक शब्दों की शृङ्खला द्वारा ही अभिप्रेत अर्थ की अभिव्यक्ति होने से एवं इस प्रकार रूढ़ अथवा योगरूढ़ शब्दों का परिहार होने से **परिहारिका** प्रहेलिका है। प्रहेलिका का प्रसङ्ग न होने की स्थिति में इस प्रकार की रचना दोषपूर्ण होती है, क्योंकि ऐसी रचना में प्रसाद गुण अथवा प्रतीतिसुभगत्व का अभाव होता है (तु० १.४५), यद्यपि गौड मार्ग के अनुयायी ऐसी रचना को प्रश्रय देते हैं। इस प्रकार के 'व्युत्पन्न' प्रयोग का उदाहरण है : **अनत्यर्जुनाब्जन्मसदृक्षाङ्को वलक्षगुः** (१.४६)। भामह (१.४१) ने दण्डी के प्रस्तुत उदाहरण, **विजितात्म** इत्यादि, को अंशतः उद्धृत करके यहाँ अवाचक (=वाच्य अर्थ में साक्षात् अरूढ़ शब्द का प्रयोग) दोष माना है : **हिमापहामित्रधरैर्व्याप्तं व्योमेत्यवाचकम्**। भोज (सरस्व० १.११, उदा० ८) ने भी दण्डी के प्रस्तुत पद्य को क्लिष्ट नामक दोष के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है। वस्तुतः प्रहेलिका से भिन्न प्रसङ्ग में ऐसी रचना स्वयं दण्डी के अनुसार भी दोषपूर्ण है।

न स्पृशत्यायुधं जातु न स्त्रीणां स्तनमण्डलम्।
अमनुष्यस्य कस्यापि हस्तोऽयं न किलाफलः ॥१२१॥

चतुर्दशीमेकच्छन्नामुदाहरति—नेति। कस्यापि अमनुष्यस्य कापुरुषस्य पुरुषत्वरहितस्य वा अयं हस्तः न जातु कदाचिदपि आयुधं प्रहरणं स्पृशति, न च स्त्रीणां स्तनमण्डलं पयोधराभोगं स्पृशति। तथाप्ययं हस्तः न किल अफलः फलशून्यः, अपितु सफल एवेत्यर्थः। अत्रायुधस्पर्शाक्षमत्वान्नायं वीरः स्त्रीस्तनस्पर्शौदासीन्याच्च नायं रसिक इति कथमस्य हस्तस्य साफल्यमिति विरोधप्रतीतौ अमनुष्यो गन्धर्वोऽमनुष्यहस्तश्च गन्धर्वहस्त एरण्डवृक्षपर्यायो गृह्यते, एरण्डवृक्षश्चायं सुखच्छेद्यत्वान्नायुधस्पर्शं सहते, न चाहृद्यत्वात्स्त्रीस्तनस्पर्शमर्हति। फलवांश्चायं पादपो भवतीत्यर्थोपपत्तिः। अत्राश्रितमेरण्डफलं व्यक्तं तदाश्रयश्चैरण्डवृक्षो निगूहित इत्येकच्छन्ना नाम प्रहेलिका।

(१४) किसी अमनुष्य (=कापुरुष अथवा पुरुषत्वरहित) का यह हाथ कभी हथियार को नहीं छूता और न ही स्त्रियों के उरोजों का स्पर्श करता है, परंतु फिर भी यह (हाथ) निष्फल नहीं। वस्तुतः अभिप्रेत अर्थ : **यह एरण्ड का पौधा (कोमल होने से) किसी हथियार का वार नहीं सह सकता, न ही यह (अहृद्य होने के कारण) स्त्रियों के उरोजों का स्पर्श करने के योग्य है;**

फिर भी यह पौधा फल-युक्त (=सफल) होता है।

अमनुष्य यहाँ 'गन्धर्व' के लिए प्रयुक्त हुआ है; **काशिकाकार** (पा० २.४.२३) के अनुसार यह शब्द रक्षस्, पिशाच आदि (देवयोनियों) के लिए रूढ़ है, और देवयोनियों में गन्धर्व भी एक है (तु० **अमरकोश**)। इस प्रकार **अमनुष्यहस्त** का अर्थ 'गन्धर्वहस्त' होगा, और **गन्धर्वहस्त(क)** 'एरण्ड' (जो गन्धर्व के हाथ-सा सुखभङ्गुर होता है) का पर्यायवाची है; द्र० **अमरकोश : अथ व्याघ्रपुच्छगन्धर्वहस्तकौ। एरण्ड उरुबूकश्च रुचकश्चित्रकश्च सः।**

प्रस्तुत उदाहरण में आश्रित (एरण्ड के) फल का तो वर्णन किया गया है, परंतु उसके आश्रय एरण्ड के पौधे का गोपन किया गया है; अतः यहाँ **एकच्छन्ना** प्रहेलिका है।

केन कः[1] सह संभूय सर्वकार्येषु संनिधिम्।
लब्ध्वा[2] भोजनकाले तु[3] यदि दृष्टो निरस्यते॥१२२॥

पञ्चदशीमुभयच्छन्नां निदर्शयति—केनेति। कः पदार्थः केन पदार्थेन सह संभूय मिलित्वा सर्वकार्येषु (मनुष्यस्य) संनिधिम् उपस्थितिं लब्ध्वा अपि भोजनकाले तु यदि दृष्टः अन्नगतः संलक्षितः तर्हि निरस्यते दूरीक्रियते—इति प्रहेलिकाप्रश्नः। अस्योत्तरमप्यत्रैव निगूढत्वेन स्थितं, तथा हि, **कः** केशः **केन** शिरसा सह मिलित्वा सर्वकार्येषु स्नानभूषणधारणादिषु मनुष्यस्य सांनिध्यं प्राप्यापि भोजनवेलायामन्नगतो दृष्टः अशुचित्वात् सपदि दूरमुत्सार्यत इति। अत्राश्रयस्य शिरसस्तदाश्रितस्य च केशस्येत्युभयोरपि च्छन्नत्वादुभयच्छन्ना नाम प्रहेलिका।

(१५) कौन (कः) **किसके साथ** (केन सह) **मिलकर सभी कार्यों में (मनुष्य के) साथ रहता है, परंतु भोजन करते समय (अन्न में) दिखाई पड़ने पर (तुरन्त) बाहर कर दिया जाता है?** इसका उत्तर भी इसी में निगूढ़ है : **केश** (कः) **सिर के साथ** (केन सह) **मिलकर अर्थात् सिर पर सुशोभित होकर**···।

यहाँ आश्रय (सिर) और आश्रित (केश) दोनों निगूहित हैं, अतः यह **उभयच्छन्ना** प्रहेलिका है। **क** का अर्थ 'सिर' भी है और 'केश' भी (तु० मोनियर विलियम्स)। **क** (=सिर) से **तस्येदम्**, पा० ४.३.१२०, से अण् प्रत्यय लगाकर केशवाची **क** शब्द सिद्ध किया जाता है। रत्नश्रीज्ञान द्वारा निर्दिष्ट पाठ **केनेशः सह संभूय** के अनुसार सामान्यतः प्रकट अर्थ होगा : 'शिव (ईशः) विष्णु के साथ (केन सह) मिलकर···।' (**क** का अर्थ विष्णु भी है); और

---

१. केनेशः। २. लब्धा (?)। ३. –वेलायां।

निगूढ अर्थ होगा : 'ईश शब्द क(कार) के साथ मिलकर (क+ईश=केश)...।'

सहया सगजा सेना सभटेयं न चेज्जिता।
अमातृकोऽयं मूढः स्यादक्षरज्ञस्तु[1] नः सुतः ॥१२३॥

षोडशीं संकीर्णामुदाहरति—सहयेति । सहया हयैः वाजिभिः सहिता, सगजा गजैः सहिता, सभटा भटैः योद्धृभिः सहिता च इयं सेना चमूः न चेद् जिता पराभूता, तर्हि अक्षरज्ञः अक्षरब्रह्मवित् तु नः अस्माकम् अयं सुतः पुत्रः अमातृकः मातृरहितः सन् मूढः मूर्खः स्याद् इत्यापाततः प्रतीयमानोऽर्थः। निगूढस्त्वभिप्रेतोऽर्थोऽन्य एव, स चैवंरूपः —सहया हकारयकाराभ्यां सहिता, सगजा गकारजकारोपेता, सेना इनाभ्याम् इकारनकाराभ्यां सहिता, सभटा भकारटकाराभ्यां सहिता च इयं निर्देक्ष्यमाणा (वर्णमाला) न चेद् जिता अभ्यासेन वशीकृता, तर्हि अक्षरज्ञः ब्रह्मविद् वेदमात्रपाठकः तु अयम् अस्माकं सुतः अमातृकः (नास्ति मातृका वर्णमाला यस्य तादृशः) वर्णमालाज्ञानरहितः सन् मूढ एव स्यात्, शुकवद् रटितवेदोऽपि लिपिज्ञानाभावान्मूर्ख इति लोकैरुपहस्येतेत्यर्थः।

(१६) सामान्यतः प्रतीयमान अर्थ : **यदि घोड़ों, हाथियों और भटों (=पदाति सैनिकों) से युक्त यह सेना न जीती गई, तो हमारा यह अक्षरब्रह्म (=वेद) को जानने वाला पुत्र मातृ-रहित होने से मूर्ख ही रह जाएगा।** वस्तुतः अभिप्रेत अर्थ : **यदि ह, य, ग, ज, इ, न, भ, ट, (आदि) वर्णों से युक्त यह (वर्णमाला) अभ्यास द्वारा भलीभाँति हृदयंगम न की गई, तो यह हमारा वेदवेत्ता (=वेदों को कण्ठाग्र करने वाला) पुत्र मातृका (=वर्णमाला) से रहित होने से मूर्ख ही समझा जाएगा।**

मातृका वर्णमाला को कहते हैं (तु० रत्नश्रीज्ञानः द्र० मोनियर विलियम्स भी)।

सा नामान्तरितामिश्रा वञ्चितारूपयोगिनी ।
एवमेवेतरासामप्युन्नेयः संकरक्रमः ॥१२४॥

उक्तोदाहरणे संकरक्रमं दर्शयति—सेति । सा अनन्तरोक्ता प्रहेलिका मातृकेति संज्ञायाः सुगूढमन्तरितत्वात्तद्विवरणार्थे च हयगजाद्यनेकवस्त्वन्तरकल्पनायोगात् प्राप्तया नामान्तरितया मिश्रा संयुक्ता, अथ च सेनेति चमूरूपार्थे रूढेन पदेनार्थान्तरे प्रयुक्तेन परप्रवञ्चनाप्रसङ्गादधिगताया वञ्चिताया रूपेण लक्षणेन योगः संमिश्रणं यस्यास्तादृशी अस्ति, नामान्तरितावञ्चितयोरत्र संकर

---

१. अमात्रिको- । २. -श्च ।

इति संकीर्णाख्या प्रहेलिकेत्यर्थः। एवम् उक्तप्रकारेण एव इतरासाम् अन्यासाम् अपि प्रहेलिकानां संकरक्रमः संकीर्णत्वप्रकारः उन्नेयः ऊहनीयः।

उक्त (उदाहरण द्वारा निर्दशित) प्रहेलिका नामान्तरिता से संयुक्त तथा वञ्चिता के स्वरूप से मिश्रित है। इसी प्रकार अन्य (प्रहेलिकाओं) के संकर के क्रम को भी समझना चाहिए।

उक्त उदाहरण में **मातृका** पद के सुगूढ रूप से अवस्थित होने एवं उसके विवरण के निमित्त हय, गज आदि अनेक अन्य वस्तुओं की कल्पना करने के कारण नामान्तरिता तथा सैन्य अर्थ में रूढ़ **सेना** शब्द के अन्य अर्थ में प्रयोग द्वारा परप्रवञ्चना किए जाने के कारण वञ्चिता प्रहेलिका है। इन दोनों का संकर होने से यहाँ **संकीर्णा** प्रहेलिका है। रत्नश्रीज्ञान ने इस कारिका की टीका में समागता-व्युत्क्रान्ता, समानरूपा-समानशब्दा एवं परिहारिका-प्रकल्पिता के संकरों को भी उदाहृत किया है।

एम. रङ्गाचार्य द्वारा ब्रह्मवादि प्रेस, मद्रास (१६१० ई०), से संपादित संस्करण में इस कारिका के बाद निम्नलिखित दो कारिकाएँ और हैं एवं उनके बाद तृतीय परिच्छेद की समाप्ति की सूचक पुष्पिका तथा एक अतिरिक्त श्लोक के साथ चतुर्थ परिच्छेद की अवतरणिका भी है :

इति प्रहेलिकामार्गो दुष्करात्मापि दर्शितः[1] ।
विद्वत्प्रयोगतो ज्ञेया मार्गाः प्रश्नोत्तरादयः[2] ॥*
विशदबुद्धिरनेन सुवर्त्मना सुकरदुष्करमार्गमवैति हि ।
न हि तदन्यनयेऽपि कृतश्रमः प्रभुरिमं नयमेतुमिदं विना ॥†

---

* इति उक्तप्रकारेण दुष्करात्मा दुस्साध्यस्वरूपोऽपि प्रहेलिकानां मार्गः क्रमः दर्शितः निर्दशितः। उक्तदिशैव प्रश्नोत्तरादयः अत्रानुक्ताः मार्गाः विद्वत्प्रयोगतः विदुषां कवीनां च लक्ष्येषु तत्प्रयोगाद् ज्ञेयाः बोद्धव्याः।

उक्त प्रकार से दुष्कर स्वरूप वाले प्रहेलिकाभेदों को निर्दशित किया गया। इसी प्रकार से (यहाँ अनुक्त) प्रश्नोत्तर आदि मार्गों का ज्ञान भी विद्वान् कवियों के काव्यप्रयोगों से कर लेना चाहिए।

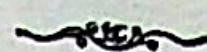
† विशदबुद्धिः निर्मलमतिः अनेन अनन्तरोक्तेन सुवर्त्मना ऋजुना मार्गेण हि सुकर-दुष्करमार्गम् उभयमपि सुकरं दुष्करं च काव्यप्रकारम् अवैति जानाति। इदम् अत्र निर्दिष्टं वर्त्म विना अन्यनये अन्यस्मिन् शास्त्रे कृतश्रमः अपि जनः इमं नयं काव्यशास्त्ररूपम् एतुम् अधिगन्तं प्रभुः समर्थः न हि निश्चयेन स्यात्।

निर्मलमति (व्युत्पन्न) छात्र उक्त ऋजु मार्ग से (काव्य के) सुकर और

---

१. –त्मा प्रदर्शितः। २. विद्वत्प्रयोगको ज्ञेयो न हि प्रश्नोत्तराश्रयः।

इत्याचार्यदण्डिनः कृतौ काव्यादर्शे[1] सुकरदुष्करो[2] नाम
तृतीयः परिच्छेदः



चतुर्थः परिच्छेदः

काव्ये दोषा गुणाश्चैव विज्ञातव्या विचक्षणैः ।
दोषा विपत्तये तत्र[3] गुणाः संपत्तये यथा[4] ॥‡

उक्त सामग्री (**विशदबुद्धिरनेन** इत्यादि पद्य को छोड़कर) १९२५-२६ ई० में भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, पूना, द्वारा मद्रास से उपलब्ध ताड़पत्र वाली पोथी में भी, कुछ परिवर्तन के साथ, प्राप्त होती है। परंतु अन्य संस्करणों (विशेषतः दरभङ्गा सं० तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय सं०) एवं पाण्डुलिपियों में यह सामग्री नहीं मिलती; अतश्च यह प्रक्षिप्त प्रतीत होती है।

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम् ।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसंधिकम् ॥१२५॥
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च ।
इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः ॥१२६॥

एतावता काव्यशोभाकरान् गुणान् अर्थालंकारान् शब्दालंकारांश्च निरूप्य संप्रति काव्यशोभापकर्षहेतून् दोषान् समासेन व्याचिख्यासुस्तान् उद्दिशति—**अपार्थ**मिति। अपार्थं समुदायार्थशून्यं, व्यर्थं पूर्वापरविरुद्धार्थम्, एकार्थं पुनरुक्तं, ससंशयं संदिग्धम्, अपक्रमं क्रमरहितं, शब्दहीनं शब्दसंस्काररहितं, यति-

---

दुष्कर प्रकारों को जान सकता है। इस मार्ग की (सहायता के) बिना इससे भिन्न अन्य शास्त्रों में कृतश्रम (एवं पारंगत) व्यक्ति भी इस काव्यशास्त्र का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता।

‡ काव्ये विचक्षणैः व्युत्पन्नमतिभिर्विद्वद्भिः दोषाः गुणाः च एव विज्ञातव्याः विशेषेण बोद्धव्याः। तत्र दोषाः तस्य काव्यस्य विपत्तये विपत्तिहेतवः तच्चारुत्वापकर्षकाः सन्ति, यथा हि गुणाः तस्य संपत्तये संपत्तिहेतवः तच्चारुत्वातिशयहेतवः वर्तन्ते।

काव्य में विद्वान् आचार्यों को दोषों और गुणों का भी सम्यक् अनुशीलन करना चाहिए। इनमें दोष काव्य के विपत्ति-रूप (=चारुत्व के अपकर्षक) होते हैं, जैसे गुण संपत्ति-रूप (=चारुत्व के उत्कर्षहेतु) होते हैं।

---

१. पूनास्थतालपत्रपुस्तके नास्ति। २. यमकप्रहेलिकाप्रकारो। ३. विपत्तयस्तस्य। ४. संपत्तयस्तथा।

भ्रष्टं छन्दोयतिनियमहीनं, भिन्नवृत्तं छन्दोनियमरहितं, विसंधिकम् अपेक्षित-संधिहीनं, देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि देशादिविरुद्धं च इति दश एव एते दोषाः काव्यदोषाः सूरिभिः विद्वद्भिः कविभिः काव्येषु काव्यप्रयोगेषु वर्ज्याः परि-हरणीयाः, सयत्नं हेयाः। न काव्ये किमपि दुष्टं कथमप्युपेक्ष्यं, यथाह पूर्वं **तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचनेति।**

अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसंधिक और देश-काल-कला-लोक-न्याय-आगम-विरोधी—ये दस ही दोष हैं जिनका मनीषी कवियों को अपनी काव्यकृतियों में परिहार करना चाहिए।

दण्डी ने, भरत के समान ही, दोष की परिभाषा नहीं की है, तथापि उसके अनुसार अनुचित एवं अशिष्ट, अतश्च सहृदय के हृदय को उद्विग्न करने वाला, प्रयोग दोष है (तु० १.६ : **गौर्गौः कामदुघा सम्यक्प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः। दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ॥**; द्र० १.२० एवं २.५१ भी)। उसके मत में दोष अनित्य प्रकृति के हैं; उनका दोषत्व स्थितिविशेष पर निर्भर है; दूसरे शब्दों में, स्थितिविशेष में वे गुण भी बन सकते हैं। इस तथ्य को उसने भलीभाँति निदर्शित किया है। दोष, उसके अनुसार, परिस्फुट (positive) धर्म हैं; गुणों के निषेधात्मक (negative) धर्म मात्र नहीं, जैसा कि वामन (२.१.१) का मत है। दूसरी ओर, गुणों को भी वह परिस्फुट धर्म मानता है। भरत (१७.९४) के समान वह उन्हें दोषों का विपर्यय नहीं मानता।

दण्डी ने दोषों की व्याख्या काव्य के 'शरीर' के संदर्भ में की है, 'आत्मा' के संदर्भ में नहीं; अतः उन दोषों का संबन्ध सब प्रकार से शब्द और अर्थ के साथ ही है, रस के साथ नहीं (जैसा कि उत्तरवर्ती रसवादी आचार्यों में है; तु० काप्र० ७.४६ : **मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यः**....)।

काव्य में दोषों के परिहार पर दण्डी ने विशेष बल दिया है। अपने ग्रन्थ की अवतरणिका (१.७) में ही वह कहता है : **तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन। स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥** दोषों के परिहार पर यह विशेष बल भामह (१.११), भोज (**सरस्व०** १.२), मम्मट (१.४) आदि में यथेष्ट रूप में प्राप्त होता है।

दण्डी से पूर्व भरत (१७.८७) में दस दोषों की चर्चा मिलती है, परंतु उनके नाम और रूप भिन्न हैं। भरत के दस दोष इस प्रकार हैं : **गूढार्थमर्थान्तर-मर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्। न्यायादपेतं विषमं विसंधि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः ॥** इनमें अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्याया-दपेत, विषम, विसंधि और शब्दच्युत दण्डी के क्रमशः व्यर्थ, ससंशय, एकार्थ, अपार्थ, न्यायविरोधी, भिन्नवृत्त, विसंधिक और शब्दहीन से अंशतः

तुलनीय हैं। व्यर्थ, अपक्रम और यतिभ्रष्ट दण्डी में नये दोष हैं। भामह (४.१-२) में दण्डी के दस दोष उसी रूप में हैं; दोनों के कारिकायुग्मक के छः चरण भी समान हैं। परंतु अपने युग्मक के अन्तिम दो चरणों में भामह ने ग्यारहवें दोष का कथन किया है : **प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते।** ये ग्यारह दोष परंपराप्राप्त प्रतीत होते हैं; इनमें से पहले दस दोषों को दण्डी ने स्वीकार किया एवं ग्यारहवें दोष का निराकरण किया (३.१२७), जब कि भामह ने सभी को स्वीकार किया। दण्डी के दोषविवेचन का प्रभाव वामन (२.१.१ से २.२.२४ तक), रुद्रट (अध्याय ६, ११) और विशेषतः भोज (सरस्व० १.३-५८) पर लक्षित होता है। भोज के अरीतिमान् अथवा गुणविपर्ययात्मक दोष (१.२८-४३) तो स्पष्टतः दण्डि-प्रेरित हैं।

प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ[1] ।
विचारः कर्कशप्राय[2]स्तेनालीढेन किं फलम् ॥१२७॥

परंपरीणेष्वेकादशसु दोषेषु दश स्वीकृत्यैकादशं निराकर्तुमाह—**प्रतिज्ञेति।** प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिः प्रतिज्ञाहानि-हेतुहानि-दृष्टान्तहानिरूपः परंपराप्राप्तः दोषः तत्त्वतः दोषः न वा इति असौ विचारः कर्कशप्रायः प्रायेण भूम्ना वा कठिनः नीरसः वर्तते। अतः काव्यदोषनिरूपणप्रसङ्गेऽत्र तेन विचारेण आलीढेन विवेचनद्वारा आस्वादितेन, तद्विचारचर्चयेत्यर्थः, किं फलं, न किमपीत्याशयः, अतश्च तच्चर्चात्र परिह्रियते।

प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त की हानि (=त्याग) रूप (ग्यारहवाँ) दोष वस्तुतः दोष है या नहीं—इसकी चर्चा नीरस (अतश्च व्यर्थ) है। इसलिए (शास्त्रार्थ द्वारा) इस चर्चा के आस्वादन का क्या लाभ है?

भामह ने पूरे एक, पञ्चम, परिच्छेद में इस दोष की व्याख्या की है। इस व्याख्या की अवतरणिका (५.२-३) में उसने दण्डी के उक्त कथन पर इन शब्दों में कटाक्ष किया है : **प्रायेण दुर्बोधतया शास्त्राद् बिभ्यत्यमेधसः। तदुपच्छन्दनायैष हेतुन्यायलवोच्चयः॥ स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते। प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्॥** उक्त त्रिविध हानि (=हीनत्व) में प्रथम दो को उसने इस प्रकार उदाहृत किया है : **प्रतिज्ञाहानि : यतिर्मम पिता बाल्यात्सूनुर्यस्याहमौरसः** (५.१४); **हेतुहानि : असौ शुक्लान्तनेत्रत्वाच्चकोर इति गृह्यताम्** (५.५४) (टि०—चकोर के नेत्रों का प्रान्तभाग शुक्ल नहीं होता)। दृष्टान्तहानि का उदाहरण न देकर उसने शुद्ध दृष्टान्त का निम्न उदाहरण

---

१. चेत्यसौ, वेत्ययम्। २. कर्कशः प्रायस्।

दिया है : भरतस्त्वं दिलीपस्त्वं त्वमेवैलः पुरूरवाः। त्वमेव वीर प्रद्युम्नस्त्वमेव नरवाहनः॥ (५.५६)। रत्नश्रीज्ञान ने दण्डी द्वारा इस दोष के अनुपादान का इन शब्दों में सबल समर्थन किया है : विचारोऽयं विगृह्य परीक्षाया इह कथंचित्प्रस्तुतत्वेऽपि मुख्यतस्तस्यास्तर्कशास्त्रगोचरत्वात्कर्कशप्रायः कर्कशभागोऽतिगम्भीरत्वादिहानधिकाराच्च। ... काव्यलक्षणे काव्यप्रतिनियता दोषा गुणाश्च विचार्यन्ते, न शास्त्रान्तरसाधारणा अपि, सर्वशास्त्रसमुच्चयप्रसङ्गात्।... यत्पुनः काव्यलक्षणस्यास्य प्रमाणलक्षणीकरणं, तदाहोपुरुषिकामात्रमिति सूक्तमिदं 'तेनालीढेन किं फल'मिति।

समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थमितीष्यते[1]।
तन्मत्तोन्मत्त[2]बालानामुक्ते[3]रन्यत्र दुष्यति॥१२८॥

पूर्वमुद्दिष्टेषु दोषेषु क्रमप्राप्तं प्रथममपार्थमाह—समुदायेति। समुदायस्य अभीष्टाभिधेयघटकपदसमूहस्य यः अर्थः समग्रवाक्यार्थबोधेनैकभावमापन्नः प्रतिपाद्यो विषयः तेन शून्यं यद् वाक्यं (वाक्यसमुच्चयो वा) तद् अपगतार्थत्वाद् अपार्थम् इति इष्यते। तच्च मत्तानां मदिरापानजनितमतिविकाराणाम्, उन्मत्तानाम् वायुक्षोभजनितोन्मादरोगाभिभूतानां, बालानाम् अप्रस्फुटितमतीनां शिशूनां च उक्तेः वचनाद् अन्यत्र काव्यविषये दुष्यति दोषवत्त्वम् आवहति, मत्तादीनामुक्तौ तु न तद् दुष्यतीत्यर्थः।

समूचे रूप में अभिप्रेत कथ्य के घटक पदसमूह की सार्थकता से रहित वाक्य (अथवा वाक्यसमूह) को अपार्थ कहते हैं। (मदिरा पान से) मत्त, उन्माद रोग से पीड़ित तथा (अबोध) बच्चों की उक्तियों को छोड़कर अन्यत्र (काव्यविषय में) यह दोष होता है।

द्र० भामह (४.८) : समुदायार्थशून्यं यत्तदपार्थकमिष्यते। दाडिमानि दशापूपाः षडित्यादि यथोदितम्॥; तु० सरस्व० १.४७, १३६; चम०, पृ० ५४-५।

समुद्रः पीयते देवै[4]रहमस्मि[5] जरातुरः।
अमी गर्जन्ति जीमूता हरेरैरावणः[6] प्रियः॥१२९॥

उक्तमपार्थमुदाहरति—समुद्र इति। देवैः सुरैः मेघैर्वा समुद्रः पीयते, अहं जरातुरः जराजीर्णगात्रः अस्मि, अमी जीमूताः मेघाः गर्जन्ति, ऐरावणः

---

१. इहे-, -र्थकमिष्यते। २. उन्मत्तमत्त-, प्रमत्तोन्मत्त-। ३. उक्तैर्। ४. मेघैर्, देवैः सोऽयम्। ५. अद्य। ६. ऐरावतः।

ऐरावतो नाम हस्ती हरेः इन्द्रस्य प्रियः अस्ति। अत्र चतुर्णामपि वाक्यानां पृथक् पृथक् सार्थकत्वेऽपि तेषां परस्परमाकाङ्क्षाविरहात् समग्रवाक्यार्थैकत्वाभावात्समुदायार्थशून्यत्वमित्यपार्थं नाम दोषः।

समुद्र देवों (अथवा मेघों) द्वारा पिया जा रहा है; मैं बूढ़ा हो गया हूँ; ये मेघ गरज रहे हैं; ऐरावण इन्द्र का प्रिय (हाथी) है।

यह अपार्थ वाक्यसमुच्चय का उदाहरण है। यहाँ चारों वाक्यों की पृथक्-पृथक् सार्थकता होने पर भी उनका परस्पर कोई संबन्ध न होने से समूचे रूप में वाक्यसमुच्चय का कोई अर्थ नहीं निकलता; अतः यहाँ अपार्थ नामक दोष है। वाक्यसमुच्चय की अर्थ की दृष्टि से 'एकवाक्यता' के संबन्ध में यह उक्ति द्रष्टव्य है : **स्वार्थबोधसमर्थानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया। वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते॥** (रङ्गाचार्यशास्त्री की प्रभा से उद्धृत)। वाक्यपदीय (२.७६) का यह कथन भी यहाँ उद्धरणीय है : **वाक्यानां समुदायश्च य एकार्थप्रसिद्धये। साकाङ्क्षावयवस्तत्र वाक्यार्थोऽपि न विद्यते॥**

इदमस्वस्थचित्तानामभिधानमनिन्दितम्।
इतरत्र कविः को वा प्रयुञ्जीतैवमादिकम्॥१३०॥

उक्तमुदाहरणं विशिनष्टि—**इदमिति**। अस्वस्थचित्तानां मदोन्मादादिग्रस्तानां विक्षिप्तचेतसाम् इदम् उक्तरूपम् अनिन्दितम् अदुष्टम् अभिधानं वचनं भवेत्। इतरत्र मदोन्मादादिराहित्ये को वा कविः एवमादिकं पूर्वोक्तसदृशं दोषोपेतं वचः प्रयुञ्जीत, न कोऽपि स्वस्थचित्तः कविरेवं रचयेदिति भावः।

(मद, उन्माद आदि के कारण) अस्वस्थ चित्त वाले मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त इस प्रकार का कथन दोषरहित है। अन्यथा (चित्त की विक्षिप्तता के अभाव में) कौन कवि ऐसा होगा जो इस प्रकार का प्रयोग करेगा?

काव्य में मत्त अथवा उन्मत्त व्यक्तियों अर्थात् पात्रों द्वारा यदि इस प्रकार का प्रयोग कराया जाए, तो वह दोष न होकर गुण होगा। इस प्रकार इस प्रयोग का दोषत्व नित्य न होकर स्थितिसापेक्ष है। दण्डी ने इसी प्रकार सभी दोषों का स्थितिविशेष में गुणत्व प्रतिपादित किया है। इसी से प्रेरित होकर भोज (सरस्व० १.८६-१५७) ने अपने 'दोष-गुणों' की प्रस्तुति की है। उसके अनुसार (१.८६), इनकी परिभाषा है : **पदाद्याश्रितदोषाणां ये चानुकरणादिषु। गुणत्वापत्तये नित्यं तेऽत्र दोषगुणाः स्मृताः॥** भामह (१.५४) का यह कथन भी यहाँ उल्लेखनीय है : **संनिवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते। नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव॥**

एकवाक्ये प्रबन्धे वा पूर्वापरपराहतम् ।
विरुद्धार्थतया व्यर्थमिति दोषेषु पठ्यते ॥१३१॥

द्वितीयं दोषं व्यर्थाख्यमाह—**एकवाक्य** इति । एकवाक्ये एकस्मिन् वाक्ये प्रबन्धे वाक्यसमुदायात्मके काव्ये ग्रन्थे वा यत् पूर्वापरपराहतं पूर्वोत्तरोक्तसंगतिरहितं स्यात् तद् विरुद्धार्थतया परस्परविरुद्धार्थकत्वाद् व्यर्थम् इति तन्नाम्ना दोषेषु पठ्यते गण्यते । अपार्थे वाक्यानामेकार्थसिद्ध्यभावः, अत्र तु तेषां परस्परसंगतिविरह इति द्वयोरनयोर्भेदः ।

एक वाक्य में अथवा (वाक्यसमूह रूप) प्रबन्ध में पहले और बाद में किए गए कथन में परस्पर संगति से रहित रचना, परस्परविरोधी होने से, व्यर्थ नामक दोष (से युक्त) मानी जाती है ।

भामह (४.६) के अनुसार इसका लक्षण है : **विरुद्धार्थं मतं व्यर्थं विरुद्धं तूपदिश्यते । पूर्वापरार्थव्याघाताद्विपर्ययकरं यथा ॥**; द्र० **सरस्व०** १.४७ भी । यह दोष उत्तरवर्ती आचार्यों के व्याहतत्व नामक अर्थदोष से तुलनीय है; द्र० **काप्र०** ७.५५ **वृत्ति**; हेमचन्द्र : **काअनु०**, पृ० २२१ । देशकालादिविरोध नामक वक्ष्यमाण दोष (३.१६२-७८) से यह पर्याप्त भिन्न है । दोनों का अन्तर बताते हुए रङ्गाचार्यशास्त्री लिखते हैं : **वाक्यप्रबन्धपर्यालोचनया विरोधप्रतिभानमस्य विषयः, प्रकरणादिपर्यालोचनया विरोधप्रतिभासस्तु वक्ष्यमाणदेशकालादिविरोधविषय इति विवेकः ।** दूसरी ओर, यह पूर्वोक्त अपार्थ से भी सर्वथा भिन्न है; जहाँ अपार्थ में वाक्यों की एकार्थसिद्धि के अभाव में वाक्यार्थबोध ही नहीं होता, वहाँ व्यर्थ में वाक्यार्थबोध के अनन्तर पूर्वापरपर्यालोचन से अर्थविरोध की प्रतीति होती है (तु० रङ्गाचार्यशास्त्री एवं नृसिंहदेवशास्त्री) ।

जहि शत्रुबलं[1] कृत्स्नं जय[2] विश्वंभरामिमाम्[3] ।
न हि[4] ते कोऽपि[5] विद्वेष्टा सर्वभूतानुकम्पिनः ॥१३२॥

उक्तं दोषमुदाहरति—**जहीति** । (हे राजन्,) त्वं कृत्स्नं सकलम् अपि शत्रुबलम् अरातिसैन्यं जहि विनाशय । इमां च विश्वंभरां पृथिवीं जय वशीकुरु । सर्वभूतानुकम्पिनः सर्वप्राणिषु दयावतः ते कोऽपि विद्वेष्टा शत्रुः न हि वर्तते । अत्र **शत्रुबलं जहीति** पूर्वोक्तं **न हि ते कोऽपि विद्वेष्टेति सर्वभूतानुकम्पिन** इति चोत्तरोक्तेनासंगतमिति व्यर्थं नाम दोषः । प्रबन्धगतमिदमुदाहरणं, तेन वाक्यगतं व्याख्यातम् ।

(हे राजन्,) तुम संपूर्ण शत्रुसेना का नाश करो और इस पृथ्वी को

---

१. -कुलं । २. भर । ३. अमूम् । ४ च । ५. तव नैकोऽपि ।

जीतो। सब प्राणियों पर दया करने वाले आपका कोई भी शत्रु नहीं है।

यहाँ 'शत्रु-सेना का नाश करो' इस पूर्वोक्त कथन का 'आपका कोई शत्रु नहीं' और 'आप सभी प्राणियों पर दया करने वाले हैं' इन उत्तरोक्त बातों से विरोध होने के कारण व्यर्थ नामक दोष है (हेमचन्द्र : काव्यानु०, पृ० २२१ में उद्धृत)। यह इस दोष का प्रबन्धगत अर्थात् वाक्यसमुदायगत उदाहरण है। रत्नश्रीज्ञान के अनुसार यह वाक्यगत उदाहरण है। सर्गबन्धादिरूप प्रबन्धकाव्य में लक्षित होने वाला पूर्वापरविरोध, उसके मत में, प्रबन्धगत व्यर्थ दोष का निदर्शन होगा।

अस्ति काचिदवस्था सा साभिषङ्गस्य[1] चेतसः।
यस्यां भवेदभिमता विरुद्धार्थापि भारती ॥१३३॥

उक्तस्य दोषस्यावस्थाविशेषे गुणत्वं प्रतिपादयति—**अस्तीति**। साभिषङ्गस्य वियोगदुर्घटनादिना दुःखातिशयाभिभूतस्य चेतसः सा काचिद् अनिर्वचनीयस्वरूपा अवस्था दशा अस्ति भवति, यस्यां विरुद्धार्था अपि भारती वाग् उक्तिः अभिमता अभीष्टा गुणत्वेनेष्टा भवेत्। दुःखातिशयाभिभवप्रसङ्गे विरुद्धार्थोक्तिरपि गुणाय कल्पेतेत्यर्थः।

(वियोग, दुर्घटना आदि के) दुःखातिरेक से अभिभूत चित्त की ऐसी भी अवर्णनीय अवस्था होती है जिसमें (वक्ता की) परस्परविरुद्ध अर्थ वाली उक्ति भी समादृत अथवा (गुण के रूप में) अभीष्ट हो जाती है।

परदाराभिलाषो मे कथमार्यस्य युज्यते।
पिबामि तरलं तस्याः कदा नु दशनच्छदम् ॥१३४॥

उक्तमुदाहरति—**परदारेति**। आर्यस्य अभिजनवतः मे मम परदाराभिलाषः परकीयायां स्त्रियां रतिः कथं युज्यते संगच्छते, न कथमपि। नाहं परस्त्रीमभिलाषुक इत्यर्थः। तस्याः (परकीयायाः) स्त्रियाः तरलं (व्रीडावशात् त्रासजनितसंभ्रमाद्वा) कम्पमानम् (उज्ज्वलं वा) दशनच्छदम् अधरं कदा नु पिबामि आस्वादये, तदधरपानोत्सुकोऽहमित्यर्थः। अत्र वियोगोत्कण्ठातिशयेनाभिभूतस्य पुरुषस्य पूर्वापरपराहतापीयमुक्तिरभिमतैव।

मुझ आर्य (सत्कुलोत्पन्न) पुरुष के लिए पराई स्त्री की अभिलाषा किस प्रकार उचित है? कब मैं उस (पराई) स्त्री के फड़कते होठों का पान करूंगा?

---

१. साभिलाषस्य।

यहाँ वियोग से अतिमात्र उत्कण्ठित कामाभिभूत पुरुष की परस्परविरोधी उक्ति (उसकी विशेष मनोदशा की सूचक होने से) गुणरूप ही है (तु० सरस्व० १, उदा० २०१)। इसमें पूर्वार्द्ध में शान्तरस के संचारी भाव मति तथा उत्तरार्ध में शृङ्गार के संचारी भाव औत्सुक्य का, जो परस्परविरोधी हैं, वर्णन है। यह उदाहरण **विक्रमोर्वशीय** के (मुद्रित संस्करणों में अप्राप्त) निम्नलिखित पद्य से तुलनीय है : **क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा, दोषाणां प्रशमाय नः श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्। किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा, चेतः स्वास्थ्यमुपेहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥** (तु० **काप्र०** ७.६३ वृत्ति; भोज, **सरस्व०** १.१३६, उदा० १७७, ने इस पद्य को अपार्थ के गुणत्व के उदाहरण के रूप मे उद्धृत किया है)।

अविशेषेण पूर्वोक्तं यदि भूयोऽपि कीर्त्यते।
अर्थतः शब्दतो वापि तदेकार्थं मतं यथा ॥१३५॥

तृतीयं दोषमेकार्थमाह—**अविशेषेणेति**। यदि पूर्वोक्तं किंचिद् वचः अर्थतः शब्दतः वापि अविशेषेण विशेषं विशेषविवक्षां वा विना, अभिन्नतया अनुकम्पाद्यतिशयरूपविशेषविवक्षाऽभावे वेत्यर्थः, भूयः अपि पुनरपि कीर्त्यते कथ्यते, तर्हि तद् एकार्थं तन्नामदोषान्वितं मतम्। यथेत्युदाहरणोपक्रमार्थम्। तदेवमिदम् अर्थपुनरुक्तिः शब्दपुनरुक्तिरिति द्विविधम्। शब्दपुनरुक्तिरत्रार्थपुनरुक्तिमपेक्ष्यैव प्रवर्तते, अन्यथा यमके शब्दपुनरुक्तिदोषप्रसङ्गः स्यात्।

यदि पूर्वकथित उक्ति का, अर्थ द्वारा अथवा शब्द द्वारा, पुनः कथन किया जाए और वहाँ कोई भिन्नता (अथवा अनुकम्पा आदि के अतिरेकवर्णन के रूप में विशेष की विवक्षा) न हो, तो एकार्थ नामक दोष होता है।

यहाँ एकार्थ के दो रूप प्रस्तुत किए गए हैं : अर्थ मात्र की पुनरुक्ति और शब्द की पुनरुक्ति। शब्दपुनरुक्ति अर्थपुनरुक्तिसापेक्ष ही है। अर्थपुनरुक्ति के अभाव में शब्दपुनरुक्ति यमक नामक अलंकार है (तु० रत्नश्रीज्ञान)। भामह (४.१२) ने इस दोष को इस प्रकार लक्षित किया है : **यदभिन्नार्थमन्योन्यं तदेकार्थं प्रचक्षते। पुनरुक्तमिदं प्राहुरन्ये शब्दार्थभेदतः ॥** उत्तरवर्ती आचार्यों में यह पुनरुक्त नामक अर्थदोष (**साद०** ७.१२ पू०) एवं कथितपदता नामक वाक्यदोष (**साद०** ७.५) के रूप में आया है (तु० **काप्र०** ७.५५ भी)।

उत्कामुन्मनयन्त्येते बालां तदलकत्विषः।
अम्भोधरास्तडित्वन्तो गम्भीराः स्तनयित्नवः ॥१३६॥

उक्तमुदाहरति—उत्कामिति। एते तदलकत्विषः तस्याः बालायाः अल-

कानां केशानाम् इव त्विट् कान्तिः येषां तादृशाः, घनश्यामलाः, तडित्वन्तः विद्युदुपेताः गम्भीराः मन्द्रध्वनयः स्तनयित्नवः गर्जनशीलाः अम्भोधराः जलधराः मेघाः उत्कां विरहेण सोत्कण्ठां बालाम् उन्मनयन्ति उत्कण्ठयन्ति। अत्रोत्कां गम्भीराः इति च पूर्वोक्तौ शब्दौ **उन्मनयन्ति स्तनयित्नवः** इत्येताभ्यां पुनरप्यर्थतोऽविशेषेणोच्येते इत्येकार्थं नामात्र दोषः।

उस (बाला) की अलकों के समान (श्यामल) कान्ति वाले, बिजलियों से युक्त, मन्द्र ध्वनि करने वाले ये गर्जनशील मेघ (विरह की) उत्कण्ठा से युक्त उस बाला को उत्कंठित बना रहे हैं।

यहाँ **उत्काम्** और **उन्मनयन्ति** तथा **गम्भीराः** और **स्तनयित्नवः** में अर्थतः पुनरुक्ति होने से एकार्थ दोष है। रत्नश्रीज्ञान ने **अम्भोधराः** और **तडित्वन्तः** में भी पुनरुक्ति मानी है, क्योंकि उसके अनुसार ये दोनों मेघवाची संज्ञाशब्द हैं (मेघ के अर्थ में **तडित्वत्** के प्रयोग के लिए, द्र० शिशु० १.१२)। भारवि (किराता० ३.१) के निम्नलिखित पद्य में उसके अनुसार मेघ के रूपविशेष की विवक्षा में पुनरुक्ति नहीं है : **बिभ्राणमानीलरुचं पिशङ्गीर्जटास्तडित्वन्तमिवाम्बुवाहम्।** भामह (४.१६) का निम्नलिखित उदाहरण दण्डि-प्रदत्त उदाहरण से तुलनीय है : **तामुत्कमनसं नूनं करोति ध्वनिरम्भसाम्। सौधेषु घनमुक्तानां प्रणालीमुखपातिनाम्॥** भोज (सरस्व० १.२२, उदा० २८) ने दण्डी के उदाहरण को ही, अपेक्षित परिवर्तन के साथ, अर्थ और शब्द दोनों की पुनरुक्ति के निदर्शन के रूप में प्रस्तुत किया है : **उत्कामुन्मनयन्त्येते गम्भीराः स्तनयित्नवः। अम्भोधरास्तडित्वन्तो गम्भीराः स्तनयित्नवः॥**

अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद् विवक्ष्यते।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलंक्रिया[1] ॥१३७॥

उक्तदोषस्य गुणभावमाह—अनुकम्पेति। यदि कश्चिद् अनुकम्पादीनां करुणाविस्मयहर्षादीनाम् अतिशयः विशेषः विवक्ष्यते वक्तुमिष्यते, तर्हि पुनरुक्तः अपि स एकोऽर्थः न दोषः प्रत्युत इयम् अलंक्रिया अलंकाररूपः स पुनरुक्तोऽर्थः, अतश्च ग्राह्य एवेत्यर्थः।

यदि करुणा, (विस्मय, हर्ष) आदि के अतिरेक का वर्णन करना अभीष्ट हो, तो पुनरुक्त अर्थ भी दोष नहीं होता, अपितु वह अलंकाररूप (=गुणरूप) ही होता है।

द्र० भामह (४.१४) : **भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि। यथाह**

---

१. -कृतिः।

गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः ॥ भोज (सरस्व० १.११५, उदा० १५६) ने दण्डी की उक्त कारिका को, उसके उदाहरण सहित, उद्धृत किया है। विश्वनाथ (७. १८-२०) ने उन स्थितियों का जिनमें पुनरुक्ति दोष न होकर गुण हो जाती है इस प्रकार वर्णन किया है : **कथितं च पदं पुनः ॥ विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि । दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने ॥ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे ।**

दण्डी ने अपनी कारिका में दोष के प्रतिपक्ष के रूप में गुण का उल्लेख न करके **अलंक्रिया** का उल्लेख किया है, जो उसकी दृष्टि में गुण और अलंकार के कुछ सीमा तक परस्पर-अभिन्न होने का सूचक है (तु० २.३ भी)।

हन्यते सा वरारोहा स्मरेणाकाण्डवैरिणा ।
हन्यते चारुसर्वाङ्गी हन्यते मञ्जुभाषिणी ॥१३८॥

एकार्थस्य गुणभावमुदाहरति—**हन्यत** इति। सा वरारोहा रुचिरजघना काचित् प्रेयसी अकाण्डवैरिणा अकारणशत्रुणा स्मरेण कामदेवेन हन्यते भृशं पीड्यते, सा चारुसर्वाङ्गी अनवद्यसर्वावयवा हन्यते, सा मञ्जुभाषिणी मधुरालापा हन्यते। अत्र हन्यते इति त्रिरुक्तेन पदेन प्रस्तुतां नायिकां प्रति वक्तुरनुकम्पातिशयो व्यज्यत इति नात्र दोषः प्रत्युतालंक्रियैव।

वह सुन्दरी निष्कारण शत्रु कामदेव द्वारा अत्यन्त व्यथित की जा रही है, वह सर्वाङ्गसुन्दरी (उसके द्वारा) अत्यन्त व्यथित की जा रही है, वह मधुरभाषिणी अत्यन्त व्यथित की जा रही है !

यहाँ **हन्यते** की पुनरुक्ति प्रस्तुत नायिका के प्रति वक्ता के अत्यधिक अनुकम्पाभाव को व्यक्त करने के लिए है; अतः यह यहाँ दोष न होकर गुण अथवा अलंकरण ही है। भोज (सरस्व० ५, उदा० ४५७) ने इस उदाहरण पर विस्तृत टिप्पणी देते हुए कहा है : **हन्यते इत्यमङ्गलार्थं, वरारोहेत्यश्लीलार्थं, हन्यते हन्यत इति पुनरुक्तं, चारुसर्वाङ्गीत्युक्त्वा वरारोहेति व्यर्थं, त एते सजातीयाश्चत्वारोऽपि दोषगुणाः संकीर्यमाणाः कस्यचिद् उन्मत्तभाषिणोऽनुकम्पाद्यतिशयविवक्षायामभ्यनुज्ञायन्ते। यदाह—अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद् विवक्ष्यते। न दोषः पुनरुक्तादौ प्रत्युतेयमलंक्रिया ॥** (तु० १. ११५, उदा० १५६ भी)।

निर्णयार्थं प्रयुक्तानि संशयं जनयन्ति चेत्[1] ।
वचांसि दोष एवासौ ससंशय इति स्मृतः ॥१३९॥

---

१. यत् ।

चतुर्थं दोषं ससंशयमाह—**निर्णयार्थमिति**। निर्णयार्थम् इष्टार्थनिश्चयार्थं प्रयुक्तानि वचांसि पदानि वाक्यानि वा संशयम् अनिश्चयात्मकं ज्ञानं चेद् जनयन्ति उत्पादयन्ति, तर्हि असौ दोष एव, स च ससंशय इति तन्नाम्ना स्मृतः। यत्र तु संशयायैव वचः प्रयुज्यते, तत्र प्रहेलिकादावन्यत्र वा नायं दोषः।

(इष्ट अर्थ के) निश्चित ज्ञान के लिए प्रयुक्त वचन यदि संशय (=अनिश्चयात्मक ज्ञान) उत्पन्न करे, तो वह दोष ही होता है, और उसे ससंशय (दोष) कहते हैं।

भामह (४.१८) ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया है : **ससंशयमिति प्राहुस्ततस्तज्जननं वचः। इष्टं निश्चितये वाक्यं न दोलायेत तद्यथा॥** उत्तरवर्ती आचार्यों में यह संदिग्ध नाम से पददोष और अर्थदोष दोनों रूपों में आया है (**तु० साद० ७.२, १०**)। दण्डी का वक्ष्यमाण उदाहरण, एतदनुसार, पददोष को निदर्शित करता है। अर्थदोष का उदाहरण इस प्रकार है : **अचला अबला वा स्युः सेव्या ब्रूत मनीषिणः (साद० ७.१० वृत्ति)**। यहाँ अर्थबोध हो जाने पर भी प्रकरणज्ञान के अभाव में इसका वक्ता शान्तमना मुनि है अथवा कोई रसिया—इस बात का निश्चय न होने से अर्थसंदेह है।

मनोरथप्रियालोकरसलोलेक्षणे[1] सखि।
आराद्वृत्तिरसौ माता न क्षमा द्रष्टुमीदृशम्॥१४०॥

उक्तदोषमुदाहरति—**मनोरथेति**। मनोरथस्य हृदयाभिलाषस्य प्रियः वल्लभः तस्य आलोके आलोकने यः रसः प्रीत्यतिशयः तेन लोले चञ्चले ईक्षणे नयने यस्याः सा तादृशी तत्संबुद्धौ हे प्रियदर्शनरसाहृतनयने सखि, असौ आराद्वृत्तिः समीपवर्तिनी ते माता ईदृशं तव प्रणयव्यापारम् ईक्षितुं द्रष्टुं, दृष्ट्वा सोढुमित्यर्थः, न क्षमा समर्था, न सा तवेदृशं चेष्टितं सोढुं शक्ष्यतीति विरमास्माद् व्यापाराद्—इत्येकोऽर्थः। असौ ते माता आराद्वृत्तिः दूरवर्तिनी अस्तीति ईदृशं ते प्रणयचेष्टितं न सा द्रष्टुं दृष्टिगोचरीकर्तुमपि क्षमा स्यादतश्च स्वैरं प्रियेण विहर—इत्यपरोऽर्थः। अत्र अर्थतत्त्वनिश्चयाय प्रयुक्तमपि सखीवचो नायिकाहृदये संशयमेव जनयेदिति ससंशयं नाम दोषः।

अपने अभीष्ट प्रिय के दर्शन से उत्पन्न आनन्द से चञ्चल नेत्रों वाली हे सखी, तुम्हारी माँ पास ही स्थित है और वह तुम्हारे इस (प्रणयव्यापार) को न देख सकेगी (=देखकर सहन न कर सकेगी)। [पद्य के उत्तर भाग का यह अर्थ भी संभव है : **वह तुम्हारी माँ दूर स्थित है, अतः वह तुम्हारे इस (व्यापार) को न देख पाएगी।**]

---

१. -क्षणं।

यहाँ सखी का वचन, जिसका उद्देश्य वस्तुतः नायिका को सही, और निश्चित अर्थों में, सूचना देना है, नायिका के हृदय में संशय ही पैदा करता है। यह संशय **आरात्** शब्द के कारण है जिसका अर्थ समीप भी है और दूर भी (तु० **अमरकोश : आराद् दूरसमीपयोः**)। इस प्रकार यह शब्दगत ससंशय का उदाहरण है। भोज (सरस्व० १, उदा० ५४) में यह इसी संदर्भ में उद्धृत है।

ईदृशं संशयायैव[1] यदि जातु[2] प्रयुज्यते ।
स्यादलंकार एवासौ न दोषस्तत्र तद्यथा ॥१४१॥

उक्तदोषस्य गुणभावमाह—ईदृशमिति। यदि जातु कदाचित् प्रहेलिकादावन्यत्र वा ईदृशं संदिग्धार्थं वचः संशयाय एव प्रयुज्यते, तर्हि असौ दोषः अलंकारः गुणरूपः एव स्याद्, न तु तत्र स दोषः। तद्यथेत्युदाहरणोपक्रमार्थम्।

यदि इस प्रकार का (संदिग्ध अर्थ वाला) वचन कभी (प्रहेलिका आदि में अथवा अन्यत्र) संशय उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही प्रयुक्त किया जाता है, तो वहाँ यह अलंकार (=गुण) ही होगा, दोष नहीं।

दोष के प्रतिपक्ष के रूप में **अलंकार** शब्द के प्रयोग के लिए, तु० ३.१३७ पर टि०। भोज (सरस्व० १.१३६) ने इस कारिका को कुछ परिवर्तन (**संशयायैव संदिग्धं**) के साथ उद्धृत करके इसका यह उदाहरण दिया है : **कुतो लब्भइ पन्थिअ सत्थरअं एत्थ गामणिघरम्मि। उण्णअपओहरे पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु॥ [कुतो लभ्यते पथिक स्रस्तरकमत्र ग्रामणीगृहे। उन्नतपयोधरान् प्रेक्ष्य यदि वससि तदा वस॥]** (काप्र० ४.३६ वृत्ति में वस्तुध्वनि के उदाहरण के रूप में उद्धृत)। अन्यत्र (१.१०१) उसने प्रकरण आदि से संदेह-निवृत्ति होने पर संदिग्ध दोष का गुणभाव स्वीकार किया है, और इसके उदाहरण के रूप में **कुमारसंभव** १.२७ (**महीभृतः पुत्रवतोऽपि** इत्यादि) को उद्धृत किया है।

पश्याम्यनङ्गजातङ्कलङ्घितां तामनिन्दिताम् ।
कालेनैव कठोरेण ग्रस्तां किं नस्त्वदाशया[3] ॥१४२॥

ससंशयस्य गुणभावमुदाहरति—**पश्यामीति**। प्रोषितं नायकं प्रति नायिकादूत्या उक्तिरियम्। अहं ताम् अनिन्दिताम् अनवद्यलावण्यां तव कान्ताम् अनङ्गः कामदेवः तस्माद् जातेन आतङ्केन व्याधिना, त्वद्गतकामजनितपीडये-

---

१. -यादेव। २. वा तु। ३. तदाशया, नु तदाशया।

त्यर्थः, लङ्घिताम् आक्रान्तां, त्वद्विरहव्यथाकुलां, कठोरेण निष्ठुरेण कालेन मृत्युना ग्रस्तां कवलीकृताम् एव पश्यामि संभावयामि । अतः त्वदाशया तव तत्संबन्धिजीवनाशया अथवा 'अहं तया संगमिष्ये' इति तव प्रत्याशया नः अस्माकं किम् ? न किमपि त्वदाशया नः प्रयोजनमित्यर्थः । अत्र द्वितीयोऽप्यर्थः संभवति, स चैवंरूपः —अहम् अनिन्द्यचारित्रां ताम् अङ्गजः कामदेवः तस्य तत्संबन्धी वा आतङ्कः अङ्गजातङ्कः तेन न लङ्घितामिति अनङ्गजातङ्कलङ्घितां कामपीडया अनभिभूतां, कठोरेण उग्रेण कालेन समयेन, ग्रीष्मेणेत्यर्थः, एव ग्रस्तां पीडितां पश्यामि अवैमि । त्वदाशया त्वद्विषयेण अभिलाषेण नः किम् ? नास्माकं सखी त्वयि साभिलाषेत्यर्थः ।

मैं तो (तुम्हारी प्रिया) उस अनिन्द्यसुन्दरी को, जो (तुम्हारे विरह में) कामजनित पीडा से आक्रान्त है, क्रूर काल अर्थात् यम द्वारा कवलित हो गई-सी ही समझती हूँ । हमें तुम्हारे हृदय में (उसके जीवित रहने की अथवा उससे मिलने की) आशा होने से क्या लेना है ? [दूसरा अर्थ : वह अनिन्द्य चरित्र वाली बाला कामपीडा से आक्रान्त नहीं; वह तो उग्र (ग्रीष्म) काल से मुरझा गई है। आख़िर, हमें (=हमारी सखी को) तुम्हारे प्रति प्रणयाभिलाषा से क्या प्रयोजन है ?]

हेमचन्द्र (**काअनु०**, पृ० १६६) ने इसे इसी संदर्भ में उद्धृत किया है। 'काम' अर्थ में **अङ्गज** शब्द के प्रयोग के लिए, द्र० **काव्यादर्श** २.२५६, २६२, ३१८; **दशकुमारचरित**, पृ० १६७; तु० हेमचन्द्र (**अभिधानचिन्तामणि**) : **कमनः कलाकेलिरनन्यजोऽङ्गजः ।**

कामार्ता घर्मतप्ता वेत्यनिश्चयकरं वचः ।
युवानमाकुलीकर्तुमिति दूत्याह नर्मणा ॥१४३॥

उक्तमुदाहरणं विशदयति—**कामार्ते**ति । युवानं तरुणं नायकम् आकुलीकर्तुं व्यामोहयितुं संशयोत्पादनद्वारा नायिकासमीपोपसर्पणाय वा तम् उत्कण्ठयितुं तस्याः दूती नर्मणा परिहासेन भङ्गिविशेषेण वा सा तदीया सखी कामार्ता कामपीडिता वा घर्मतप्ता ग्रीष्मजनिततापपीडिता वा वर्तते इति अनिश्चयकरं संशयजनकं वचः आह । एवं संशयोत्पादनस्याभीष्टत्वादत्रेदृशः प्रयोगो गुण एव, न तु दोषः ।

(किसी नायिका की) दूती ने युवक नायक को व्यामोहित (अथवा नायिकामिलन के लिए उत्कण्ठित) करने के उद्देश्य से विनोद में (अथवा विशेष भावभङ्गिमा के साथ) वह नायिका वस्तुतः कामपीडित है अथवा ग्रीष्मसंतप्त है—इसका अनिश्चय अर्थात् संशय उत्पन्न करने वाले उक्त वचनों का प्रयोग

किया है]।

यहाँ इस प्रकार संशय पैदा करना अभीष्ट है; अतः ऐसा संदिग्ध प्रयोग गुण है, दोष नहीं।

उद्देशानुगुणोऽर्थानामनूद्देशो[1] न चेत्कृतः ।
अपक्रमाभिधानं तं[2] दोषमाचक्षते बुधाः[3] ॥१४४॥

पञ्चमं दोषमपक्रममाह—उद्देशेति । अर्थानां पदार्थानाम् उद्देशानुगुणः प्रथमसमुद्देशानुसारी अनूद्देशः अनुकथनं सत्यां तदपेक्षायां पश्चाद् उपन्यासः न चेत् कृतः, तर्हि तम् एतादृशं दोषं बुधाः आचार्याः अपक्रमाभिधानं क्रमलङ्घनात्तदाख्यम् आचक्षते आहुः । पदार्थानां येन क्रमेण पूर्वमुपन्यासस्तेनैव क्रमेण यदि तदनु स न स्यात्तदापक्रमो नाम दोषो भवेद् इत्यर्थः ।

पदार्थों का जिस क्रम से पहले उल्लेख किया गया है उसी क्रम से यदि उनका पुनः उल्लेख (उल्लेख के अपेक्षित होने पर) न किया जाए अर्थात् उनका भिन्न क्रम से उल्लेख किया जाए, तो वहाँ आचार्य अपक्रम नामक दोष मानते हैं।

यह यथासंख्य अथवा क्रम नामक अलंकार (२.२७३) का प्रतिपक्षी है। भामह (४.२०) और वामन (२.२.२२) में यह इसी रूप में संकल्पित है। उत्तरवर्ती दुष्क्रम नामक अर्थदोष (साद० ७.६) और अक्रम नामक वाक्यदोष (वही ७.७) की संकल्पना का आधार इससे पर्याप्त भिन्न है। भोज (सरस्व० १.२१) का क्रमभ्रष्ट और हेमचन्द्र (काअनु०, पृ० २२३) का अक्रमत्व इससे अवश्य तुलनीय हैं।

स्थितिनिर्माणसंहारहेतवो जगताममी[4] ।
शम्भुनारायणाम्भोजयोनयः पालयन्तु वः ॥१४५॥

अपक्रमं निदर्शयति—स्थितीति । अमी जगतां स्थितिः प्रबन्धानुवृत्तिः पालनं, निर्माणं सृष्टिः, संहारः विनाशः इत्येतेषां हेतवः कारणभूताः शम्भुः रुद्रः, नारायणः विष्णुः, अम्भोजयोनिः ब्रह्मा च वः युष्मान् पालयन्तु पान्तु । अत्र स्थितिनिर्माणसंहारक्रमेणैव तत्कारणभूतानां विष्णुब्रह्मरुद्राणामुद्देशोऽपेक्षित आसीत्, स च क्रमोऽत्र भग्न इत्यपक्रमो नाम दोषः ।

संसार की स्थिति अर्थात् पालन, निर्माण और संहार के कारणभूत ये शिव, विष्णु और ब्रह्मा तुम सबकी रक्षा करें।

---

१. मनुदेशो। २. तद्। ३. यथा। ४. अजाः, -तां मताः।

यहाँ स्थिति, निर्माण और संहार के क्रम से ही इनके कारणभूत विष्णु, ब्रह्मा और शिव का उल्लेख अपेक्षित था। इस क्रम का भङ्ग होने से यहाँ **अपक्रम** नामक दोष है। वस्तुतः यहाँ मूलपाठ भी दोषपूर्ण प्रतीत होता है; प्रथम चरण **स्थितिनिर्माणसंहार–** (जो स्वयं अपक्रम युक्त है) के स्थान पर **निर्माण-स्थितिसंहार–** होना चाहिए था। भामह (४.२१) का उदाहरण यहाँ अधिक उपयुक्त है : **विदधानौ किरीटेन्दू श्यामाभ्रहिमसच्छवी। रथाङ्गशूले बिभ्राणौ पातां वः शम्भुशार्ङ्गिणौ ॥**

यत्नः[1] संबन्धविज्ञानहेतुः[2] कोऽपि कृतो यदि।
क्रमलङ्घनमप्याहुः सूरयो नैव दूषणम्[3] ॥१४६॥

अपक्रमस्य क्वचित्स्थितिविशेषेऽदोषत्वमाह—**यत्न** इति। यदि संबन्धविज्ञानहेतुकः संबन्धविज्ञानम् अन्वयविशेषबोधः तद् हेतुर्यस्य तादृशः कोऽपि यत्नः कृतः स्यात्तदर्थं च क्रमभङ्गोऽपेक्षितः स्यात्तर्हि सूरयः विद्वांसः क्रमलङ्घनं क्रमभङ्गम् अपि दूषणं दोषं नैव आहुः। यदि क्रमभङ्गोऽन्वयविशेषबोधाय भवेत्तर्ह्ययं न दोषः स्यादित्यर्थः।

यदि (वाक्य में) अन्वयविशेष का बोध कराने के लिए कोई यत्न किया गया हो (और तदर्थ क्रमभङ्ग अपेक्षित हो), तो विद्वान् आचार्य वहाँ क्रम के उल्लङ्घन को भी दोष नहीं मानते।

सरस्व० (१.११२) में यह कारिका इसके वक्ष्यमाण उदाहरण सहित उद्धृत है।

बन्धुत्यागस्तनुत्यागो देशत्याग इति त्रिषु।
आद्यन्तावायतक्लेशौ मध्यमः क्षणिकज्वरः ॥१४७॥

उक्तमुदाहरणेन दर्शयति—**बन्धुत्याग** इति। बन्धुत्यागः स्वजनपरित्यागः, तनुत्यागः मरणं, देशत्यागः स्वदेशत्यागः च इति त्रिषु आद्यन्तौ बन्धुत्यागदेशत्यागौ आयतक्लेशौ चिरकालिकदुःखप्रदौ भवतः, मध्यमः तनुत्यागः तु क्षणिकज्वरः अचिरस्थायिदुःखहेतुः भवति। अत्र तनुत्यागापेक्षया स्वजनत्यागस्वदेशत्यागयोरायतक्लेशत्वरूपं संबन्धविशेषं बोधयितुं यत्नः कृतस्तदर्थं च क्रमं विलङ्घ्यान्तिमस्य पूर्वग्रहणं विहितमित्यस्यादोषत्वम्।

बन्धुत्याग, शरीरत्याग (=मरण) और देशत्याग—इन तीनों में प्रथम और अन्तिम दीर्घकाल तक दुःख देने वाले होते हैं और मध्यम, अर्थात् मरण,

---

१. यत्न। २. –निर्ज्ञान–, विज्ञाने, –हेतुकोऽपि। ३. आहुर्न दोषं सूरयो यथा, आहुरदोषं।

क्षणिक दुःख का ही कारण बनता है ।

यहाँ अन्वयविशेष (=प्रथम और अन्तिम के चिरदुःखप्रदत्व रूप संबन्ध-विशेष) का बोध कराने के उद्देश्य से क्रम का भङ्ग किया गया है अर्थात् अन्तिम का मध्यमापेक्षया पूर्वग्रहण किया गया है । अतः यह दोष नहीं है ।

शब्दहीनमनालक्ष्यलक्ष्यलक्षणपद्धतिः ।
पदप्रयोगोऽशिष्टेष्टः[1] शिष्टेष्टस्तु[2] न दुष्यति ।।१४८।।

षष्ठं दोषं शब्दहीनमाह—शब्देति । अनालक्ष्या अदृश्या लक्ष्यस्य प्रयोगस्य, लक्षणस्य शास्त्रस्य, शब्दशास्त्रस्य व्याकरणस्येत्यर्थः, च पद्धतिः मार्गः नियमो वा यत्र तादृशः, अथ च (शास्त्रसंमतत्वे सत्यपि) अशिष्टेष्टः शिष्टैः अनभीष्टः अनादृतः पदप्रयोगः शब्दव्यवहारः शब्दहीनं तदाख्यदोषदुष्टः भवति । शिष्टेष्टः शिष्टजनसंमतः तु पदप्रयोगः (अनुशासनविरुद्धोऽपि) न दुष्यति दोषत्वमावहति । तेन मुख्यतः शिष्टानभिमतत्वं हि शब्दहीनं नाम दोष इति फलितम् ।

लक्ष्य (=प्रयोग, उदाहरण) और लक्षण (=शास्त्र, शब्दशास्त्र, व्याकरण) का क्रम अथवा नियम जहाँ न दीख पड़े, ऐसा, शिष्टजन द्वारा अनभिमत, शब्दप्रयोग शब्दहीन नामक दोष है । जो शब्दप्रयोग शिष्टजनसंमत हो वह दोषपूर्ण नहीं होता ।

लक्ष्य और लक्षण के क्रम का पालन होने पर भी यदि कोई शब्द-प्रयोग शिष्टों द्वारा अभिमत नहीं, तो वह भी दोष के रूप में ही अभीष्ट है । दूसरी ओर, इसका पालन न होने पर भी यदि कोई शब्दप्रयोग शिष्टसंमत है तो वहाँ दोष नहीं होगा । वाणी के 'शिष्टेष्टत्व' के प्रति दण्डी का विशेष आग्रह १.३ में भी स्पष्ट है, यद्यपि वह ऐसी—शिष्टेष्ट—भाषा से भिन्न—अशिष्टेष्ट—भाषा को भी साथ लेकर चलता है । आचार्य की शिष्ट-संबन्धी संकल्पना महाभाष्य (६.३.१०६) पर आधारित प्रतीत होती है, जिसके अनुसार शास्त्रज्ञ वैयाकरण शिष्टजन हैं । भामह (४.२२) का दृष्टिकोण शब्दहीन दोष के संबन्ध में अपेक्षाकृत अधिक कठोर है : **सूत्रकृत्पदकारेष्टप्रयोगाद् योऽन्यथा भवेत् । तमाप्तश्रावकासिद्धेः शब्दहीनं विदुर्यथा ।।** उत्तरवर्ती आचार्यों में यह दोष अप्रयुक्तत्व एवं च्युतसंस्कारता दोष के रूप में आया है; तु० **काप्र०** ७. ५०; **साद०** ७.२, ४ ।

---

१. –प्रयोगः शि– (?) । २. –ष्टं हि ।

अवते भवते बाहुर्महीमर्णवशक्वरीम् ।
महाराजन्न जिज्ञासा[1] नास्तीत्यासां गिरां रसः ।।१४९।।

शब्दहीनमुदाहरति—**अवत** इति । हे महाराजन्, भवते भवतः बाहुः भुजः अर्णवशक्वरीं समुद्रमेखलां महीं पृथिवीम् अवते रक्षति, अत्र विषये न मम जिज्ञासा संशयाभावाद् ज्ञातुमिच्छा वर्तते, नात्र संशय इत्यर्थः । इति आसाम् एवंप्रकाराणां शिष्टानभिमतानां गिरां वाचां रसः माधुर्याद्यनुगुणः आस्वादः नास्ति । अत्र **अवते** इत्यात्मनेपदं, **भवते** इत्यत्र षष्ठीस्थाने चतुर्थी, **अर्णवशक्वरीम्** इत्यत्र बहुव्रीहौ समासान्तस्य कपोऽभावः, **महाराजन्** इत्यत्र च समासान्तस्य टचोऽभाव इति शिष्टानिष्टत्वादत्र शब्दहीनं नाम दोषः ।

हे महाराज, आपकी भुजा उस पृथ्वी की रक्षा करती है जिसकी मेखला समुद्र है (अर्थात् जो समुद्र तक फैली है); इनमें कोई जिज्ञासा अथवा संदेह नहीं है । इस प्रकार की (शिष्टों द्वारा अननुमोदित) वाणी में रस नहीं होता ।

यहाँ **अवते** में (परस्मैपद के स्थान पर) आत्मनेपद का एवं **भवत्** से (संबन्धविवक्षा में षष्ठी के स्थान पर) चतुर्थी का प्रयोग हुआ है । इसी प्रकार यहाँ **अर्णवशक्वरीम्** (बहुव्रीहि) में समासान्त **कप्** (तु० : **नद्यृतश्च**, पा० ५.४. १५३) का अभाव एवं **महाराजन्** में समासान्त **टच्** (तु० : **राजाहःसखिभ्यष्टच्**, पा० ५.४. ९१) का अभाव है । इस प्रकार ये प्रयोग शिष्टेष्ट अथवा शिष्टसंमत नही हैं । अतः यहाँ **शब्दहीन** नामक दोष है । यहाँ उक्त अशिष्ट प्रयोगों के स्थान पर क्रमशः ये प्रयोग होने चाहिएं : **अवति, भवतः, अर्णवशक्वरीकाम्** और **महाराज** । 'संदेह' के भाव को व्यक्त करने के लिए **जिज्ञासा** का प्रयोग भी यहाँ अनभिनन्दनीय है ।

दक्षिणाद्रेरुपसरन् मारुतश्चूतपादपान् ।
कुरुते ललिताधूतप्रवालाङ्कुरशोभिनः ।।१५०।।

शब्दहीनत्वेऽपि क्वचिन्न सौभाग्यविरह इत्याह—**दक्षिणाद्रेरि**ति । दक्षिणाद्रेः दक्षिणपर्वताद् मलयनाम्नः (नः) उपसरन् (अस्माकं) समीपमागच्छन् मारुतः पवनः चूतपादपान् आम्रवृक्षान् ललिताधूतप्रवालाङ्कुरशोभिनः (ललितं सलीलम् आधूताः कम्पिताः ये प्रवालाङ्कुराः नवपल्लवोद्गमाः तैः शोभन्ते इति तादृशान्) सलीलान्दोलितपल्लवोद्गमशोभिनः कुरुते करोति । अत्र दक्षिणाद्रेरित्यपादानापेक्षयाऽपोपसृष्टस्य सृधातोः प्रयोगः, उपोपसृष्टसृधातव-

---

१. -न्नजिज्ञासा ।

पेक्षया वा तदभीष्टकर्मग्रहणं, दक्षिणाद्रेर्वा व्याप्यकर्मत्वेनोपादानमभिमतमासीत् । तथाप्यत्र नात्यन्तं सौभाग्यविरह इति रसावहैवेयमुक्तिः ।

दक्षिण के (मलय) पर्वत से (हमारी ओर) आती हुई यह वायु आम्र-वृक्षों को, उनकी नई कोंपलों को मन्द-मन्द झुलाती हुई, शोभायुक्त बनाती है ।

यहाँ अपादान-युक्त **दक्षिणाद्रि** के साथ **अपसरन्** का प्रयोग, अथवा **उपसरन्** के साथ अभीष्ट कर्म (जैसे—नः, अस्मान्) का ग्रहण, या **दक्षिणाद्रि** का ही व्याप्य कर्म के रूप में ग्रहण अभीष्ट था; तदनुसार, **दक्षिणाद्रेरपसरन्, दक्षिणाद्रेर्नः उपसरन्** अथवा **दक्षिणाद्रिमुपसरन्** ऐसा प्रयोग अपेक्षित था। तथापि यहाँ यथाविहित प्रयोग से काव्यसौष्ठव में सर्वथा हानि न होने से उक्त प्रयोग स्वीकार्य है ।

इत्यादि शास्त्रमाहात्म्य[1]दर्शनालसचेतसाम् ।
अपभाषणवद् भाति न च[2] सौभाग्यमुज्झति ।।१५१।।

उक्तमुदाहरणं विशिनष्टि—**इत्यादीति** । इत्यादि पूर्वोक्तं तत्सदृशं वा वाक्यं शास्त्रमाहात्म्यस्य शब्दशास्त्रगौरवस्य दर्शने यथायथमभ्यासे अलसम् अनभियुक्तं मन्दाभियोगं वा चेतो येषां तादृशानाम् अपभाषणवद् अपशब्दवद् भाति प्रतीयते, न च सौभाग्यं सौष्ठवम् उज्झति जहाति ।

पूर्वोक्त प्रकार का प्रयोग शब्दशास्त्र अर्थात् व्याकरण के गुरु-गम्भीर ज्ञान में अभियोगरहित अथवा अनवहित मन वाले (कवियों) के अपभाषण (=अपभाषा, slang) के समान प्रतीत होता है, परंतु वह सौष्ठव का (सर्वथा) परित्याग नहीं करता ।

भोज (**सरस्व० १.१११**) कुछ स्थितियों में शब्दहीनत्व को न केवल 'अदोष' मानता है, अपितु उसका गुणत्व भी स्वीकार करता है : **तत्र शब्द-विहीनस्य विवक्षावशतः क्वचित् । निसर्गसुन्दरत्वेन गुणत्वं परिकल्प्यते ।।** इसके उदाहरण के रूप में उसने **काव्यादर्श** के ही **आक्षिपन्त्यरविन्दानि** इत्यादि (२. ३६१) को उद्धृत किया है जहाँ **किमेषामस्ति दुष्करम्** में **न लोकाव्यय-निष्ठाखलर्थतृनाम्** (पा० २.३.६९) के अनुसार षष्ठी-प्रयोग के अनभिमत होने पर भी संबन्धविवक्षा से विहित षष्ठी को अनुमोदित किया गया है । इसी संदर्भ में भोज ने दण्डी की प्रस्तुत कारिका को भी प्रमाण रूप में उद्धृत किया है । यह कारिका विश्वेश्वर (**चम०, पृ० ३४-५**) द्वारा भी प्रमाण रूप में उद्धृत है ।

---

१. -याथार्थ्य- । २. स ।

श्लोकेषु नियतस्थानं पदच्छेदं यतिं विदुः।
तदपेतं यतिभ्रष्टं श्रवणोद्वेजनं यथा ॥१५२॥

सप्तमं दोषं यतिभ्रष्टमाह—**श्लोकेष्विति**। श्लोकेषु पद्येषु विषये नियतस्थानं छन्दःशास्त्रकारैः नियतं नियतीकृतं स्थानं यस्य तत्तादृशं निश्चितव्यवस्थानं पदच्छेदं पदविरामं यतिं विदुः जानन्ति, तद्विद इति शेषः। तदपेतं तस्याः यतेः अपेतम् अपगतं, तन्नियमरहितमित्यर्थः, यतिभ्रष्टं तदाख्यदोषोपेतं भवति, तच्च श्रवणोद्वेजनं श्रुत्युद्वेगकरं जायते। यथेत्युदाहरणोपक्रमार्थम्।

पद्यरचनाओं में निश्चित स्थान वाले पद के विराम (=विश्राम) को यति कहते हैं। उस (यति के नियम) से रहित रचना को यतिभ्रष्ट **दोष से युक्त माना जाता है; ऐसी रचना सुनने में उद्वेगजनक होती है।**

तु० भामह ४. २४-५। भोज (सरस्व० १.२७) ने इसे भग्नयति कहा है। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसे यतिभङ्ग के रूप में हतवृत्त दोष के अन्तर्गत माना है (तु० **काप्र०** ७.५३ **वृत्ति; साद०** ७.५ **वृत्ति**), जो समीचीन ही है। यतिभ्रंश के दोषत्व का प्रमुख आधार यतिभ्रष्ट रचना की श्रवणोद्वेजकता है जिसकी ओर दण्डी ने यहाँ यथेष्ट ध्यान दिलाया है। वामन (२.२.३) ने, संभवतः दण्डी से प्रेरणा लेकर, इस दोष को **विरसविरामं यतिभ्रष्टम्** कहकर परिभाषित किया है।

स्त्रीणां संगी तविधिमयमा दित्यवंश्यो नरेन्द्रः
पश्यत्यक्लि ष्टरसमिह शि ष्टैरमेत्यादि दुष्टम्।
कार्याकार्या ण्ययमविकला न्यागमेनैव पश्यन्
वश्या[1]मुर्वीं वहति[2] नृप इ त्यस्ति चैवं[3] प्रयोगः ॥१५३॥

उक्तमुदाहरति—**स्त्रीणामिति**। अयम् आदित्यवंश्यः सूर्यवंशोत्पन्नः नरेन्द्रः राजा इह सदसि शिष्टैः सभ्यजनैः अमा सह अक्लिष्टरसं हृद्यरसान्वितं स्त्रीणां संगीतविधिं (नृत्यगीतवाद्यविधानोपेतं) संगीतकं पश्यति प्रेक्षते। इत्यादि ईदृशं पद्यविधानं दुष्टं भ्रष्टयतित्वाद् दोषोपेतमस्ति। तथाहि—**मन्दाक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मो भनौ तौ गयुग्मम्** इति लक्षितेऽस्मिन्मन्दाक्रान्तावृत्ते प्रथमतश्चतुर्थे ततः षष्ठे ततश्च सप्तमे यतिर्विधेया, परमत्र चतुर्थादिवर्णानां पदमध्यवर्तित्वाद् भ्रष्टयतित्वं, तेन चात्र **संगी** इति **त** इति, **आ** इति **दित्य** इति, **अक्लिष्** इति **ट** इति, **शिष्** इति **टैर्** इति चैवमेतेषां श्रवणोद्वेगकरः पदच्छेदः। अस्य च क्वचिददोषत्वमुत्तरार्धेनोदाहरन्नाह—अयं (पूर्वार्धवर्णितो) नृपः अविकलानि

---

१. वंश्याम्। २. उर्वीमवति। ३. चैष।

सकलानि कार्याकार्याणि कर्तव्यानि अकर्तव्यानि च कर्माणि आगमेन शास्त्रेण एव पश्यन्, यथार्हमनुतिष्ठन्नित्यर्थः, वश्यां स्वायत्तीकृतां विधेयाम् उर्वीं पृथिवीं वहति धारयति । इति च एवंरूपः प्रयोगः अस्ति श्रवणोद्वेगकरत्वाभावाद् अदुष्टत्वेन वर्तते । अत्र **कार्याकार्याणि** इति **अविकलानि** इति चात्र पदान्ते स्वरसंधिवशाद् यतिभ्रंशः, स च न श्रवणोद्वेगकर इति न सोऽत्यन्तं दोषाय ।

यह सूर्यवंशी राजा यहाँ (सभास्थान में) शिष्टजनों के साथ हृदयहारी रस से युक्त, स्त्रियों द्वारा अभिनीत, संगीतक को देख रहा है ।—इस प्रकार की पद्यरचना (यतिभ्रष्ट दोष से) दूषित है । यह राजा अपने सभी कर्तव्य और अकर्तव्य कर्मों को शास्त्र के अनुसार ही देखता हुआ स्वायत्त पृथ्वी का पालन करता है ।—इस प्रकार का प्रयोग दोषरहित होता है ।

यह मन्दाक्रान्ता छन्द है जिसमें चौथे, फिर छठे और फिर सातवें वर्ण पर यति का विधान है । यहाँ, इसके पूर्वार्ध में, ये चौथे आदि वर्ण पद के मध्य में आ जाते हैं जिसके फलस्वरूप पद के बीच में पदच्छेद रूप यति करनी पड़ती है; इस प्रकार **संगी-त, आ-दित्य, अक्लिष्-ट** और **शिष्-टैर्**—इस रूप में इन्हें तोड़ना पड़ता है । इस रूप में इनका पदच्छेद स्पष्टतः श्रवणोद्वेजक अथवा श्रुतिकटु है । अतः यहाँ **यतिभ्रष्ट** नामक दोष है । पद्य के उत्तरार्ध में **कार्याकार्याणि** और **अविकलानि** में, इनके अन्तभाग में, स्वरसंधि के फलस्वरूप यतिभ्रंश है; परंतु इस प्रकार का यतिभ्रंश क्षम्य है, क्योंकि यहाँ यतिभ्रंश से वास्तविक पदरूप **कार्याकार्य** और **अविकल** को नहीं तोड़ना पड़ता ।

लुप्ते पदान्ते शिष्टस्य पदत्वं निश्चितं यथा ।
तथा संधिविकारान्तं[1] पदमेवेति वर्ण्यते ॥१५४॥

उक्तोदाहरणस्योत्तरार्धे यतिभङ्गस्यादोषत्वमुपपादयितुमाह—**लुप्त** इति । यथा पदान्ते पदस्यान्ते विभक्त्यादिरूपे लुप्ते सति शिष्टस्य अवशिष्टस्य प्रकृत्यंशस्य पदत्वं पदभावः निश्चितं भवति, तथा संधिविकारान्तं संधिविकृतान्तभागं पदं, संधिविकारमपहृत्य शिष्टं प्रकृतिरूपमित्यर्थः, अपि पदम् एव इति वर्ण्यते छन्दःशास्त्रज्ञैरङ्गीक्रियते । तेन संधिविकृतान्तभागौ **कार्याकार्याणि** इति **अविकलानि** इति च शब्दौ पदान्ते यतिभ्रंशे सत्यप्यदुष्टौ ।

जिस प्रकार (देवेषु आदि) पद के (विभक्ति रूप) अन्तभाग के लुप्त हो जाने पर भी अवशिष्ट (देव आदि प्रकृतिभाग) का पदत्व निश्चित रहता है, उसी प्रकार संधिविकार से विकृत अन्त भाग वाला पद भी (छन्दःशास्त्रियों

---

१. -रान्तपदम् ।

द्वारा) पद ही माना जाता है।

इस प्रकार यण् संधि के फलस्वरूप विकृत (ण्य्, न्य्) अन्तभाग वाले **कार्याकार्याणि** और **अविकलानि**—ये पद पद ही माने जाएंगे; अतश्च **कार्याकार्याण्** और **अविकलान्** पर यति आने पर भी दोष नहीं माना जाएगा। भोज (सरस्व० १.१२४ वृत्ति) ने इस प्रसङ्ग में **यदाह** के साथ दो कारिकाएँ उद्धृत की हैं जिनमें दूसरी दण्डी की प्रस्तुत कारिका है। पहली कारिका इस प्रकार है: **स्वरसंध्यकृते प्रायो धातुभेदे तदिष्यते। नामभेदे च शेषेषु न दोष इति सूरयः॥** प्रतीत होता है कि यह कारिका भी, जो ३.१५३ के पूर्वार्ध के यतिभ्रंश के विशदीकरण के लिए अपेक्षित है, **काव्यादर्श** से ही ली गई होगी, और इसकी स्थिति ३.१५३ के अनन्तर रही होगी। इस कारिका के अनुसार, यतिविधान से धातुभाग एवं नामभाग का भङ्ग होने पर यतिभ्रष्ट नामक दोष होता है, यदि वह भङ्ग स्वरसंधि के फलस्वरूप न हो। इनसे भिन्न स्थितियों में, यथा विभक्तिरूप का भङ्ग होने पर, यह दोष नहीं होता (द्र० **स्त्रीणां** इत्यादि का उत्तरार्ध)। इसी पद्य का पूर्वार्ध नामभाग के भङ्ग (यथा—**संगी-त, आ-दित्य**) का उदाहरण है। धातुभाग के भङ्ग का उदाहरण यह है: **एतासां राजति सुमनसां दाम कण्ठावलम्बि** (यहाँ **राजति** को **रा-जति** इस प्रकार तोड़ना पड़ता है)। निम्नलिखित उदाहरण में स्वरसंधि के फलस्वरूप होने वाले नामभागभङ्ग में उक्त दोष नहीं माना जाएगा: **किंचिद्भ्रावालसमसरलं प्रेक्षितं सुन्दरीणाम्** (यहाँ **अलस** को **अ-लस** इस प्रकार तोड़ना अपेक्षित है)। विस्तार के लिए, द्र० **काअसू० २.२.४ वृत्ति**।

तथापि कटु कर्णानां[1] कवयो न प्रयुञ्जते।
ध्वजिनी तस्य राज्ञः केतूदस्तजलदेत्यदः॥१५५॥

स्वरसंधिश्रयणेऽपि क्वचिद् दोषत्वमाह—**तथापीति**। तथापि संधिविकारान्तस्य पदस्य पदत्वे स्वीकृतेऽपि कवयः कर्णानां कटु उद्वेगकरं (यतिभ्रष्टं) न प्रयुञ्जते, न प्रयुञ्जीरन्नित्यर्थः। तदुदाहरति—तस्य राज्ञः ध्वजिनी सेना केतूदस्तजलदा केतुभिः उच्छ्रितैः ध्वजैः करणैः उदस्ताः उत्क्षिप्ताः जलदाः मेघाः यया तादृशी ध्वजोत्क्षिप्तमेघा अस्ति—इति अदः तत् कर्णकटु श्रुत्युद्वेगकरं कविभिर्न प्रयोज्यमित्यर्थः। अत्र **केतूदस्त** इत्यत्र संधिविकृतान्तभागस्य **केतु**शब्दस्य पदत्वाभ्युपगमेऽपि ईदृशस्य यतिभ्रंशस्य श्रवणोद्वेगकरत्वात् सदोषत्वमेव।

तथापि (=संधिविकारान्त पद को पद मान लेने पर भी) कविजन

१. वर्णानां, -कर्णं तत्।

कर्णों को कटु लगने वाले (यतिभ्रंश) का प्रयोग नहीं करते। जैसे—ध्वजिनी तस्य राज्ञः के-तूदस्तजलदा, **(अर्थात् उस राजा की सेना अपने ध्वजाग्रभाग से मेघों को ऊपर उछाल देने वाली है) —इस प्रकार का यतिभ्रंश कर्णकटु होने से अप्रयोज्य है।**

यहाँ केतूदस्त में संधि से विकृत अन्तभाग वाले केतु को पद मान लेने पर भी राज्ञः के-तूदस्त इस प्रकार कर्णकटु विराम होने से यतिभ्रष्ट दोष है।

वर्णानां न्यूनताधिक्ये गुरुलघ्वयथास्थितिः ।
यत्र[1] तद् भिन्नवृत्तं स्यादेष दोषः सुनिन्दितः ॥१५६॥

अष्टमं दोषं भिन्नवृत्तमाह—**वर्णानामिति** । यत्र पद्ये वर्णानां छन्दःशास्त्रप्रतिनियतानां (बहुवचनमविवक्षितं) न्यूनताधिक्ये न्यूनत्वम् अधिकत्वं वा, गुरूणां लघूनां च अयथास्थितिः तच्छास्त्रव्यवस्थाव्यतिक्रमेण वृत्तिः स्यात्, तद् भिन्नवृत्तं तदाख्यदोषोपेतं स्यात्। एष च दोषो भिन्नवृत्तलक्षणः सुनिन्दितः अत्यन्तं गर्हितः, अतश्च सर्वथा वर्जनीयोऽस्तीत्यर्थः।

जिस पद्य में (छन्दःशास्त्र द्वारा प्रतिनियत) वर्ण अथवा वर्णों में न्यूनता या अधिकता हो अथवा गुरु और लघु की (उक्त शास्त्र के अनुसार) अपेक्षित स्थिति न हो, वह पद्य भिन्नवृत्त **(नामक दोष से युक्त) होता है। यह दोष सर्वथा निन्दित (अतश्च परिहरणीय) है।**

तु० भामह ४.२५। भोज (सरस्व० १.२७) ने इसे भग्नच्छन्द कहा है। अन्य आचार्यों में यह प्रायः हतवृत्त के रूप में आया है (**तु० काप्र० ७.५३; साद० ७.५**)।

इन्दुपादाः शिशिराः स्पृशन्तीत्यूनवर्णता ।
सहकारस्य किसलयान्यार्द्राणीत्यधिकाक्षरम् ॥१५७॥

उक्तदोषान्तर्गते वर्णन्यूनत्वाधिकत्वे उदाहरति—**इन्दुपादा** इति। शिशिराः शीतलाः इन्दुपादाः चन्द्रकिरणाः सहकारस्य आम्रवृक्षस्य आर्द्राणि सजलकणानि प्रत्यग्राणि वा किसलयानि पल्लवानि (कर्म) स्पृशन्ति। अष्टाक्षरचरणेऽनुष्टुब्वृत्तेऽस्मिन् प्रथमे पादे सप्तैव वर्णा इति तत्र न्यूनवर्णता, तृतीये पादे च नव वर्णा इति तत्राधिकाक्षरत्वम् (अधिकाक्षरमिति भावप्रधानो निर्देशः)। अत्र वर्णन्यूनताधिक्यरूपं भिन्नवृत्तं दोषः।

---

१. वत्र।

चन्द्रमा की शीतल किरणें आम्रवृक्ष की आर्द्र कोंपलों को छू रही हैं। (इस पद्य के प्रथम चरण—)इन्दुपादाः शिशिराः—**में एक वर्ण की न्यूनता है, तथा (तृतीय चरण—)** सहकारस्य किसलया- —**में एक वर्ण की अधिकता है।**

आठ वर्णों के चरणों वाले अनुष्टुप् छन्द के उक्त उदाहरण के पहले चरण में सात एवं तीसरे में नौ वर्ण हैं; इस प्रकार यहाँ वर्णों की न्यूनता-अधिकता रूप **भिन्नवृत्त** दोष है।

कामेन बाणा निशाता[1] विमुक्ता[2]
मृगेक्षणास्वित्ययथागुरुत्वम्
मदन[3]बाणा निशिताः पतन्ति
वामेक्षणा[4]स्वित्ययथालघुत्वम् ॥१५८॥

गुरुलघ्वयथास्थितिरूपं भिन्नवृत्तमुदाहरति—**कामेनेति**। कामेन मृगेक्षणासु हरिणाक्षीषु निशाताः तीक्ष्णाः बाणाः विमुक्ताः। इति उपजातिवृत्तेऽस्मिन् **निशातेत्यत्र शा** इत्ययथास्थानगुरुः। वामेक्षणासु निशिताः तीक्ष्णाः मदनबाणाः पतन्ति। इति अत्र तृतीयपादे **मदनेत्यत्र द** इत्ययथास्थानलघुः।

कामदेव ने मृगनयनियों पर अपने तीक्ष्ण बाण छोड़े, यहाँ (कामेन बाणा निशाता विमुक्ता **में** शा) **अनपेक्षित गुरु है। मृगनयनियों पर कामदेव के तीक्ष्ण बाण गिरते हैं, यहाँ** (मदनबाणा निशिताः पतन्ति **में** द) **अनपेक्षित लघु है।**

उपजाति में तगण : ऽऽ। (या जगण : ।ऽ।) तगण : ऽऽ।, जगण : ।ऽ। और दो गुरु : ऽऽ होते हैं। इसके अनुसार दूसरा वर्ण गुरु और सातवां लघु होना चाहिए। प्रस्तुत उदाहरण में इसके विपरीत स्थिति है; अतः यहाँ अयथास्थितगुरुलघु रूप **भिन्नवृत्त** दोष है।

न संहितां विवक्षामीत्यसंधानं पदेषु यत्।
तद्विसंधीति निर्दिष्टं न प्रगृह्यादिहेतुकम् ॥१५९॥

नवमं दोषं विसंधिमाह—**नेति**। संहितां संधिं न विवक्षामि वक्तुं प्रयोक्तुम् इच्छामि इति मनसिकृत्य पदेषु यद् असंधानं संध्यभावः, एकपदे भिन्नपदे वा शास्त्रप्राप्तस्यापि संधेरविधानं, तद् विसंधि तदाख्यो दोषः इति निर्दिष्टम्। किंतु प्रगृह्यादिहेतुकं प्रगृह्ययकारादिलोपकारणकं न विसंधिदोषदुष्टं,

---

१. निशिता। २. वियुक्ता। ३. स्मरस्य, स्मरेण। ४. मृगेक्षणा-।

तादृशस्यासंधानस्य शास्त्रीयत्वाद् । अविवक्षाव्याज एव संध्यभावो दुष्टो न तु प्रगृह्यादिनियमहेतुक इत्यर्थः ।

'मैं संधि नहीं करना चाहता'—यह निश्चय करके विभिन्न पदों में (व्याकरणशास्त्र-विहित) संधि का न करना विसंधि **दोष है, परंतु प्रगृह्यसंज्ञा होने आदि के कारण न की गई संधि विसंधि दोष नहीं (क्योंकि ऐसी स्थितियों में संध्यभाव शास्त्रविहित है) ।**

भामह (४. २८) ने विसंधि को इस पद्य द्वारा उदाहृत किया है : **कान्ते इन्दुशिरोरत्ने आदधाने उदंशुनी । पातां वः शम्भुशर्वाण्याविति प्राहुर्विसंध्यदः ॥** यहाँ संध्यभाव प्रगृह्यहेतुक (तु० **ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्,** पा० १.१. ११) है, अतः इस दोष का यह उदाहरण उपयुक्त नहीं । रत्नश्रीज्ञान ने भामह के इस उदाहरण पर आपत्ति की है, जो ठीक ही है । हाँ, बार-बार संध्यभावरूप दोष यहाँ अवश्य है; तु० **काप्र० ७.५३ वृत्ति : संहितां न करोमीति स्वेच्छया सकृदपि दोषः । प्रगृह्यादिहेतुकत्वे त्वसकृत् ।** भोज **(सरस्व० १. २२)** ने विसंधि के अन्तर्गत विरूपसंधि (जैसे—**मञ्जर्युद्गमगर्भासौ तर्वाल्युर्वी विधूयते**) को भी लिया है (अन्यत्र, १. ११४ में, उसने दण्डी की प्रस्तुत कारिका को भी उद्धृत किया है) । अन्य उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसके अन्तर्गत अश्लीलत्व (यथा—**वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः**) तथा कष्टत्व (=भोज का विरूपत्व) का भी ग्रहण किया है (तु० **काप्र० ७.५३; साद० ७.६**) ।

यद्यपि **संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः । नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥**—इस नियम के अनुसार वाक्य में संधि अनिवार्य नहीं, तथापि यह 'विवक्षा' (विशेषतः पद्यरचना में) पद्यार्धभाग में अनुमत नहीं है । वामन (५.१.२) ने इस संबन्ध में कहा है : **नित्या संहितैकपदवत् पादेष्वर्धान्तवर्जम्,** अर्थात् श्लोकार्ध के अन्त को छोड़कर अन्य श्लोकचरणों में संधि, एकपदसंधि के समान, नित्य होती है ।

मन्दानिलेन चरता[1] अङ्गनागण्डमण्डले ।
लुप्तमुद्भेदि[2] घर्माम्भो नभस्यस्मद्वपुष्यपि[3] ॥१६०॥

उक्तमुदाहरति—**मन्देति** । नभसि आकाशे चरता वाता मन्दानिलेन मन्दगतिना पवनेन अङ्गनागण्डमण्डले सुन्दर्याः कपोलप्रदेशे अपि च अस्मद्वपुषि अस्माकं (मम) शरीरे उद्भेदि उद्गतं घर्माम्भः घर्मस्वेदजलं लुप्तम् अपनीतं, शोषितमित्यर्थः । अत्र पद्यपूर्वार्धे **चरता अङ्गनेत्यत्र** प्राप्तोऽपि दीर्घसंधिः (छन्दो-

---

१. चलता, अमुना । २. उद्भेद- । ३. अस्मन्मनस्यपि ।

भङ्गभयाद्) न विहित इति विसंधिदोषः।

आकाश में विचरने वाली मन्द बयार ने सुन्दरी के कपोलप्रदेश पर तथा मेरी देह पर उत्पन्न (=प्रकट) तापजनित स्वेदजल को सुखा दिया।

यहाँ पद्य के पादद्वयात्मक पूर्वभाग में **चरता** और **अङ्गना-** के बीच **अकः सवर्णे दीर्घः** (पा० ६.१.१०१) से प्राप्त, **चरताङ्गना** रूप, दीर्घसंधि (छन्दोभङ्ग के भय से) नहीं की गई है; अतः यहाँ विसंधिदोष है।

निम्नलिखित अतिरिक्त श्लोक भी कुछ संस्करणों (द्र० प्रेमचन्द्र तर्कवागीश का कलकत्ता सं० एवं एम. रङ्गाचार्य का ब्रह्मवादि सं०) में प्राप्त होता है (परंतु इसकी स्थिति इनमें अगले, **मानेर्ष्ये** इत्यादि, पद्य के अनन्तर है) :

आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने।
को हि नाम शरीराय धर्मापेतं समाचरेत्॥*

मानेर्ष्ये इह शीर्येते स्त्रीणां हिमऋतौ[1] प्रिये।[2]
आसु रात्रिष्विति[3] प्राज्ञैरज्ञातन्यङ्गमीदृशम्[4] ॥१६१॥

प्रगृह्यादिहेतुकं शास्त्रसंमतं संध्यभावमुदाहरति—**मानेर्ष्ये** इति। इह अस्मिन् प्रिये प्रीतिकरे हिमऋतौ हेमन्ते आसु रात्रिषु हेमन्तनिशासु स्त्रीणां मानेर्ष्ये प्रणयकोपः सपत्नीमत्सरः च शीर्येते शीर्णे भवतः, नश्यत इत्यर्थः। इति ईदृशं संध्यभावयुतं पद्यं प्राज्ञैः सूरिभिः अज्ञातन्यङ्गम् अविदितदोषं दोषरहितं मतम्। अत्र **मानेर्ष्ये इहे**त्यत्र प्रगृह्यहेतुकः, **हिमऋता**वित्यत्र शाकल्यमतेनाभ्यनुज्ञातः, **प्रिये आसु** इति पद्यपूर्वोत्तरार्धमध्ये च कविसंप्रदायानुरोधी संध्यभावो दोषरहितत्वेन मतः।

इस प्रीतिकर हेमन्त ऋतु की रात्रियों में स्त्रियों का प्रणयकोप और उनका (सौतिया) डाह स्वतः समाप्त हो जाते हैं। (ऐसे प्रयोगों में) इस प्रकार

---

* आधिभिः मानसीभिर्व्यथाभिः व्याधिभिः रोगैः च परीताय परिगताय व्याप्ताय अद्य श्वः वा विनाशिने नाशं गमिष्यते अस्मै क्षुद्राय शरीराय को हि नाम मनुष्यः धर्मापेतं धर्मविहीनं धर्मप्रतिकूलं कर्म समाचरेत्, न कोऽपीत्याशयः। अत्र पूर्ववदेव परीताय अद्य इत्यत्र प्राप्तो दीर्घसंधिर्वृत्तभङ्गभयान्न विहितः।

मानसिक पीड़ाओं और रोगों से व्याप्त एवं आज या कल विनाश को प्राप्त हो जाने वाले (इस क्षुद्र) शरीर के लिए कौन धर्महीन आचरण करेगा ?

यहाँ परीताय और अद्य के मध्य संध्यभाव दोषपूर्ण है।

---

१. ईदृशी स्त्रीणां नास्तां हिम–। २. रत्नश्रियामयं श्लोकार्धो न पठितः, न वायं भोटपाठानुसारी (तु० कलकत्ताविश्वविद्यालय– सं०)। ३. अमू आदिष्विति। ४. आम्नातं व्यस्तमीदृशम्, ज्ञातव्यं, अज्ञातं न्यङ्गम्, व्यस्तम्।

का संध्यभाव विद्वानों द्वारा दोषरहित माना जाता है।

यहाँ **मानेष्यें** की **ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्** (पा० १.१.११) से प्रगृह्यसंज्ञा होने पर **मानेष्यें इह** के बीच **प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्** (पा० ६.१.१२५) से प्रकृतिभाव (=संध्यभाव) विहित है। **हिमऋतौ** में **ऋत्यकः** (पा० ६.१.१२८) के अनुसार शाकल्य के मत में संध्यभाव अनुमत है। पूर्वार्ध के अन्त के **प्रिये** और उत्तरार्ध के आदि के **आसु** के बीच संधि का अभाव कविसंप्रदाय के अनुरोध पर आधारित होने से शिष्टजनसंमत है (तु ३.१५६ पर टि०; रत्नश्री)।

देशोऽद्रि[1]वनराष्ट्रादिः कालो रात्रि[2]दिवर्तवः।
नृत्य[3]गीतप्रभृतयः कलाः कामार्थसंश्रयाः ॥१६२॥
चराचराणां भूतानां[4] प्रवृत्तिर्लोकसंज्ञिता।
हेतुविद्यात्मको न्यायः सस्मृतिः श्रुतिरागमः ॥१६३॥
तेषु तेष्वयथारूढं[5] यदि किंचित् प्रवर्तते।
कवेः प्रमादाद् देशादिविरोधीत्येतदुच्यते ॥१६४॥

दशमं दोषं देशादिविरोधिनामकमाह कारिकात्रयेण—**देश** इति। देशादिविरोधाख्यानात्पूर्वं देशादीन् लक्षयति—अद्रिः पर्वतः, वनम् अरण्यं, राष्ट्रं जनपदः इत्येवमादिः (आदिशब्दात्समुद्रग्रामनगरादीनां ग्रहणम्) देशः देशत्वेन गृह्यते। रात्रिंदिवर्तवः रात्रिंदिवं रात्रिः दिनं च ऋतवश्च वसन्तादयः कालः। नृत्यगीतप्रभृतयः चतुःषष्टिसंख्याकाः कामार्थसंश्रयाः कामस्य अर्थस्य चाधिष्ठानभूताः, कामार्थसाधका इत्यर्थः, कलाः। चराचराणां जङ्गमस्थावराणां मनुष्यवृक्षादीनां भूतानां पदार्थानां प्रवृत्तिः व्यवहारक्रमः सहजधर्मो वा लोकसंज्ञिता लोकः इति समाख्याता। हेतुविद्यात्मकः तर्कशास्त्रस्वरूपः न्यायः। सस्मृतिः मन्वादिस्मृतिभिः सहिता श्रुतिः वेदः आगमः तत्पदवाच्यः। देशादीन् लक्षयित्वा तद्विरोधिदोषमाह—तेषु तेषु अनन्तरोक्तेषु विषयेषु, तानन्तरेणेत्यर्थः, अयथारूढं यथायथम् असिद्धमप्रसिद्धं वा किंचिद् देशकालादिवर्णनरूपं यदि कवेः प्रमादाद् अनवधानात् प्रवर्तते प्रयोगपथमवतरति, तर्हि तद् देशादिविरोधि इति एतद् उच्यते, तत्तद्विरोधात्तत्तद्विरोधिदोषा भवन्तीत्यर्थः।

पर्वत, वन, जनपद, (समुद्र, नगर, ग्राम) आदि देश (के अन्तर्गत आते) हैं; रात, दिन और ऋतुएं काल (के अङ्ग) हैं; काम और अर्थ के आश्रयरूप (=साधक) नृत्य, गीत आदि (चौसठ) कलाएँ हैं; चर और अचर अर्थात् जंगम और स्थावर (जैसे—मनुष्य आदि और वृक्ष आदि) पदार्थों के

१. देशो हि। २. नक्तं-। ३. नृत्त-। ४. लोकानां। ५. -भूतं।

व्यवहारक्रम को लोक कहा जाता है; तर्कशास्त्र-विद्या को न्याय कहते हैं; और (मनुस्मृति आदि) स्मृतियों सहित श्रुति अर्थात् वेद को आगम कहा जाता है। उक्त विभिन्न विषयों के संबन्ध में यदि कोई प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध तथ्य कवि के प्रमाद से (उसके काव्य में) वर्णित होता है, तो उसे (देश आदि के आधार पर क्रमशः)देश–, काल–, कला–, लोक–, न्याय–, और आगम-विरोधी दोष कहा जाता है।

भोज (**सरस्व० १.१५३-५**) ने इन कारिकाओं को उद्धृत किया है। इनमें से प्रथम दो कारिकाएँ विश्वेश्वर (**चम०, पृ० ७०-१**) द्वारा कुछ परिवर्तन के साथ उद्धृत की गई हैं। भामह (४.३६) की 'लोक' की परिभाषा दण्डिकृत लोकपरिभाषा की ओर संकेत करती प्रतीत होती है : **स्थास्नुजङ्गमभेदेन लोकं तत्त्वविदो विदुः**। उसकी 'न्याय' और 'आगम' की व्याख्या दण्डि-कृत व्याख्या से भिन्न है : **न्यायः शास्त्रं त्रिवर्गोक्तिर्दण्डनीतिं च तां विदुः** (४.३९); **आगमो धर्मशास्त्राणि लोकसीमा च तत्कृता** (४.४८)। उत्तरवर्ती आचार्यों के प्रसिद्धि–, विद्या– और देश-विरुद्धता नामक दोष प्रस्तुत दोष से तुलनीय हैं (द्र० **काप्र० ७.५६-७; साद० ७.१०**)। चौसठ कलाओं की व्याख्या के लिए, द्र० **वात्स्यायनकामसूत्र** १.३.१५ पर **जयमङ्गला** भाष्य, एवं प्रस्तुत व्याख्याकार का ग्रन्थ **सोसाइटी एंड कल्चर इन दि टाइम आफ़ दण्डिन्**, पृ० ३८६-४०२। दण्डी के कलाविरोध के उदाहरण (३.१७०) से प्रतीत होता है कि उसके अनुसार नाट्य भी चौसठ कलाओं में एक है (तु० **दशकुमारचरित**, पृ० ६६ भी)। कारिका १६२ में **नृत्यगीतप्रभृतयः** अपपाठ प्रतीत होता है। संभवतः मूलपाठ **नाट्यगीत-प्रभृतयः** रहा हो।

कर्पूरपादपामर्श[1]सुरभिर्मलयानिलः ।
कलिङ्गवनसंभूता मृगप्राया मतङ्गजाः ॥१६५॥

देशविरोधमद्रिवनविषयमुदाहरति—**कर्पूरेति**। मलयानिलः मलयपर्वताद् आवान् पवनः कर्पूरपादपानाम् आमर्शेन संसर्गेण सुरभिः सुगन्धिः वर्तते। कलिङ्गवनसंभूताः तदाख्यारण्यप्रभवाः मतङ्गजाः हस्तिनः मृगप्रायाः मृगवद् लघुकायाः मृगजातिप्रायाः वा भवन्ति। अत्र मलयाद्रौ कर्पूरानुत्पत्तेः कालिङ्गानां च हस्तिनां बृहदाकारत्वाद् भद्रजातिप्रायत्वाच्चाद्रिवनरूपदेशविरोधः।

मलय पर्वत की यह बयार कर्पूर वृक्षों के संसर्ग से सुरभित है। कलिङ्गवन में उत्पन्न हाथी मृग के समान लघुकाय (अथवा मृगजाति के) होते हैं।

---

१. –पास्पर्शी सु–।

मलय पर्वत में कर्पूर वृक्ष नहीं होते तथा कलिङ्गवन के हाथी बृहत्काय (तु० **कौटिलीय अर्थशास्त्र** २.२.१५) एवं भद्रजाति के (तु० रत्नश्रीज्ञान) होते हैं, मृगजाति के नहीं। अतः उक्त वर्णन पर्वत- और वन-विषयक देशविरोधी दोष का उदाहरण है। भामह (४.३०) ने मलयपर्वत पर देवदार के वृक्षों के वर्णन को देशविरोधी दोष के रूप में उपन्यस्त किया है।

चोलाः[1] कालागरुश्याम[2]कावेरीतीरभूमयः[3] ।
इति देशविरोधिन्या वाचः प्रस्थानमीदृशम् ॥१६६॥

राष्ट्ररूपदेशविरोधं निदर्शयति—**चोला** इति। चोलाः तदाख्यो दाक्षिणात्यो जनपदः कालागरुभिः कृष्णागरुवृक्षैः श्यामाः श्यामलीभूताः कावेरीतीरभूमयः येषु तादृशाः कृष्णागरुश्यामलीकृतकावेरीतटप्रदेशाः सन्ति। इति ईदृशं देशविरोधिन्याः वाचः वाक्यप्रयोगस्य प्रस्थानं स्वरूपं वर्तते, चोलजनपदस्य कालागरुशून्यत्वादत्र वर्णने देशविरोधः इति भावः।

'चोल जनपद में कावेरी नदी का तटवर्ती प्रदेश कालागरु के वृक्षों से श्यामल है।' यह वर्णन देशविरोधी दोष के स्वरूप को उदाहृत करता है (क्योंकि चोल में कावेरी के तटवर्ती प्रदेश में कालागरु के वृक्ष नहीं होते)।

रङ्गाचार्यशास्त्री ने चोल जनपद में कावेरी नदी की स्थिति के वर्णन को भी देशविरोधी माना है, जो समीचीन नहीं है (चोल में कावेरी की स्थिति के संबन्ध में द्र० प्रस्तुत व्याख्याकार का ग्रन्थ **सोसाइटी एंड कल्चर इन दि टाइम ग्राफ़ दण्डिन्**, पृ० १०३)।

पद्मिनी नक्तमुन्निद्रा स्फुटत्यह्नि कुमुद्वती ।
मधुरुत्फुल्लनिचुलो निदाघो मेघदुर्दिनः[4] ॥१६७॥

कालविरोधमुदाहरति—**पद्मिनीति**। पद्मिनी कमलिनी नक्तं रात्रौ उन्निद्रा विकसिता भवति। कुमुद्वती कुमुदिनी अह्नि दिवसे स्फुटति विकसति। अत्र क्रमेण रात्रिदिवसरूपकालविरोधः, पद्मिन्या नक्तं कुमुद्वत्याश्च दिने विकासादर्शनात्। मधुः वसन्तः उत्फुल्लनिचुलः विकसितवानीरः भवति, निदाघः ग्रीष्मर्तुः च मेघैः दुर्दिनानि अन्धकारितानि दिनानि यस्मिंस्तादृशः भवति। अत्र चैत्रे निचुलपुष्पविकासस्य ग्रीष्मे च मेघघटानां प्रायेणादर्शनादेतेषां च वर्षास्वेव दर्शनाद् ऋतुरूपकालविरोधः।

---

१. कालाः। २. कालागुरु-, -श्यामाः। ३. न मेरुवनसंछन्नाः केरलाः कुङ्कुमारुणाः।
४. हिमजाड्यकृत्।

कमलिनी रात के समय खिलती है और कुमुदिनी दिन में विकसित होती है। वसन्त में वानीर खिलते हैं और ग्रीष्म ऋतु मेघाच्छन्न होने से दुर्दिनयुक्त होती है।

कमलिनी दिन में तथा कुमुदिनी रात के समय खिलती है; वानीर वर्षा में विकसित होते हैं और ग्रीष्मऋतु में मेघ की घटाएँ नहीं उमड़तीं। अतः उपर्युक्त वर्णन कालविरोधी है (तु० **सरस्व० १, उदा० ६७**)। यह उदाहरण रात, दिन तथा दो ऋतुओं—वसन्त और ग्रीष्म—से संबन्धित है। अन्य चार ऋतुओं से संबन्धित कालविरोधी वर्णन का उदाहरण अगले पद्य में प्रस्तुत है।

श्रव्य[1]हंसगिरो वर्षाः शरदामत्तबर्हिणी[2] ।
हेमन्तो निर्मलादित्यः शिशिरः श्लाघ्यचन्दनः[3] ॥१६८॥

नक्तंदिवर्तुद्वयरूपकालविरोधमुदाहृत्यावशिष्टर्तुचतुष्टयरूपकालविरोधं निदर्शयति—**श्रव्येति** । वर्षाः प्रावृट् श्रव्यहंसगिरः आकर्ण्यहंसविरुतयः भवन्ति, शरद् च आमत्तबर्हिणी आमत्ताः बर्हिणः मयूराः यस्यां तादृशी भवति। हेमन्तः निर्मलादित्यः विशदसूर्यकिरणः, शिशिरः च श्लाघ्यचन्दनः श्लाघ्यं आदरणीयं चन्दनं तच्चर्चा यस्मिंस्तादृशः भवति। सर्वमेतत् तत्तदृतुविरुद्धमित्यत्र ऋतुरूपकालविरोधः ।

वर्षा ऋतु में हंसों का कूजन सुनाई पड़ता है; शरद् में मदमस्त मयूर नाचते हैं; हेमन्त में सूर्य की किरणें अधिक आभापूर्ण (=प्रखर) हो जाती हैं; और शिशिर में चन्दन का लेप मन को बहुत भाता है।

ये सभी ऋतुविरोध के उदाहरण हैं, क्योंकि हंसों का कलरव शरद् में श्रुतिगोचर होता है (वर्षा में तो वे मानस की ओर उड़ जाते हैं), मयूर वर्षा में नाचते हैं (तु० १.७०), सूर्य की किरणें ग्रीष्म में प्रखर होती हैं तथा उसी ऋतु में चन्दन का लेप मन को भाता है।

इति कालविरोधस्य दर्शिता गतिरीदृशी ।
मार्गः कलाविरोधस्य मनागुद्दिश्यते यथा ॥१६९॥

कालविरोधमुपसंहरन् कलाविरोधं च प्रस्तुवन्नाह—**इतीति** । इति ईदृशी कालविरोधस्य गतिः क्रमः दर्शिता। अथ कलाविरोधस्य मार्गः मनाक् किंचिद् दिङ्मात्रं यावद् उद्दिश्यते निदर्श्यते। यथेति तदुपक्रमार्थम्।

---

१. श्राव्य-। २. शरदो मत्तबर्हिणः। ३. -नन्दनः।

इस प्रकार यह कालविरोध का क्रम निर्दशित किया गया। अब कला-विरोध का क्रम संक्षिप्त रूप में प्रदर्शित किया जाता है।

वीरश्रृङ्गारयोर्भावौ स्थायिनौ क्रोधविस्मयौ।
पूर्ण[1]सप्तस्वरः सोऽयं भिन्नग्रामः[2] प्रवर्तते ॥१७०॥

कलाविरोधं प्रस्तुवंस्तत्र नाट्यगीतकलाविरोधमुदाहरति—**वीरेति**। वीर-श्रृङ्गारयोः नाट्यरसयोः स्थायिनौ भावौ क्रोधविस्मयौ स्तः। अत्र वीररसस्य स्थायी भाव उत्साहो न तु क्रोधः, श्रृङ्गारस्य च रतिर्न तु विस्मय इति नाट्यरससंबन्धि-विरोधान्नाट्यकलाविरोधः। सः अयं प्रसिद्धः भिन्नग्रामः गीतविधानविशेषः पूर्णसप्तस्वरः पूर्णाः समग्राः सप्त षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाख्याः स्वराः यस्मिन्निति तादृशः समग्रसप्तस्वरोपेतः प्रवर्तते प्रचलति। अत्र भिन्न-ग्रामस्य पञ्चस्वरत्वात् षट्स्वरत्वाद्वा पूर्णसप्तस्वरत्ववर्णनं गीतकलाविरुद्धम्।

वीर और श्रृङ्गार रसों के स्थायी भाव (क्रमशः) क्रोध और विस्मय हैं। यह प्रसिद्ध भिन्नग्राम (नामक गीतविधान) सातों स्वरों से समुपेत है।

दण्डी के अनुसार नाट्य चौसठ कलाओं में से एक है। रसों को उसने इसी कला के अन्तर्गत माना है (तु० भरत ६.१५ भी)। काव्य में ये रस उसके मत में रसवत् अलंकार के अङ्ग के रूप में आते हैं। वीर और श्रृङ्गार नामक नाट्यरसों के स्थायिभाव क्रमशः उत्साह और रति हैं, क्रोध और विस्मय नहीं। ये भाव रौद्र और अद्भुत रस के हैं। अतः पद्य का पूर्वार्ध नाट्यकला के रस-संबन्धी सिद्धान्त के विरोध का उदाहरण है।

प्रायः सभी संस्करणों में प्राप्त पाठ **भिन्नमार्गः** के स्थान पर यहाँ **भिन्न-ग्रामः** पाठ रखा गया है। भोज (**सरस्व० १, उदा० ७४** उत्तरार्ध) ने इसी रूप में इसे रखा है। उसके टीकाकार रामसिंह ने भिन्नग्राम के विषय में तमङ्ग का यह मत उद्धृत किया है : **षाडवौडविके जाती भिन्नग्राम उदाहृतः**। इस पर टिप्पणी देते हुए वह लिखता है : **ततश्च षड् वा पञ्च वा स्वरा भवन्ति भिन्नग्रामे न तु सप्त**। षाडवा और औडविका क्रमशः छः और पाँच स्वरों वाली गीतजातियों को कहते हैं। दण्डी के उदाहरण में उक्त दोनों गीतजातियों से निबद्ध भिन्नग्राम नामक गीतविधान को समग्र सात स्वरों से युक्त कहा गया है; अतः यह गीतकलाविरोध का उदाहरण है। रत्नश्रीज्ञान ने **भिन्नमार्गः** पाठ स्वीकार करके उसे किसी एक स्वर से रहित 'गान्धर्वप्रकार' कहा है। रङ्गाचार्य-शास्त्री के अनुसार, कालविशेष में निषिद्ध स्वरों से असंकीर्ण एवं उस काल में

---

१. पूर्णः। २. -मार्गः।

अनुमत स्वरविशेष का प्रयोग भिन्नमार्ग है। दूसरे शब्दों में, यह असंकीर्ण अर्थात् शुद्ध स्वरप्रयोग है जिसका सातों स्वरों से समुपेत होना असंभव है। अतः इस प्रकार का वर्णन कलाविरुद्ध है।

इत्थं कलाचतुःषष्टौ विरोधः[1] साधु नीयताम्।
तस्याः कला[2]परिच्छेदे रूपमाविर्भविष्यति ॥१७१॥

कलाविरोधमुपसंहरन्नाह—इत्थमिति। इत्थं कलाचतुःषष्टौ चतुःषष्ट्यां कलासु विरोधः तत्तद्व्यवस्थातिक्रमरूपो दोषः साधु सम्यग् नीयताम् ऊह्यताम् अवगम्यताम्। तस्याः कलाचतुःषष्ट्याः रूपं स्वरूपं कलापरिच्छेदे तदाख्ये (अद्य चानुपलभ्यमाने) एतद्ग्रन्थपरिच्छेदे आविर्भविष्यति स्फुटीभविष्यति।

इस प्रकार चौसठ कलाओं के विरोध (रूप दोष) को भलीभाँति जानना चाहिए। इन कलाओं का स्वरूप कलापरिच्छेद में स्पष्ट (व्याख्यात) होगा।

कलापरिच्छेद **काव्यादर्श** का ही एक परिच्छेद था जो रत्नश्रीज्ञान के समय (९०० ई० के लगभग) में ही लुप्तप्राय हो चुका था; तु० **रत्नश्री : कलापरिच्छेदे चतुर्थ(:) कलापरिच्छेदोऽस्य दण्डिनोऽस्ति स त्विह न प्रवर्तते।** (तु० तरुणवाचस्पति भी : **चतुःषष्टिकलासंग्रहात्मकः काव्यादर्शस्य कश्चिदन्योऽपि परिच्छेदोऽस्तीत्याहुः**)। **रूपमाविर्भविष्यति** दण्डी का प्रिय वाक्यांश है (तु० २. २६५, ३१५ भी)।

आधूतकेसरो[3] हस्ती तीक्ष्णशृङ्गस्तुरंगमः।
गुरु[4]सारोऽयमेरण्डो निःसारः खदिरद्रुमः ॥१७२॥

लोकविरोधमुदाहरति—**आधूतेति**। अयं हस्ती आधूतकेसरः आधूताः ईषत् कम्पिताः आन्दोलिताः केसराः सटाः यस्य तादृशः अस्ति, तुरंगमः चायं तीक्ष्णशृङ्गः निशितविषाणः वर्तते। अयम् एरण्डः तदाख्यः पादपः गुरुसारः सुदृढः, एष खदिरद्रुमः गायत्रीवृक्षः च निःसारः सारशून्यः भङ्गुरः अस्ति। अत्र हस्तिनः केसराभावाद्, अश्वस्य शृङ्गासंभवाद्, एरण्डस्य भङ्गुरत्वात्, खदिरस्य च गुरुसारत्वाच्चराचरभूतप्रवृत्तिविरोधात्मको लोकविरोधदोषः।

इस हाथी की सटाएँ झूल रही हैं; इस घोड़े के सींग तीक्ष्ण हैं; यह एरण्ड (तु० गन्धर्वहस्त, ३. १२१) का पौधा सुदृढ़ है तथा खदिर (=खैर) का यह वृक्ष सुखभङ्गुर अर्थात् सरलता से टूटने योग्य है।

यहाँ जङ्गम (जैसे—हाथी, घोड़ा) एवं स्थावर (जैसे—एरण्ड, खदिर)

---

१. -षष्टिविरोधः। २. काले। ३. -केशरो। ४. उरु-।

पदार्थों के सहज धर्मों का अतिक्रमण होने से लोकविरोध नामक दोष है (तु० **सरस्व० १, उदा० ६८**)। स्वयं दण्डी द्वारा किए गए मयूरी के कलाप के वर्णन (३.२२; तु० उक्त पर टि०) में लोकविरोध दोष है।

इति लौकिक एवायं विरोधः सर्वगर्हितः।
विरोधो हेतुविद्यासु न्यायाख्यासु निदर्श्यते ॥१७३॥

लोकविरोधमुपसंहरन् न्यायविरोधं चोपक्रममाण आह—इतीति। इति उक्तरूपः अयं विरोधः लौकिकः लोकविषयकः एव। अयं च विरोधः सर्वगर्हितः सर्वेषामपि विरोधानां गर्हिततमः, अतश्च सर्वथा वर्जनीय इत्यर्थः। अथ न्यायाख्यासु न्यायाभिधासु बौद्धकापिलादिषु हेतुविद्यासु विरोधः निदर्श्यते।

उक्त प्रकार का यह विरोध लोकविरोध(रूप दोष) है, जो सर्वाधिक निन्दित (होने से सर्वथा परिहरणीय) है। अब न्याय नाम से प्रसिद्ध (बौद्ध, कापिल आदि) हेतुविद्याओं के विरोध का उदाहरण दिया जाता है।

सत्यमेवाह सुगतः संस्कारानविनश्वरान्[1]।
तथा हि[2] सा चकोराक्षी स्थितैवाद्यापि मे हृदि ॥१७४॥

बौद्धदर्शनरूपन्यायविरोधं निदर्शयति—सत्यमिति। सुगतः बुद्धः संस्कारान् पूर्ववासनालक्षणान् चित्तसंस्कारान् स्मृतिहेतुभूतान् अविनश्वरान् नित्यान् सत्यम् अवितथम् एव आह। तथा हि सा काचित् पूर्वम् उपभुक्ता चकोराक्षी चकोरलोचना रमणी अद्यापि चिरादहृष्टापि मे मम हृदि स्थिता एव। यदि तु संस्कारा नश्वराः कथमिदं संभवेदित्यर्थः। अत्र बौद्धमते संस्कारानित्यत्वदर्शनाद् न्यायविरोधो नाम दोषः।

भगवान् बुद्ध ने (चित्त के स्मृतिहेतुभूत) संस्कारों को विनाशरहित कहा है, जो सत्य ही है। तभी तो वह चकोरनयना प्रेयसी आज भी मेरे हृदय में विराजमान है।

बौद्ध दर्शन में मानसी सृष्टि रूप संस्कारों की अनित्यता मानी गई है (तु० **दीघनिकाय, महापरिनिब्बानसुत्त, ३.२३.६४**)। यहाँ बुद्धमत के अनुसार उन्हें नित्य कहा गया है; अतः यह (बौद्ध)न्यायविरोधी दोष है।

कापिलैरसदुद्भूतिः स्थान एवोपवर्ण्यते[3]।
असतामेव दृश्यन्ते यस्मादस्माभिरुद्भवाः ॥१७५॥[4]

---

१. सुगतैः संस्कृताभङ्गः सत्यमेवोदितोऽपि चेत्। २. तथैव, तथापि। ३. –र्णिता। ४. अस्मिन् पद्ये पूर्वोत्तरार्धयोर्व्यत्यासः क्वचिद् दृश्यते।

सांख्यदर्शनरूपन्यायविरोधमुदाहरति—**कापिलै**रिति। कापिलैः कपिलमतानुयायिभिः सांख्यैः असदुद्भूतिः असतः अविद्यमानस्य उद्भूतिः उद्भवः जन्म (श्लेषबलात्पक्षे दुष्टानामुत्कर्षः) स्थाने एव युक्तमेव उपवर्ण्यते प्रतिपाद्यते, यस्माद् अस्माभिः (इह संसारे) असतां दुष्टानाम् एव उद्भवाः उद्भूतयः समृद्धयः दृश्यन्ते। कापिलानां मते सत एवोत्पत्तिर्नासत इति दर्शनादत्र च तद्विरुद्धोपवर्णनाद् न्यायविरोधो नाम दोषः।

कपिल-मत के अनुयायी (सांख्यकारों) ने असत् अर्थात् मूलतः अविद्यमान (दूसरे पक्ष में : =दुष्ट) की उत्पत्ति (दूसरे पक्ष में : =उन्नति, समृद्धि) का ठीक ही प्रतिपादन किया है, क्योंकि (इस संसार में) हम दुष्टों की ही उन्नति देखते हैं।

सांख्यमत के अनुसार, सत् की ही, जो अपने कारण—प्रधान—में निगूढ होता है, उत्पत्ति होती है; मूलतः असत् की उत्पत्ति नहीं होती। सांख्य का यह सिद्धान्त, जो सत्कार्यवाद कहलाता है, **सांख्यकारिका** (कारिका ९) में इस प्रकार प्रतिपादित हुआ है : **असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥** प्रस्तुत उदाहरण में इस सांख्यन्याय का विरोध होने से न्यायविरोध दोष है। उद्भूति (=उद्भव) का अर्थ प्रायः टीकाकारों ने केवल उत्पत्ति ही लिया है; वस्तुतः यह **असत्** के समान ही श्लिष्ट प्रयोग है। इसके दूसरे अर्थ ('उन्नति', 'समृद्धि') के लिए, तु० **कुमारसंभव ६.८२ : वरः शम्भुरलं ह्येष त्वत्कुलोद्भूतये विधिः।**

गति[1]र्न्यायविरोधस्य सैषा सर्वत्र[2] दृश्यताम्[3]।[4]
अथागमविरोधस्य प्रस्थानं दर्शयिष्यते[5] ॥१७६॥

न्यायविरोधमुपसंहरन्नागमविरोधं च प्रस्तुवन्नाह—**गति**रिति। न्यायविरोधस्य सा एषा अनन्तरोक्ता गतिः क्रमः सर्वत्र वैशेषिकादिष्वपि दृश्यताम् अवगम्यताम्। अथ आगमविरोधस्य प्रस्थानं मार्गः क्रमो वा दर्शयिष्यते उदाहरिष्यते।

न्यावियरोध(रूप दोष) का यह क्रम अन्य सब (वैशेषिक आदि) दर्शनों के संबन्ध में भी जानना चाहिए। अब यहाँ (श्रुति-स्मृति रूप) आगम के विरोध का क्रम दिखाया जाता है।

---

१. नीतिर्, रीतिर्। २. सैषाप्यन्यत्र। ३. दृश्यते। ४. 'तद्रूपं तत्र धीमद्भिर्विस्तरेणावगम्यताम्।' इति पद्यार्धमधिकं क्वचित्। ५. प्रस्थानमुपदिश्यते, प्रवेश उप-।

अनाहिताग्नयोऽप्येतेऽजातपुत्रा[1] वितन्वते ।
विप्रा वैश्वानरीमिष्टिमक्लिष्टाचारभूषणाः ॥१७७॥

श्रुतिरूपागमविरोधमुदाहरति—अनाहितेति । एते अक्लिष्टाचारभूषणाः सदाचारालंकृताः विप्राः ब्राह्मणाः अनाहिताग्नयः अकृताग्न्याधानाः अपि, अजातपुत्राः अनुत्पन्नपुत्राः (अपि) च सन्तः वैश्वानरीं तदाख्याम् इष्टिं यागं वितन्वते अनुतिष्ठन्ति । आहिताग्निभिरुत्पन्नपुत्रैश्चैव वैश्वानरीष्टिरनुष्ठातव्येति श्रुतिनिर्देशादत्र चाताद्दशैस्तदनुष्ठानस्य वर्णनाद् श्रुतिरूपागमविरोधः ।

ये सदाचार से अलंकृत ब्राह्मण वैश्वानरी नामक इष्टि (=याग) का अनुष्ठान कर रहे हैं, जब कि इन्होंने (नियमित) अग्न्याधान (=अग्निहोत्र) नहीं किया है और इनके कोई पुत्र भी उत्पन्न नहीं हुआ है ।

श्रुति के अनुसार, आहिताग्नि (=नियमित अग्न्याधान करने वाले) एवं जातपुत्र मनुष्य को ही वैश्वानरी इष्टि के अनुष्ठान करने का अधिकार है (तु० रत्नश्रीज्ञान) । यहाँ इसके विरुद्ध वर्णन होने से श्रुतिरूप आगम का विरोध है ।

असावनुपनीतोऽपि वेदानधिजगे गुरोः ।
स्वभावशुद्धः स्फटिको न संस्कारमपेक्षते ॥१७८॥

स्मृतिरूपागमविरोधं निदर्शयति—असाविति । असौ द्विजकुमारः अनुपनीतः अकृतोपनयनसंस्कारः अपि गुरोः आचार्याद् वेदान् ऋग्यजुःसामाथर्वरूपान् अधिजगे अध्यैष्ट । तथा हि स्वभावशुद्धः प्रकृत्या एव निर्मलः स्फटिकः शुभ्रमणिविशेषः संस्कारं गुणाधानरूपं शुद्धिविशेषं न अपेक्षते अर्हति । अत्रोपनीतस्यैव वेदाध्ययनेऽधिकार इति स्मृतिव्यवस्थाया विरोधात् स्मृतिरूपागमविरोधः ।

उस (द्विजकुमार) ने उपनयन संस्कार के बिना ही आचार्य से वेदों का अध्ययन कर लिया । प्रकृति से ही शुद्ध अथवा निर्मल स्फटिक मणि को किसी अन्य प्रकार की शुद्धि की अपेक्षा (=आवश्यकता) नहीं रहती ।

स्मृति के अनुसार, उपनीत कुमार को वेदाध्ययन का अधिकार होता है; तु० मनुस्मृति २.१७२ : **नाभिव्याहारयेद् ब्रह्म स्वधानिनयनादृते । शूद्रेण हि समस्तावद् यावद्वेदे न जायते ॥** यहाँ इसके विरुद्ध वर्णन होने से स्मृतिरूप आगम का विरोध है (तु० सरस्व० १, उदा० ७२) ।

विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात् ।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ॥१७९॥

---

१. जातपुत्रा, राज- ।

उक्तस्य देशादिविरोधदोषस्य कविकौशलापादितं गुणभावमाह—**विरोध** इति। सकलः समग्रः अपि एष देशादिगतः विरोधः कदाचित् कविकौशलात् कवेर्वर्णननैपुण्याद् दोषगणनां दोषत्वेन परिसंख्यानम् उत्क्रम्य उल्लङ्घ्य विहाय गुणवीथीं गुणकक्षां गुणत्वेन व्यपदेशं विगाहते याति, प्राप्नोतीत्यर्थः।

(देश, काल आदि से संबन्धित) यह समग्र विरोध कभी-कभी कवि के (वर्णन-)कौशल से दोष की सीमा का अतिक्रमण करके गुण की परिधि में आ जाता है।

भोज (सरस्व० १.१५६) ने इस कारिका को इसके पाँच उदाहरणों सहित उद्धृत किया है। भामह (१.५५) की निम्नलिखित कारिका इससे तुलनीय है : **किंचिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि। कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्॥**

तस्य राज्ञः प्रभावेण[1] तदुद्यानानि जज्ञिरे।
आर्द्रांशुक[2]प्रवालानामास्पदं सुरशाखिनाम्॥१८०॥

देशविरोधस्य गुणत्वं निदर्शयति—तस्येति। तस्य राज्ञः प्रभावेण प्रतापेन महिम्ना वा तदुद्यानानि तदीयोपवनानि आर्द्रांशुकप्रवालानाम् आर्द्राणि अभिनवानि जलक्लिन्नानि वा अंशुकानि सूक्ष्मवस्त्राणि एव प्रवालानि किसलयानि येषामिति तादृशानां सुरशाखिनां देवतरूणां (तु० अमरः—**पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः। संतानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम्॥**) आस्पदं स्थानं सद्म आश्रयो वा जज्ञिरे अजायन्त समभवन्। अत्र मर्त्योद्यानेषु सुरशाखिसंभवस्य वर्णनं देशविरुद्धं, तथापि राज्ञः प्रभावातिशयस्य तत्कारणत्वेनोपन्यासाद् हेतूदात्तयोश्चालंकारयोश्चमत्कारविशेषाद् अत्र देशविरोधरूपदोषस्य गुणभावः।

उस राजा के प्रभाव से उसके वे उपवन अभिनव सूक्ष्म वस्त्र रूप कोंपलों वाले देवतरुओं के स्थान (=आश्रयस्थान) बन गए।

यहाँ नन्दनवन के वृक्षों (तु० २.२९०) की मर्त्यलोक में संभवता का वर्णन देशविरुद्ध है, तथापि वर्ण्य राजा के प्रभावातिशय का उसके कारण के रूप में उपस्थापन होने से एवं तद्द्वारा प्रस्तुत वर्णन के हेतु (द्र० २.२३५) तथा उदात्त (द्र० २.३००) अलंकारों से चमत्कृत होने से यहाँ देशविरोधरूप दोष गुण बन गया है; तु० भोज : **सरस्व० १, उदा० १९६** भी। यहाँ यह अवधेय है कि भोज ने अन्यत्र (**वही, ३, उदा० २०**) इस पद्य को कारकहेतु के

१. तस्य प्रभावेण तदा। २. आर्द्राङ्कुर-।

उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

राज्ञां विनाशपिशुनश्चचार खरमारुतः ।
धुन्वन्[1] कदम्बरजसा सह सप्तच्छदोद्गमान्[2] ॥१८१॥

कालविरोधस्य गुणभावं निदर्शयति—**राज्ञामिति**। राज्ञां विनाशपिशुनः विध्वंससूचकः खरमारुतः प्रचण्डो वातः कदम्बरजसा नीपपुष्पाणां परागेण सह सप्तच्छदोद्गमान् सप्तपर्णकुसुमानि धुन्वन् कम्पयन्, विकिरन्नित्यर्थः, चचार ववौ। अत्र प्रावृषेण्यस्य कदम्बपुष्पोद्गमस्य शारदस्य च सप्तच्छदकुसुमोद्गमस्य सहभाववर्णनं कालविरुद्धं, तथाप्यकालपुष्पोद्गमस्य राजविनाशसूचनार्थत्वात्तस्य कालविरोधस्य गुणत्वम्।

(उस समय) राजाओं के विनाश की सूचना देने वाली आँधी कदम्ब-पुष्पों के पराग के साथ सतवन के फूलों को उड़ाती हुई चलने लगी।

यहाँ वर्षा में खिलने वाले कदम्बपुष्पों और शरद् ऋतु में विकसित होने वाले सतवन के फूलों का एक समय में होना वर्णित है, जो कालविरोधरूप दोष है, तथापि चूँकि ऐसा वर्णन यहाँ राजाओं के विनाश की सूचना देने के हेतु किया गया है, अतः यह यहाँ गुणरूप है (**तु० सरस्व० १, उदा० १६७**)। फल-फूलों का असमय में होना देश के लिए उत्पातसूचक माना गया है; द्र० **अकाले फलपुष्पाणि देशोपद्रवकारणम्** (जीवानन्द विद्यासागर से उद्धृत); तु० **अवन्तिसुन्दरीकथा**, पृ० ५२-४ भी।

दोलातिप्रेरण[3]त्रस्तवधूजनमुखोद्गतम्[4] ।
कामिनां लयवैषम्याद्[5] गेयं रागमवर्धयत् ॥१८२॥

कलाविरोधस्य गुणतां दर्शयति—**दोलेति**। दोलायाः प्रेङ्खायाः अतिप्रेरणाद् अतिमात्रान्दोलनात् त्रस्तः भीतः यः वधूजनः तस्य मुखाद् उद्गतम् गेयं गीतं (कर्तृ) लयवैषम्याद् द्रुतविलम्बितमध्यमप्रभेदस्य लयस्य वैषम्याद् अयथाकालं प्रवृत्तेः कारणात् कामिनां रसिकानां रागं प्रीतिमनुरागं वा अवर्धयत्। गीतशास्त्रानुसारं लयानुगतमेव गीतं श्रोतृणां मनो हरति। प्रकृते तद्विपरीतवर्णनाद् गीतकलाविरोधः, तथापि शीत्कारायमाणमीदृशं गीतं कामिनां सुतरां रञ्जकमित्यत्र विवक्षितत्वात् तद्विरोधरूपदोषस्य गुणत्वम्।

झूले की लम्बी पेंग से डरी हुई वधुओं के मुख से निकले हुए गीत ने

---

१. धून्वन्। २. -गमम्, -च्छदद्रुमम्। ३. डोला-, दोलाभि-। ४. -भवम्। ५. -वैषम्यं।

अपने लय की विषमता से कामिजनों के प्रीतिभाव अथवा अनुराग को बढ़ा दिया।

गीतशास्त्र के अनुसार, शुद्ध लय वाला गीत ही रसिक श्रोताओं के आनन्द को बढ़ाता है, विषम लय वाला गीत नहीं। यहाँ इसके विपरीत वर्णन होने से गीतकलाविरोध है, परन्तु ऐसा लयरहित शीत्कारपूर्ण गीत कामियों के अनुराग को बढ़ाता ही है —यह विवक्षित होने से यहाँ यह विरोधरूप दोष गुण ही है। भोज (**सरस्व० १, उदा० २०४**) ने इसे (काम-)शास्त्रविरोधी दोषगुण के रूप में उदाहृत किया है।

ऐन्दवादर्चिषः कामी शिशिरं हव्यवाहनम्।
अबलाविरहक्लेशविह्वलो[1] गणयत्ययम्[2] ॥१८३॥

लोकविरोधरूपदोषस्य गुणत्वं निदर्शयति—ऐन्दवादिति। अबलाविरह-क्लेशेन कान्तावियोगजनितदुःखेन विह्वलः व्याकुलः अयं कामी मदनातुरः हव्य-वाहनम् अग्निम् ऐन्दवाद् इन्दुसंबन्धिनः अर्चिषः मयूखाद् अपि (अधिकं) शिशिरं शीतलं गणयति मन्यते, इन्दुकिरणान् अग्नेरप्युष्णतरान् जानीत इत्यर्थः। अत्राग्नेः शीतलत्वमर्थापत्त्या चेन्दोरुष्णमयूखत्वमुभयमपि लोकविरुद्धं, तथाप्यत्र विरहिषु चन्द्रकिरणानामत्यन्तमात्रोद्दीपकत्वव्यञ्जनात्तदिदं गुणत्वेन कल्पते।

अपनी प्रेयसी के विरह की पीड़ा से व्याकुल यह प्रेमी आग को चन्द्रमा की किरणों से भी (अधिक) शीतल मानता है (दूसरे शब्दों में, चन्द्रकिरणों को आग से भी अधिक दाहक समझता है)।

अग्नि की शीतलता (एवं चन्द्रमा की उष्णता) लोकविरुद्ध है, तथापि विरहिजनों पर चन्द्रमा का अत्यन्त उद्दीपक प्रभाव (तु० २.१०४, ३०५, ३०७) बताने के लिए किया गया उक्त वर्णन दोषपूर्ण न होकर गुणयुक्त ही है (तु० **सरस्व० १, उदा० १६८**)।

प्रमेयोऽप्यप्रमेयोऽसि सकलोऽप्यसि निष्कलः[3]।
एकस्त्वमप्यनेकोऽसि नमस्ते विश्वमूर्तये ॥१८४॥

न्यायविरोधरूपदोषस्य गुणतां प्रदर्शयति—**प्रमेय** इति। भगवत्स्तुति-रियम्। प्रमेयः प्रमाणजन्यज्ञानविषयः परिच्छेद्यः अपि त्वम् अप्रमेयः (इन्द्रिया-विषयत्वाद्) अज्ञेयः असि। सकलः (व्यक्तपृथिव्यादिमूर्तित्वात्) सावयवः अपि

१. –विक्लवो। २. –त्यलम्। ३. सफलोऽप्यसि निष्फलः।

निष्कलः निरवयवः, परमात्मरूपतः अव्यक्तः निराकारः, असि । त्वम् एकः परब्रह्मात्मना अद्वैततत्त्वरूपः अपि अनेकः परिणामानन्त्याद् बहुरूपः असि । ईदृशाय विश्वमूर्तये सर्वभूतमयाय ते तुभ्यं नमः । प्रमेयत्वाप्रमेयत्वादिकं परस्परविरुद्धं नैकाश्रयं संभवतीति न्यायविद्या, तस्याश्च विरोध इह परमात्मनोऽचिन्त्यरूपत्वव्यञ्जनाद् गुणत्वमापद्यते ।

(हे परमात्मन्,) तुम प्रमाणजन्य ज्ञान के विषय होते हुए भी अज्ञेयस्वरूप हो; तुम (पृथ्वी आदि व्यक्त नामरूपात्मक जगत् के रूप में) सकल अवयवों से युक्त होते हुए भी (अपने परमात्मरूप में) अव्यक्त अथवा निरवयव हो । तुम (परब्रह्म के रूप में) एक अर्थात् अद्वैततत्त्व होते हुए भी (अपने कार्यरूप जगत् की अनन्तता के कारण) अनन्तरूप हो । ऐसे सर्वभूतमय (=विश्वमूर्ति) तुम्हें नमस्कार है ।

यहाँ प्रमेयत्व, अप्रमेयत्व आदि को, जो परस्परविरोधी धर्म हैं, एक ही आश्रय (परमात्मा) में प्रदर्शित किया गया है, जो तर्कविरुद्ध है । फिर भी, परमात्मा की अचिन्त्यरूपता को (तु० **ब्रह्मसूत्र २.१.३७ : सर्वधर्मोपपत्तेश्च** ।) प्रदर्शित करने के लिए किया गया ऐसा वर्णन दोष न होकर गुण ही है ।

पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां पत्नी पाञ्चालकन्यका[1] ।
सतीनामग्रणीश्चासीद् दैवो हि विधिरीदृशः ॥१८५॥

आगमविरोधस्य गुणत्वमुदाहरति—**पञ्चानामिति** । पाञ्चालकन्यका पाञ्चालस्य द्रुपदस्य कृष्णाख्या कन्या द्रौपदीति ख्याता पञ्चानां पाण्डुपुत्राणां युधिष्ठिरभीमार्जुननकुलसहदेवानां पत्नी सतीनां साध्वीनां च कुलस्त्रीणाम् अग्रणीः प्रधानभूता श्रेष्ठा वा आसीत् । दैवः देवतासंबन्धी, भाग्यस्येत्यर्थः, हि विधिः विधानम् ईदृशः अविचारणीयविषयः अचिन्त्यहेतुकः वा भवति । अत्रैकस्या बहुपतिकात्वं बहुपतिकायाश्च सतीत्वमागमविरुद्धं, तथापि दैवविधानाचिन्त्यत्वप्रतिपादनादयं विरोधो न दोषः प्रत्युत गुण एव ।

पाञ्चालपुत्री (द्रौपदी) पाँचों पाण्डवों की पत्नी थी एवं सती स्त्रियों में अग्रणी अर्थात् श्रेष्ठ थी । आखिर, दैव का विधान ही ऐसा था !

एक स्त्री के पाँच पतियों का होना और ऐसी स्त्री का सती होना आगम के विरुद्ध है (तु० **तैत्तिरीयसंहिता ६.६.४.३**) । यहाँ ऐसे आगमविरोधी वर्णन से नियतिविधान की अचिन्तनीयता बताई गई है । अतः यह वर्णन यहाँ दोष न रहकर गुण बन गया है (तु० **सरस्व० १, उदा० २०२**) ।

---

१. पञ्चाल-, -पुत्रिका ।

शब्दार्थालंक्रियाश्चित्रमार्गाः सुकरदुष्कराः[1] ।
गुणा दोषाश्च काव्यानामिह[2] संक्षिप्य दर्शिताः ॥१८६॥

ग्रन्थमुपसंहरन्नाह—शब्दार्थेति । शब्दार्थालंक्रियाः शब्दार्थौ काव्यशरीरभूतौ तौ तयोश्च अलंक्रियाः शब्दालंकाराः अर्थालंकाराः च, सुकरदुष्कराः सुकराः दुष्कराः च चित्रमार्गाः चित्रकाव्यप्रकाराः चित्रप्रहेलिकादयः, काव्यानां गुणाः दोषाः चेति विषयाः इह **काव्यादर्शे** संक्षिप्य समासतः दर्शिताः निरूपिताः ।

इस प्रकार यहाँ (काव्यादर्श नामक प्रस्तुत लक्षणग्रन्थ में) (काव्यशरीर भूत) शब्द और अर्थ, उनके (शब्दगत और अर्थगत) अलंकार, सुकर एवं दुष्कर चित्रकाव्यप्रकार, तथा काव्य के गुण और दोष संक्षेप से निरूपित कर दिए गए ।

व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन
मार्गेण दोषगुणयोर्वशवर्तिनीभिः ।
वाग्भिः कृताभिसरणो[3] मदिरेक्षणाभि-
र्धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम् ॥१८७॥

इत्याचार्य[4]दण्डिनः कृतौ काव्यादर्शे[5] शब्दालंकार[6]दोषविभागो नाम तृतीयः[7] परिच्छेदः[8] ॥[9]

प्रयोजननिर्देशद्वारेण ग्रन्थं समापयन्नाह—व्युत्पन्नेति । अमुना पूर्वोक्तरूपेण विधिदर्शितेन काव्यलक्षणविधिना यथावद्दर्शितेन दोषगुणयोः हेयोपादेयधर्मयोः मार्गेण प्रकारेण विवेचनपद्धत्या वा हेतुना व्युत्पन्नबुद्धिः व्युत्पन्ना हानोपादानसमर्था व्युत्पत्तिमती बहुश्रुता वा बुद्धिर्यस्य स तादृशः परिनिष्ठितमतिः पुरुषः वशवर्तिनीभिः अभ्यासबलात्स्वायत्तीकृताभिः वाग्भिः काव्यरूपाभिः उक्तिभिः कृताभिसरणः कृतम् अभिसरणं स्वत एवोपसर्पणं यस्मिन्निति तादृशः विहिताभिसारः सन्, वशवर्तिनीभिः वश्याभिः मदिरेक्षणाभिः मदिराक्षीभिः कृताभिसरणः स्वतो रसेनाभिसृतः धन्यः भाग्यशाली युवा तरुण इव, रमते प्रीतिमनुभवति, अथ च कीर्तिं यशः, कवियश इत्यर्थः, लभते ।

उक्त प्रकार से (काव्यलक्षण की) पद्धति से यथावत् प्रदर्शित दोषों और गुणों के मार्ग द्वारा व्युत्पत्तिशाली (अथवा बहुश्रुत-समन्वित) बुद्धि से

---

१. शब्दार्थानां क्रियामार्गाः सुकराश्चैव दुष्कराः । २. इति । ३. कृतानु– । ४. इत्यार्य– । ५. काव्यालंकारे । ६. गुण–, दुष्कर– । ७. चतुर्थः । ८. समाप्तः । ९. अतः परं 'दण्डयलंकारः समाप्तः । श्रीपार्वत्यै शिवाय नमः' इत्यधिकं क्वचित् ।

संपन्न होकर मनुष्य, वशर्वातनी काव्यवाणी द्वारा (अभ्यासवश स्वतः) अभिसृत होकर, उसी प्रकार आनन्द और कवि-यश प्राप्त करता है जिस प्रकार वशर्वातनी मदिरलोचना रमणियों द्वारा (अनुरागवश स्वतः) अभिसृत होकर कोई भाग्यशाली युवक आनन्द और सौभाग्य-यश प्राप्त करता है।

यहाँ आचार्य ने काव्य के दो प्रयोजनों — रमण अर्थात् प्रीति या आनन्द और कीर्ति— का आनुषङ्गिक उल्लेख किया है। इन प्रयोजनों में से दूसरे प्रयोजन की चर्चा प्रथम परिच्छेद के अन्त में भी है : **तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।** अन्यत्र, १.१९ में, उसने महाकाव्य को 'लोकरञ्जक' कहा है, जिसका अर्थ यह हुआ कि वह आनन्द को कविगत मानने के साथ-साथ पाठकगत भी मानता है। उक्त प्रयोजनों का उल्लेख भामह (१.२) ने अधिक स्पष्ट रूप में किया है : **धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च। प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥** द्र० वामन (१.१.५) : **काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्।**; भोज (सरस्व १.२) : **निर्दोषं गुणवत् काव्यमलंकारैरलंकृतम्। रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥** उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा अन्ततोगत्वा काव्य के निम्नलिखित प्रयोजनों की चर्चा की गई : यश, धन, लोकव्यवहार, अशुभ का विनाश, परम आनन्द और कान्तासंमित उपदेश (तु० काप्र० १.२ : **काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे॥**)। इनमें यश और धन कविगत प्रयोजन हैं, लोकव्यवहार और उपदेश पाठकगत हैं, एवं अशुभ का विनाश और परम आनन्द की प्राप्ति उभयगत हैं।

व्योमाग्निव्योमपक्षेऽब्दे (२०३०) वैक्रमे मङ्गले दिने।
कृष्णाष्टम्यां पूरितेयं काव्यादर्श-सुदर्शना॥

इति श्रीगुजरमलात्मजेन दक्षिणकोसलाभिजनेन शास्त्रि-विद्यावाचस्पति-
एम. ए.-एम. ओ. एल.-पीएच. डी.-प्रभृत्युपाधिधारिणा
पटियालास्थपञ्जाबीविश्वविद्यालये
संस्कृतप्राध्यापकेन धर्मेन्द्रकुमारगुप्तेन
विरचितायां काव्यादर्श-सुदर्शनायां
तृतीयः परिच्छेदः।

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः॥

सहायक-ग्रन्थ-सूची

काव्यादर्श : विविध संस्करण

१. सं० प्रेमचन्द्र तर्कवागीश, स्वोपज्ञ **मालिन्यप्रोञ्छनी** सहित, बिब्लिग्राथिका इण्डिका, कलकत्ता, १८६३ (पुनर्मुद्रण, १८८१)।

२. सं० जीवानन्द विद्यासागर, स्वोपज्ञ **विवृति** सहित, कलकत्ता, १८८२ (सं० १९३४)।

३. सं० ओटो बाट्लिंग, जर्मन अनुवाद सहित, लीपज़िग, १८९०।

४. सं० एम० रंगाचार्य, अज्ञातकर्तृक **हृदयंगमा** एवं तरुणवाचस्पति की टीका सहित, ब्रह्मवादि प्रेस, मद्रास, १९१०।

५. सं० एस० के० बेलवलकर, अंग्रेज़ी अनुवाद सहित, पूना, १९२४।

६. सं० नृसिंहदेवशास्त्री, स्वोपज्ञ **कुसुमप्रतिमा** सहित, लाहौर, १९२५ (पुनर्मुद्रण, १९३३)।

७. सं० व्रजरत्नदास, हिन्दी अनुवाद सहित, काशी, १९३१।

८. सं० वी० कृष्णमाचारी, वादिजङ्घालकृत **श्रुतानुपालिनी** सहित, तिरुवाडि, १९३६।

९. सं० रङ्गाचार्यशास्त्री, स्वोपज्ञ **प्रभा** सहित, पूना, १९३८ (पुनर्मुद्रण, १९७०)।

१०. सं० अनुकूलचन्द्र बैनर्जी, प्राचीन तिब्बती अनुवाद सहित, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३९।

११. सं० डी० टी० ताताचार्य, तरुणवाचस्पति की टीका एवं **हृदयंगमा** और **श्रुतानुपालिनी** सहित, बम्बई, १९४१।

१२. सं० शंकरराम शास्त्री, संपूर्ण मूलपाठ और १.१ से २.९६ तक के भाग के अंग्रेज़ी अनुवाद एवं व्याख्या सहित, मद्रास, १९४२ (सं० १९६३)।

१३. सं० वि० नारायणय्यर, जीवानन्दविद्यासागरकृत **विवृति** (संक्षिप्त) एवं अंग्रेज़ी अनुवाद सहित, मद्रास, १९५२।

१४. सं० अनन्तलाल ठक्कुर एवं उपेन्द्र झा, **काव्यलक्षण** नाम से संपादित, रत्नश्रीज्ञानकृत **रत्नश्री** सहित, दरभंगा, १९५७।

१५. सं० रणवीरसिंह, हिन्दी व्याख्या सहित, दिल्ली, १९५८।

१६. सं० रामचन्द्र मिश्र, स्वोपज्ञ **प्रकाश** संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित, वाराणसी, १९५८ (पुनर्मुद्रण, १९७२)।

प्राचीन लक्षणग्रन्थ

अभिनवभारती, अभिनवगुप्त-कृत (भरत के **नाट्यशास्त्र** की टीका), (१) सं० आचार्य विश्वेश्वर, दिल्ली, १९६०, (२) ओरिएंटल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९५४।

अलंकाररत्नाकर, शोभाकरमित्र-कृत, सं० सी० आर० देवधर, पूना, १९४२।

अलंकारशेखर, केशवमिश्र-कृत, सं० शिवदत्त एवं का० पा० परब, बम्बई, १९२६।

अलंकारसर्वस्व, रुय्यक-कृत, विद्याचक्रवर्ती की **संजीविनी** सहित, सं० (१) डा० रामचन्द्र द्विवेदी, दिल्ली, १९६५ (प्रस्तुत ग्रन्थ में उद्धृत), (२) डा० एस० एस० जानकी, दिल्ली, १९६५।

अलंकारसर्वस्वनिष्कृष्टार्थकारिका, विद्याचक्रवर्ति-कृत, सं० रामचन्द्र द्विवेदी (**अलंकारमीमांसा**, पृ० ३७९-४०७), दिल्ली, १९६५।

एकावली, विद्याधर-कृत, सं० के० पी० त्रिवेदी, बम्बई, १९०३।

औचित्यविचारचर्चा, क्षेमेन्द्र-कृत, सं० रामपाल विद्यालंकार, दिल्ली, १९६०।

कविराजमार्ग (कन्नड़ भाषा में), अमोघवर्ष-कृत, सं० के० बी० पाठक, बम्बई, १८९८।

काव्यप्रकाश, मम्मट-कृत, सं० आचार्य विश्वेश्वर, वाराणसी, १९६७।

काव्यप्रदीप, गोविन्द-कृत, वैद्यनाथ तत्सत् कृत टीका सहित, सं० दुर्गाप्रसाद एवं वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, बम्बई, १९३३।

काव्यमीमांसा, राजशेखर-कृत, सं० केदारनाथ शर्मा, पटना, १९६५।

काव्यानुशासन, वाग्भट(द्वितीय)-कृत, बम्बई, १९१५।

काव्यानुशासन, हेमचन्द्र-कृत, स्वोपज्ञचूडामणिवृत्तिसहित, सं० शिवदत्त एवं का० पा० परब, बम्बई, १९३४।

काव्यालंकार, भामह-कृत, सं० देवेन्द्रनाथ शर्मा, पटना, १९६२।

काव्यालंकार, रुद्रट-कृत, नमिसाधुरचित टीका सहित, सं० रामदेव शुक्ल, वाराणसी, १९६६।

काव्यालंकारसारसंग्रह, उद्भट-कृत, प्रतीहारेन्दुराजकृत **लघुवृत्ति** सहित, सं० नारायणदास बनहट्टी, पूना, १९२५।

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, वामन-कृत, गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपालकृत **कामधेनु** सहित, सं० आशुबोध एवं नित्यबोध, कलकत्ता, १९२२।

कुवलयानन्द, अप्पयदीक्षित-कृत, सं० डा० भोलाशंकर व्यास, वाराणसी, १९६३।

चन्द्रालोक, जयदेव-कृत, सं० आशुबोध एवं नित्यबोध, कलकत्ता, १९२१।

चमत्कारचन्द्रिका, विश्वेश्वरकविचन्द्र-कृत, सं० डा० पन्दिरि सरस्वती मोहन, दिल्ली, १९७२।

चित्रमीमांसा, अप्पयदीक्षित-कृत, श्रीधरानन्दकृत **सुधा** सहित, सं० जगदीशचन्द्र मिश्र, वाराणसी, १९७१।

दशरूपक, धनंजय-कृत, सं० डा० भोलाशंकर व्यास, वाराणसी, १९६२।

ध्वन्यालोक, ध्वनिकार-आनन्दवर्धन-कृत, सं० (१) आचार्य विश्वेश्वर, वाराणसी, १९६२, (२) अभिनवगुप्तकृत **लोचन** टीका सहित, जगन्नाथ पाठक, वाराणसी, १९६५।

नाट्यशास्त्र, भरतमुनि-कृत, सं० मनोमोहन घोष, कलकत्ता, प्र० भाग (१-२७), १९६७, द्वि० भाग (२८-३६), १९५६।

प्रतापरुद्रीय, विद्यानाथ-कृत, कुमारस्वामिकृत **रत्नापण** सहित, सं० (१) के० पी० त्रिवेदी, अहमदाबाद, १९०९, (२) वे० राघवन्, मद्रास, १९७०।

रसगङ्गाधर, जगन्नाथ-कृत, सं० बदरीनाथ झा एवं मदनमोहन झा, वाराणसी, प्र० भाग, १९६४ (पुनर्मुद्रण, १९७०), द्वि०-तृ० भाग, १९६९।

वक्रोक्तिजीवित, कुन्तक-कृत, सं० डा० सुशीलकुमार दे, कलकत्ता, १९६१।

वाग्भटालंकार, वाग्भट(प्रथम)-कृत, सिंहदेवगणिकृत टीका सहित, सं० डा० सत्यव्रतसिंह, वाराणसी, १९५७।

व्यक्तिविवेक, महिमभट्ट-कृत, सं० रेवाप्रसाद द्विवेदी, वाराणसी, १९६४।

शृङ्गारप्रकाश, भोजदेव-कृत, सं० गो० रा० ज्यौतिषिक, मैसूर, प्र० भाग (१-८), १९५५, द्वि० भाग (९-१४), १९६३।

सरस्वतीकण्ठाभरण, भोजदेव-कृत, रामसिंह (वस्तुतः रत्नेश्वर मिश्र) एवं जगद्धर की टीका सहित, सं० केदारनाथ शर्मा एवं वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, बम्बई, १९३४।

साहित्यदर्पण, विश्वनाथ-कृत, सं० कृष्णमोहन शास्त्री, वाराणसी, १९४७।

सियबसलकर (सिंहली भाषा में), शीलमेघवर्णसेन-कृत, सं० ज्ञानसिंह, कोलम्बो, १९६४।

आधुनिक काव्यशास्त्रीय तथा आलोचनात्मक ग्रन्थ

(क) हिन्दी ग्रन्थ

अग्रवाल, वासुदेवशरण : **कादम्बरी : एक सांस्कृतिक अध्ययन**, वाराणसी, १९५८।

— : **पाणिनि-कालीन भारतवर्ष**, वाराणसी, १९५५।

— : **हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन**, पटना, १९५३।

उपाध्याय, बलदेव : संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाराणसी, १९५८।
उपाध्याय, भरतसिंह : पालि-साहित्य का इतिहास, प्रयाग, १९६३।
कोछड़, हरिवंश : अपभ्रंश साहित्य, दिल्ली, १९५६।
गैरोला, वाचस्पति : संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाराणसी, १९६०।
त्रिपाठी, जयशंकर : आचार्य दण्डी एवं संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास-दर्शन, इलाहाबाद, १९६८।
द्विवेदी, रामचन्द्र : अलंकार-मीमांसा, दिल्ली, १९६५।
नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, दिल्ली, १९५५।
पोद्दार, कन्हैयालाल : संस्कृत साहित्य का इतिहास, वाराणसी, १९६२।
व्यास, भोलाशंकर : भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालंकार, वाराणसी, १९६५।
शुक्ल, रामचन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, वाराणसी, १९५२।
हीरा, राजवंशसहाय : अलंकारानुशीलन, वाराणसी, १९७०।

(ख) अंग्रेज़ी ग्रन्थ

Chaitanya, Krishna : *Sanskrit Poetics*, Bombay, 1965.
Dasgupta, S.N., and De, S.K. : *A History of Sanskrit Literature*, vol. I, Calcutta, 1962.
De, S.K. : *History of Sanskrit Poetics*, in 2 vols., Calcutta, 1960.
— : *Sanskrit Poetics as a Study of Aesthetic*, Bombay, 1963.
— : *Some Problems of Sanskrit Poetics*, Calcutta, 1959.
Dvivedi, R.C. (ed.) : *Principles of Literary Criticism in Sanskrit*, Delhi, 1969.
Gupta, D.K. : *A Critical Study of Daṇḍin and his Works*, Delhi, 1970.
— : *Society and Culture in the Time of Daṇḍin*, Delhi, 1972.
Harichand : *Kalidasa et l' art poetique de l' Inde*, Paris, 1917.
Jha, Bechan : *Concept of Poetic Blemishes in Sanskrit Poetics*, Varanasi, 1965.
Kane, P.V. : *History of Sanskrit Poetics*, Delhi, 1961.
Krishnamachariar, M. : *History of Classical Sanskrit Literature*, Madras, 1937 (reprinted, Delhi, 1970).
Lahiri, P.C. : *Concept of Riti and Guṇa in Sanskrit Poetics*, Dacca, 1937.
Majumdar, R.C., Pusalker, A.D., and Majumdar, A.K. (ed.) : *The Classical Age* (being the vol. III of the *History and*

Culture of the Indian People), Bombay, 1962.

Nobel, J. : *Foundations of Indian Poetry*, Calcutta, 1925.

Pandey, K.C. : *Comparative Aesthetics*, vol. I *(Indian Aesthetics)*, Varanasi, 1959.

Raghavan, V. : *Number of Rasas*, Adyar (Madras), 1940.

— : *Some Concepts of Alaṁkāraśāstra*, Adyar, 1942.

— : *Śṛṅgāraprakāśa (: A Study)*, Madras, 1963.

Sankaran, A. : *Some Concepts of Literary Criticism in Sanskrit*, Madras, 1929.

Sastri, K. A. Nilakanta : *A History of South India*, Bombay, 1971.

Winternitz, M. : *Geschichte der Indischen Litteratur*, Leipzig, vol. III, pts. i-ii, English translation by Subhadra Jha, Delhi, 1963, 1967.

Yazdani, G. (ed.) : *The Early History of the Deccan*, 2 vols., London, 1960.

अन्य ग्रन्थ (वैदिक, संस्कृत, पालि, प्राकृत)

अग्निपुराण, सं० बलदेव उपाध्याय, वाराणसी, १९६६।

अभिज्ञानशाकुन्तल, कालिदास-कृत, सं० जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १९१४।

अर्थशास्त्र, कौटिल्य-कृत, सं० आर० पी० कांगले, बम्बई, १९६९।

अवन्तिसुन्दरीकथा, दण्डि-कृत, सं० के० एस० महादेव शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, १९५४।

अवन्तिसुन्दरीकथासार, अज्ञातकर्तृक, सं० जी० हरिहर शास्त्री, मद्रास, १९५७।

अष्टाध्यायी, पाणिनि-कृत, सं० शंकरराम शास्त्री, मद्रास, १९३७।

आपस्तम्बधर्मसूत्र, आपस्तम्ब-कृत, सं० ब्यूलर, बम्बई, १८९२-४।

उत्तररामचरित, भवभूति-कृत, सं० मो० रा० काले, बम्बई, १९३४।

ऋग्वेदसंहिता, सं० श्री० दा० सातवलेकर, पारडी (बलसाड), तिथि अनिर्दिष्ट।

कादम्बरी, बाणभट्ट-कृत, सं० (१) पी० एल० वैद्य, पूना, १९३५, (२) भानुचन्द्र-सिद्धचन्द्र-कृत टीका सहित, सं० का० पा० परब, बम्बई, १९३२।

कामसूत्र, वात्स्यायन-कृत, यशोधरकृत **जयमङ्गला** सहित, सं० देवदत्त शास्त्री, वाराणसी, १९६४।

काशिका, वामन-जयादित्य-कृत, सं० अनन्तशास्त्री फडके, वाराणसी, १९३१।

किरातार्जुनीय, भारवि-कृत, मल्लिनाथरचित टीका सहित, वाराणसी, १९६१।
कुमारसंभव, कालिदास-कृत, सं० प्रद्युम्न पाण्डेय, वाराणसी, १९६३।
गाहासत्तसई (गाथासप्तशती), हालसातवाहन-कृत, सं० परमानन्द शास्त्री, मेरठ, १९६५।
चारुदत्त, भास-कृत, सं० (**भासनाटकचक्र**) सी० आर० देवधर, पूना, १९६२।
तत्त्वसंग्रह, शान्तरक्षित-कृत, बड़ौदा, १९२६।
तर्कसंग्रह, अन्नंभट्ट-कृत, सं० नृसिंहदेवशास्त्री, लाहौर, १९३८।
दशकुमारचरित, दण्डि-कृत, (१) सं० मो० रा० काले, दिल्ली, १९६६, (२) **पदचन्द्रिका, भूषणा** एवं **लघुदीपिका** सहित, सं० नारायणराम आचार्य, बम्बई, १९५१।
दीघनिकाय, सं० भिक्खु जगदीश कश्यप, नालन्दा (बिहार), १९५८।
बालचरित, भास-कृत, सं० (**भासनाटकचक्र**) सी० आर० देवधर, पूना, १९६२।
ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्यसहित (**श्रीशंकराचार्यग्रन्थावली,** तृतीय भाग), दिल्ली, १९६४।
मनुस्मृति, कुल्लूकरचित टीका सहित, वाराणसी, १९७०।
महाभारत, चार जिल्दों में, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९५६-५८।
महाभाष्य, पतञ्जलि-कृत, (१) नवाह्निक, सं० चारुदेव शास्त्री, दिल्ली, १९६८, (२) संपूर्ण, **प्रदीप, उद्द्योत** एवं **छाया** सहित, तीन जिल्दों में, दिल्ली, १९६७।
मालतीमाधव, भवभूति-कृत, जगद्धररचित टीका सहित, सं० मो० रा० काले, दिल्ली, १९६७।
मालविकाग्निमित्र, कालिदास-कृत, सं० चारुदेव शास्त्री, लाहौर, १९३३।
मृच्छकटिक, शूद्रक-कृत, सं० जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १९३८।
मेघदूत, कालिदास-कृत, सं० सुशीलकुमार दे, नई दिल्ली, १९५७।
याज्ञवल्क्यस्मृति, विज्ञानेश्वररचित **मिताक्षरा** सहित, बम्बई, १९३६।
रघुवंश, कालिदास-कृत, मल्लिनाथकृत टीका सहित, बम्बई, १९१६।
रामायण, वाल्मीकि-कृत, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९६३।
रावणवध, भट्टि-कृत, **जयमङ्गला** टीका सहित, बम्बई, १८८७।
वाक्यपदीय, भर्तृहरि-कृत, (१) वाराणसी, १९०५, (२) सं० का० वा० अभ्यंकर एवं वि० प्र० लिमये, पूना, १९६५।
विक्रमोर्वशीय, कालिदास-कृत, सं० एस० पी० पण्डित, बम्बई, १९०१।
विष्णुधर्मोत्तरपुराण, बम्बई, १९१२।

वृत्तरत्नाकर, केदारभट्ट-कृत, सं० नृसिंहदेवशास्त्री, लाहौर, १९४२।
शार्ङ्गधरपद्धति, शार्ङ्गधर-कृत, सं० पी० पीटरसन, बम्बई, १९२७।
शिशुपालवध, माघ-कृत, मल्लिनाथरचित टीका सहित, बम्बई, १९५७।
श्रीमद्भागवतपुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९६५।
सांख्यकारिका, ईश्वरकृष्ण-कृत, सं० जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १९२९।
सुबोधालंकार, संघरक्खित-कृत, सं० बी० एम० बरुआ, कलकत्ता, १९५४।
सुभाषितत्रिशती, भर्तृहरि-कृत, रामचन्द्रबुधेन्द्ररचित टीका सहित, बम्बई, १९५७।
सुभाषितरत्नकोश, विद्याकर-कृत, सं० दा० ध० कोसम्बी एवं वी० वी० गोखले, हार्वर्ड ओरिएंटल सीरीज़, १९५७।
सुभाषितावली, वल्लभदेव-कृत, सं० पी० पीटरसन, बम्बई, १८८६।
सूक्तिमुक्तावली, जल्हण-कृत, सं० ई० कृष्णमाचार्य, बड़ौदा, १९३८।
स्वप्नवासवदत्त, भास-कृत, सं० (**भासनाटकचक्र**) सी० आर० देवधर, पूना, १९६२।
हर्षचरित, बाणभट्ट-कृत, शंकररचित **संकेत** सहित, बम्बई, १९४६।

कोशग्रन्थ

(क) संस्कृत

अभिधानचिन्तामणि, हेमचन्द्र-कृत, सं० हरगोविन्द शास्त्री, वाराणसी, १९६४।
अमरकोश, अमरसिंह-कृत, बम्बई, १९४०।
त्रिकाण्डशेष, पुरुषोत्तमदेव-कृत, बम्बई, १९१६।
मेदिनीकोश, मेदिनीकर-कृत, सं० जगन्नाथ शास्त्री, वाराणसी, १९६८।
वैजयन्तीकोश, यादवप्रकाश-कृत, सं० हरगोविन्द शास्त्री, वाराणसी, १९७२।
शब्दकल्पद्रुम, राधाकान्तदेव-कृत, पांच जिल्दों में, दिल्ली, १९६१।

(ख) अंग्रेज़ी

Apte, V. S. : *Practical Sanskrit-English Dictionary*, Delhi, 1965.
Monier-Williams, M. : *A Sanskrit-English Dictionary*, Oxford, 1956.

काव्यादर्शस्थश्लोकार्धप्रतीकसूची

[संबन्धचिह्न(–)पूर्वं प्रतीकं श्लोकोत्तरार्धं संदर्शयति ।]

गच्छतः स्खलनं क्वापि

[काव्यादर्शभागे]

गच्छतः स्खलनं	क्वापि	समादधतु सज्जनाः ।
(३३७.२३-४)	पृ० १३ पं० १	(३३७.३६)
–श्रमपूर्वं उपास्याकम्	८० १	–श्रमपूर्वकम् उपास्या
त्वनमुखं	६० २८	त्वन्मुखं
आश्रमभेदकृतो भेदः	६२ ६	आश्रयभेदकृतो भेदः
तौ तुल्यौ त्वन्मुखेमेति	६७ ८	तौ तुल्यौ त्वन्मुखेनेति
पाय पायं	१०४ २५	पायं पायं
सादृश्यसूचकान	१११ २६	सादृश्यसूचकान्
तु० ५६; २.२४	११२ १७	तु० १.५६; २.२४
बध्नान्त च	१३२ १२	बध्नन्ति च
विना हेतु	१४७ ४	विना हेतुं
(सरस्व० ३, उदा० १६)	१८३ १०	(सरस्व० ३, उदा० १७)
इत्युभयात्मका	१८५ २७	इत्युभयात्मिका
सप्तभिर्मुणिताः	२८३ २५	सप्तभिर्गुणिताः
आरूह्येति	२६४ १४	आरुह्येति
स्थितिमान	३०५ ४	स्थितिमान्
मानऽया	३२४ ३	माऽनया
भक्तिन ण	३५४ २८	भक्तिनम्रेण